संवर्ग–1 : हिन्दी साहित्य परम्परा एवं विभाजन

इकाई–1

भूमिका : पूर्व पीठिका

संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 काल विभाजन और नामकरण :
1.3 हिन्दी साहित्य में प्रचलित काल विभाजन और नामकरण
1.3.1 आदिकाल का सीमा निर्धारण
1.3.2 आदिकाल का नामकरण
1.3.3 भक्ति काल : काल विभाजन और नामकरण
1.3.4 रीतिकाल : सीमा निर्धारण और नामकरण
1.3.5 आधुनिक काल की पृष्ठभूमि
1.3.6 आधुनिक संवेदना के आधार
1.3.7 भारतेंदु युग का काल विभाजन और नामकरण
1.3.8 द्विवेदी युग
1.3.9 छायावाद
1.3.10 छायावादोत्तर
1.4 सारांश
1.5 अभ्यास प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास पर अब जब हम दृष्टिपात करते हैं तब हमारी पहली समस्या होती है कि 1000 वर्षों के इतिहास को कैसे पढ़ा जाए ?इसी समस्या को ध्यान में रखकर इतिहास का कालखण्डों में विभाजित करते हैं। लेकिन इससे हमारे प्रश्न का समाधान नहीं होता। इसी से जुड़ा एक दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है। साहित्य के इतिहास में काल विभाजन और नामकरण की अनिवार्यता क्या है ? इस अनिवार्यता को इतिहास में किन तथ्यों से पुष्ट किया जाता है ?इतिहास का कोई कालखंड या युग इतिहास की तथ्यपूर्ण वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करता है, अथवा वह इतिहासकार के मन की संकल्पना है। क्या युग की पहचान इतिहासकार की व्याख्या है ?इन सारे प्रश्नों का समाधान ढूंढना आवश्यक है। इन प्रश्नों से टकराये बिना इतिहास का सही विभाजन नहीं हो सकता। और उसके बिना हम काल विभाजन के आधारों को नहीं समझ सकते।

सामान्यत: 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से संबंध न हो। अत: साहित्य भी इतिहास से असंबद्ध नहीं है। साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया–कलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। वैसे देखा जाये तो साहित्यिक रचनाएं भी मानवीय क्रिया–कलापों से भिन्न नहीं हैं, अपितु वे विशेष वर्ग के मनुष्य की विशिष्ट क्रियाओं की सूचक हैं। दूसरे शब्दों में, साहित्यिक रचनाएं साहित्यकारों की सर्जनात्मक क्रियाओं और प्रवृत्तियों की सूचक हैं, अत: उनके इतिहास को समझने के लिए उनके रचयिताओं तथा उनसे संबंधित स्थितियों, परिस्थितियों और परम्परा को समझना भी आवश्यक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

साहित्य के इतिहासकार का सबसे महत्त्वपूर्ण दायित्व यह है कि वह युग के समूचे तंतुजाल के रेशों का, जिसमें साहित्य का यथार्थ और युग का अनुभव एक दूसरे से गुंथा हुआ है, का विश्लेषण स्पष्टता से करे। इसके लिए आवश्यक है कि जिस युग में इतिहासकार जी रहा है उस युग के सामसामयिक प्रश्नों पर उसकी पकड़ गहरी हो। इसके बिना इतिहास दृष्टि निर्माण नहीं होगी और होगी भी तो वह अतीतोन्मुखी होगी। इतिहास दृष्टि की सार्थकता उसके भविष्योन्मुख होने में हैं।

ऐतिहासिक सामाजिक संदर्भों को पहचान कर ही साहित्य के कालखंडों का निर्धारण किया जा सकता है। ऐतिहासिक संदर्भ रचनाओं की जटिलता और विशिष्टता को समझने में सहायक उपादान हैं। कुछ विद्वानों की तरफ से यह संकेत अवश्य मिलते रहे हैं कि साहित्य के कालखंड का निर्धारण विशुद्ध साहित्य के मानदंड पर होना चाहिए। यदि इस प्रकार के मानदंड स्वीकार कर भी लिए जाएँ तो क्या ऐसा करना वैज्ञानिक होगा। साहित्य के मूल्यांकन का एक आधार इतिहास भी होता है। यदि इतिहास को छोड़ देंगे तो मूल्यांकन का दूसरा आधार शास्त्र होगा और शास्त्र प्राय: जीवन और समाज की सजीव चेतना का परीक्षण नहीं करता है। उसमें जड़ता होती है। प्रश्न यह है कि इतिहास वास्तविक तथ्य है या इतिहासकार के मन की संकल्पना, उस प्रश्न का विवेचन भी अनिवार्य है। वस्तुत: इतिहास तथ्यगत वास्तविकताओं के साथ एक व्याख्या की मांग भी करता है। इसी से हमारे जीवन मूल्य निर्धारित होते हैं।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन और नामकरण के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.2 काल विभाजन और नामकरण

काल विभाजन का नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं। इस प्रसंग में पहला प्रश्न यह है कि इस प्रकार के विभाजन की आवश्यकता क्या है ?इसका उत्तर स्पष्ट है और वह यह है कि वस्तु के समग्र रूप का दर्शन करने के लिए भी उसके अंगों का ही निरीक्षण करना पड़ता है। और यही सहज विधि है क्योंकि निरवयव रूप का दर्शन अपने आप में कठिन है। इसके अतिरिक्त जीवन या साहित्य को अखण्ड प्रवाह-रूप मानने पर भी इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि उसनें समय-समय पर दिशा-परिवर्तन और रूप-परिवर्तन होता रहता है। दृष्टि की अपनी सीमाएं होती हैं। वह सभी कुछ एक साथ नहीं देख सकती, इसलिए अंगों पर होती हुई ही अंगो का अवलोकन करती है। अत: यह बात बराबर ध्यान में रखते हुए कि साहित्य की अखण्ड परम्परा का निरूपण ही इतिहास का लक्ष्य है, समय-समय पर उपस्थित दिशा-परिवर्तनों और रूप-परिवर्तनों के अनुसार विकास क्रम का अध्ययन करना जितना उचित है, उतना ही जरूरी भी है।

दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि काल-विभाजन का सही आधार क्या हो सकता है ? वर्ग विभाजन प्राय: समान प्रकृति और प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है। समान प्रकृति के अनेक पदार्थ मिलकर एक वर्ग बनाते हैं और इस प्रकार समप्रकृति के आधार पर अनेक वर्गों में विभक्त होकर अस्त-व्यस्त समूह व्यवस्थित रूप धारण कर लेता है। काल-विभाजन का आधार भी समान प्रकृति और प्रवृत्ति ही होती है। जन-जीवन की प्रवृतियों व रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर सामाजिक इतिहास का काल-विभाजन होता है और राजनीतिक परिस्थितियों की समानता राजनीतिक इतिहास के काल-विभाजन का आधार बनती है। इसी प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति-आदर्शों का साम्य-वैषम्य ही साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन का आधार हो सकता है। समान प्रकृति और प्रवृत्तियों की रचनाओं का कालक्रम से, वर्गीकृत अध्ययन कर साहित्य का इतिहासकार सम्पूर्ण साहित्य का समवेत अध्ययन करने का प्रयत्न करता है।

काल विभाग और नामकरण दो अलग-अलग प्रश्न नहीं हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। जिन मुद्दों में रखकर काल-विभाजन का निर्णय लिया जाता है, उन्हीं को ध्यान में रखकर उसका नामकरण भी किया जाता है। जिस तरह से रचना की प्रकृति काल-विभाजन का आधार रही है, उसी तरह वह नामकरण का भी एक महत्त्वपूर्ण आधार रही है। रचना प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण हिन्दी की एक सर्वमान्य परम्परा रही है। रचना की अंतर्वस्तु की केन्द्रीयता को ध्यान में रख कालखंड को नामांकित कर दिया जाता है। इस प्रकार के नामकरण का आधार रचनाओं की बहुलता से जुड़ा है। रचनाओं की बहुलता से प्रकृति का औसत निकालकर ठीक लगने वाले नाम से साहित्यिक कालखंड का नामकरण करने का प्रचलन है। लेकिन इस पद्धति से नामकरण में संकट तब पैदा होता है, जब साहित्य में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अंतर्विरोध का स्वर मुखर हो जाता है। ऐसी स्थिति में साहित्य की मूलगामी धारा, जो केन्द्रीय प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है, उसके प्रतिरोध में बहने वाली धारा का महत्त्व उतना ही हो जाता है। एक भिन्न प्रकार की इतिहास दृष्टि से देखें तो इस प्रतिरोध की धारा में जीवन और साहित्य का मूल्यवान तत्त्व प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए रीतिमुक्त कवियों का काव्य रीतिकाल की मुख्य धारा की प्रवृत्तियों से अलग है। उसमें मानवीय प्रेम और समर्पण का गम्भीर वर्णन मिलता है। इस तरह की वास्तविकता को स्वीकार करना इतिहास की सच्चाइयों को स्वीकार करना है। सामान्यतया इतिहास में इस तरह की रचना प्रवृत्ति को साहित्यिक प्रचुरता के अभाव में अनदेखा किया जाता है।

समाज और हमारे सांस्कृतिक जीवन में कुछ आंदोलन ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव जीवन के विविध क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है। इस तरह के आंदोलनों को आधार बनाकर कालखंड नामकरण की व्यवस्था साहित्य में है। उदाहरण के लिए स्वच्छंदतावाद अथवा भक्तिकाल जैसे नामों को इसी श्रेणी में रख सकते हैं। भक्तिकाल हमारे इतिहास का मात्र एक साहित्यिक आंदोलन नहीं था। वह एक प्रकार का सांस्कृतिक आंदोलन था। भक्ति की व्यापक चेतना का प्रसार कला और समाज के विविध आयामों में हुआ था।

यदि संपूर्णता में देखें तो चित्रकला, नृत्य और संगीत में भी भक्ति संवेदना का प्रभाव दिखाई पड़ता है। भक्ति जीवन की विराट अनुभूति बन गयी थी। इस प्रकार के साहित्यिक कालखंडों के नामकरण में विशेष सुविधा होती है। जिसमें प्रवृत्ति मात्र साहित्यिक न होकर जन आंदोलन का रूप हो जाती है। भक्ति काल जैसे नामकरण के अंतर्गत सभी तरह की प्रकृतियों को आश्रय मिल जाता है तथा इसमें अंतर्विरोध की संभावना भी नहीं होती है।

साहित्य के इतिहास में कभी–कभी ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति की भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि उसके नाम पर एक युग ही चल पड़ता है। उस व्यक्ति विशेष के नाम पर ही साहित्यिक कालखंड का नाम रख दिया जाता है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग का नामकरण इसी प्रकार का है। लेकिन इस प्रकार के नाम पर गौर करने वाली बात यह है, कि ये नाम व्यक्तिवाचक नहीं होकर एक विशिष्ट प्रकार के जीवन मूल्यों को सूचित करते हैं। भारतेंदु युग मात्र भारतेंदु के साहित्य को ही नहीं हिन्दी के आधुनिक काल खंड की प्रारंभिक मंजिल पर ठहरे सभी साहित्यकारों के साहित्य के सामूहिक जीवनबोध का संदेश देता है। वह हिन्दी साहित्य के पुनर्जागरण काल के साहित्य के विशिष्ट मूल्यों को अभिव्यक्त करता है। अंग्रेजी साहित्य में शासकों के नाम पर कई साहित्यिक काल खंडों का नामांकन किया गया है। विक्टोरियन युग या ऐलिजाबेथेन युग जैसे नाम का उदाहरण अंग्रेजी साहित्य में भी मिलता है। विक्टोरिया आधुनिक युग से पूर्व प्रचलित था। विक्टोरियन युग एक विशेष प्रकार की जीवन शैली और साहित्यिक शैली का पर्याय था।

नामकरण का एक आधार घटना को भी माना जाता है। उदाहरण के लिए स्वतन्त्रता भारतीय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। भारतीय साहित्य के इतिहास में भी इस घटना को आधार बनाया गया है।

'स्वांत्र्योत्तर साहित्य' जैसे नाम लोकप्रिय हुए हैं। इस तरह के नामकरण रखने में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। घटना का साहित्य पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ने की स्थिति में ही ऐसे नामकरण की सार्थकता होती है। वरना यह एक साधारण तरह का नाम होगा जिसका संवेदना से कोई विशेष मतलब नहीं होगा। घटना के आधार पर नामकरण रखने से पूर्व उस घटना के प्रभाव का मूल्यांकन करना होता है।

1.3 हिन्दी साहित्य में प्रचलित काल विभाग और नामकरण

हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन और नामकरण साधारणत: आचार्य शुक्ल के इतिहास से ही ग्रहण किया जााता है। आचार्य शुक्ल के नामांकन और सीमांकन की कुछ सीमाएं भी हैं जिसे यथा स्थान स्पष्ट किया जाएगा।

आदिकाल (वीरगाथा काल) : संवत् 1050 से 1375 ई.

पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल) : 1375 से 1700 ई.

उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल) : 1700 से 1900 ई.

आधुनिककाल (गद्यकाल) : 1900 से अब तक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनेक विद्वानों द्वारा आदिकालीन साहित्य के संबंध में आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का खंडन किया गया है। जिस अपभ्रंश काव्य को वे परोक्ष रूप में स्वीकार करते हुए भी साहित्य में स्थान नहीं देते हैं, उसी के आधार पर उनकी मान्यता पर प्रश्न उठाया गया है। इसकी चर्चा आदिकाल के प्रसंग में की जाएगी। इसी तरह रीतिकाल के नाम के संबंध में भी कुछ विवाद है। आधुनिक काल को सामान्यतया पच्चीस-पच्चीस वर्षों के विभाजन के साथ हिन्दी साहित्य में रखा जाता है। हिन्दी साहित्य की कुछ समस्याएँ संक्रांति काल की है। जिसे युग संदर्भ के विवेचन में उठाया जाएगा।

1.3.1 आदिकाल का सीमा निर्धारण—हिन्दी-साहित्य के आरम्भ का प्रश्न हिन्दी भाषा के आरम्भ से जुड़ा हुआ है। इस भाषा का विकास एक जन-भाषा के रूप में हुआ है। अपभ्रंश हिन्दी से पूर्व प्रचलित भाषा थी। उसमें कौन से परिवर्तन किस बिन्दु पर आरम्भ हुए जिससे धीरे-धीरे हिन्दी का स्वतंत्र विकास हुआ इस प्रश्न का सीधा और स्पष्ट उत्तर दिया जा सकता। भाषा प्रयोग से भाषा का विकास होता है। भाषा प्रवाहिनी नदी के समान गतिशील है। भाषा की प्रवाह प्रक्रिया में भाषा परिवर्तन को समझने में कठिनाई होती है। वस्तुत: अपभ्रंश जब साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी तब जनभाषा से दूर टूट गई थी। अपभ्रंश की जनभाषा से हिन्दी का विकास होता है। चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने इसे ही पुरानी हिन्दी कहा है। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि उत्तर अपभ्रंश ही पुरानी हिन्दी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी का आरम्भ 993 ई. से मानते है जब अपभ्रंश भाषा घिस-घिस कर एक नई भाषा को विकसित करने में सक्षम हो रही थी। लेकिन हिन्दी के आरंभिक रूप का पता उन्हें बौद्ध तांत्रिकों की रचना में मिलता है। उन्होंने लिखा है ''अपभ्रंश या प्राकृतभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् 1050) के लगभग तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध, साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अत: हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत् 1050 से लेकर संवत् 1375 तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के समय के कुछ पीछे तक जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गुलेरी जी के लेख के आधार पर अपने इतिहास में आदिकाल के अंतर्गत 'उत्तर उपभ्रंश' की रचनाओं को यह मानते हुए भी स्थान दिया है कि उनके आधार पर उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारण नहीं की जा सकती। राहुल सांकृत्यायन ने भी 'उत्तर उपभ्रंश' की रचनाओं को हिन्दी की रचनाएं माना है। 'हिन्दी के प्राचीन कवि और उनकी कविताएं' लेख में उन्होंने हिन्दी-कविता का आदि-रूप नालन्दा और विक्रमशीला के सिद्धों द्वारा बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व के प्रचार की भाषा में सिद्ध किया है। इसी प्रकार डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में गुलेरी जी और राहुल जी के मतों को स्वीकार करते हुए 'उत्तर उपभ्रंश' के कवियों को स्थान दिया है।

शुक्लजी के साथ कुछ-कुछ सहमत होते हुए भी डॉ. श्यामसुन्दरदास तथा डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश-काव्य का विवेचन आदिकाल के भीतर करते रहे हैं। द्विवेदी जी ने अपभ्रंश और हिन्दी के संबंध में यह मत व्यक्त किया है : 'इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी।... बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था।' इस प्रकार वे अपभ्रंश को हिन्दी से अलग रखना चाहते हैं, फिर भी उन्होंने अपभ्रंश के उत्तरकालीन साहित्य को आदिकाल की सामग्री मानकर उसका विवेचन किया है। उनके वक्तव्य से यह सिद्ध हो जाता है कि 'उत्तर अपभ्रंश' हिन्दी का ही आरम्भिक रूप है। उनके अनुसार अपभ्रंश में शब्दों के तद्भव रूपों के प्रयोग की प्रकृति थी, किन्तु जब उसमें तत्सम रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति विकसित होने लगी तब एक नयी भाषा का रूप उभरा, जिसे हिन्दी कहना चाहिए।

साहित्य के आरम्भ का निर्णय भाषा के आधार पर तो किया ही जा सकता है, इसके अतिरिक्त एक दूसरा तत्त्व भी है जिसे हम साहित्य की चेतना कह सकते हैं। सिद्धों की रचनाओं में यह तत्त्व नये रूप में विकसित होता हुआ दिखायी देता है तथा अपभ्रंश के साहित्य से उनका खुला विद्रोह भी झलकता है। सिद्धों की वस्तु-दृष्टि जिस धार्मिक चेतना पर आधारित है उसका सीधा संबंध 'नाथ साहित्य' से होता हुआ हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों से जुड़ता है। अगर हम 'सिद्धनाथ-साहित्य' को हिन्दी साहित्य से हटाकर अपभ्रंश साहित्य में रख दें, तो फिर हिन्दी का समस्त भक्ति-साहित्य 'जड़' और 'तने' से कटे वृक्ष की तरह निराधार हो जायेगा। अत: भाषा के विकास की आरम्भिक स्थिति तथा उत्तरवर्ती धार्मिक चेतना के मूल रूप को ध्यान में रखकर सिद्ध-साहित्य से हिन्दी साहित्य का आरम्भ मानना पूर्णत: युक्ति संगत है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कहने का मकसद स्पष्ट है कि यदि हम हिन्दी व्यवहार को सिद्धों की रचनाओं में पाते हैं तो वहाँ से हिन्दी का विकास मानने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। भाषा और अनुभूति दोनों स्तरों पर उस परंपरा का विकास बाद के साहित्य में भी मिलता है। नाथ पंथियों की भाषा पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं ''इस प्रकार नाथ पंथियों के इन जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्यभाषा से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रजभाषा का था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया, जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।'' भाषा और साहित्य की इस तथ्यगत वास्तविकता को स्वीकार करने के बाद भी यदि हम उन्हें साहित्य में जगह न दें तो हमारे सिद्धान्त की कमजोरी है। यह एक अलग विवाद है कि सरहपा को प्रथम कवि माने या पुष्य को। यदि तत्सम प्रधान भाषा के प्रयोग को हिन्दी का मुख्य आधार बनाया जाता है तो सरहपा पहले कवि ठहरते हैं।

हिन्दी भाषा के आदिकाल की प्रारंभिक सीमा की तरह अंतिम सीमा भी विवादपूर्ण है। गियर्सन आदिकाल की अंतिम सीमा 1400 ई. तक मानते हैं। मिश्रबंधु आदिकाल की अंतिम सीमा 1529 ई. स्वीकार करते हैं। रामचंद्र शुक्ल संवेदना के बदलाव के साथ आदिकाल की अंतिम सीमा 1318 ई. स्वीकार करते हैं, परन्तु वे विद्यापति को आदिकाल में रखते हैं। विद्यापति संवेदना की दृष्टि से मूलत: इंद्रिय बोध के कवि हैं। उनकी कविता में मानवीय प्रेम और श्रृंगार की अभिव्यक्ति हुई है। उन्हें भक्तिकाल में नहीं रखा जा सकता है। उनका जीवन बोध प्रेम की अनुभूति से प्रेरित है, लेकिन वे वीर और भक्ति भाव से पूर्ण काव्य की रचना भी करते थे। विद्यापति की कविता का रचनाकाल 1318 ई. के बाद का है। अत: सीमा के सुसंगत विभाजन के लिए काल सीमा को आगे ले जाना होगा। अत: 1400 ई. को आदिकाल की अंतिम सीमा रखा जा सकता है। अमीर खुसरों को भो इस सीमा के अंतर्गत स्थान मिल जाता है। इसलिए आदिकाल की अंतिम सीमा को विद्वानों ने 1400 ई. ही माना है।

1.3.2 आदिकाल का नामकरण—जिन आधारों पर काल विभाजन किया जाता है अंतत: उन्हीं आधारों पर नामकरण की समस्या भी हल होती है। आदिकाल की सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि उसमें किसी प्रवृत्ति की केन्द्रीय भूमिका नहीं हैं। किसी भी जीवित साहित्य के विकास में कई प्रकार की मन: स्थितियों और भावों का विकास साथ–साथ होता है। ऐसी स्थिति में चेतना की बहुकेन्द्रीयता का आभास पूरे साहित्य में होता है। इस प्रकार की साहित्यिक परिस्थिति में किसी एक प्रवृत्ति को केन्द्रीय मानकर उसका नामकरण एक प्रकार से नाइंसाफी है।

हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहासकार 'गार्सादत्तासी' के इतिहास में किसी प्रकार के साहित्यिक काल खंड का कोई विभाजन नहीं है। स्पष्ट दृष्टिकोण के अभाव में यह इतिहास कवि वृत्त संग्रह ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार ठाकुर शिवसिंह सेंगर के 'शिव सरोज' में किसी निश्चित दृष्टिकोण के अभाव में काल विभाजन ठीक से नहीं किया गया है।

आचार्य शुक्ल के पूर्ववर्ती इतिहासकारों में जिन दो इतिहासकारों का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उनमें से एक हैं जार्ज ग्रियर्सन और दूसरे मिश्रबंधु। जार्ज ग्रियर्सन शायद हिन्दी साहित्य के पहले इतिहासकार हैं जिन्होंने कालविभाजन और नामकरण की परम्परा की शुरूआत की और इस प्रकार इतिहास की प्रक्रिया का हल्का–सा आभास दिया।

जार्ज ग्रियर्सन ने ऐतिहासिक प्रक्रिया के तहत इस काल का नामकरण 'चारणकाल' रखा। वे इस काल की आरंभिक सीमा को 643 ई. मानते हैं। लेकिन वे विभाजन और नामकरण के बीच तालमेल नहीं बिठा पाते। वे जिस समय से साहित्य का आरम्भ मानते हैं, हम उस समय में चारणों की प्रवृति को उस प्रकार से उभरते हुए नहीं पाते हैं। वह काल तो नाथों और सिद्धों के साहित्य सृजन का काल है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के प्रथम काल को 'वीरगाथा काल' कहा है। उन्होंने इसका समय 996 ई. से 1318 ईं निर्धारित किया है। वे इस कालावधि में वीरगाथाओं की रचना प्रवृत्ति को प्रधान मानकर चले थे। वीरगाथा नामकरण के लिए उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि 'आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है– धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों से मिलती है। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जब मुस्लमानों की चढ़ाइयों का प्रारम्भ होता है तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति श्रृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे, उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबन्ध परम्परा 'रासो' के नाम से पाई जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा काल' कहा है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस काल को वीरगाथा काल कहने के पीछे आचार्य शुक्ल के सिद्धान्त में मताग्रह दिखाई पड़ता है। आरंभिक साहित्य की विविधतापूर्ण प्रवृत्तियों को छोड़कर वे एक विशिष्ट वर्ग के द्वारा रचे गये साहित्य को अपना आधार बनाते हैं। वे नाथ, सिद्धों और जैनों के साहित्य को छोड़कर साहित्य की संवेदना का विकास देखना चाहते हैं। अत: शुक्ल जी द्वारा दिया गया 'वीरगाथा-काल' नाम भी उचित नहीं रह पाता। अत: अब प्रश्न यह है कि आदिकाल को किस नाम से पुकारा जाये? जहाँ तक अन्य विद्वानों के मतों का प्रश्न है, वे उसे प्रारम्भिक काल (मिश्रबंधु), आदिकाल (डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. रसाल), संधि काल एवं चारण काल (डॉ. रामकुमार वर्मा), सिद्ध-सामन्त-काल (राहुल सांकृत्यायन), वीर-काल (विश्वनाथप्रसाद मिश्र) आदि कई नामों से पुकारते रहे हैं।

निस्संदेह शुक्ल जी ने जनता की चितवृत्तियों के साथ कवि की मनोवृत्तियों के परिवर्तन को आधार बनाकर वीरगाथा-काल नाम दिया है, जिसको तर्कसंगत कहा जा सकता हैं, किन्तु उसकी परिधि बहुत संकीर्ण हो जाती है। आठवीं शताब्दी ईस्वी से आरम्भ होने वाला वह साहित्य उससे छूट जाता है, जिसे भले ही शुल्क जी ने साम्प्रदायिक काव्य कहकर छोड़ दिया हो, किन्तु जो हिन्दी-साहित्य का अनिवार्य अंग है। दूसरी बात यह भी है कि जिन रासों-काव्यों (विजयपाल रासो, खुम्माण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचंद प्रकाश, जयमयंक जस चंद्रिका, हम्मीर रासो, विद्यापति की पदावली, कीर्तिलता, कीर्तिपताका) को वीरगाथा-काव्य माना जाता है, उनका वर्त्तमान रूप तो अप्रामाणिक है ही, कुछ आलोचक उन्हें सर्वांश में भी परवर्ती काल की रचनाएँ सिद्ध करते हैं। अत: रचनाओं की संख्या गिनाकर 'वीरगाथा-काल' नाम सिद्ध नहीं किया जा सकता।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने आदिकाल को संधिकाल और चारणकाल-इन दो खण्डों में विभाजित कर दिया है। प्रथम काल भाषा की ओर संकेत करता है और द्वितीय नाम एक वर्ग का बोध कराता है। स्पष्ट है कि ये दो नाम मिलकर भी किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाते। अत: नामकरण के संबंध में उनका मत निराधार है। राहुल जी द्वारा दिया गया 'सिद्ध-सामन्त-काल' नाम केवल दो वर्गों की ओर संकेत करता है। सिद्ध स्वयं रचनाकार थे, जबकि सामन्त रचना-प्रेरक थे। यह संयोग भी तर्कसम्मत तो है ही नहीं, साथ ही कई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों की रचनाओं की भी उपेक्षा करता है। नाथपन्थी और हठयोगी कवियों तथा खुसरो आदि की काव्य-प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा दिया गया 'वीर-काल' नाम केवल शुक्ल जी के नाम का रूपान्तर है, जो नवीनता से चौंकाता तो है, परन्तु कोई तथ्य नहीं प्रस्तुत करता।

वास्तव में 'आदिकाल' ही ऐसा नाम है जिसे किसी-न-किसी रूप में सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है तथा जिससे हिन्दी-साहित्य के इतिहास की भाषा, भाव, विचारणा, शिल्प-भेद आदि से संबद्ध सभी गुत्थियों सुलझ जाती है। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठ-भूमि का बोध होता है, जिस पर आगे का साहित्य खड़ा है। भाषा की दृष्टि से हम इस काल के साहित्य में हिन्दी के आदि-रूप का बोध पा सकते हैं, तो भाव की दृष्टि से इसमें भक्तिकाल से आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज खोज सकते हैं। जहाँ तक रचना-शैलियों का प्रश्न है, उनके भी वे सभी रूप जो परवर्ती काव्य में प्रयुक्त हुए, अपने आदि-रूप में मिल जाते हैं, इस काल की आध्यात्मिक, श्रृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप परवर्ती साहित्य में मिलता है। अत: 'आदिकाल' ही सबसे उपयुक्त एवं व्यापक नाम है।

1.3.3 भक्ति काल : काल विभाजन और नामकरण—सृजन की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्यकाल जिसे भक्ति काल कहा जाता है अत्यधिक वैभवशाली युग है। जार्ज ग्रियर्सन 1400 ई. से ही भक्ति काव्य की शुरूआत मानते हैं। अत: भक्तिकाल की आरंभिक सीमा 1400 ई. मानना उचित प्रतीत होता है। भक्तिकाल की अंतिम सीमा के निर्धारण में थोड़ा विवाद है। विवाद के कारण केशवदास हैं। केशवदास भक्तिकाल के कवि हैं-या रीतिकाल के, विवाद का यही बिन्दु है। केशवदास का रचनाकाल (1555-1617) है। रचनाकाल की दृष्टि से केशव भक्तिकाल में आते हैं। लेकिन उनकी रचना शैली और साहित्यिक चेतना का स्वर रीतिवादी है। यही एक प्रश्न उठता है कि भक्तिकाल का रूपांतरण किस प्रकार से रीतिकाल में हुआ। भक्ति में प्रेम और समर्पण मुख्य भाव थे। भक्ति का प्रेम तिरोहित होकर स्थूल श्रृंगार का विषय हो गया, और उसमें समर्पण के स्थान पर उपभोग की प्रधानता हो गई। तब भक्ति की संवेदना अवरूद्ध हो गई और रीतिवाद का विकास आरम्भ हुआ। श्रृंगार की आध्यात्मिक अनुभूति के मानवीय अनुभूति बनने में तत्कालीन सामंतों की रूचि ने व्यापक योगदान दिया। वह वास्तविक लौकिक श्रृंगार कम बना कुछ लोगों के मनोरंजन का साधन अधिक बना। जहाँ तक केशव का सवाल है, केशव के पचास वर्ष बाद रीतिकाल की अखंड धारा प्रवाहित होती है। लेकिन साहित्यिक मनोवृत्ति और रचना की भावधारा का मिजाज पहले ही बदल चुका था। उस बदले हुए मिजाज की अभिव्यक्ति को केशव की रचना में आसानी से पहचाना जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

''रामचंद्रिका'' के साथ उन्होंने ''कविप्रिया'' और ''रसिकप्रिया'' को भी रचा था। वस्तुत: केशव के प्रभाव क्षेत्र से मुक्त होकर रीति के चमत्कार क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रहे थे। केशव के साहित्य और जीवन के जो मूल्य सामने आते हैं, वे नि:संदेह रीतिकाल के जीवन मूल्य हैं। केशवदास की रचनाओं में छन्दों की विविधता, अलंकारों की बहुलता एवं चमत्कार प्रियता अधिक है। यह रीतिकाल की मुख्य विशेषता है। रीतिकालीन साहित्य के जो आधार है, जैसे लक्षण ग्रंथ का निर्माण, दरबारी संस्कृति का गुणगान और आश्रयदाता की प्रशंसा, ये सभी बातें केशव के साहित्य में मिलती है। भक्तिकाल का शायद ही कोई कवि हो जिसने आश्रयदाता की छत्रछाया को स्वीकार न किया हो। केशव ने राजाश्रय में कविता को रचा था। इसलिए केशव को संक्रांन्ति काल का कवि मानते हुए भी उन्हें रीतिकाल में ही रखा जा सकता है और भक्तिकाल की अंतिम सीमा को 1643 ई. स्वीकार करना उचित होगा। आचार्य शुक्ल द्वारा खींची गई वह सीमा रेखा हिन्दी साहित्य में मान्य हो चली है।

भक्तिकाल के नामकरण के संबंध में कोई विवाद नहीं है। लगभग सभी साहित्येतिहासकारों ने एकमत से इस नाम का समर्थन किया है। भक्ति तत्कालीन साहित्य का आंतरिक भाव है। भक्ति के प्रकार में भिन्नता मिलती है। लेकिन भक्ति साहित्य की आंतरिक चेतना में कोई विरोध नहीं मिलता है। भक्ति कहाँ तक धर्म और अध्यात्म का विषय है तथा कहाँ इसमें मानवीय गरिमा है, इस पर थोड़ी चर्चा आवश्यक है। भक्ति काव्य का जो सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है वह यह है, कि यदि भक्तिकाव्य की धार्मिक और आध्यात्मिक अनुभूतियों को छोड़ भी दिया जाए, तो भी उसमें मानवीय संवेदना की शीतल छाया मौजूद है। भक्तिकाव्य ने जीवन के प्रश्न को कविता का प्रश्न बनाया है। इसलिए वह दबे स्वर में व्यवस्था को चुनौती देता है। समाज के लिए एक विकल्प की तलाश करता है। उस साहित्य में क्रांति और विद्रोह की चेतना है। भक्ति साहित्य कालजयी इसलिए है कि उसने जीवन की जटिलाओं को काव्य के उद्देश्य के रूप में प्रस्तावित किया।

भक्तिकाल में जीवन मूल्यों को केन्द्र में रखकर भिन्न-भिन्न प्रकार की भक्ति की उपधाराएँ फूटती रही हैं। वैचारिक रेखाओं में भिन्नता के आधार पर उनका अलग पथ बनता गया है। काल विभाजन और नामकरण के लिए इन उपविभाजनों को भी समझना आवश्यक होगा। भक्तिकाल में जो काव्य सामग्री मिलती है उसके दो विभाजन किए गए हैं– निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति। निर्गुण भक्ति के क्रमश: दो विभाजन किए गए हैं, ज्ञानश्रयी शाखा और प्रेममार्गी शाखा। सगुण भक्ति के अन्तर्गत राम भक्ति और कृष्ण भक्ति का अलग-अलग विभाजन किया गया है। निर्गुण भक्त कवि लीलावाद और अवतारवाद के आधार पर सगुणभक्त कवियों से अलग होते हैं। निर्गुण शाखा के कवियों ने लीला और अवतार की परिकल्पना को नहीं माना। उन्होंने निर्गुण और निराकार ईश्वर की उपासना की। फिर ज्ञानश्रयी शाखा में विद्रोह है। इस धारा के संतों ने वर्ण व्यवस्था की पीड़ा को सहा था। इसलिए उनमें सामाजिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश था। प्रेमाश्रयी धारा के सूफी काव्य में प्रेम की पीड़ा है। उनके काव्य में प्रेम की संवेदना है। सगुण भक्ति के अंतर्गत राम भक्ति शाखा का साहित्य सामाजिक मर्यादा और लोकमंगल का साहित्य है। इसी प्रकार कृष्ण भक्ति साहित्य ने प्रधानत: लोकरंजन के पक्ष को अपनी कविता का विषय बनाया है। यथार्थ रूप में भक्ति आंदोलन एक जन आंदोलन था।

1.3.4 रीतिकाल : सीमा निर्धारण और नामकरण— हिन्दी साहित्य के इतिहास में उत्तर मध्यकाल के समय को 1643 ई. 1843 ई. तक स्वीकार किया गया है। यह काल विभाजन आचार्य शुल्क ने किया था जिसे बाद के इतिहासकारों ने भी मान्यता दी। साहित्य के इतिहास में काल विभाजन की एक रेखा नहीं खींची जा सकती है। इस बिन्दु पर पहले चर्चा की जा चुकी है। भक्तिकाल और रीतिकाल के संधि पर केशवदास खड़े हैं। ऐसी स्थिति में काल विभाजन को प्रामाणिक रूप में एक-दूसरे से अलग-अलग करना जटिल है। जटिलता इस अर्थ में है, कि केशव काल की दृष्टि से भक्ति काल में है, लेकिन प्रवृत्ति की दृष्टि से वे रीतिकाल के कवि ठहरते है। साहित्य में इन परिवर्तनों के रेखांकन में कठिनाई होती है। इसलिए साहित्य के इतिहास में 50 वर्ष तक का समय इधर-उधर हो सकता है क्योंकि प्रवृत्ति निर्माण और नये मनोभाव के बनने में इतना समय लग जाता है। समय-सीमा के निर्धारण में इन अंतर्विरोधों को समझाना पड़ेगा, भक्ति और रीति का संयुक्त मनोभाव कब एक दूसरे से अलग होकर अपना पथ तैयार करता है, इसे गणित सैद्धांतिक अवधारणाओं में ग्रहण नहीं किया जा सकता। युग की मनोभूमि और उसके रूचि परिवर्तन को समग्रता में विश्लेषित करने के उपरांत ही परिदृश्य स्पष्ट होता है। हिन्दी-साहित्य का उत्तर-मध्यकाल जिसमें सामान्य रूप से श्रृंगारपरक लक्षण ग्रंथों की रचना हुई, नामकरण की दृष्टि से विद्वानों में पर्याप्त मतभेद का विषय रहा है। मिश्रबन्धुओं ने इसे 'अलंकृत काल' कहा है, जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे 'रीतिकाल', पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 'श्रृंगारकाल' , रामकुमार वर्मा ने और डॉ. रसाल ने 'काव्य कला काल' कहना अधिक उपयुक्त माना है।

''अलंकृत काल'' ''कला-काल'' जितने भी नाम दिए गए हैं, वे सभी नाम रीतिकाल की अपेक्षा सीमित अर्थ देने वाले हैं। यदि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अलंकृत काल कहते हैं, तो इससे मात्र अलंकार का संकेत मिलता है। अलंकृत शब्द युग की कविता का ही विशेष हो सकता है। वह लक्षण ग्रन्थों का विशेषण नहीं हो सकता। जो इस काल में उपलब्ध होते हैं। यह नाम पूरे युग की मानसिक बनावट का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता। कलाकाल से मात्र साहित्यिकला का बोध नहीं होता है, उससे कला के विभिन्न रूपों का बोध होता है। इस नाम से कोई साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं उभरती। साहित्य सृजनात्मक कर्म है लेकिन वह कलाकर्म की कोटि तक इस युग में ही पहुंचता है। किन्तु यह नाम उस काल खंड के साहित्य की आंतरिक या बाह्य संवेदना की किसी मूलभूत विशेषता को प्रतिपादित नहीं करता। ''काव्य कला काल'' एक सामान्य नाम है। ''कलाकाल'' नाम में काव्य को जोड़कर साहित्य और कला की सामूहिक विशेषता की ओर संकेत किया गया है।

इस युग के लिए 'रीति' विशेषण का प्रयोग करने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक ने इसे 'श्रृंगारकाल' कहे जाने में आपत्ति प्रकट नहीं की। किन्तु, इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस युग को 'श्रृंगारकाल' कहना सर्वथा समीचीन है। इस नाम के पक्ष में जो यह तर्क दिया जाता है कि इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृत्ति श्रृंगार-वर्णन की थी, उसके स्वीकार किये जाने में आपत्ति की जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि इस युग में अधिकांश रचनाएं श्रृंगारिक ही हैं, तथापि ये आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए ही लिखी हैं- इनका प्रेरक तत्त्व कवियों की कामवासना नहीं, 'अर्थ' हैं, जो विलासी आश्रयदाताओं से इस प्रकार के काव्य की रचना करके ही प्राप्त किया जा सकता था।

जहाँ तक इस युग को 'रीति' विशेषण-सहित प्रयोग में लाने का प्रश्न है, उसके विषय में यह सहज ही कहा जा सकता है कि ''श्रृंगारकाल की अपेक्षा यह अधिक वैज्ञानिक और संगत है, कारण इसमें रीति संबंधी ग्रंथ ही अधिकांशतः नहीं लिखे गये अपितु इस युग के कवियों की प्रवृत्ति भी ऐसे ही ग्रंथ रचने की थी। इन कवियों ने यदि श्रृंगारिक छन्द रचे भी तो वे सामान्यतः स्वतन्त्र रूप से रचित न होकर श्रृंगार रस की सामग्री के लक्षणों के उदाहरण होने के कारण रीतिबद्ध ही थे। इतना ही नहीं, रीति-निरूपण की यह प्रवृत्ति अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि और परम्परा के साथ आयी थी। भक्तिकाल में ही काव्यशास्त्र लोगों की चर्चा का विषय बन चुका था। नन्ददास द्वारा 'रसमंजरी' जैसा नायिका भेद संबंधी ग्रंथ लिखा जाना तथा तुलसी द्वारा 'धुनि अवरेब कबित गुन जाती, मीन मनोहर ते बहु भांति' आदि कहा जाना इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इसके साथ-ही-साथ केशव, रहीम, सुन्दर आदि अनेक कवियों ने कवि-चर्चा के इस विषय को अग्रसर किया जो आगे चलकर साधारण कवियों तक का वर्ण्य विषय होने के कारण इस युग की प्रवृत्ति का द्योतक हो गया। दूसरे, इस अभिधान को स्वीकार कर लेने में सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसकी परिधि के भीतर केवल वे लक्षण और लक्ष्य ग्रंथ ही नहीं आ जाते जो श्रृंगारिक रचनाओं से युक्त हैं, अपितु वे ग्रंथ भी इसकी परिसीमा के बाहर नहीं पड़ते जो अन्य रसों में काव्यांग-विवेचन के निमित्त रचे गये।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'श्रृंगार काल' कहने के पीछे यह तर्क दिया है कि रीतिकाल कहने से रीतिमुक्त कवियों की उपेक्षा होती है। रीतिकाल की जो स्वच्छंदतावादी धारा है जिसमे घनानंद, बोधा, आलम और ठाकुर जैसे कवि हैं, रीतिकाल कहने से इन कवियों की रचनाधारा उसमें समाहित नहीं होती। लेकिन श्रृंगार काल कहने से भी सभी कवियों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिलता है। भूषण जैसे वीर रस के कवि और कुछ भक्त कवि फिर भी छूट जाते है। इसके अतिरिक्त काव्यांग विवेचन की दृष्टि से लिखित अनेक महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध लक्षण ग्रंथ इसकी सीमा में नहीं आ पाते। काव्यांग विवेचन रीतिकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। स्वच्छंदवादी कवियों का विद्रोह भी इन्हीं लक्षण-ग्रंथों की परिपाटी के विरूद्ध हुआ था। इसलिए वह युग के केन्द्र में है। लक्षण उदाहरण से युक्त बहुसंख्यक रीति ग्रंथों के निर्माण में आचार्यत्व का प्रदर्शन मूल प्रेरक भाव है। यदि परंपरा और पृष्ठभूमि में भक्तिकाल को देखते हैं तो रीतिकाल ने भक्तिकाल से शास्त्रीय विवेचन की परिपाटी को प्राप्त किया। भक्ति जब शास्त्र का विषय हो गया तब उसी समय से रीति के लक्षण भी साहित्य में मिलने लगे। नंददास द्वारा 'रस मंजूरी' जैसे नायिका भेद का ग्रंथ लिखा जाना रीतिशब्द की सार्थकता को सिद्ध करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रीतिकाल शब्द भक्तिकालीन कविता के ढलान को भी सूचित करता है, जब भक्ति अनुभूति का विषय न होकर शास्त्र का विषय हो गई थी। यह बात सच है कि रीति शब्द मानसिक प्रवृत्ति होते हुए भी अनुभूति या संवेदना को प्रतिपादित नहीं करता है। प्रश्न नाम की सार्थकता का नहीं है, उसकी अनेक स्तरीय संवेदना का है, जो रीतिकालि के लिए रूढ़ हो चुका है।

इस पूरे विवेचन के उपरान्त दो इतिहासकारों की इतिहास दृष्टि पर चर्चा करना आवश्यक हो जाता है। आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि एक युग समीक्षक और संस्कृति समीक्षक की दृष्टि है। वे नामकरण के द्वारा पूरे युग और समूची सामंती संस्कृति की विशेषता को एक नाम में बाँधना चाहते हैं। इसलिए उनके यहाँ शब्दों के अर्थ का विस्तार होता है। रीति मात्र पद्धति का पर्याय नहीं होकर एक युग की सोच और उसके मानसिक ढाँचे को प्रतिपादित करता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, जो आधुनिक युग के रीतिवादी आचार्य हैं, उनके द्वारा प्रस्तावित नाम 'श्रृंगार काल' युग संवेदना की दृष्टि से यद्यपि उस काल की प्रधान मनोवृत्ति को व्यक्त करता है लेकिन यह नाम साहित्य की

Jain Vishva Bharati Institute Deemed University, Ladnun

सीमाओं से आगे नहीं जा पाता। रसवादी दृष्टिकोण से आगे नहीं बढ़ पाता। इतिहास में रसवादी मनोभाव को प्रधानता देना आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के इतिहास दृष्टि की सीमा है। आचार्य शुक्ल रीतिकाल के विश्लेषण में साहित्य के साथ उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थिति पर भी विचार करते हैं। उनके द्वारा दिए नाम 'रीतिकाल' में व्यापक कार्य अर्थ की व्यंजना है। जिसमें जीवन और समाज की नई विशिष्टताओं को प्रतिपादित करने की शक्ति है। डॉ. जगदीश गुप्त के शब्दों में कहे तो 'कला काल कहने से कवियों की रसिकता की उपेक्षा होती है श्रृंगार काल कहने से वीररस और राजप्रशंसा की। रीतिकाल कहने से प्राय: कोई भी महत्त्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता उपेक्षित नहीं होती और प्रमुख प्रवृत्ति सामने आ जाती है।''

1.3.5 आधुनिक काल की पृष्ठभूमि— हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल पर चर्चा करने से पूर्व आधुनिक काल की पृष्ठभूमि से परिचित होना अनिवार्य है। वस्तुत: योरोप में राष्ट्रीयतावाद की जो क्रांति आरम्भ हुई उसका औद्योगिक क्रांति से गहरा संबंध था। इस कारण योरोप में राष्ट्रीयतावाद ने एक आक्रामण रूप लिया जिसकी चरम परिणति उपनिवेशवाद था। दूसरी ओर औद्योगिक क्रांति का इतना ही गहरा संबंध उदार मानवीय दृष्टि से भी था, जिसने मानवीय स्वाधीनता अथवा लिबरल दर्शनों को प्रेरित किया। औद्योगिक क्रांति के माध्यम से केवल उपनिवेशवाद ही भारत नहीं पहुंचा, उसके साथ वे कुछ मानवीय मूल्य भी साथ आए थे, जिसे योरोपीय सभ्यता ने गहरे वैचारिक मंथन के बाद प्राप्त किया था। उदाहरण के लिए समता की भावना अथवा मानवीय स्वतन्त्रता कुछ ऐसे जीवन मूल्य थे, जिसे पश्चिमी सभ्यता ने गहन आत्ममंथन के बाद प्राप्त किया था। भारत का बहुविध संपर्क जब पश्चिम से हुआ, तब भारतीय समाज भी तेजी से बदलने लगा। सामाजिक क्षेत्रों में इस प्रभाव ने कई केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियों को, विश्रृंखल और विभाजित समाज को पुन: संगठित करने के लिए प्रेरित किया, जो कई सामाजिक आन्दोलनों के माध्यम से प्रकट हुए। आर्य समाज और ब्रह्म समाज दोनों सामाजिक आंदोलन थे। उनका धार्मिक पक्ष से अधिक सामाजिक भावना पर बल था।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप विज्ञान की उन्नति हुई। विज्ञान की उन्नति का यह परिणाम हुआ कि मनुष्य सभ्यता के केन्द्र में आ गया। इससे मानवीय मूल्यों का महत्त्व बढ़ता गया। विज्ञान ने नैतिकता को ईश्वरपरक न मानकर मानव सापेक्ष माना। विश्व का मानदंड मनुष्य को मानते ही हमारी नैतिकता के आधार में बहुत से अवश्यंभावी परिवर्तन होने लगते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो संवेदना का रूप आधुनिकता हो जाता है। आधुनिक चेतना ने धर्म के आस्थावादी दृष्टिकोण को स्थानांतरित कर इतिहास के प्रश्नों और संशयों को प्रमुखता दी। आधुनिक चेतना ने ऐसी मानसिकता को जन्म दिया, जिसके सहारे भारतीय बुद्धिजीवी और रचनाकार उपनिवेशवाद के शोषण को खुली आँखों से देखने में सक्षम हो सके। वे सामंतों, रजवाड़ों के संधि विग्रहों और गठबंधनों से ऊपर उठकर नई विदेशी सत्ता के राजनैतिक और आर्थिक तंत्र के शोषण को समझ कर, इस निष्कर्ष पर पहुँच सके कि इस शोषण ने हिन्दू और मुस्लिम समान रूप से शोषित हैं। आधुनिक विचार का उदय औपनिवेशिक दासता की छाया में हुआ था, लेकिन उस औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति भारत में आधुनिकता की कसौटी बन गई।

आधुनिक शब्द जीवन के यथार्थ और वास्तविक संदर्भों को व्यक्त करता है। आधुनिक शब्द एक विशेष कालखंड को द्योतित करते हुए भी मध्ययुगीन विचार पद्धति से भिन्न एक नई जीवन दृष्टि की ओर भी संकेत करता है। हमारे काल खंड का संबंध जब इस नई जीवन दृष्टि से होता है, तो बहुत सी चीजों के साथ हमारे संबंध बदल जाते हैं, इतिहास के साथ, तंत्र और श्रम के साथ। इस नये बोध के कारण रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना जागती है। यह नवीनता बाह्य आचारों से ही संबंधित नहीं रहती वरन् यह वैचारिक स्तर पर भी मनुष्य का संस्कार करती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं सदी से आज तक के साहित्य को 'आधुनिक काल' के नाम से अभिहित किया जाता है।

1.3.6 आधुनिक संवेदना के आधार— पृष्ठभूमि को समझ लेने के उपरांत आधुनिक काल का प्रारम्भ कहाँ से होता है, उस पर विचार करना आवश्यक होगा। इसके लिए हमें उन मानंदडों का भी निर्धारण करना होगा, जिसके आधार पर हम मध्यकाल से अलग आधुनिक काल का मूल्यांकन करते है। आचार्य शुक्ल गद्य के उत्थान को प्रधान साहित्यिक घटक मानते हैं। उनके मन में खड़ी बोली गद्य का विकास ही आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवर्तन की सूचना देता है। उस समय देश में एक ऐसी व्यापक प्रयोग की भाषा की आवश्यकता महसूस की जा रही थी, जिसमें क्षेत्रीय सीमा का बंधन न हो। कानपुर कलकत्ता, आगरा, काशी, पटना, भोपाल और मुबई जैसे विविध क्षेत्रों की भाषाई एकता को परस्पर संयोजित करने की सामर्थ्य भी हो। ऐसी भाषा खड़ीबोली ही थी। खड़ीबोली भाषा का प्रयोग विविध क्षेत्रों के लोकानुभव से जुड़ा था। इसलिए उसमें गद्यात्मक अभिव्यक्ति का सामर्थ्य अधिक था। खड़ी बोली गद्य का विज्ञान जन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भाषा के रूप में हो रहा था। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे अनुभव और सोच में जो परिवर्तन आया उसे खड़ी बोली गद्य में रचा जा सकता था। नई सोच ने नई गद्य विद्याओं की प्रस्तावना की, यथा नाटक, कहानी, उपन्यास आदि। खड़ी बोली गद्य के विकास को आधुनिक काल विभाजन और नामकरण का प्रामाणिक आधार मानने के बाद सर्वप्रथम काल विभाजन की सीमाओं से परिचित होना अनिवार्य है। खड़ी बोली गद्य को आधार मानकर कुछ विद्वान फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना काल से ही आधुनिक काल की शुरूआत मानना चाहते थे। फोर्ट विलियम कॉलेज में गिलक्राइस्ट के निर्देशन में चार अध्यापक बोलचाल वाली हिन्दी के गद्य को विकसित करने में अपना योगदान दे रहे थे। सदासुख नियाजी, इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदलमिश्र ने खड़ी बोली गद्य में रचना की। इन रचनाकारों की रचना में भाषा की एकरूपता नहीं थी। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहें तो सदासुख नियाजी में पंडितारूपन था, लल्लूलाल की भाषा में ब्रजभाषापन था, सदलमिश्र की भाषा में पूर्वापन था। दूसरे, इन रचनाकारों की भाषा की शैली में मौखिक परंपरा की शैली मिलती है जिसका आधुनिक चेतना से बहुत अधिक मतलब नहीं था, इसलिए इन लोगों की रचनाओं से आधुनिक काल का प्रारम्भ मानना उचित प्रतीत नहीं होती है।

हिन्दी खड़ी बोली गद्य को प्रतिष्ठित करने में प्रेस की बड़ी भूमिका रही है। प्रेस के कारण समाचार पत्र का निकलना संभव हुआ। समाचार पत्रों के लिए नए ढंग के गद्य की आवश्यकता हुई। देश ने सर्वप्रथम प्रेस की स्थापना सन् 1823 ई. सिरामपुर में हुई। जुगलकिशोर ने सन् 1826 ई. में कलकत्ता से पहला हिन्दी का समाचार पत्र ''उदंतमार्तड'' प्रारंभ किया। धीरे-धीरे वैज्ञानिक विकास भी भारत में हो रहा था। सन् 1851-54 के बीच रेल और डाकतार की सुविधा प्रारम्भ हुई। संचार की सुविधा ने भारतीय जनजीवन के संपर्क सूत्रों को मजबूत बनाया। इसका असर साहित्य पर भी दिखाई पड़ा। इससे विभिन्न भारतीय भाषाओं में आपसी लेनदेन के लिए एक मंच तैयार होता है। इसके साथ ही सन् 1875 ई. में देश में प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का युद्ध भी लड़ा गया था और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को चुनौती दी गई थी।

1.3.7 भारतेंदु युग का काल विभाजन और नामकरण—आधुनिक हिन्दी के विकास की प्रारंभिक सीमा को आचार्य शुक्ल 1843 ई. मानते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा आधुनिक साहित्य का प्रारम्भ 1868 ई. से मानते हैं, जब से भारतेंदु लेखन का प्रारंभ करते हैं। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय 1850 ई. से हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रारम्भ मानते हैं। वैज्ञानिक घटनाओं और राजनैतिक घटनाओं के प्रभाव को देखते हुए हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रारंभ 1850 ई. से मानना उचित प्रतीत होता है। इन घटनाओं के कारण का समय 1850 ई. के आस-पास ही ठहरता है। दूसरा कारण यह है कि 1850 ई. भारतेन्दु का जन्मकाल है। भले ही उनके जन्म से आधुनिकता प्रारम्भ नहीं होती है, लेकिन अन्य घटनाओं के साथ यह भी एक घटना ही है, इसलिए इस वर्ष को आधुनिक संवेदना का प्राथमिक चरण स्वीकार किया जा सकता है। चूँकि आधुनिक युग पूरे कालखंड के नाम का पर्याय है, इसलिए आधुनिक युग की समाप्ति नहीं होती है। आधुनिक युग के अंतर्गत साहित्य विशेष की प्रवृत्ति जिसे सामान्यतया भारतेन्दु काल कहा जाता है, उसकी समाप्ति होती है। उसकी अंतिम सीमा आचार्य शुक्ल 1893 ई. मानते है। डॉ. रामविलास शर्मा और लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय भारतेंदु युग की अंतिम सीमा 1900 ई. मानते हैं। आचार्य शुक्ल के 1893 ई. मानने का कारण यह रहा होगा कि यह वर्ष 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना का वर्ष है। इस संस्था ने हिन्दी प्रचार में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। लेकिन 1893 ई. को भारतेन्दु युग की अंतिम सीमा मानना इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता है कि भारतेन्दु युग की साहित्यिक प्रवृत्ति उस काल में भी सक्रिय थी। अत: 1900 ई. को ही भारतेंदु युग की आखिरी सीमा मानना सही प्रतीत होता है। 1850 ई. से 1900 ई. तक के 50 वर्ष के साहित्य के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास में तीन चार नाम प्रस्तावित किए गए हैं। इस कालखंड के लिए परिवर्तनकाल, पुनर्जागरण काल, आधुनिक काल और नवजागरण काल जैसे कुछ सुझाए गए हैं। परिवर्तन किसी एक कालविशेष का लक्षण नहीं है। परिवर्तन की प्रवृति हर देश और काल के साहित्य में व्याप्त होती है। अत: परिवर्तनकाल नाम में किसी औचित्य का बोध नहीं होता है। पुनर्जागरण का महत्त्व किसी विशिष्ट उद्देश्य से बँधा होता है। पुनर्जागरण का प्रभाव जीवन के विविध अंगों में दिखाई पड़ता है। भारतीय पुनर्जागरण की लहर भारतेंदु युग में ही समाप्त नहीं होती है। उसका प्रचार स्वतन्त्रता काल तक होता है। इतने बड़े कालखंड के साहित्य में इतनी अधिक विविधता मिलती है, कि साहित्यिक संवेदना को मात्र पुनर्जागरण कहकर पहचानने में कठिनाई हो जाती है। अत: पुनर्जागरण काल नाम रखने से काम नहीं चलता है। पुनर्जागरण को भी उपविभाग में बाँटकर देखना अनिवार्य हो जाता है। आधुनिक काल नाम सामान्य सा नाम है। आधुनिक संपूर्ण काल खंड के लिए एक नाम है। इसलिए आधुनिक काल के प्रथम 50 वर्षों के साहित्य को उपविभाग में बाँटना आवश्यक हो जाता है। भारतेन्दु नवजागरण की सूचना देता है अथवा पुनरूत्थान की, उसके संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। अत: यह नाम भी विवाद से परे नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1850-1900 ई. तक के साहित्यिक काल खंड को आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी भारतेन्दु युग नाम से नहीं पुकारते हैं। गद्य की दृष्टि से इसे वे हिन्दी गद्य साहित्य का प्रवर्तनकाल तथा काव्य की दृष्टि से इसे वे नई धारा नाम देते हैं। उन्होंने अपने इतिहास में स्थान-स्थान पर हरिश्चन्द्र काल जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। आचार्य शुक्ल आधुनिक काल के विकसित साहित्यिक मनोभाव में भारतेन्दु की भूमिका को प्रमुख मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में 'बंगदेश में नए ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नई रूचि और भावना का प्रतिबिम्ब आने लगा था, पर हिन्दी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेंदु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए' इस प्रकार हम देखते हैं कि 'भारतेंदु' साहित्य को एक लोकदृष्टि प्रदान करते हैं। उनके युग प्रवर्तक व्यक्तित्व के कारण ही साहित्य का एक कालखंड उनके नाम से पुकारा जाने लगता है। भारतेंदु रचनाकार ही नहीं एक संस्थापक भी थे। उन्होंने साहित्य की रचना ही नहीं की अपितु नये साहित्य के लिए एक वातावरण भी तैयार किया। उनके इन्हीं योगदानों को देखते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस काल को भारतेंदु युग की संज्ञा दी है।

1.3.8 द्विवेदी युग— आधुनिक हिन्दी साहित्य का दूसरा काल 1900 ई. के आसपास शुरू होता है। सरस्वती पत्रिका का आरंभ इसी वर्ष हुआ था। अधिकांश विद्वान सरस्वती पत्रिका के प्रारंभ से द्विवेदी युग की शुरूआत मानते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका का संपादन 1903 में संभाला था।

हिन्दी कविता को श्रृंगारिकता से राष्ट्रीयता, जड़ता से प्रगति तथा रूढि से स्वच्छन्दता के द्वार पर ला खड़ा करने वाली बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दाशकों का समधिक महत्त्व है। इस काल-खण्ड के पथ प्रदर्शक, विचारक और सर्वस्वीकृत साहित्य-नेता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर इसका नाम ''द्विवेदी-युग'' उचित ही है। वैसे, इसे 'जागरण-सुधार-काल' भी कहा जाता है। भारतीय इतिहास में यह समय ब्रिटिश शासन के दमन चक्र और कूटनीति का काल है। सन् 1857 के विद्रोह के पश्चात् 1858 में महारानी विक्टोरिया के सहृदयतापूर्ण घोषणा-पत्र से भारतीय जनता आशान्वित हो गयी थी, कुछ सुधार हुए भी, अतएव भारतेन्दुकालीन कवियों ने अंग्रेजों की प्रशस्तियाँ लिखी और राजराजेश्वरी विक्टोरिया का जयजयकार किया। किन्तु छोटे-छोटे सुधारों के अतिरिक्त कुछ नहीं हुआ। प्रजा ने जो बड़ी-बड़ी आशाएं लगायी थीं, अपूर्ण ही रहीं। अनेक प्रतिगामी एवं काले कानून पास हुए जिनसे जनता पिसती चली गयी। फलतः जनता में असंतोष और क्षोभ की आग भड़कती चली गयी। भारतेन्दुकालीन साहित्यकार जहाँ भारत-दुर्दशा पर दुःख प्रकट करके रह गया था, वहाँ द्विवेदीकालीन कवि-मनीषियों ने देश की दुर्दशा के चित्रण के साथ-साथ देशवासियों को स्वतन्त्रता-प्राप्ति की प्रेरणा भी दी- उन्हें आत्मोत्सर्ग एवं बलिदान का मार्ग भी दिखाया।

1.3.9 छायावाद— छायावाद का प्रारम्भ 1918 ई. और संत 1938 ई. माना जाता है तो इन दोनों सीमाओं का आधार इन वर्षों की और इनके आसपास-दो-चार साल पहले या दो-चार साल बाद-की रचनाएँ होती हैं और इसलिए दोनों छोरों को दो चार साल इधर या उधर सरकाया जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक कविता के तृतीय उत्थान की सीमा का आरम्भ 1918 ई. से माना है। 1918 ई. को ही छायावाद की आंरभिक सीमा मानने का कारण यह है कि छायावादी पद्धति की रचनाएँ इसके आसपास प्रकाशित होने लगी थीं। निराला की 'जूही की कली' (1916) के अतिरिक्त पन्त की 'पल्लव' की कुछ कविताओं की रचना भी 1920 ई. के आसपास हो चुकी थी। इसलिए यह स्पष्ट है कि इस काल के आसपास साहित्य में एक नये मोड़ का आरम्भ हो गया था, जो पुरानी काव्य-पद्धति को छोड़कर नयी पद्धति के निर्माण का सूचक था। 1935 ई. में छायावादी काव्य-चेतना को मूर्तिवान करने वाली कृति 'कामायनी' का प्रकाशन हुआ। उधर 1936 ई. में प्रान्तों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल स्थापित हुए, किन्तु जब ब्रिटिश सरकार ने भारतीय प्रतिनिधि दलों से बातचीत किये बिना भारत के विश्व-युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी तो सन् 1939 ई. में मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिये। इससे स्पष्ट है कि 1936 ई. से 1939 ई. तक का समय आधुनिक भारतीय इतिहास में एक नये मोड़ का सूचक है। कांग्रेस के मंत्रिमंडलों में शामिल होने की तरह-तरह से प्रतिक्रियाएं हुई, जो जीवन में एक नयी चेतना के उदय की निशानी थी। इस काल के छायावादी कवि स्वयं भी अपने छायावादी भावबोध का अतिक्रमण करने का प्रयास कर रहे थे। पन्त के 'युगान्त' (1936) और निराला की 'अनामिका' (1938) में अनेक ऐसी रचनाएँ संकलित हैं जो छायावादी संसार से आगे बढ़कर एक नये ठोस यथार्थ के निकट आने का प्रयास कर रही थीं। यह साहित्यिक परिवर्तन कहां तक उक्त राजनीतिक परिवर्तन और उससे उत्पन्न सामूहिक चेतना के परिवर्तन से संबद्ध है, यह अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण और रोचक होगा। वैसे यह स्पष्ट है कि 1938 ई. के आसपास छायावादी काव्यधारा क्षीण होकर एक नये प्रकार के काव्य के आगमन की सूचना दे रही थी। इसलिए 1938 ई. को छायावाद-युग की आखिरी सीमा माना जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.3.10 छायावादोत्तर— छायावादोत्तर काल की रचनाओं की परीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत कालावधि के काव्य-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों हैं। इस बीच का इतिहास कई वादों और धाराओं से होकर गुजरा है। कई-कई जीवन-दृष्टियाँ तथा काव्य की वस्तु और शिल्प संबंधी मान्यताएं अभरी हैं। किसी धारा में व्यक्तिगत अनुभूति का घनत्व अधिक है, तो किसी में सामाजिक अनुभूति की स्फीति। किसी में रोमानी दृष्टि की प्रधानता है, तो किसी में बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की। कृतियों के आधार पर यदि हम इन अनेक दृष्टियों, मान्यताओं और रचना-रूपों का वर्गीकरण करें तो स्पष्ट रूप से पाँच-छह काव्यधाराएँ उभरकर आती लक्षित होती हैं। उन्हें राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, क्रमागत छायावादी काव्यधारा या उत्तर-छायावाद, वैयक्तिक गीतिकाव्य, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता कहा जा सकता है। इस नये साहित्य के आंदोलन के नामकरण और कालविभाजन पर कोई विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं है। उनके वस्तु और तथ्य पर विवाद हो सकता है उनके कालविभाजन और नामकरण पर कोई विवाद नहीं है।

1.4 सारांश

काल विभाजन और नामकरण की विस्तृत चर्चा के उपरांत आप साहित्य के इतिहास में उसके महत्त्व को समझ गए होंगे। साथ ही आप साहित्य की उन प्रवृत्तियों से भी परिचित हो गए होंगे जिनको आधार बनाकर साधारणतया काल विभाजन किया जाता है। किसी भी नामकरण को प्रस्तावित करने के पीछे इतिहासकार का मूल मंतव्य क्या होता है, इसे समझने में भी आपको दिक्कत नहीं हुई होगी। चिंतन की धारा में दो काल विभाग किन बिन्दुओं पर अलग होते हैं और उसका अंतर्विरोध किस प्रकार से प्रकट होता है, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को भी आप समझ गए होंगे। हमने यह भी चर्चा की कि किस प्रकार से अंतर्विरोधी प्रवृत्ति एक ही काल खंड में सक्रिय होती है। उससे हमारे काल विभाग और नामकरण के निर्णय पर क्या असर पड़ता है। किसी नामकरण के लिए कालखंड का समग्रता से देखना कितना आवश्यक है। इतिहास, समाज और साहित्य के रिश्तों की आपसी पहचान को भी आपने इस इकाई में समझने की कोशिश की। काल विभाजन के बहाने आप जनता के उस मनोभाव से भी परिचित हुए होंगे, जिससे विशिष्ट कालखंड में विशिष्ट प्रकार की चेतना निर्मित होती है। वहीं भाषा और संवेदना का मूलाधार है।

1.5 अभ्यास प्रश्न

1. काल विभाजन की समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
2. हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल के नामकरण संबंधी विवादों की चर्चा करते हुए 'आदिकाल' नाम की सार्थकता स्पष्ट कीजिए।
3. भक्तिकाल के काल विभाजन और नामकरण पर विचार कीजिए।
4. आधुनिक काल के विविध कालखंडों के कालविभाजन और नामकरण पर प्रकाश डालिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-2 : आदिकाल

इकाई-2

आदिकाल की पृष्ठभूमि

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 अपभ्रंश का स्वरूप और विकास
2.3 हिन्दी भाषा का विकास
2.4 अपभ्रंश और हिन्दी के बीच के अंतर का प्रामाणिक आधार
2.5 आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि
    2.5.1 राजनीतिक स्थिति
    2.5.2 धार्मिक स्थिति
    2.5.3 सामाजिक स्थिति
2.5.4 सांस्कृतिक परिस्थिति
    2.5.5 साहित्यिक वातावरण
2.6 आदिकालीन साहित्य का वर्गीकरण
    2.6.1 सिद्ध साहित्य
    2.6.2 नाथ साहित्य
    2.6.3 सिद्ध और नाथ में अन्तर
    2.6.4 नाथ पंथ की सांस्कृति विषमता
    2.6.5 जैन साहित्य
    2.6.6 जैन साहित्य के प्रकार
    2.6.7 पौराणिक चरित काव्य
    2.6.8 मुक्तक काव्य
    2.6.9 रहस्यात्मक साहित्य
    2.6.10 जैन रास साहित्य
    2.6.11 जैन रचनाकारों के व्याकरणिक ग्रंथ और साहित्य
    2.6.12 रासो-साहित्य
2.7 रासो साहित्य की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता
    2.7.1 रासो काव्य की पृष्ठभूमि
2.8 लौकिक साहित्य
    2.8.1 ढोला-मारू रा दूहा
    2.8.2 जयचन्द प्रकाश और जयमयंक-जसचन्द्रिका
    2.8.3 वसन्त-विलास
    2.8.4 संदेश रासक
2.9 गद्य रचनाएँ
    2.9.1 विद्यापति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.9.2 अमीर खुसरो
2.10 सारांश
2.11 अभ्यास प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

आदिकाल के साहित्य को समझने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि को समझें। वस्तुतः आदिकाल हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक कालखंड है। आदिकाल, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि किसी भी साहित्य धारा का वह प्रारंभिक या पहला काल-खण्ड होता है जहाँ से उसकी शुरुआत होती है। यों आदिकाल के वास्तविक स्वरूप को जान लेना सहज नहीं है। किन्तु भारतीय चिंतन धारा के उस महत्त्वपूर्ण काल के रूप में इसे जाना जा सकता है जहाँ परस्पर विरोधी तत्वों को एक साथ साहित्य में देखा जाता है। राजनैतिक उथल-पुथल, विदेशी आक्रमण तथा दो-दो सांस्कृतियों के मिलन का परिवेश वहां है। अशांति और बिखराव से भिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति, विविध धर्म, सम्प्रदाय एवं दर्शनों का फैलता प्रभुत्व भी वहाँ है। जन-सामान्य को आकर्षित-भ्रमित करते टोने-टोटके, तंत्र-मंत्र तथा जादू-चमत्कार और जैन, वैष्णव, शैव कापालिक, शाक्त, सिद्ध एवं नाथ आदि कई धार्मिक संप्रदायों की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ भी इस युग के समग्र साहित्य में देखी जाती है, जिनमें अंतराल भी है और विरोध भी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा भी है- ''शायद ही भारतवर्ष के साहित्य में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए, जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुंच गई थीं और दूसरी और अपभ्रंश के कवि हुए, जो अत्यंत सहज सरल-भाषा में संक्षिप्त शब्दों में, अपने मनोभाव प्रकट करते थे ... फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ था और दूसरी ओर निरक्षर संतों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया।'' (हिन्दी साहित्य का आदिकाल) यों तो हिन्दी साहित्य के विकास की शुरुआत भी यहीं से देखी जाती है किन्तु साथ ही परवर्ती हिन्दी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों, काव्य-शैलियों आदि का उद्गम-स्थल भी यही माना जाता है। इस युग के साहित्य में भाषा की दृष्टि से हिन्दी के आदि रूप की जानकारी मिलती है और भाव की दृष्टि से हम इनमें आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रारंभिक रूप को देख सकते हैं। काव्यरूपों के प्रयोग की दृष्टि से भी इस युग के साहित्य का महत्त्व है। ''भाषा की दृष्टि से इसमें भक्तिकाल से आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज खोजे जा सकते हैं। जहाँ तक रचना शैलियों का प्रश्न है, उनके भी वे सभी रूप, जो परवर्ती काल में प्रयुक्त हुए, यहाँ अपने आदि रूप में मिल जाते हैं। इस काल की आध्यात्मिक, श्रृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप परवर्ती साहित्य में लिखा है।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं-डॉ. नगेन्द्र)। इस युग के सिद्धों और नाथों का प्रभाव शक्तिकाल में कबीरादि संत कवियों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ''यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह संपूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा संबंध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयों कबीर आदि ने व्यवहार की है, जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा तथा अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द, सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं। (हिन्दी साहित्य की भूमिका- आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी)।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप बता सकेंगे—

(1) हिन्दी भाषा का विकास
(2) आदिकाल साहित्य की पृष्ठभूमि
(3) साहित्य कैसा था।

2.2 अपभ्रंश का स्वरूप और विकास

अपभ्रंश भाषा का समय 500 ई.पू. से 1000 ई. तक माना जाता है। अपभ्रंश का अर्थ है- भ्रष्ट, विकृत अथवा अशुद्ध। इस नाम का प्रयोग पहले पहल उस शब्द के लिए होता था, जो भाषा के सामान्य मानदंड से गिरा होता था। आरम्भ में संस्कृत के विकृत शब्द रूप के लिए भर्तृहरि, पतंजलि आदि वैयाकरणों ने ''अपभ्रंश'' का प्रयोग किया। धीरे-धीरे इस नाम का अर्थ-विस्तार हुआ और यह भाषा विशेष

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के लिए प्रयुक्त होने लगा। भाषा विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग छठी शताब्दी ईस्वी के आसपास मिलता है। भारतीय आर्यभाषा के विकास में अपभ्रंश प्राकृत के बाद की अवस्था है। इस भाषा में आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के बीच के साहित्य का सृजन हुआ। अपभ्रंश मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की अंतिम कड़ी और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की जननी है। हिन्दी भी उनमें से एक है। इसलिए हिन्दी साहित्य को समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य को समझना जरूरी है।

आदिकाल में हिन्दी-साहित्य के समानान्तर संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य की भी रचना हो रही थी। इनमें से संस्कृत-साहित्य का तो सामान्य जनता तथा हिन्दी कवियों पर उतना प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ रहा था, किन्तु अपभ्रंश साहित्य भाषा की निकटता के कारण हिन्दी साहित्य के लिए निरन्तर साथ चलने वाली पृष्ठभूमि का काम हो रहा था। वस्तुत: अपभ्रंश का साहित्य विविध प्रकार का है। आज उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य का बहुत बड़ा भाग जैन कवियों द्वारा रचित धार्मिक साहित्य के रूप में मिलता है। जैन कवियों ने पौराणिक कथा-प्रबंध, रहस्य और नीतिपरक कृतियों की रचना की है। जैन अपभ्रंश साहित्य की भांति ही बौद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ भी धार्मिक दृष्टिकोण से लिखी गई है। इन जैन-बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य की एक अन्य धारा-लौकिक साहित्य की धारा, भी उपलब्ध होती है जिसमें श्रृंगार प्रबंध एवं मुक्तक-दोनों प्रकार की रचनाएँ शामिल हैं। केवल समझ के लिए अपभ्रंश साहित्य को निम्नलिखित प्रमुख धाराओं में विभाजित किया जा सकता है।

(1) पुराण साहित्य : अपभ्रंश में प्रमुख रूप से जैनियों द्वारा पौराणिक कथानकों को लेकर साहित्य रचना की गई। इनमें पुष्पदंत का 'महापुराण' और शालिभ्रद सूरि का 'बाहुबलि रास' प्रमुख है। इस धारा के प्राचीन और श्रेष्ठ कवि स्वयंभू है। उन्होंने राम को लेकर 'पउम चरिउ' (पद्म चरित्र) तथा कृष्ण को लेकर रिट्ठणेमिचरिउ (आरिष्ठ नेमिचरित) की रचना की।

(2) चरित्र काव्य : चरित्र काव्य या चरित काव्य लोकप्रिय व्यक्तियों के जीवन चरित्र हैं। इस साहित्य धारा के अंतर्गत कवि पुष्पदंत के 'णायकुमार चरित्र' (नागकुमार चरित) तथा 'जसहर चरिउ' (जसहर चरित) आदि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

(3) कथा काव्य : लोकप्रिय व्यक्तियों के चरित काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश में कुछ ऐसे चरित काव्य भी लिखे गए जिसका मुख्य पात्र या तो कवि की कल्पना से उत्पन्न होता था या उसे लोक कथाओं से लिया गया होता था। कथा काव्य के अंतर्गत 'धनपाल' द्वारा रचित 'भविसयत्त कहा' या 'भविष्यदन्त कथा' का नाम उल्लेखनीय है।

(4) जैन कवियों का नीतिपरक साहित्य : जैन कवियों ने दोहों के माध्यम से मुक्तक काव्य की भी रचना की। इनमें जीवन के आदर्शों का वर्णन है। इनमें रहस्यवादी साधना का स्वर भी सुनाई पड़ता है। 'जोइन्दु' का 'परमात्म प्रकाश' तथा 'रामसिंह' का 'पाहुड़ दोहा' अपभ्रंश नीतिपरक साहित्य की प्रमुख कृतियाँ हैं।

(5) बौद्ध सिद्ध काव्य : बौद्ध सिद्ध कवियों ने रहस्य साधना संबंधी अपनी काव्य रचना अपभ्रंश में ही की। ये सिद्ध कवि जैन कवियों के सामानान्तर पूर्वी प्रदेशों में साहित्यिक अपभ्रंश में काव्य रचना कर रहे थे। इस धारा के अन्तर्गत 'सरहपा' और 'कण्हपा' के 'दोहा कोष' उल्लेखनीय हैं। जैन कवियों के समान ही इन सिद्ध कवियों ने अन्त: साधना पर बल दिया।

(6) आदिकालीन रचनाएं : हम जिसे हिन्दी साहित्य का आदिकाल कहते हैं, उसकी कई रचनाएँ अपभ्रंश में हैं। 'रासो साहित्य' के अन्तर्गत अब्दुर्ररहमान की कृति 'संदेश रासक' अपभ्रंश में ही रचित है। यह एक संदेश काव्य है जिसमें सर्वाधिक 'रासक छंद' का प्रयोग किया गया है।

संस्कृत के आचार्यों और अपभ्रंश कवियों ने अपभ्रंश को देशभाषा कहा है। महान अपभ्रंश कवि स्वयंभू और पुष्पदंत ने अपनी भाषा को 'ग्रामीण भाषा' अथवा 'देशी भाषा' कहा है। वस्तुत: प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और अनेक लोक भाषाएँ होती है। इन्हीं लोक भाषाओं से साहित्यिक भाषा जीवन का रस प्राप्त करती है और इस प्रकार यह जीवंत बनी रहती है। जब साहित्यिक भाषा जनता से दूर हटती है और केवल पंडितों की भाषा रह जाती है, तब यह भाषा मृत हो जाती है और उसका स्थान कोई लोकभाषा ले लेती है। कालान्तर में यही लोकभाषा साहित्यिक भाषा बन जाती है और भाषा के विकास का यह क्रम लगातार चलता रहता है। वैदिक काल में छन्दस् साहित्यिक भाषा थी और संस्कृत लोकभाषा। बाद में छन्दस् ने लोकभाषा से शक्ति अर्जित की और संस्कृत के रूप में नई साहित्यिक भाषा सामने आई। जब संस्कृत साहित्यिक भाषा के रूप प्रतिष्ठित थी, उस समय प्राकृत लोकभाषा के रूप में इसके समानान्तर चल रही थी। जब संस्कृत पंडितों की भाषा रह गई और जनता से उसका संपर्क टूट गया, तब प्राकृत ने धीरे-धीरे साहित्यिक भाषा का रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ले लिया। इसी प्रकार, जब प्राकृत रूढ़ और बद्ध हो गई तब अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आई। आगे चलकर अपभ्रंश का युग भी समाप्त हुआ और आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य की रचना की जाने लगी। पर अपभ्रंश को देशभाषा कहा जाए या नहीं इस पर विद्वानों के बीच काफी मतभेद है। कुछ विद्वान जैसे पिशेल, ग्रियर्सन, सुनीति कुमार चटर्जी आदि अपभ्रंश को 'देशभाषा' मानते हैं, जबकि याकोबी, कीथ, ज्यूल बलाख आदि विद्वान अपभ्रंश को देशभाषा नहीं मानते हैं। वे इनता अवश्य स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश में देशभाषा के अनिवार्य तत्व मौजूद थे।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि साहित्यिक प्राकृत का देश भाषाओं के साथ संपर्क हुआ और इस प्रकार भारतीय आर्यभाषा की अपभ्रंश अवस्था की शुरूआत हुई। इस सिलसिले में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत द्रष्टव्य है : ''जब से प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गई तभी से अपभ्रंश साहित्य का अविर्भाव समझना चाहिए। प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य रचना के लिए रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल की थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गयी तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।''

2.3 हिन्दी भाषा का विकास

हिन्दी भाषा के विकास को समझने से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि किसी भी भाषा के विकास में जनमानस की क्या भूमिका होती है। भाषा में रचनात्मक क्षमता तभी तक होती है, जब तक यह लोकसामान्य के अनुभव से जुड़ी होती है। भाषा जब लोक जीवन से अलग होकर कुछ वर्ग तक सीमित होने लगती है, तब उसमें एक प्रकार की जड़ता आने लगती है। फिर रचनात्मक प्रतिभा उस जड़ता को त्याग कर नये मनोभाव के अनूकूल नई भाषा की रचना करती है। उदाहरण के लिए हम रीतिकालीन भाषा के विरूद्ध खड़ी बोली की प्रतिष्ठा का उदाहरण दे सकते हैं। रीतिकाल में जीवन के प्रति यथास्थितिवादी दृष्टिकोण ने भाषा को जड़ बना दिया। इसीलिए आधुनिक संवेदना के विकास के साथ भाषा परिवर्तन अनिवार्य हो गया। इसी प्रकार की घटना आदिकालीन भाषा में भी घटित हुई। प्राकृत जब से पुस्तकों की भाषा हो गई, उसी समय से बोलचाल की भाषा ने नया स्वरूप ग्रहण किया। इस भाषा को अपभ्रंश भाषा कहा गया। लेकिन इस बात जिस पर ध्यान देना चाहिए, वह यह कि जब यह कि जब तक वह बोलचाल की भाषा थी तब तक उसे देशभाषा कहा जाता था लेकिन जब यह साहित्य की भाषा हो गई तक उसका नाम अपभ्रंश चल पड़ा।

देशभाषा से अलग होकर अपभ्रंश साहित्य की अभिव्यक्ति की भाषा हो गई। भाषा जब देशभाषा से अलग हुई तो उसमें शास्त्रीय जैसी प्रवृत्ति पनपने लगी। अपभ्रंश के परिनिष्ठित भाषा के रूप से अलग देशभाषा और अपभ्रंश के मेलजोल से एक नई भाषा विकसित हो रही थी। यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा थी। अपभ्रंश के आचार्य हेमचंद्र दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा करते हैं। प्रथम प्रकार की वह अपभ्रंश भाषा जिसका व्याकरण उन्होंने स्वयं लिखा था। इस अपभ्रंश भाषा में जैन कवियों और आचार्यों ने रचना की थी। इस भाषा का रिश्ता अपभ्रंश के नागर रूप से था। इसके साथ ही एक दूसरे प्रकार की अपभ्रंश भाषा भी प्रचलित हो रही थी। इसे हेमचन्द्र ने ग्राम्यभाषा कहा है। बौद्ध सिद्धों के दोहे और संदेश रासक जैसे काव्य इस ग्राम्य भाषा के उदाहरण हैं। ग्राम्यभाषा में रासक, डोम्बिका आदि लोक प्रचलित गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते थे। इसी भाषा का आगे चलकर हिन्दी भाषा के रूप में विकास हुआ। वस्तुतः यह भाषा छंद, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और विषय वस्तु की दृष्टि से अपभ्रंश के परिनिष्ठित रूप का ही विकास है, परन्तु उस भाषा का मिजाज बदला हुआ है। भाषा के मिजाज बदलने का प्रमुख कारण जीवन और समाज के स्थापित कर्मकांड के प्रति विद्रोह था। यह विरोध हमें सिद्धों और नाथों के साहित्य में देखने को मिलता है। इसीलिए हिन्दी भाषा के प्रारंभिक रूप की जानकारी भी इन्हीं की रचनाओं से मिलती है। स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है ''अपभ्रंश या प्राकृतभास हिन्दी के पदों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बोद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।'' कहना पर्याप्त है कि अनुभूति बदलने से साहित्य की भाषा में भी परिवर्तन होने लगा। नई अनुभूति ने नई भाषा की तलाश की।

ग्यारहवीं सदी के पहले से ही भारत पर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गए थे और लगभग दो सौ वर्षों में उन्होंने संपूर्ण भारत पर अपना अधिकार जमा लिया था। वैसे तो उस समय उनकी अपनी भाषा या राजभाषा फारसी थी किन्तु भारतीयों के साथ व्यवहार एवं संपर्क करने के लिए उस समय प्रचलित प्राचीन हिन्दी को ही साधन-माध्यम बनाया गया। धीरे-धीरे आदिकाल के आगामी वर्षों में इसी प्राचीन हिन्दी से विकसित अनेक रूप सामने आ गए। इन्हीं रूपों में से एक रूप डिंगल था जिसका संबंध राजस्थानी साहित्य से है। डिंगल साहित्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की दो प्रमुख रचनाएँ मानी जाती हैं– श्रीधर कृत 'रणमल छंद' और कन्लौल कृत 'ढोला मारू रा दूहा'। हिन्दी भाषा का एक दूसरा रूप भी विकसित हुआ जिसे 'पिंगल' के नाम से अभिहित किया गया। पिंगल वस्तुत: मध्य देश की साहित्यिक ब्रजभाषा का ही नाम था। इसी युग में 'पिंगल' के अतिरिक्त हिन्दी का एक तीसरा रूप भी मिलता है जिसे कुछ विद्वानों ने 'हिन्दवी' के नाम से पुकारा। हिन्दी के इस रूप को हम तेरहवीं शती के आसपास अमीर खुसरो के साहित्य में देख सकते हैं। यह हिन्दी भाषा के रूप से अलग है। वास्तव में यह भाषा का वह रूप है जो उस युग की सामान्य जनता प्रयोग में लाती होगी।

हिन्दी भाषा के आरंभ से ही हिन्दी साहित्य के आरम्भ पर विचार किया जा सकता है। 'इस भाषा का विकास एक जनभाषा के रूप में हुआ है। कोई भी जनभाषा अपने प्रवाह की अक्षुण्णता से सदा एकरूप नहीं रह सकती। स्थान और काल के भेद में उसमें रूप भेद भी उत्पन्न हो जाता है, किन्तु जब तक उन रूपों की तात्विक समानता सुरक्षित रहती है तब तक वे एक ही भाषा का बोध कराते हैं।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द)

आदिकालीन हिन्दी साहित्य के विकास में उस समय उपलब्ध धार्मिक साहित्य जैसे जैन, बौद्ध, नाथ, सिद्ध आदि का बहुत बड़ा योगदान परिलक्षित होता है। जैन साहित्य का अध्ययन करने पर हम देखेंगे कि उसकी भाषा हिन्दी के आदिकालीन स्वरूप का परिचय देती है। वास्तव में यह भाषा अपभ्रंश से प्रभावित है। प्राचीन हिन्दी के अंतर्गत बौद्धों एवं सिद्धों के साहित्य में पश्चिमी एवं पूर्वी अपभ्रंश के शब्दों का मिला–जुला रूप देखने को मिलता है। बौद्धों की एक शाखा थी वज्रयान, इसी शाखा से संबद्ध गोरखनाथ ने नाथ पंथ की स्थापना की। नाथ पंथियों का एकेश्वरवाद में विश्वास था और वे मूर्ति पूजा के विरोधी थे।

उनकी भाषा प्राचीन पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के मिश्रित रूप में थी। हिन्दी के प्राचीन रूप को विकास की ओर अग्रसर करने में आदिकालीन रासो साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस क्षेत्र में बीसलदेव रासो और पृथ्वीराज रासो का विशेष महत्त्व है। बीसलदेव रासो की भाषा में डिंगल तथा पिंगल दोनों ही भाषाओं के रूप दृष्टिगत होते हैं परन्तु पृथ्वीराज रासो की भाषा में कहीं हिन्दी, कहीं राजस्थानी मिश्रित हिन्दी, कहीं ब्रजभाषा के रूप, कहीं विकृत अपभ्रंश के रूप उपलब्ध होते हैं। यद्यपि पृथ्वीराज रासो की भाषा को विद्वानों द्वारा पिंगल बताया गया है जो ब्रजभाषा का ही एक रूप है।

तेरहवीं शताब्दी के आसपास विकसित हिन्दी के एक अन्य रूप 'हिन्दवी' की झलक हमें अमीर खुसरो के साहित्य में दिखाई देती है। खुसरो की पहेलियाँ, ढकोसले, दो सखुन आदि में हिन्दी के सरल स्वाभाविक एवं बोलचाल की भाषा के रूप के दर्शन होते हैं। उदाहरण:

दो /सखुन

सितार क्यों न बजा ?
औरत क्यों न नहाई–परदा न था!

चौदहवीं शताब्दी में मुसलमान शासकों द्वारा दक्षिण भारत पर भी आक्रमण होने से इन शासकों के साथ मौलवी एवं व्यापारियों आदि का भी दक्षिण भारत में आगमन हो गया। उस समय राजधानी के आसपास बोली जाने वाली भाषा को ये लोग अपने साथ ले गए। अब दक्षिण भारत के निवासियों के साथ व्यवहार एवं जनसंपर्क के लिए एक ऐसी भाषा का रूप विकसित हुआ जिसमें दक्षिण भारत की भाषाओं के शब्द भी आ गए। धीरे–धीरे भाषा के इस रूप को स्थिरता मिली और यही भाषा चलकर 'दक्खिनी हिन्दी' के नाम से जानी जाने लगी।

2.4 अपभ्रंश और हिन्दी के बीच के अंतर का प्रामाणिक आधार

अपभ्रंश साहित्य और आदिकालीन साहित्य के बीच अंतर बहुत ही क्षीण है। परन्तु उनके बीच के अंतर को स्पष्ट जानना और समझना होगा। इसी अंतर के आधार पर अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के आदिकाल के बीच विभाजन स्पष्ट होगा। स्पष्ट विभाजन नहीं हो सकने का सबसे बड़ा कारण है भाषा का धीमा परिवर्तन। भाषा में परिवर्तन इतिहास की घटनाओं की तरह नहीं होता है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह को विभाजित करने में कठिनाई होती है उसी प्रकार भाषा के प्रवाह को भी एक बिन्दु पर बाँटा नहीं जा सकता है। लेकिन भाषा और व्याकरण की कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो उसे दूसरों से विशिष्ट बनाती हैं। इन्हीं विशिष्टताओं से भाषा के पूर्ववती विकास और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परवर्ती विकास के बीच स्थान निर्धारित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्राकृत भाषा अपभ्रंश और देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश के बीच अपभ्रंश भाषा की कुछ निजी पहचान बनी होगी, जिससे कि हम उसे दोनों प्रकार की भाषाओं से अलग स्थान दे सकें। देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश से हिन्दी का अविर्भाव माना जाता है। लेकिन जब से भाषा में हिन्दी के लक्षण दिखाई पड़ने लगे होंगे तब से हिन्दी भाषा की कुछ अपनी निजी पहचान भी बननी शुरू हो गई होगी। इस निजी पहचान से ही हिन्दी भाषा का विस्तार अपभ्रंश से अलग हो गया होगा।

अब इस बात पर विचार करना आवश्यक होगा कि हिन्दी भाषा की वह अपनी कौन–सी निजी विशिष्टता थी जिसके कारण हम उसे अपभ्रंश भाषा से अलग मानते हैं। सर्वप्रथम भाषा के स्तर पर उसे पहचानना होगा। विद्वानों ने हिन्दी को विशिष्ट बनाने वाली तीन भाषा प्रवृत्तियों की चर्चा की है। प्रथम, क्षतिपूरण दीर्घीकरण, जैसे प्राकृत अपभ्रंश के कन्ज, कम्म कृथ्थ जैसे शब्द हिन्दी में काज, काम, हाथ बन गए। द्वितीय परसर्ग की प्रयोग बहुलता जैसे अधिकरण परसर्ग मन्झहि, मज्झे, मज्झि, मंझ, मधि, महि, मह आदि विविध रूप हैं। तृतीय तत्सम शब्दों के प्रचलन से देश भाषा का विकास माना जाता है। यह हिन्दी भाषा की मूल प्रवृत्ति है जो उसे प्राकृत–अपभ्रंश से अलग करती है। इन्हीं आधारों को ध्यान में रखते हुए आदिकाल की साहित्य सामग्री पर निर्णय किया जा सकता है।

हमने जिन आधारों पर चर्चा की है उन्हीं आधारों के माध्यम से हमारे पास मूल्यांकन की एक कसौटी बन जाने से उसके द्वारा साहित्य को परखने का अवसर प्राप्त हो जाता है। ऊपर हमने जिस कसौटी की चर्चा की है, उनके आधार पर आदिकालीन हिन्दी साहित्य में दो प्रकार की सामग्री उपलब्ध होती है। प्रथम वर्ग में वे रचनाएं आती हैं, जिनकी भाषा तो हिन्दी है परन्तु वह अपभ्रंश के प्रभाव से पूर्णत: मुक्त नहीं है और द्वितीय प्रकार की रचनाएं वे हैं, जिनको अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हिन्दी की रचना स्वीकार किया जा सकता है। अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी की श्रेणी में :

(1) सिद्ध साहित्य

(2) नाथ साहित्य

(3) जैन साहित्य के कुछ ग्रंथ जैसे भरतेश्वर बाहुबलिरास, इत्यादि

(4) रासो साहित्य में हम्मीर रासो को रखा जा सकता है।

कुछ रचनाएं अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त मानी जा सकती हैं। इस श्रेणी में :

(1) खुम्माण रासो

(2) परमाल रासो

(3) चंदनबाला रास

(4) स्थूलिभद्ररास

(5) रेवन्तगिरिरास

(6) नेमिनाथ रस

(7) वसन्त विलास

(8) खुसरो की पहेलियाँ को स्थान दिया जा सकता है।

इस साहित्य को भी पूर्णत: अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त नहीं माना जा सकता लेकिन हिन्दी का प्रभाव इन रचनाओं में अधिक स्पष्टता से दिखाई पड़ता है। इस प्रकार हम शुद्ध अपभ्रंश की रचनाओं से अलग आदिकालीन हिन्दी साहित्य का एक प्रतिमान तैयार कर सकते हैं।

इसके अंतर्गत शुद्ध अपभ्रंश की रचनाओं को जैसे पद्म चरिउ, स्वयंभू छंद, महापुराण, जसहर चरिउ, भविसयत कहा, संदेश रासक आदि को स्वीकार करना उचित नहीं होगा। इसके साथ ही सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य तथा जैन साहित्य की कुछ रचनाओं को हिन्दी से बाहर रखना भी उचित नहीं है। इन रचनाओं के संबंध में आचार्य शुक्ल का मत है कि ये धार्मिक साहित्य हैं, इन्हें साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं दिया जा सकता है। लेकिन धार्मिकता को आधार बनाकर किसी साहित्य को खारिज नहीं किया जा सकता है। यदि ऐसा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संभव हुआ तो भक्ति साहित्य को भी हिन्दी सहित्य से बाहर कर दिया जायेगा। सिद्धों के साहित्य में अवश्य कुछ स्थलों पर वीभत्स वर्णन है। उन्हें साहित्य में स्थान देना उचित प्रतीत नहीं होता, परन्तु भाषा के विकास की दृष्टि से ही सही, उन्हें हिन्दी साहित्य से अलग रखना न्यायपूर्ण नहीं है। नाथों के साहित्य की प्रामाणिकता को लेकर संदेह अवश्य किया जा सकता है, परन्तु उनके साहित्य को त्याग नहीं सकते हैं। जैन साहित्य में तो गृहस्थ जीवन की जटिलताओं और स्वाभाविक अनुभूतियों का वर्णन है। काव्य की प्रामाणिकता की दृष्टि से भी जैन रचनाएं असंदिग्ध हैं। अत: उन्हें भी त्याग नहीं जा सकता है। रासों ग्रंथ तो हिन्दी में ही लिखे गए हैं। रासो साहित्य पर विचार करते हुए एक ही प्रश्न प्रमुख रूप से उठता है– उनकी प्रामाणिकता के संदर्भ में। आदिकालीन साहित्य और मध्यकालीन साहित्य में रचनाओं की भाषा और विषय वस्तु के संदर्भ में विवाद उभरते रहे हैं। उनमें से क्षेपक अंशों पर चर्चा होती रही है। वाचिक और मौखिक परंपरा के कारण विषय वस्तु और भाषा में परिवर्तन होता रहा है। इस विवाद के बाद भी उन्हें साहित्य में स्थान दिया जाता रहा है। प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के गहरे विवाद के बाद भी उन्हें साहित्य से अलग हटाना उचित नहीं है। यदि प्रामाणिकता को आधार बनाकर साहित्य की समीक्षा की गई तो ऐसा भी हो सकता है कि आदिकाल में साहित्य ही उपलब्ध नहीं होगा। क्योंकि इस काल की सभी कृतियों पर कुछ न कुछ विवाद है।

2.5 आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि

साहित्य मानव–समाज की भावात्मक स्थिति और गतिशील चेतना की अभिव्यक्ति है। अत: उसके प्रेरक तत्त्व के रूप में मनुष्य के परिवेश का बहुत महत्त्व है। किसी भी काल के साहित्येतिहास को समझने के लिए उस परिवेश को ठीक प्रकार से समझना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसी दृष्टि से आदिकालीन साहित्य के इतिहास के साथ तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों को जानना उपेक्षित है।

2.5.1 राजनीतिक स्थिति — आदिकाल की अवधि 769 ई. से 1418 ई. तक है। इस काल की राजनीतिक परिस्थिति वर्द्धन–साम्राज्य के पतन से आरम्भ होती है। हर्षवर्द्धन की मृत्यु ने भारत की संगठित सत्ता के खण्ड–खण्ड हो जाने की सूचना दी तथा वे राजपूत–राज्य सामने आये, जो निरन्तर युद्धों की आग में जलते–जलते अन्तत: विशाल इस्लाम–साम्राज्य की नींव में समा गये। आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी तक के भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थिति हिन्दू–सत्ता के धीरे–धीरे क्षय होने तथा इस्लाम सत्ता के धीरे–धीरे उदय होने की करूण कहानी है। इसी ने उस मन:स्थिति को जन्म दिया था जिसमें कोई भी एक प्रवृत्ति साहित्य में प्रधान न हो सकी। यवन–शक्तियों के आक्रमण का प्रभाव मुख्यत: पश्चिम एवं मध्यप्रदेश पर ही पड़ा था। इन्हीं क्षेत्रों की जनता युद्धों तथा अत्याचारों से विशेषत: आक्रान्त हुई थी। यही वह क्षेत्र था, जहाँ हिन्दी भाषा का विकास हो रहा था। अत: इस काल का समस्त हिन्दी–साहित्य आक्रमण और युद्ध के प्रभावों की मन: स्थितियों का प्रतिपालन है।

आदिकाल के इस युद्ध प्रभावित जीवन में कही भी संतुलन नहीं था। जनता पर विदेशी आक्रान्ताओं के अत्याचारों के साथ–साथ युद्ध कामी देशी राजाओं के आत्याचारों का क्रम भी बढ़ता चला गया। वे परस्पर लड़ने लगे और प्रजा पीड़ित होने लगी। पृथ्वीराज चौहान, जयचन्द, परमर्दिदेव आदि की पारस्परिक लड़ाइयां अन्तहीन कथाएं बनाती गयीं। फलत: यदि जनता में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो साहस और वीरता के साथ लड़ते हुए जीना चाहता था, तो एक दूसरा ऐसा वर्ग भी पनपा जो विनाश–लीला देख–देखकर संसारोत्तर बातें सोचने को बाध्य था। अराजकता, गृह–कलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वातावरण में यदि एक कवि आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था, तो दूसरा मरते–मरते भी जीवन का रस भोग लेना चाहता था। एक तीसरा ऐसा भी कवि था जो तलवार के गीत गाकर गौरव के साथ जीना चाहता था। यही इस काल की राजनीतिक परिस्थितियों की एक विचित्र देन है, जिसके फलस्वरूप यदि स्त्री–भोग, हठयोग से लेकर आध्यात्मिक पलायन और उपदेशों तक का साहित्य एक ओर लिखा गया, तो दूसरी ओर ईश्वर की लोक–कल्याणकारी सत्ता में विश्वास करने, लड़ते–लड़ते जीने और संसार को सरस बनाने की भावना भी साहित्य–रचना के मूल में सन्निहित हुई।

2.5.2 धार्मिक स्थिति — ईसा की छठी शताब्दी तक देश का धार्मिक वातावरण शान्त था, विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर मेल–जोल बढ़ने लगा था। वैदिक, यज्ञ, मूर्ति–पूजा तथा जैन एवं बौद्ध उपासना–पद्धतियाँ एक साथ चल रही थीं। किन्तु सातवीं शताब्दी के साथ देश की धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन आरम्भ हुआ। इस समय आलम्बार और नायम्बार सन्त दक्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर एक धार्मिक आन्दोलन लाये। 642 ई. में जब ह्वेनसांग ने दक्षिण भारत की यात्रा की तो वहां बौद्ध धर्म के पतन की झलक पाकर वह बहुत दु:खी हुआ था। उत्तर भारत में भी इस समय यह प्रभाव आ रहा था। वैष्णव मत इस समय अधिक प्रतिष्ठित नहीं था, अत: जनता में या तो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन मत सम्मान पा रहा था या शैव मत।

डॉ. ईश्वरीप्रसाद के विचार से इस समय राजपूत–शौर्य के उदय के कारण ब्राह्मण धर्म की विजय–पताका सर्वत्र फहरा रही थी, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि बौद्ध धर्म भी रूप बदल बदलकर अपनी जड़ें गहरी करने के लिए सर्वत्र प्रयत्नशील था। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, ''हिमालय के पाद–देश में प्रचलित नाथ–पूजा बौद्ध धर्म को प्रभावित करके वज्रयान शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी थी।'' उसकी महायान शाखा के मन्त्र–तन्त्र, जादू–टोने, ध्यान–धारणा आदि के अनेक प्रभाव निम्न स्तर के हृदयों पर छाये हुए थे। जनता हिन्दु–साधुओं की जितनी प्रतिष्ठा करती थी, उतनी ही प्रतिष्ठा बौद्ध सन्यासियों की भी थी। इनके प्रभाव से मनुष्यों में आत्मविश्वास की कमी होती जा रही थी। शैव साधकों का बढ़ता हुआ प्रभाव इस दिशा में और अधिक सहायक हुआ। वे जनता को चौरासी लाख योनियों में भटकने का भय दिखाकर निरूत्साहित करने लगे थे। धार्मिक स्थालों की दुर्दशा हो चली थी। व्याभिचार, आडम्बर, अर्थ–लोभ आदि जिन दोषों का बौद्ध विहारों में प्राधान्य हो गया था, उन्हीं से हिन्दू–मंदिर भी ग्रस्त हो चले थे। पुजारी एवं महन्त धर्म के सच्चे स्वरूप से अपरिचित होते जा रहे थे तथा अधिकार एवं धन का प्रलोभन प्रबल हो चला था। सोमनाथ मंदिर पर किये गये आक्रमण में महमूद की सफलता से जहां एक ओर शैव एवं जैन संघर्ष की सूचना मिलती है, वहां उससे मंदिरों में बढ़े हुए विलास एवं धन–संग्रह का भी परदा खुलता है।

हां, मति–भ्रम का अंत करने वाली एक दार्शनिक लहर दक्षिण भारत से अवश्य आ रही थी, जिसके प्रचारक शंकराचार्य थे। उनके अद्वैतवाद का प्रचार उत्तर भारत को एक नयी प्राण–वायु दे रहा था। यह वायु बढ़ती ही गयी। रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने ज्ञान और भक्ति–प्रधान आध्यात्मिकता का प्रचार किया, किन्तु जन–जीवन पर पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत से पूर्व उसका प्रभाव अधिक गहरा रंग नहीं ला सका। तात्पर्य यह कि आदिकाल की धार्मिक परिस्थितियां अत्यन्त विषम तथा असंतुलित थीं। जन–मानस पर गहरा असन्तोष, क्षोभ तथा भ्रम छाया हुआ था। कवियों ने इसी मानसिक स्थिति के अनुरूप खण्डन–मण्डन, हठयोग, वीरता एवं श्रृंगार का साहित्य लिखा।

2.5.3 सामाजिक स्थिति—पूर्वोक्त राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का देश की सामाजिक परिस्थितियों पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा था। जनता शासन तथा धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। युद्धों के समय उसे बुरी तरह पीसा जाता था। वह ईश्वर की ओर दौड़ती थी, तो सर्वत्र भ्रम और सहायता की स्थिति मिलती थी। जाति–पांति के बंधन कड़े होते जा रहे थे। उच्च वर्ण के लोग भोग करने के लिए थे तथा निर्धन वर्ण के लोग मानो श्रम करने के लिए ही पैदा हुए थे। नारी भी भोग्या मात्र रह गयी थी। वह क्रय–विक्रय एवं अपहरण की वस्तु बनती जा रही थी। सामान्य जन के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। साम्प्रदायिक तनाव बढ़ने के कारण साहित्य और शास्त्र का ज्ञान सामान्य जाति की नारियों व पुरुषों के लिए अप्राप्य बना दिया गया था। सती प्रथा भी इस समय के समाज का एक भयंकर अभिशाप थी। फलत: सामान्य जाति की नारी के लिए पुरुष का जीवन और मृत्यु दोनों ही भयंकर घटना बन जाते थे। अनेक प्रकार के अंधविश्वास बढ़ते जा रहे थे। साधु–संयासियों के शापों और वरदानों की ओर लोगों की दृष्टि रहने लगी थी। योगियों का गृहस्थों पर भयंकर आतंक छाया हुआ था। जीवनयापन के साधन दुर्लभ होते जा रहे थे तथा निर्धनता सदा घेरे रहती थी। भांति–भांति के पूजा पाठ, तन्त्र–मन्त्र तथा जप–तप करके भी लोग दुर्भिक्ष युद्ध तथा महामारियों से संकट नहीं टाल पाते थे। सामाजिक परिस्थितियों की इस विषमता में जीने वाली जनता भाव के स्तर पर निरन्तर ऐसे विचारों की प्यासी रहती थी, जो उसे सान्तवना देकर मानसिक शांति की ओर बढ़ा सके। हिन्दी के कवियों को जनता की इस स्थिति के अनुसार काव्य–रचना की सामग्री जुटानी पड़ी।

2.5.4 सांस्कृतिक परिस्थिति— सातवीं से बारहवीं शताब्दी का भारत एक मिश्रित संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया में था। मिश्रित कहने का अर्थ है कि अनेक धाराएं उसमें आकर मिलीं और मिलकर लय हुई। भारतीय संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का संपर्क परस्पर बढ़ रहा था। प्रारम्भ में ये दोनों संस्कृतियाँ एक–दूसरे के सामने प्रतिद्वन्दी के रूप में जमकर खड़ी होती हैं, पर जैसे–जैसे सत्ता में मुगलों का प्रभाव बढ़ता गया वैसे–वैसे इस्लाम संस्कृति का प्रभाव हिन्दू संस्कृति पर पड़ता गया। तत्कालीन कला और संस्कृति के क्षेत्र में परस्पर आदान–प्रदान को सहज ही देखा जा सकता है। कला के गतिमान और सर्जनात्मक रूप में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही थी। भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों का मिश्रण हो रहा था। स्थापत्य से पहले से चली आ रही भारतीय विशेषताओं के साथ मुस्लिम स्थापत्य के मेहराब का सम्मिश्रण हो चुका था। स्थानीय स्थापत्य कला का भी मुस्लिम स्थापत्य से सहयोग बढ़ रहा था, उदाहरण के लिए राजपूताना शैली और गुजराती शैली का नाम गिनाया जा सकता है। संगीत के क्षेत्र में नये–नये वाद्य यंत्रों और नए रागों का प्रचलन बढ़ रहा था। सारांश यह कि भारतीय संस्कृति के समावेशी तत्व का विकास हो रहा था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.5.5 साहित्यिक वातावरण —इस काल में साहित्य रचना की तीन धाराएं बह रही थीं। प्रथम धारा संस्कृत–साहित्य की थी, जो एक परम्परा के साथ विकसित होती जा रही थी। दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिन्दी भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य की थी। नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नौज एवं कश्मीर संस्कृत–साहित्य–रचना के केन्द्र रहे और इस बीच अनेक आचार्य, कवि, नाटककार तथा गद्य लेखक उत्पन्न हुए। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, भोजदेव, मम्मट, राजशेखर, विश्वनाथ, भवभूति, श्रीहर्ष तथा जयदेव इसी युग की देन है। इसी काल में शंकर, कुमारिलभट्ट, भास्कर, रामानुज आदि आचार्य हुए। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत एवं उपभ्रंश का श्रेष्ठ साहित्य भी प्रभूत मात्रा में इसी युग में लिखा गया। जैन आचार्यों ने मध्यप्रदेश के पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र में रहकर संस्कृत के पुराणों को नये रूपों में प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए प्राकृत अपभ्रंश के साथ पुरानी हिन्दी को भी माध्यम बनाया। इसी प्रकार पूर्वी सीमान्त पर सिद्धों ने अपभ्रंश के साथ लोक भाषा हिन्दी को रचनाओं में प्रयुक्त किया। इस काल का साहित्य स्पष्टत: राजा, धर्म और लोक के तीन आश्रयों में विभाजित हो चुका था। इनकी भाषाएं भी प्राय: निश्चित हो चुकी थीं। संस्कृत–प्रधानत: राज–प्रवृत्ति को सूचित करती थी, अपभ्रंश धर्म की भाषा बन गयी थी। तथा 'हिन्दी' जनता की मानसिक स्थितियों एवं भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर रही थी। संस्कृत के कवियों एवं लेखकों को तत्कालीन परिस्थितियाँ अधिक प्रभावित नहीं करती थीं। वे काव्य और शास्त्र के विनोद में ही अपनी रचनात्मक प्रतिभा का उपयोग कर रहे थे। प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवि एवं लेखक धर्म–प्रचार में लगे हुए थे, साहित्य–तत्त्व उनकी रचनाओं का सहायक अंग था। केवल हिन्दी ही इस काल की ऐसी भाषा थी, जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में मुखर हो रही थी।

2.6 आदिकालीन साहित्य का वर्गीकरण

हिन्दी साहित्य के आदिकाली में जो साहित्य उपलब्ध होता है उसमें भाषा और प्रवृत्ति दोनों ही दृष्टियों से वैविध्य पाया जाता है। इस काल के साहित्य में धार्मिक, श्रृंगारिक, वीररस–प्रधान आदि अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने को मिली है। अध्ययन की सुविधा के लिए आदिकालीन साहित्य को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :-

(1) धर्म संबंधी साहित्य

(क) सिद्ध साहित्य (ख) नाथ साहित्य (ग) जैन साहित्य

(2) रासो काव्य

(3) लौकिक साहित्य

(4) गद्य रचनाएं

6.1 सिद्ध साहित्य

सिद्धों ने बौद्ध–धर्म के वज्रयान तत्व का प्रचार करने के लिए जो साहित्य जन–भाषा में लिखा, वह हिन्दी के सिद्ध–साहित्य की सीमा में आता है। राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें सिद्ध सरहपा से यह साहित्य आरम्भ होता है। इन सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा एवं कुक्कुरिपा हिन्दी के मुख्य सिद्ध कवि है। यहां संक्षेप में इनके व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दिया जा रहा है।

सरहपा:– ये सरहपाद, सरोजवज्र, राहुलभद्र आदि कई नामों से प्रख्यात हैं। जाति से ये ब्राह्मण थे। इनके रचना–काल के विषय में सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। राहुलजी ने इनका समय 769 ई. माना है, जिससे अधिकांश विद्वान सहमत हैं। इनके द्वारा रचित बत्तीस ग्रंथ बताये जाते हैं, जिनमें से 'दोहाकोश' हिन्दी की रचनाओं में प्रसिद्ध है। इन्होंने पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया है तथा गुरु–सेवा को महत्त्व दिया है। ये सहज भोग–मार्ग से जीव को महासुख की ओर ले जाते हैं। इनकी भाषा सरल तथा योग्य है एवं काव्य में भावों का सहज प्रवाह मिलता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

नाद न बिन्दु न रवि न शशि मण्डल, चिअराअ सहाबे मूकल।
अजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक, निअहि बोहिमा जाहु रे लांक।
हाथेरे कांकाण मा लोउ दापण, अपणे अपा बुझतु निअन्मण।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सरहपा की इस कविता से स्पष्ट है कि उनकी भाषा तो हिन्दी ही है, केवल उस पर यत्र-तत्र अपभ्रंश का प्रभाव है। भाव और शिल्प की जो परम्परा संत-साहित्य में जाकर नये रूप से उभरी, उसका बीज-रूप सरहपा के काव्य में द्रष्टव्य है।

शबरपा: इनका जन्म क्षत्रिय-कुल में 780 ई. हुआ था। सरहपा से इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था। शबरों का-सा जीवन व्यतीत करने के कारण ये शबरपा कहे जाने लगे। 'चर्यापद' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। ये मोह-माया का विरोध करके सहज जीवन पर बल देते हैं और उसी को महासुख की प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं। इनकी कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं।

हेरि ये मेरि तइला बाड़ी खसमें समतुला,

बुकड़ए सेंरे कपासु फुटिला।
तइला वाड़िर पासेर जोहणा वाड़ी ताएला,
फिटेलि अंधारि रे आकाश फुलिआ॥

लुइपा : ये राजा धर्मपाल के शासन-काल में कायस्थ-परिवार में उत्पन्न हुए थे। शबरपा ने इन्हें अपना शिष्य बनाया था। इनकी साधना का प्रभाव देखकर उड़ीसा के तत्कालीन राजा तथा मंत्री इनके शिष्य हो गऐ थे। चौरासी सिद्धों में इनका सबसे ऊंचा स्थान माना जाता है। इनकी कविता में रहस्य-भावना की प्रधानता है। एक उदाहरण देखिए:

क्राआ तरूवर पंच विडाल, चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिअ महासुह परिमाण, लुइ भरमइ गुरु पूच्छि अजाण॥

डोम्मिपा: मगध के क्षत्रिय-वश में 840 ई. के लगभग इनका जन्म हुआ था। विरूपा से इन्होंने दीक्षा ली थी। इनके द्वारा रचित इक्कीस ग्रंथ बताये जाते हैं, जिनके 'डोम्बि-गीतिका', 'अक्षर द्विकोपदेश' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण इस प्रकार है :

गंगा जउना माझेरे बहर नाइ।, तांहि बुड़िली मातंगि पोइआली ले पार करई।
बाहतु डोम्बी बाह लो डोम्बी वाटत भइल उधारा।, सद्गुरु पाऊ पए जाइव पुणु जिणउरा॥

कण्हपा : इनका जन्म कर्नाटक के ब्राह्मण-वंश में 820 ई. में हुआ था। बिहार के सोमपुरी स्थान पर ये रहते थे। जालन्धरपा को इन्होंने अपना गुरु बनाया था। कई सिद्धों ने इनकी शिष्यता स्वीकार की थी। इनके लिखे चौहत्तर ग्रन्थ बताये जाते हैं, जिनमें अधिकांश दार्शनिक विषयों पर हैं। रहस्यात्मक भावनाओं से परिपूर्ण गीतों की रचना करके ये हिन्दी के कवियों में प्रसिद्ध हुए। इन्होंने शास्त्रीय रूढ़ियों का भी खण्डन किया है। इनकी कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

आगम वेअ पुराणे, पंडित मान बहंति।
पक्क सिरिपाल अलिअ, जिम वाहेरित भ्रमयंति॥

कुक्कुरिपा : इनका जन्म कपिलवस्तु के एक ब्राह्मण-वंश में माना जाता है। इनके जन्म-काल का पता नहीं चल सका है। चर्पहीया इनके गुरु थे। इनके द्वाररचित सोलह-ग्रंथ माने जाते हैं। ये भी सहज जीवन के समर्थक थे। इनकी कविता का एक उदाहरण इस प्रकार है :

हांउ निवासी खमण भतारे, मोहोर विगोआ कहण न जाइ।
फेटलिउ गो माए अन्त उड़ि चाहि, जा एथु बाहाम सो एथु नाहिं।

इन प्रमुख सिद्ध कवियों के अतिरिक्त अन्य सिद्ध कवि भी जन-भाषा में अपनी वाणी का प्रचार पद्य में करते थे, किन्तु उसमें कवित्व का उतना अंश नहीं, जिसके आधार पर उसे साहित्य के विकास में योगदाता माना जा सके। जिन कवियों की पहले चर्चा की गयी है, उनका साहित्य ही हिन्दी के सिद्ध साहित्य के लिए गौरव का विषय है। इन कवियों ने हिन्दी-साहित्य में कविता की जो प्रवृत्तियाँ आरम्भ की, उनका प्रभाव भक्तिकाल तक चलता रहा। रूढ़ियों के विरोध का अक्खड़पन, जो कबीर आदि की कविता में मिलता है, इन सिद्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कवियों की देन है। योग-साधना के क्षेत्र में ही इनका प्रभाव पहुंचा। सामाजिक जीवन के जो चित्र इन्होंने उभारे, वे भक्तिकालीन काव्य के लिए सामाजिक चेतना की पीठिका बन गये। कृष्ण-भक्ति के मूल में जो प्रवृत्ति-मार्ग हैं, उसकी प्रेरणा के सूत्र भी हमें इनके साहित्य में मिलते हैं।

2.6.2 नाथ साहित्य—नाथ पंथ के साधकों ने अपने को योगी कहकर संबोधित किया है। योगी के विषय में एक कहावत है 'रमता जोगी बहता पानी।' मतलब यह कि इनकी दिशा क्या होगी इसका कुछ भी ठिकाना नहीं है। नाथ पंथ के साहित्य के संबंध में इसी उक्ति को प्रस्तावित किया जा सकता है। नाथ पंथी साहित्य प्रामाणिकता की दृष्टि से संदिग्ध है। नाथ पंथ का उद्भव किस प्रकार से हुआ इस पर विद्वानों में मतभेद है। नाथ पंथ के संबंध में यहां इतना ही समझना चाहिए कि नाथों का सिद्धों से गहरा संबंध था। सिद्धों की जो सूची मिलती है आगे से कई का संबंध नाथ परंपरा से भी था। नाथ परम्परा में मत्स्येंद्र नाथ के गुरू जलंधर नाथ माने जाते हैं। तिब्बत के ग्रंथों में भी सिद्ध जलंधर आदि नाथ कहे गए हैं। आचार्य शुक्ल का विचार है कि जलंधर ने ही सिद्धों से अपनी परंपरा अलग की और पंजाब की ओर चले गए। जलंधर के शिष्य मंछदर या मत्स्येन्द्रनाथ थे और मछंदर के शिष्य गोरखनाथ या गोरक्षनाथ थे। गोरखनाथ संप्रदाय के विशेष प्रवर्तक थे। गोरखनाथ अपने युग के महान धर्मनेता थे। इनकी संगठन की शक्ति अपूर्व थी। गोरखनाथ के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। राहुल सांकृत्यायन इनका समय दसवीं शताब्दी बताते हैं, आचार्य शुक्ल इन्हें 12 वीं शताब्दी का मानते हैं और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इन्हें दसवीं शताब्दी का मानने के पक्षधर हैं। जिस प्रकार सिद्धों की संख्या चौरासी प्रसिद्ध है, उसी प्रकार नाथों की संख्या नौ बतायी जाती है। इन नौ नाथों में नागार्जुन, जड़ भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पट, जलंधर, मलयार्जुन का नाम गिनाया जाता है।

नाथ पंथ के मुख्य रचनाकारों में गोरखनाथ, चौंरगीनाथ, गोपीचन्द चुणकरनाथ, भरथरी आदि का नाम प्रसिद्ध है। उनमें से किसी के साहित्य की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है। गोरखनाथ की देशभाषा में लिखी हुई रचनाओं में 'गोरख बोध', 'गोरखनाथ की सत्रह कला', 'दत्त गोरख संवाद', 'योगेश्वरी साखी', 'नखइ बोध', 'विराट पुराण', 'गोरखसार' तथा 'गोरखनाथ बानी' उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त गोरखनाथ की कुछ पुस्तकें संस्कृत में भी मिलती हैं। अन्य नाथ कवियों की छुटपुट रचनाएं मौखिक रूप में उपलब्ध होती हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, नाथ साहित्य की प्रामाणिकता संदिग्ध है। उसकी प्रामाणिकता के संदेह का आधार रचनाओं की भाषा है। जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग गोरखनाथ के साहित्य में मिलता है, उससे अनुमान लगाया जाता है कि उस भाषा का प्रचलन गोरखनाथ के काल में नहीं था। गोरख के समय में जो भाषा लिखने-पढ़ने के लिए प्रयुक्त होती थी, उस भाषा में प्राकृत या अपभ्रंश का थोड़ा बहुत मेल रहता था। गोरखनाथ की रचनाओं की भाषा में उस प्रवृति की सूचना नहीं मिलती। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि गोरखनाथ के नाम पर जो रचनाएं मिलती हैं उन्हें नाथ पंथ के अनुयायियों ने एकत्रित किया होगा।

नाथ साहित्य की अप्रामाणिकता का अन्य कारण यह भी है कि नाथ पंथी, साहित्य रचने के उद्देश्य से लेखन नहीं कर रहे थे। वे अपनी संवेदना और अनुभव को लोगों से साझा करना चाहते थे। उसके लिए उन्होंने पुस्तक लिखने की आवश्यकता को महसूस नहीं किया और उसका परिणाम यह हुआ कि उनकी वाणी साहित्य बनकर लोगों के मुख के माध्यम से ही बहुत दिनों तक जीती रही। उस प्रक्रिया में नाथों की वाणी की भाषा बदल गई और भाव भी परिवर्तित हो गए। नाथ साहित्य का लोक-साहित्य में रूपांतरण हो गया और लोक-साहित्य हमेशा लोगों की स्मृति में ही सुरक्षित रहता है। लोक साहित्य को किसी पुस्तक में बांधने की आवश्यकता नहीं होती। नाथों का जोगीड़ा आज भी पूर्वी भारत में प्रचलित है। वस्तुत: जोगीड़ा अनुभव सिद्ध ज्ञान की परिपक्वता को हमारे सामने उपस्थित करता है। जोगीड़ा में बाह्याचार का खंडन, जाति प्रथा पर व्यंग्य तथा धार्मिक आडम्बर की निंदा की गई है-

''गंगा के नहाये कहो को नर तरिगे मछरी न तरी जाको पानी में घर।''

नाथ मनुष्य के विवेक को प्रामाणिक मानते हैं। विवेक को वे जीवन की कसौटी स्वीकार करते हैं, उसी आधार पर वे पाखंड का विरोध करते हैं।

नाथ साहित्य यायावरों द्वारा रचा गया था। यायावरी प्रवृत्ति नाथ कवियों की अद्भूत विशिष्टता है। नाथों ने देश के विविध भागों की यात्रा की थी और उस प्रदेश का अनुभव प्राप्त किया था। नाथ साहित्य में सैलावी का अनुभव नहीं है अपितु उसमें एक सांस्कृतिक यात्री का अनुभव है जो प्रदेश की भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज, वेशभूषा आदि का निरीक्षण करता है। नाथों ने जिस प्रदेश की यात्रा की वहां की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संस्कृति की विशिष्टता और भाषा की विशिष्टता को आत्मीयता से स्वीकार किया। नाथ-साहित्य में उत्तर भारत की सांस्कृतिक विविधता का चित्र मिलता है। उत्तर भारत के विविध प्रदेशों का यात्रा के क्रम में नाथों ने एक सम्पर्क भाषा को विकसित किया, जिसमें पूर्वी प्रदेश की भाषा, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी और पंजाबा के शब्द हैं। आचार्य शुक्ल ने इस भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कहा है, जो वस्तुत: संपर्क भाषा थी। व्यापक जनसंपर्क के कारण नाथ इस भाषा को निर्मित कर पाए। आचार्य शुक्ल ने लिखा है- 'उन्हें मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली थी। इससे उसका मेल भी उनकी बानियों में अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथ पंथ के उन जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्य-भाषा से, जिसका ढांचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।'

नाथ साहित्य में अंत: साधना का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। नाथों का मानना था 'जोइं-जोइं पिण्डे, सोइं ब्राह्य मांडे' अर्थात जो शरीर में है वहा ब्रह्मांड में है। इस अनुभूति को प्रकट करने के लिए उन्होंने उलटबांसी का प्रयोग किया है। उलटबांसी के पीछे नाथों का यह तर्क था कि सिद्धि की अवस्था को पहुंचते ही साधक का कायाकनप हो जाता है और वह लोक व्यवहार को विपरीत दृष्टि से देखने लगता है।

चलि दे अबाके कोयल मोरी। धरती उलटि गगन दु दोरी।
गइयाँ बपड़ी सिंघ ने घैरे। मृतक पसू सूद्र के उचरे।

यहाँ कोयल साधक की आत्मा का प्रतीक है। धरती स्थिर है वह उलट नहीं सकती परन्तु साधना में धरती जीव का प्रतीक है जो गगन की ओर दौड़ लगाती है अर्थात् परम ब्रह्म से मिलना चाहती है। नाथ साहित्य में साधनात्मक शब्दावली का प्रयोग ही बहुलता से मिलता है। नाथ आचरण की शुचिता पर अधिक बल देते हैं, परन्तु यह आचरण सामान्य जन के लिए नहीं था, यह जोगी के लिए था-

जोगी होइ पर निंदा झखै। मद मांस अरू भांगि जो भखै।
इकोतर सैं षुरिषा नरकहिं जाई। सति सति भाषंत श्री गोरख राई।

नाथ पंथ का महत्त्वपूर्ण योगदान भक्तिकालीन निर्गुण साहित्य को अपना अनुभव सौंपने में है। नाथपंथ ने निर्गुण पंथ के लिए एक मार्ग तैयार कर दिया था। कबीर साधना और भावना दोनों स्तर पर नाथ पंथ के सिद्धान्त को अपनाते हैं। जिस प्रकार विविध धर्मों की मिश्र अनुभूति को नाथ पंथ ने ग्रहण किया था, ज्ञानमार्गी कवियों ने उसी सिद्धान्त को अपना वैचारिक आधार बनाया। आचार्य शुक्ल ने लिखा है- 'कबीर आदि संतों को नाथपंथियों से जिस प्रकार साखी और बानी शब्द मिले, उसी प्रकार साखी और बानी के लिए बहुत कुछ सामग्री और साधुक्कड़ी भाषा भी।

2.6.3 सिद्ध और नाथ में अन्तर— सिद्ध और नाथ के बीच कई तात्विक समता और विषमता देखने को मिलती है। तांत्रिक साधना की व्यापक स्वीकृति नाथों के साहित्य में भी प्राप्त होती है, परन्तु नाथों ने साधना में योग क्रिया को ही अपना आधार बनाया। नाथों का सिद्धों से विरोध वाममार्गी साधना को लेकर हुआ था। वाममार्गी साधना में लोकाचार से अलग हटकर सिद्धों ने मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन को साधना में प्रमुखता दी। सिद्धों की साधना के ये अनिवार्य अंग थे। नाथों ने लोक जीवन में शुचिता, अहिंसा और आचरण की पवित्रता जैसे श्रेष्ठ मानवीय मनोभाव को प्रधानता देना अपने पंथ का लक्ष्य रखा। इसके साथ-साथ नाथ पंथ ने शैवदर्शन और पतंजलि के हठयोग को मिलाकर अपने पंथ का वैज्ञानिक आधार तैयार किया। सिद्धों के समान नाथ पंथ ने भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना, नाद बिन्दु की साधना, षटचक्र शून्य भेदन, शून्यचक्र में कुंडलिनी का प्रवेश आदि अंतस्साधनात्मक अनुभूतियों को योग के लिए आवश्यक माना। नाथपंथ में शून्यवाद के महत्त्व को भी प्रतिपादित किया गया, जो संभवत: उन्होंने वज्रयान से ग्रहण किया था। सामाजिक विषमता, उदाहरण के लिए जाति प्रथा, छूआछूत, धार्मिक मतभेद आदि बाह्याचारों का विरोध नाथों ने भी किया था। कुछ सामाजिक मर्यादा के मुद्दों को छोड़कर सिद्धों से नाथों की व्यापक सहमति थी।

2.6.4 नाथ पंथ की सांस्कृति विषमता— सिद्धों का प्रभाव क्षेत्र उत्तरपूर्वी था। नाथों का प्रभाव समस्त देश में व्यापक था। पश्चिमी भारत से नाथों का विशेष संबंध था। नाथ पंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि, उसका स्थानीय संस्कृति के साथ संवाद होता था। नाथपंथ ने मिश्र होती सांस्कृतिक प्रक्रिया को और अधिक तीव्रता प्रदान की। अपने दृष्टिकोण में नाथपंथ सेक्यूलर था। इस पंथ की ओर मुसलमानों का भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलाने वाला योग हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य साधना के रूप में प्रचलित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हुआ था। मुसलमान जोगी भी कलिकाल के अमर राजा भरथरी का गीत गाते फिरते थे।

नाथपंथ ने हर धर्म और हर संस्कृति से संवाद स्थापित किया। यही कारण था कि धार्मिक सहिष्णुता का विकास नाथों के साहित्य में अधिक देखने को मिलता है। नाथों में बौद्धधर्म के प्रति आत्मीयता है, वह जैनधर्म से भी प्रभावित है, उसमें सनातन धर्म के प्रति भी आस्था है और उसमें मुस्लिम धर्म के प्रति भी विश्वास है। नाथपंथ खुले मन से वैचारिक बहस के लिए आमंत्रित करता है, लेकिन उसमें विवाद नहीं, संवाद है। गोरखनाथ जोगी को संबोधित करते हुए कहते हैं :

कोई वादी कोई विवादी जोगी कौं वाद न करना।
अड़साठे तीरथ समंद समानैं यूं जोगी को गुरु मसि जरनो॥

2.6.5 जैन साहित्य— जैन धर्म के प्रवर्तक या संस्कर्त्ता महावीर स्वामी बुद्धदेव के पूर्ववर्त्ती थे। परन्तु जैन साहित्य इस समय जिस रूप में मिलता है, उसके महावीरकालीन होने में बहुतों को संदेह है। जैन के दो प्रधान संप्रदाय है : श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर ग्रन्थों से मालूम होता है कि महावीर स्वामी ने जो उपदेश दिया था उसे उनके दो प्रधान शिष्यों- इन्द्रभूति और सुधर्मा ने, जो गणधर कहलाते थे, व्यवस्थित रूप से संकलित किया और वह समुच्चय संकलन द्वादशाङ्गी कहलाया, अर्थात् उनकी समस्त वाणी वर्गीकरण करके बारह अंगों में विभक्त की गयी।

जिस प्रकार हिन्दी के पूर्वी क्षेत्र में सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान मत का प्रचार हिन्दी-कविता के माध्यम से किया, उसी प्रकार पश्चिमी क्षेत्र में जैन साधुओं ने भी अपने मत का प्रचार हिन्दी-कविता के माध्यम से किया। इन कवियों की रचनाएं आचार, रास, फागु,चरित आदि विभिन्न शैलियों में मिलती हैं। आचार-शैलियों के जैन-काव्यों में घटनाओं के स्थान पर उपदेशात्मकता को प्रधानता दी गयी है। फागु और चरित- काव्य शैली की सामान्यता के लिए प्रसिद्ध है।'रस' शब्द संस्कृत-साहित्य में क्रीड़ा और नृत्य से संबंधित था। भरत मुनि ने इसे 'क्रीडनीयक' कहा है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के रचना काल तक 'रास' में गायन का भी समावेश हो गया था। अभिनवगुप्त ने 'रास' को एक प्रकार का रूपक माना है। लोक जीवन में भी श्रीकृष्ण की लीलाओं के लिए 'रास' शब्द रूढ हो गया था और आज भी सामान्य जनता उसी अर्थ में इसका प्रयोग करती है। जैन-साधुओं ने 'रास' को एक प्रभावशाली रचना-शैली का रूप दिया। जैन-तीर्थंकरों के जीवन चरित तथा वैष्णव-अवतारों की कथाएं जैन-आदर्शों के आवरण में 'रास' नाम से पद्यबद्ध हो गयीं। जैन मन्दिरों में श्रावक लोग रात्रि के समय ताल देकर 'रास' का गायन करते थे। चौदहवीं शताब्दी तक इस पद्धति का प्रचार रहा। अत: जैन साहित्य का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप 'रास' ग्रन्थ बन गये। वीरगाथाओं में रास को ही 'रासो' कहा गया है, किन्तु उनकी विषय भूमि जैन रास-ग्रन्थों से भिन्न हो गई है।

पूर्वोक्त प्रमुख शैलियों में लिखित आदिकालीन हिन्दी-जैन-साहित्य का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :

श्रावकाचार : देवसेन नामक प्रसिद्ध जैन आचार्य ने 933 ई. में इस काव्य की रचना की थी। ये एक अच्छे कवि तथा उच्च कोटि के चिन्तक थे। इन्होंने अपभ्रंश में भी 'दब्ब-सहाव-पयास' नामक काव्य लिखा था। हिन्दी में लिखित इनकी अन्य रचनाएं 'लघुनयचक्र' तथा 'दर्शनासार' है, जो काव्य की सीमा में नहीं आतीं। 'श्रावकाचार' में 250 दोहों में श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। कवि ने गृहस्थ के कर्त्तव्यों पर भी विस्तार से विचार किया है। इसकी रचना दोहा छन्द में हुई है। एक उदाहरण इस प्रकार है:-

जो जिण सासण भाषियउ, सो मइ कहियउ सारू।
जो पालइ सइ भाउ करि, सो सरि पावइ पारू॥

भरतेश्वर-बाहुबली रास : मुनि जिनविजय ने इस ग्रंथ को जैन-साहित्य की रास परम्परा का प्रथम ग्रंथ माना है। इसकी रचना 1184 ई. में शलिभद्र सुरि ने की थी। ये अपने समय के प्रसिद्ध जैन आचार्य तथा अच्छे कवि थे। इस ग्रन्थ में भरतेश्वर तथा बाहुबली का चरित वर्णन है। ये दोनों चरित-नायक संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी काव्य-रचना का विषय रहे हैं। प्रस्तुत कृति में इनकी जो कथा वर्णित है, उसमें इन्हें अयोध्यावासी ऋषभ जिनेश्वर के यहां सुनन्दा और सुमंगला से उत्पन्न बताया गया है। भरत आयु में बड़े थे एवं पराक्रमी भी अधिक थे। वे अयोध्या के राजा बनाये गये और बाहुबली को तक्षशिला का राज्य मिला। कवि ने दोनों राजाओं की वीरता, युद्धों आदि का विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु हिंसा और वीरात के पश्चात् विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित करना कवि का मुख्य लक्ष्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रहा है। अत: वीर और श्रृंगार रसों का निर्वेद में अंत हुआ है। 205 छन्दों में रचित यह एक सुन्दर खण्डकाव्य है। इसकी भाषा में नाटकीयता, उक्ति-वैचित्र्य तथा रसात्मकता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। आगे की 'रास' या 'रासो' रचनाओं को इस ग्रन्थ ने अनेक रूपों में प्रभावित किया है। इसकी कविता का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है :

> बोलह बाहुबली बलवन्त। लोह खण्डि तउ गरवीउ हंत।
> चक्र संरीसउ चूनउ करिउं। सयलंह गोत्रह कुल संहरउं॥

चन्दनबालारास : यह पैंतीस छन्दों का एक लघु खण्डकाव्य है, जिसकी रचना 1200 ई. के लगभग आसगु नामक कवि ने जालौर में की थी। इसकी कथा-नायिका चन्दनबाला चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री थी। एक बार कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा नगरी पर आक्रमण किया, जिसमें उसका सेनापति चन्दनबाला का अपहरण कर ले गया और एक सेठ को बेच दिया। सेठ की स्त्री ने उसे अपार कष्ट दिया। चन्दनबाला अपने सतीत्व पर अटल रहकर सब दु:ख सहती रही और अंत में महावीर से दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त हुई। इस लघु कथानक पर आधारित यह जैन-रचना करूण रस की गंभीर व्यंजना करती है। भाव-सौन्दर्य के जितने चित्र इसके रचयिता ने अंकित किये है, सभी में उसकी काव्य-निष्ठा व्यंजित है।

स्थूलिभद्ररास : 1209 ई. में रचित इस काव्य को जिनधर्मसूरि की कृति माना जाता है। स्थूलिभद्र और कोशा वेश्या के विषय में अन्य रचनाएं भी मिलती है, किन्तु इस कृति की सभी घटनाओं से उनका प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। अवान्तर घटनाओं के माध्यम से लौहाघट के रूप में स्थूलभद्र का संयम चित्रित करके कवि ने काव्य को विशिष्ट बना दिया है। कोशा वेश्या के पास भोग-लिप्त रहने वाले स्थूलिभद्र को कवि ने जैनधर्म की दीक्षा लेने के बाद मोक्ष का अधिकारी सिद्ध किया है। काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है, फिर भी इसकी भाषा का मूल रूप हिन्दी है। धार्मिक दृष्टि से प्रेरित होने पर भी इसकी भाव-भूमि और अभिव्यंजना काव्यानुकूल है।

रेवंतगिरिरास : यह विजयसेन सूरि की काव्य-कृति है। 1231 ई. के लगभग लिखित इस काव्य में तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा तथा रेवंतगिरि तीर्थ का वर्णन है। यात्रा तथा मूर्ति- स्थापना की घटनाओं पर आधारित यह 'रास' वास्तुकलात्मक सौंदर्य का भी आकर्षण प्रस्तुत करता है। प्रकृति के रमणीय चित्र इस काव्य के भाव तथा कलापक्षों का श्रृंगार करते हैं। एक उदाहरण देखिए:

> कोयल कलयलो मोर केकारओ, सम्मए महुयर महुर गुजाखो।
> जलद जाल बंबाले नीझरणि रमाउलु रेहइ,
> उज्जिल सिहरू अलि कज्जल सामलु।

नेमिनाथरास: इस काव्य की रचना सुमति गणि ने 1213 ई. में की थी। अट्ठावन छन्दों की इस रचना में कवि ने नेमिनाथ का चरित्र सरस शैली ने प्रस्तुत किया है। नेमिनाथ के प्रसंग में श्रीकृष्ण का वर्णन इस काव्य का विषय है और इन दोनों के माध्यम से विभिन्न भावों की व्यंजना हुई है। रचना की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिन्दी है।

जैन साहित्य की अधिकांश रचनाएं अपभ्रंश में लिखी गई हैं, लेकिन साहित्य से अलग नहीं है। जैन अपभ्रंश साहित्य का व्यापक प्रभाव परवर्ती हिन्दी साहित्य में देखने को मिलता है। जैन साहित्य के महत्त्व की दूसरी बात उसकी प्रामाणिकता को लेकर है। आदिकाल में जितने भी प्रकार के साहित्य मिलते हैं उनमें लगभग सभी प्रकार के साहित्य की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है। जैन साहित्य इसका अपवाद है। जैन साहित्य का परिरक्षण धर्म संप्रदाय के आश्रय में हुआ था, इसलिए उस साहित्य का लिखित रूप अपरिवर्तित रूप में जैन मठों और पुस्तकालयों में सुरक्षित रहा। जैन साहित्य में आदिकाल की भाषा और सामाजिक गति का महत्त्वपूर्ण तथ्य छिपा हुआ है, इसलिए जैन साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। उसे मात्र धार्मिक साहित्य कहकर हिन्दी साहित्य से खारिज नहीं किया जा सकता। वास्तव में, धर्म किसी साहित्य को खारिज करने का आधार नहीं हो सकता। यदि ऐसा संभव होता तो भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग नहीं कहा जाता। मिथक में मानवीय अनुभूति का संश्लिष्ट रूप हिंसा होता है। हर युग के संदर्भ में मिथक के अर्थ बदलते हैं। जैन साहित्य में भी कुछ मिथकों का प्रयोग मिलता है। साहित्य में मिथक का प्रयोग कोई नई बात नहीं हैं। संस्कृत साहित्य में भी मिथक का प्रचुर प्रयोग मिलता है। साहित्य के संदर्भ में यह देखना होता है कि उन धार्मिक रचनाओं में मानवीय अनुभूति को विस्तार मिला है या नहीं। रचना की सृजनात्मक अनुभूति में मानवीयता है या नहीं। वस्तुत: धार्मिकता साहित्यिक संवेदना का अवरोधक नहीं है। धर्म का उपयोग यदि संकीर्ण दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए हो रहा है तो वह साहित्य नि:संदेह साहित्य नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन साहित्य के धार्मिक ग्रंथों में यह तलाश करने की आवश्यकता है कि उसमें मानवीय अनुभूतियों का कितना गहरा स्पर्श है। उसमें सामाजिक बोध और मानवीय गरिमा का महत्त्व किस तरह से प्रस्तावित हुआ है। साहित्य के ऊपर की धार्मिक परत हटाने के बाद यदि जैन साहित्य का अवलोकन किया जाए तो उसमें जीवन का उद्‌भुत सौंदर्य देखने को मिलता है। उसमें हमारे सामाजिक जीवन की मूल्यवान मर्यादा की पहचान की जा सकती है। मानवीय मनोभाव की जटिलता को जैन रचनाकारों ने गहराई से स्पर्श किया है। जैन साहित्य में मानवीय मनोभाव को द्वंद्वात्मक रूप में परखने की चेष्टा की गई है। उदाहरण के लिए हम 'भरतेश्वर बाहुबली रास' के कुछ प्रसंगों को ले सकते हैं। इस कृति में रचनाकार ने मानवीय महत्त्वाकांक्षा के गलत परिणामों को दिखाया है। किसी व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा का असीमित विकास समाज के किन मानवीय मूल्यों की हत्या के द्वारा अपना मार्ग तैयार करता है, 'इसका बड़ा मार्मिक वर्णन 'भरतेश्वर बाहुबली रास' में मिलता है।

2.6.6 जैन साहित्य के प्रकार— जिस प्रकार बौद्ध धर्म ने देश के पूर्वी क्षेत्र में अपने मत को स्थापित करने के लिए जनभाषा को आधार बनाया। उसी प्रकार जैन साधुओं ने भी देश के पश्चिम क्षेत्र में अपने मत को स्थापित करने के लिए जनभाषा को अपनाया। यह जनभाषा अपभ्रंश भाषा थी। जैन साधुओं ने इसी अपभ्रंश भाषा में अपना साहित्य रचा। जैन साहित्य में तीन प्रकार की रचनाएं मिलती हैं। प्रथम प्रकार की रचनाएं, जिन्हें पौराणिक काव्य कह सकते हैं, इस प्रकार के रचनाकारों में स्वयंभु, पुष्पदंत आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं। द्वितीय प्रकार की रचनाओं में, मुक्तक रचनाओं को रखा जा सकता है जिसमें रास, फाग, चर्चरी आदि काव्यों का विवेचन किया जा सकता है तथा तृतीय प्रकार की रचनाओं में, हेमचन्द्र और मेरूतुंग की रचनाओं को लिया जा सकता है।

2.6.7 पौराणिक चरित काव्य— पौराणिक विषयों को लेकर जैन कवियों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में विपुल साहित्य की रचना की। इस साहित्य में जीवन के मर्म के साथ उपदेश और धर्म का अद्‌भूत संयोग देखने को मिलता है। जैन अपभ्रंश काव्य की समस्त प्रबंधात्मक कृतियाँ पद्यबद्ध हैं, जिसके चरित नायक या तो पौराणिक हैं या जैन धर्म के निष्ठापूर्ण अनुयायी। मध्यकाल में धर्म प्रसार के लिए ब्राह्मणों और जैनों द्वारा पुराण साहित्य की रचना हुई थी। पुराण साहित्य की सबसे बड़ी खामी यह थी कि उसमें मानवीय दशाओं का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता है। काव्य में जीवन की मार्मिक अनुभूतियों और दशाओं का वर्णन भी कई स्थल पर होता है परन्तु काव्य में काव्यत्व दार्शनिक उद्देश्य के साधन रूप में ही प्रस्तुत होता है। मनुष्य के सुख-दुख, राग-विराग, सफलता-असफलता को उद्देश्य विशेष के अधीन होना पड़ता है। इस प्रक्रिया में काव्य की आंतरिक प्रखरता गायब हो जाती है, उसके स्थान पर दार्शनिक मतवाद का आग्रह प्रबल हो जाता है। इस प्रकार के आग्रह के बावजूद कुछ पौराणिक काव्यों को श्रेष्ठ साहित्यिक रचना स्वीकार कर सकते हैं। स्वयंभू और पुष्पदंत पौराणिक काव्य के विशिष्ट कवि हैं। स्वयंभू रचित पउमचरिउ उच्च कोटि का काव्य है। इस काव्य की 83 संधियों को स्वयंभू ने लिखा था, बाद में उसमें सात संधियों को उनके पुत्र त्रिभुवन ने जोड़कर काव्य को पूरा किया। अन्य जैन काव्यों की तरह इस काव्य के प्रारंभ में ब्राह्मण मत की आलोचना की गई है। ब्राह्मण मत की आलोचना किसी धार्मिक आग्रह का परिणाम न होकर सामाजिक आग्रह का परिणाम मालूम होती है। जैन भी उसी सामाजिक वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे जिसके खिलाफ सिद्ध और नाथ लड़ रहे थे। 'पउम चरिउ' में राम और सीता के जीवन की कहानी है। इस काव्य में कवि ने राम को साधारण मनुष्य को समान ही वर्णित किया है जिसमें उनलास और अवसाद के भाव है। सीता के चरित्र में करुणा है परन्तु वह अंत में वैराग्य मार्ग को ग्रहण करती है ताकि दूसरे जन्म में स्त्री होकर जन्म नहीं लेना पड़े। स्त्री-करूणा को रचकर कवि ने सामंती समाज के यथार्थ चित्र को उद्‌घाटित कर दिया है। मेघनाद और हनुमान के युद्ध का वर्णन करता हुआ कवि यह बताना नहीं भूला है कि ये दोनों 'जिन' के भक्त थे। काव्य में धार्मिक रंग भी चढ़ा दिया गया है, परन्तु उसके जीवन की स्वाभाविकता का प्रसार भी कम नहीं है।

'महापुराण' पुष्पदंत द्वारा रचित एक महाकाव्य है। 'महापुराण' का मतलब प्राचीन की महत्ती कथा से है। महापुराण में जैन धर्म के 63 महापुरुषों (श्लाका पुरुषों) का वर्णन है। महापुराण की कथावस्तु का फतक अत्यधिक विराट है। 'महापुराण' की विशिष्टता उसके धार्मिक होने में नहीं है। उसकी महत्ता मानव जीवन की अभिव्यंजना में है। पर्यावरण के प्रति कवि में आत्मीयता है। 'नागकुमार चरित' या 'णायकुमार चरिउ' पुष्पदंत की दूसरी रचना है। इस काव्य कृति में नागकुमार के अनेक विवाहों के वर्णन, व्रत करने के प्रसंग और अंत में तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की कथा है।

नख-शिख वर्णन, संयोग-श्रृंगारादि के अनेक प्रसंग कृति में मिलते हैं, परन्तु अंत में वैराग्यपूर्ण वातावरण इन लौकिक प्रसंगों को ढक लेता है। 'नागकुमार चरित' में कवित्व के प्राचुर्य की अपेक्षा घटना का प्राचुर्य है। 'जसहर चरिउ' में पुष्पदंत हिंसा की निंदा करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जसहर की माँ ने पुत्र की मंगल कामना के लिए आटे के कुक्कट की बलि दी, इस हिंसा की प्रकृति के कारण उन्हें अनेक जन्मों में भटकना पड़ा।

जैन काव्य में कहीं-कहीं धर्म ने लौकिक अनुभूति को आच्छादित कर लिया है। लौकिक अनुभूति और धार्मिक अनुभूति के बीच द्वंद्वात्मक भाव पैदा हो गया है। विचारधारा की प्रबलता के कारण अंत में मोक्ष, वैराग्य आदि का पक्ष रखा गया है, परन्तु जीवन की जटिलता से पैदा होने वाली कठिनाइयों से कवि ने मुँह नहीं मोड़ा है। कवि धनपाल की कृति 'भविसयत कहा' जैन चरित काव्य की एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

इस काव्य में लौकिक अनुभूति और धार्मिक अनुभूति के बीच तीव्र द्वंद्व देखने को मिलता है। सामंती समाज में बहुपत्नी की प्रथा थी। बहुपत्नी की प्रथा के कारण गार्हस्थ जीवन में विषमता पैदा होती थी 'भिविसयत्त कहा' में कहानी कुछ इसी से संबंधित है। धनपाल की दो स्त्रियाँ थीं- कमलश्री और सरूपा। कमलश्री का पुत्र भविसयत था और सरूपा का पुत्र बंधुदत्त था। दोनों सौतेले भाइयों की आपसी प्रतिद्वंद्विता और प्रतिशोध को कवि ने मानवीय तरीके से रचा है और अंत में कमलजी और उसके पुत्र भविसयत की विजय को दिखाया है। भविसयत की विजय इसलिए होती है क्योंकि वह धर्मपरायण था।

2.6.8 मुक्तक काव्य— जैन साहित्य में चरित काव्य के अतिरिक्त मुक्तक काव्य की रचनाएं भी हुई हैं। मुक्तक साहित्य में प्रधान रूप से दो प्रकार की भावधारा मिलती है। प्रथम प्रकार की वे रचनाएं हैं, जो साधकों को लक्ष्य में रखकर लिखी गई हैं। यह काव्य परमसमाधि तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। दूसरे प्रकार की काव्य रचना का संबंध जैन काव्य के आचरण शास्त्र से है। इस प्रकार की काव्य रचना का उद्देश्य श्रावकों को तीर्थ, व्रत, उपवास आदि का उपदेश देना है। इस प्रकार की रचनाओं में रास, फाग, चर्चरी आदि को रख सकते हैं।

2.6.9 रहस्यात्मक साहित्य—रहस्यानुभूति का प्रभाव जैन साहित्य में भी देखने को मिलता है। जैन धर्म में रहस्यवादी काव्य की संख्या अल्पमात्रा में ही उपलब्ध होती है। जोइन्दु का 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' तथा मुनिरामसिंह का 'पाहुड़ दोहा' जैन साहित्य की उल्लेखनीय रहस्यवादी काव्यकृतियाँ हैं। 'परमात्मप्रकाश' में परमात्मा को नित्य निरंजन स्वरूप माना गया है। जोइन्दु के अनुसार उस परमात्मा को योग, वेद और शास्त्रों से नहीं जाना जा सकता है। निर्मल ध्यान द्वारा उसकी अनुभूति की जा सकती है। ब्रह्म मन, इन्द्रयादि के व्यापारों से भिन्न होते हुए भी शरीर में निवास करता है और पूरे विश्व में व्याप्त है।

जैन धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों को जोइन्दु ने काव्यात्मक साँचे में ढालने का प्रयास किया है। जैन दर्शन में कहा गया है कि आत्मज्ञान से मिथ्या दृष्टि दूर हो जाती है और परम पद की प्राप्ति होती है। समान विकल्पों का विलय होना परम समाधि है और परम समाधि की प्राप्ति से समस्त संसार के अशुभ कर्मों का क्षय हो जाता है। पाहुड़ दोहा में मुनिरामसिंह ने मूर्ति पूजा का खंडन किया है। 'पाहुड़ दोहा' में योगपरक शब्दावली का प्रयोग मिलता है। योग के साधनापरक विधान की ओर भी कवि ने संकेत किया है। स्त्रीपरक रूपकों के सहारे मोक्षादि का वर्णन 'पाहुड़ दोहा' की उल्लेखनीय विशेषता है। जैन रहस्यवादी काव्य में रचनाकारों ने आत्मानुभव को प्रमुख माना। आत्मानुभव ही शरीर का परम प्राप्तव्य है।

2.6.10 जैन रास साहित्य— परवर्ती जैन साहित्य में रास ग्रंथों की प्रचुरता दिखाई पड़ती है। वस्तुत: रास नृत्य गीत और अभिनय के सम्पृक्त मनोभाव को सूचित करता है। ताल देकर काव्य का गायन किया जाता था, इसलिए इसमें नृत्य, गीत और अभिनय का स्वाभाविक रूप से जुड़ाव हो गया। रूप गठन की दृष्टि से प्रबंध और मुक्त दोनों में रास काव्य लिखे गए हैं। प्रमुख रास ग्रंथों में 'भारतेश्वर बाहुबली रास' (1184 ई.), 'चंदनबाला रास' तथा 'उपदेश रसायन रास' नाम गिनाया जा सकता है। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' शालिभद्र सूरि की रचना है। इसे हम कथा काव्य कह सकते हैं जिसमें कथा और गायन का विशिष्ट सम्मिश्रण है। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' में रचनाकार ने हिंसा का विरोध किया है। कवि ने यह संकेत करने का प्रयास किया है कि सामंती समाज में युद्ध की विभीषिका कितनी भयानक होती थी। 'चंदनबाला रास' में कवि असुग ने नारी जीवन की करूणा को बड़ी सहृदयता से रचा है।

इस काव्य से पता चलता है कि सामंती समाज में नारी की स्थिति कितनी दयनीय होती थी। उस समाज में नारी का सम्पत्ति की तरह अपहरण होता था। इस कृति में चंदनबाला का अपहरण होता है और उसे एक सेठ के यहाँ बेच दिया जाता है। तमाम कष्टों और दुखों के बाद भी चंदनबाला अपने नारीत्व की रक्षा करती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रास काव्य में दूसरे प्रकार की रचना उपदेश साहित्य का अंग है। इस प्रकार के रास साहित्य में सामाजिक व्यवस्था को सामने रखकर गृहस्थ को अपने धर्म का पालन करने का उपदेश दिया जाता था। जिन पूजा, अहिंसा व्रत पालन, कीर्तन में मन लगाने तथा काम-क्रोधादि मनोविकार से बचने की सलाह देना इन उपदेश ग्रंथों का प्रमुख उद्देश्य है। जिनदत्तसूरि का 'उपदेश रसायन रास' इसी प्रकार की कृति है। 'उपदेश रसायन रास' का काव्य-रूप चर्चरी कहा गया है। चर्चरी की भी यही विशेषता होती है जो रास ग्रंथ की विशेषता है। चर्चरी की रचना भी मंदिर में गाने के लिए होती थी। जैन साहित्य के मुक्तक काव्य में फागु की रचना भी मिलती है। फागु का संबंध फाल्गुन से है। वसंत के आगमन पर प्रकृति में नवजीवन का संचार होने लगता है। मानव हृदय में प्रेम और श्रृंगार की भावनाएं प्रस्फुटित होने लगती हैं।

वास्तव में फागु लोकगीत है। जैनाचार्यों ने प्रेम और मस्ती भरे काव्य में भी धार्मिकता का रंग भर दिया है। राजशेखर कृत 'नेमिनाथ फागु' फागु काव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। 'नेमिनाथ फागु' की कथा इस प्रकार है कि नेमिनाथ का विवाह राजमती से निश्चित हुआ। बारात के भोजन के लिए पशुवध हो रहा था। नेमिनाथ पशुओं के प्रति दयार्द्र होकर वध गृह के तोरण द्वार से लौट गए और गिरनार पर्वत पर जाकर तपस्या करने लगे। इस कृति में राजमती के नख-शिख का भी अपूर्व वर्णन मिलता है। जैन रचनाकारों ने अपनी संगीतात्मक अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए रास, चर्चरी और फागु जैसी काव्य-रूपों को अपनाया। कवियों ने अपनी लयात्मक संवेदना के अनुसार छंदों का नियोजन किया। छंद के शब्दों की ध्वनि में तुकांत का प्रयोग किया गया और संगीतात्मक अनुभूति को उत्पन्न करने की चेष्टा की गई। इन काव्यों की रचना दोहा-चौपाई छंद में की गयी है जिसमें कथा के साथ गायन की विशिष्ट क्षमता होती है।

2.6.11 जैन रचनाकारों के व्याकरणिक ग्रंथ और साहित्य— जैन रचनाकारों ने अपभ्रंश में व्याकरण ग्रंथ का भी निर्माण किया था। आचार्य हेमचन्द्र का 'सिद्धहेमचन्द शब्दानुशासन' अपभ्रंश व्याकरण का ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना 1143 ई. के आसपास हुई थी। इस ग्रंथ में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश -तीनों भाषाओं का समावेश मिलता है। इस व्याकरण ग्रंथ में हेमचन्द्र ने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के एकाध उदाहरण का प्रस्तुत किए हैं परन्तु अपभ्रंश के उदाहरण में उन्होंने सम्पूर्ण गाथा एवं छंद दे दिए हैं। अपभ्रंश के एक उदाहरण को यहां उद्धृत कर सकते हैं-

भल्ल हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु लयं सिअहु जई भग्गा धरू एंतु॥

अर्थात् भला हुआ जो मारा गया है बहिन! हमारा कंत। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।

हेमचन्द्र के व्याकरण से इस बात का पता चलता है कि तब तक अपभ्रंश भाषा, साहित्य की भाषा हो चुकी थी परंतु अपभ्रंश के परिनिष्ठत रूप से अलग, देशभाषा और अपभ्रंश के योग से एक नई भाषा विकसित हो रही थी। इसी भाषा का विकास आगे चलकर हिन्दी के रूप में हुआ। हेमचन्द्र दो प्रकार की अपभ्रंश भाषा की सूचना देते हैं- प्रथम प्रकार नागर अपभ्रंश है और दूसरे प्रकार की भाषा ग्राम्य अपभ्रंश है। ग्राम्य अपभ्रंश और देशभाषा के स्वाभाविक मिश्रण से एक नये प्रकार की भाषा का प्रारंभ होता है, जो अपभ्रंश की साहित्यिकता और शास्त्रीयता से अलग हटी हुई थी, उसका पता हमें हेमचन्द्र के शब्दानुशासन से ही चलता है।

आचार्य मेरूतुंग की 'रचना प्रबंधचिंतामणि' (305 ई.) संस्कृत ग्रंथ 'भोज प्रबंध' के ढंग पर लिखी गई थी। इसमें बहुत से प्राचीन राजाओं के आख्यान संगृहीत किए गए थे। इसमें से कुछ रचनाएं धाराधिपति मंजु की कही जाती है। इस ग्रंथ में अपभ्रंश के जो नूमने प्रस्तुत किए गए हैं वे अधिकत्तर उद्धत किए गए हैं, मौलिक रूप से लिखे हुए नहीं हैं, यह ग्रंथ अपभ्रंश भाषा के विषय में प्रकाश डालने में सहायक हो सकता है। इस ग्रंथ की प्रासंगिकता भी यहीं तक समझी जानी चाहिए।

2.6.12 रासो-साहित्य— जैन साहित्य के संदर्भ में यह संकेत किया जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रचित जैन 'रास-काव्य' वीरगाथाओं के रूप में लिखित रासो काव्य से भिन्न है। दोनों की रचना-शैलियों का अलग-अलग भूमियों पर विकास हुआ है। जैन रास-काव्यों में धार्मिक दृष्टि से प्रधान होने से वर्णन की वह पद्धति प्रयुक्त नहीं हुई, जो वीरगाथापरक रासो-ग्रन्थों में मिलती है। इन काव्यों की विषय वस्तु का मूल संबंध राजाओं के चरित्र तथा प्रशंसा से है। फलत: इनका आकार रचनाकारों की मृत्यु के पश्चात् भी बढ़ता रहा है। रासो काव्यों को देखने से पता चलता है कि उनके रचयिता जिस राजा के चरित का वर्णन करते थे, उसके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित भी सम्मिलित करा देते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यही कारण है कि इन ग्रन्थों में मध्यकालीन राजाओं का भी वर्णन मिलता है तथा भाषा में भी उत्तरवर्ती भाषा–रूपों की झलक पायी जाती है। राजस्थान के कतिपय वृत्त–संग्रहकर्त्ताओं ने अधिकांश रासो–काव्यों को इन्हीं बातों के कारण अप्रामाणिक रचनाएं माना है। परन्तु इतिहास के मर्म को समझने वाले विद्वान उन वृत्त–संग्राहकों के कथनों में विश्वास नहीं करते। सत्य यही है कि रासो–काव्यों की रचना आदिकाल में ही हुई थी। उनमें जो अंश उत्तरवर्ती राजाओं से संबंधित है, वे प्रक्षिप्त हैं। इसी मान्यता के आधार पर हम रासो–ग्रंथों को आदिकाल का साहित्य स्वीकार करके यहां उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

खुमाण रासो : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसको नवीं शताब्दी की रचना माना है, क्योंकि इसमें नवीं शती के चित्तौड़–नरेश खुमाण के युद्धों का चित्रण है। राजस्थान के वृत्त–संग्राहकों ने इसको सत्रहवीं शताब्दी की रचना बताया है, क्योंकि इसमें सत्रहवीं शताब्दी के चित्तौड़–नरेश राजसिंह तक के राजाओं का वर्णन मिलता है और इसी आधार पर वे इसको आदिकाल की रचना नहीं मानना चाहते। वास्तविकता यह है कि इस काव्य का मूल रूप नवीं शताब्दी में ही लिखा गया था। तत्कालीन राजाओं के संजीव वर्णन, उस समय की परिस्थितियों के यथार्थ ज्ञान तथा भाषा के 'आरम्भिक हिन्दी रूप' के प्रयोग से इसी तथ्य के प्रमाण मिलते हैं।

अधिकांश विद्वानों ने नवीं शती के खुमाण नरेश के समकालीन दलपत विजय को 'खुमाण रासो' का रचयिता माना है। इस ग्रंथ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह पांच–हजार छन्दों का विशाल काव्य–ग्रंथ है। राजाओं के युद्धों और विवाहों के सरल वर्णनों से इस काव्य की भाव–भूमि का विस्तार हुआ है। संदर्भानुसार नायिकाभेद, षट्ऋतु आदि के चित्रण भी मिलते हैं। राजाओं की प्रशंसा काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। वीररस के साथ–साथ श्रृंगार की धारा भी आदि से अंत तक चली है। वस्तु वर्णन में पर्याप्त रमणीयता है। इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं तथा इसकी भाषा राजस्थानी हिन्दी है। राजाओं के वर्णनों पर आधारित होने पर भी इसमें काव्यात्मक सरस वर्णनों का प्राचुर्य है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

पिउ चितौड़ न आविऊ, सावण पहिली तीज।
जो वै बाट बिरहिणी खिण–खिण अणवै खीज॥

संदेसो पिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंछी घाल्या पिंज्जरे, छूटण रो संदेह॥

बीसलदेव रासो : इस ग्रंथ की रचना नरपति नाह कवि ने 1155 ई. में की थी, जैसाकि निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट है–

बारह सै बहोत्तरहां मंझारि। जेठ वदी नवमी बुधिवारि।
नाह रसायण आरम्भई। सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि।

कासमींरा मुख मण्डनी। रास प्रसंगों वीसलदेराइ।

प्रथम पंक्ति से संवत् 1272 वर्ष भी माना गया है, किन्तु अधिकांश विद्वान 1212 वि. ही स्वीकार करते हैं। नवीन खोजों में एक प्राचीन प्रति मिली है, जिससे इस काव्य का रचनाकाल 1016 ई. सिद्ध होता है। उसमें एक पंक्ति मिलती है : 'संवत् सहस तिहत्तर जानि, नाल्ह कबीसर सरसीय वाणि।'

'बीसलदेव रासो' हिन्दी के आदिकाल की एक श्रेष्ठ काव्य–कृति है। इसमें भोज परमार की पुत्री राजमती और अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव तृतीय के विवाह वियोग एवं पुनर्मिलन की कथा सरस शैली में प्रस्तुत की गई है। राजमती की बातों से रूष्ट होकर स्वाभिमानी राजा उड़ीसा चला जाता है। बारह वर्ष तक राजमती उसके विरह में दु:खी रहती है। वह राजभवन की दीवरों को कोसती हुई वन में रहने की कामना करती है। सामन्ती जीवन के प्रति गहरी अरूचि का संजीव चित्र इस काव्य में मिलता है। 'संदेशरासक' के समान ही 'बीसलदेव रासो' की भाव–भूमि प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति से सरस है। 'मेघदूत' और 'संदेशरासक' की संदेश–परम्परा भी इसमें मिलती है। राजमती एक पंडित के द्वारा अपने पति के पास संदेश भेजती है। जब वह लौट आता है तब राजमती श्रृंगार करके उससे मिलती है। श्रृंगार के वियोग और संयोग पक्षों के अत्यन्त मार्मिक चित्र कवि ने प्रस्तुत किये हैं। राजमती में एक कुलीना गृहिणी का सर्वाभिमान है, जो विरह के चित्रों को कान्तिमय बनाता है। संयोग के समय भी यही कान्ति काव्य–सौन्दर्य की वृद्धि करती है। राजमती की वाणी व्यंग्यमयी हो उठती है, जिससे उसके पति का हृदय हिल जाता है। पति के हृदय को बोधने वाला राजमती का वह कुलीनता संस्कार ही उसकी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

समस्त विरह–वेदना का आधार है, वही उसे इस विवशता तक पहुँचाता है।

अस्त्रीय जनम काईं दीधउ महेस।
अवर जनम थारई घणा रे नटेस।
राणि न सिरजीय घउलीय गाइ।
वणषण्ड काली कोइली।
हउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाल।
भषती दाष बीजोरड़ी।
इणि दुष झूरइ अवलाजी बाल।

इस प्रकार इस काव्य के वर्णनों में एक संस्कार–दृष्टि मिलती है, जो नारी–गरिमा की स्थापना करती है। कवि ने प्रकृति के रमणीय चित्रों से भी भाव–चित्रण को सौन्दर्य दिया है। बारह मासों तथा ऋतुओं के प्राकृतिक चित्र संयोग और वियोग में उद्दीपन का काम करते हैं। विरह की विभिन्न दशाओं के वर्णन में समस्त प्रकृति सहायक हुई है तथा अनुभूतियों की भी उसने सुकुमारता प्रदान की है।

'बीसलदेव रासो' की श्रृंगार–परम्परा का आदिकाल में ही अंत नहीं हो जाता। विद्यापति से होती हुई यही परम्परा भक्तिकाल में प्रेमाख्यानक काव्यों तक पहुंची, कृष्ण–भक्तों को भी उसने प्रभावित किया तथा रीतिकाल में जाकर उसका सरस श्रृंगार–काव्य के रूप में चरम विकास हुआ।

हम्मीर रासो : प्राकृत पैंगलम् में इस काव्य के कुछ छन्द मिले थे और उन्हीं के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके अस्तित्व की कल्पना की थी। उनका अनुमान था कि इसमें हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्धों का वर्णन तथा हम्मीर की प्रशंसा चित्रित होगी। किन्तु राहुल जी ने उन पद्यों को जज्जल नामक किसी कवि की रचना घोषित किया है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि 'हम्मीर' शब्द अमीर का विकृत रूप है, जो किसी पात्र का नाम न होकर एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। अत: शार्ङ्गधार–कृत इस 'हम्मीर रासो' का अस्तित्व संकट में पड़ा हुआ है। अभी तक इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है।

परमाल रासो : 'परमाल रासो' का रचयिता जगनिक नामक कवि माना जाता है, जो महोबा के राजा परमर्दिदेव का आश्रित था। उसने इस काव्य में आल्हा और ऊदल नामक दो सरदारों की वीरतापूर्ण लड़ाइयों का वर्णन किया है। इसी आधार पर इसका रचना–काल तेरहवीं शती का आरम्भ माना जाता है। इसमें वीर–भावना का जितना प्रौढ़ रूप मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी जब इसे गायक संगीत के साथ गाते हैं, तब दुर्बलों में भी तलवार चलाने की स्फुर्ति आ जाती है। विवाह और शत्रु–प्रतिशोध वीरता के प्रदर्शन का आधार रहे है। युद्धों के अत्यन्त प्रभावशाली वर्णनों की इस काव्य में भरमार है। भावों के अनुसार ही भाषा भी चली है और उसमें एक विशेष शब्द ध्वनि सर्वत्र–सर्वत्र व्याप्त हो गयी है। गेयता का गुण इस काव्य को विकासशील लोकगाथा–काव्य की श्रेणी में ले जाता है, किन्तु इसकी रचना लोक–गाथा के रूप में न होकर शुद्ध, काव्य के रूप में ही हुई है।

पृथ्वी राज रासो : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "(चन्द) हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है।" उन्होंने चन्दवरदायी को दिल्ली–नरेश पृथ्वीराज चौहान का सामन्त और राजकवि माना है। महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार चन्दबरदायी का जन्म लाहौर में हुआ था। इनके जन्म–काल के संबंध में कई धारणाएं हैं। शुक्लजी ने इनका जन्म वर्ष 1138 ई. माना है, तथा लिखा है कि "रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी, जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था।" शुक्ल जी ने हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त चन्द का एक वंश–वृक्ष भी प्रस्तुत किया है। वह वंश वृक्ष शास्त्रीजी को नानूराम जाट से प्राप्त हुआ था, जो स्वयं को चन्द का वंशज मानता था। उसके कथनानुसार चन्द को चार पुत्र थे, जिनमें से चतुर्थ पुत्र जल्ल था। जिस समय पृथ्वीराज को मुहम्मद गोरी बन्दी बनाकर अपने देश ले जा रहा था, उस समय चन्द भी महाराज के साथ गया था तथा अपने पुत्र जल को 'पृथ्वीराज रासो' सौंप गया था। इस संबंध में यह युक्ति प्रसिद्ध है : "पुस्तक जनहण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।" कहा जाता है कि जल ने चन्द के अधूरे महाकाव्य को पूर्ण किया था :

रधुनाथ चरित हनुमन्त कृप, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत, चन्द नन्द उद्धरिय तिमि॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यह प्रसिद्ध है कि चन्द ने स्वामी के हितार्थ अपना बलिदान किया था। वह बहुत प्रतिभाशाली, दूरदर्शी, वीर तथा स्वामिभक्त कवि था। पृथ्वीराज उसे सदा अपने सखा के समान साथ रखते थे एवं उसकी हर बात मानते थे।

2.7 रासो साहित्य की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता

रासो साहित्य की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर विचार करने से पूर्व रासों ग्रंथों पर विचार करना उचित प्रतीत होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निम्नलिखित रासो ग्रंथों की चर्चा की है– 'विजयपाल रासो', 'हम्मीर रासो', 'खुम्माण रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'परमाल रासो'। इन्हीं काव्य–ग्रंथों की चर्चा सामान्यतया रासो साहित्य के अंतर्गत की जाती है। 'विजयपाल रासो' के रचयिता नल्लसिंह भाट थे। इस काव्य में रजा पंग और विजयपाल के बीच युद्ध का वर्णन है। मिश्र बंधुओं ने इस काव्य–कृति का रचनाकाल चौदहवीं शती माना है। काव्य–कृति की भाषा–शैली पर विचार करने पर यह रचना परवर्ती जान पड़ती है। यह रचना प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं है। 'हम्मीर रासो' शार्ङ्‌धर कवि की कृति बताई जाती है, परन्तु इस ग्रंथ की सूचना मात्र ही उपलब्ध है।

प्राकृत पैंगलम में कुछ छन्दों के आधार पर आचार्य शुक्ल ने इस कृति के अस्तित्व को स्वीकारा है। 'हम्मीर रासो' की कोई भी प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। 'खुम्माण रासो' की एक अपूर्ण प्रति प्राप्त हुई है, उसमें खुम्माण से लेकर महाराणा प्रताप सिंह तक का वर्णन मिलता है। 'खुम्माण रासो' मूल रूप में नवीं–दसवीं शताब्दी की रचना है, परन्तु जो काव्य–प्रति प्राप्त हुई है, वह सत्रहवीं शताब्दी की रचना मालूम पड़ती है। 'बीसलदेव रासो' के रचयिता नरपति नाल्ह थे। 'बीसलदेव रासो' यद्यपि माता प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुकी है परंतु इस ग्रंथ के रचनाकार के विषय में मतभेद बना हुआ है। कुछ लोग इस कृति का रचनाकाल तेरहवीं शताब्दी मानते हैं और कुछ लोग सोलहवीं शताब्दी मानते हैं।

चंदबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में विवाद है। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई है– पृथ्वीराज रासो के विभिन्न संस्करणों के बीच से उसके प्रामाणिक और मूल पाठ को तय करना। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने बृहत् लघु और लघुतम पाठों में से लघुतम पाठ को पृथ्वीराज रासो का मूल रूप बताया है। आचार्य हजारी द्विवेदी ने अनुमान लगाया है कि कवि चंद ने रासो की रचना शुक–शुकी के संवाद के रूप में की होगी। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में तीन वर्ग बन गए हैं। विद्वानों का प्रथम वर्ग इस काव्य–कृति को अप्रामाणिक मानता है। इस वर्ग के विद्वानों में डॉ. बलूर, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कविराज श्यामलदीन तथा हीराचंद ओझा के नाम प्रमुख हैं। डॉ. श्यामसुन्दर दास, मोहनलाल विष्णुलाल पाण्डया, मिश्रबंधु, कर्नल टांड आदि विद्वानों ने नागरी प्रचारिणी सभा वाले पृथ्वीराज रासो के संस्करण की प्रामाणिक माना है। विद्वानों का तृतीय वर्ग पृथ्वीराज रासो को अर्ध–प्रामाणिक रचना मानता है।

इस वर्ग के विद्वानों में प्रमुख नाम मुनि जिनविजय, डॉ. सुनीति चटर्जी, आचार्य हजारी द्विवेदी और डॉ. नामवर सिंह का है। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की बहस हिन्दी साहित्य में बहुत पुरानी है, चूंकि इस रचना को आधार मानकर आदिकाल का विश्लेषण किया जाता है। इसलिए इस ग्रंथ को कम से कम अर्ध प्रमाणिक मानना ही उचित प्रतीत होता है। साहित्य में प्रारंभिक रचनाओं के संदर्भ में इस तरह के प्रश्न साहित्य के इतिहास में पैदा होते रहते हैं, इसका श्रेष्ठ उदाहरण ग्रीक साहित्य में रचा काव्य 'इलियड' और 'ओडिसी' है। होमर रचित इस कृति के लिए पश्चिमी साहित्य में एक मुहावरा चल पड़ा होमरिक प्राब्लम (कभी न सुलझने वाली गुत्थी)। साहित्य के इतिहास में काव्य–कृति की प्रामाणिकता को लेकर चलने वाले विवाद के साथ–साथ उस काव्य कृति के आलोचनात्मक विश्लेषण का भी महत्त्व है। यह आलोचनात्मक विश्लेषण ही हमारी इतिहास दृष्टि को तय करता है।

2.7.1 रासो काव्य की पृष्ठभूमि— रासो काव्य से हमारा तात्पर्य आदिकालीन साहित्य की वीरगाथात्मक कृतियों से है। आदिकालीन साहित्य में रास ग्रंथ और रासो ग्रंथ दोनों प्रकार की रचनाओं की चर्चा मिलती है। रास साहित्य और रासो साहित्य का मुख्य अंतर भावानुभूति को लेकर है। रास साहित्य की संवेदना धार्मिक अनुभूति अथवा लौकिक प्रेम की अनुभूति से जुड़ी हुई है। रास काव्य का प्रसार जैन साहित्य में देखने को मिलता है। रास साहित्य में लौकिक प्रेमानुभूति को भी अभिव्यक्त किया गया है। 'संदेश रासक' इसी तरह के साहित्य का उदाहरण है। आदिकालीन साहित्य में रास काव्य का नाथ जैन रचनाकारों द्वारा लिखे गए रासक ग्रंथों और 'संदेश रासक' जैसे प्रेमानुभूति प्रधान काव्य संवेदना के लिए रूढ़ हो गया है। वस्तुत: रास, रासो, रासउ और रसायण शब्द अलग–अलग हैं और वे एक खास तरह के मनोभाव को अभिव्यक्त करते हैं।

वस्तुत: रासो साहित्य की रचना चारणों द्वारा हुई थी। चारणों का साहित्य में आगमन सामंतवादी व्यवस्था के समानांतर होता है। सामंतों को प्रशस्तिगान के लिए चारणों की आवश्यकता हुई। प्रशस्तिगान में चरण अधिकतर आश्रयदाता सामंतों की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा

Jain Vishwa Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करते थे। प्रशस्तिगान की विषय-वस्तु बहुत ही सीमित थी। सामंतों के जीवन में दो बातों की प्रधानता थी। युद्ध और प्रेम। इसलिए चारणों के साहित्य में भी इन्हीं दो विषयों की प्रमुखता मिलती है। किसी राजा की रूपवती कन्या का संवाद पाकर किसी दूसरे राजा का चढ़ाई करना तथा उस कन्या का हरण कर लेना, वीरों के लिए गौरव और अभिमान का विषय था। पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो में इस प्रकार के कई प्रसंग आए हैं। राजनीतिक कारणों से हुए युद्धों के स्थान पर भी चारणों ने काव्य में रूपवती स्त्री को ही युद्ध का कारण परिकल्पित किया है। पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गौरी के बीच युद्ध का कारण एक रूपवती स्त्री को बताया गया है। रासो साहित्य के संदर्भ में इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि यह साहित्य युद्ध और श्रृंगार तक ही क्यों सीमित है ?इस प्रश्न का सीधा सा जवाब है कि साहित्य बहुत कुछ सामाजिक संरचना पर निर्भर करता है। सामाजिक संस्था की बनावट का असर साहित्य पर भी दृष्टिगोचर होता है। सामंती व्यवस्था में चारण कवियों ने जीवन के उन पक्षों को अनदेखा किया जिसका संबंध जीवन के अभावों से है, इसीलिए व्यवस्था से शोषित सामान्य मानव के घरेलू जीवन और उसकी समस्याओं की ओर उनका ध्यान नहीं है। इन विषयों से सामंतों का मनोरंजन भी नहीं हो सकता था। अत: कवियों ने साहित्य में सामान्य मनुष्य की ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। आदिकालीन रासो साहित्य में साहित्य का उद्देश्य सामंतों का मनोरंजन था, इसलिए रासो साहित्य में युद्ध और श्रृंगार को प्रमुख विषय बनाया गया। इस श्रृंगार में भी उत्तेजना है, इसमें प्रेम से अधिक काम का वर्णन है। प्रकृति वर्णन को भी काव्य में काम की उत्तेजना को बढ़ाने का साधन माना गया है।

2.8 लौकिक साहित्य

आदिकाल में पूर्वोक्त प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त स्वछन्द रूप में लौकिक विषयों पर ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति भी मिलती है। यहाँ हम आदिकाल में उपलब्ध सभी लौकिक काव्यों का परिचय देकर इस स्वछन्द धारा की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

2.8.1 ढोला-मारू रा दूहा— ग्यारहवीं शताब्दी में रचित यह एक लोकभाषा-काव्य है। 'दूहा घणां पुराणां अछइ' पंक्ति इसकी प्राचीनता की ओर ही संकेत करती है। पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश (राजस्थान) में यह काव्य अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इस संबंध में यह कथन प्रसिद्ध है :

सोरठियों दूहो भलो, भलि मरवण री बात।
जोबन छाई धण भली, तारां छाई रात॥

मूलत: दोहों में रचित इस लोक-काव्य को सत्रहवीं शताब्दी में कुशलराय वाचक ने कुछ चौपाइयां जोड़कर विस्तार दिया। इसमें ढोला नामक राजकुमार और मारवणी नामक राजकुमारी की प्रेम-कथा का वर्णन है। कछवाहा वंश के राजा नल का पुत्र ढोला जिस समय तीन वर्ष का था। तथा पूगल के राजा पिंगल की कन्या मारवणी केवल डेढ वर्ष की थी, तभी दोनों का विवाह कर दिया गया था। कहा जाता है कि पूगल में अकाल पड़ने पर राजा पिंगल विवश होकर नल के शन्य में चले गये थे। तभी पिंगल की रानी ढोला पर रीझ गयी थी और उसने मारवणी से उसका विवाह कर दिया था। जब ढोला बड़ा हुआ, तब उसका दूसरा विवाह मालवा की राजकुमारी मालवणी से हो गया। इस पर मारवणी दु:खी रहने लगी। उसने ढाढ़ियों के माध्यम से ढोला के पास अपना विरह-संदेश भेजा। मालवणी के प्रयत्न से बहुत समय तक ढोला को वह संदेश नहीं मिल सका। किन्तु अंत में मारवणी अपने उद्देश्य में सफल हुई और दोनो के पुनर्मिलन का समय आया। इस काव्य में नारी-हृदय की अत्यन्त मार्मिक व्यंजना मिलती है। प्रेम का सात्विक, किन्तु सरस पक्ष इसमें विस्तार से प्रस्तुत हुआ है। कवि ने मारवणी के भावों की व्यंजना में संस्कृत के प्रेम-काव्यों की परम्परा का प्रभाव भी ग्रहण किया है। ऋतुओं की सरसता के संदर्भ में मालवणी और मारवणी के विरह वर्णन हृदय पर स्थायी प्रभाव डालते है।

2.8.2 जयचन्द प्रकाश और जयमयंक-जसचन्द्रिका—कृतियों का 'राठौड़ां री ख्यात' में उल्लेख मिलता है, किन्तु अभी तक ये उपलब्ध नहीं हुई हैं। कहा जाता है कि प्रथम कृति की रचना भट्ट केदार कवि ने की थी। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार यह एक महाकाव्य था, 'जिसमें महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का वर्णन था।' इसी प्रकार की दूसरी कृति 'जयमयंक-जसचंद्रिका की रचना मधुकर कवि ने 1186 ई. में की थी। ये दोनों की ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। किन्तु 'राठौड़ा री ख्यात' में यह उल्लेख मिलता है कि दयालदास ने इन्हीं ग्रंथों के आधार पर कन्नौज तक का वृत्तान्त लिखा था। अत: इन कृतियों की रचना तो अवश्य हुई होगी, किन्तु ये सुरक्षित नहीं रह सकीं।

2.8.3 वसन्त-विलास- इस कृति के रचयिता का पता नहीं चल सका है। इसमें चौरासी दोहों में वसन्त और स्त्रियों पर उसके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विलासपूर्ण प्रभाव का मनोहारी चित्रण किया गया है। इस काव्य में प्रकृति और नारी दोनों का मदोन्नत स्वरूप श्रृंगार रस की तीव्र धारा प्रवाहित करता है। आदिकाल को विद्वानों ने अब तक वीरगाथाओं और धार्मिक उपदेशों का ही युग माना था, 'बसन्त विलास' ने 'राउलवेल' की श्रृंगार भावना को चरम सीमा पर पहुंचा दिया है। इस काव्य के सरस वर्णनों को पढ़कर सूर की श्रृंगार-भावना या उसके पश्चात रीतिकालीन कवियों की श्रृंगारिकता साहित्य में अचानक आ जाने वाली प्रवृत्ति नहीं रह जाती और न उसके लिए संस्कृत-साहित्य में परम्परा की खोज करना ही आवश्यक प्रतीत होता है। इस कृति में आदि-काल के जन-जीवन का वह सरस पक्ष उभरता है, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तलवारों की झनझनाहट के अधिक्य के कारण नहीं सुन पाये थे। स्त्री-पुरुष-प्रकृति-तीनों में अजस्र बहती मदोन्मत्तता का इस काव्य में जैसा चित्रण मिलता है, वैसा रीतिकालीन हिन्दी कवि भी नहीं कर सके। एक ओर कोकिल-कूजन, दूसरी ओर पति-युक्त युवतियों का विलास, जिसे देखकर विधुर जन तथा वियोगिनी नारियां किशोर मदन का मदिन कूजन मन में अनुभव करती हुई काँपने लगती है। कवि लिखता है :

इणि परि कोइलि कूजइ, पूजइं युवति मणोर।
विधुर वियोगिनि धूजइं, कूजइ मयण किसोर॥

इस काव्य की भाषा से ही पिंगल सरस ब्रजभाषा का रूप लेती प्रतीत होती है। उस पर उस आलंकारिता की गहरी छाया भी यहीं से मिलने लगती है, जिसका रीतिकाल तक पूर्ण विकास हुआ।

2.8.4 संदेश रासक-'संदेश रासक' की रचना बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में मूल स्थान (मूलतान) के आसपास हुई थी। 'संदेश रासक' की रचना अपभ्रंश भाषा में हुई थी, परन्तु वह अपभ्रंश भाषा बोलचाल के अधिक नजदीक थी। कवि अब्दुल रहमाण प्राकृत और अपभ्रंश की परंपरा के अच्छे जानकार थे, फिर भी वे अपनी रचना को बोलचाल की भाषा के अधिक नजदीक रखने का प्रयत्न करते हैं। बोलचाल की भाषा से जुड़ी होने के कारण ही 'संदेश रासक' में लोक-संवेदना का सहज विस्तार मिल गया है। 'संदेश रासक' दूत काव्य है। दूत काव्य की परंपरा संस्कृत और प्राकृत में भी मिलती है। और उसी काव्य-चेतना का प्रसार अपभ्रंश में भी मिलता है। 'मेघदूत' के पूर्व-मेघ और उत्तर-मेघ के समान 'संदेश-रासक तीन प्रक्रमों में विभाजित है। प्रथम प्रक्रम प्रस्तावना रूप में है, द्वितीय प्रक्रम में वास्तविक कथा का प्रारंभ होता है और तृतीय प्रक्रम में षड्ऋतु का वर्णन है। 'संदेश रासक' में मंगलाचरण, आत्म-परिचय, ग्रंथ लिखने के औचित्य षडऋतु वर्णन तथा रूप वर्णन जैसी शास्त्रीय रूढ़ियों की कमी नहीं है, फिर भी उसमें नारी की करूणा का संदेश मार्मिक है। इस काव्य में लोक जीवन के सघन चित्र प्राप्त होते हैं। काव्य में शास्त्रीय रूढ़ि काव्य की संरचना मात्र है, मूल संवेदना गहरे स्तर पर लोकानुभूतियों को स्पर्श करती है। काव्य की मूल कथा में विजय नगर की एक प्रोषितपतिका नायिका का वर्णन है, जिसका पति धनार्जन हेतु खंभात गया है। यह विरहिणी नायिका एक पथिक के माध्यम से अपनी विरहानुभूति का संदेश पति तक सम्प्रेषित करना चाहती है। नायिका के विरह में प्रकृति का पूर्ण सहयोग है, प्रकृति के विराट प्रांगण में विरह का उत्सव मनाया जाता है। प्रकृति वर्णन में कवि की दृष्टि जहाँ ग्राम्य जीवन की ओर गई है, वे स्थल काव्य में बड़े मार्मिक हो गए हैं। काव्य में प्रकृति का ब्रह्य वर्णन प्राकृतिक वर्णन मात्र न होकर विरहिणी नायिका के हृदय का चित्र हो गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो, व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्म-वेदना की ही होती है।' प्रकृति और विरहिणी नायिका का इसी प्रकार का साम्य जायसी के पद्मावत् के नागमती वियोग खंड में मिलता है:

उत्तरायणि षड्ढिहि दिवस, णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिउइउ।
दुन्निय वड्ढहि जत्थ पिय, इहु तीयउ विरहायणु होइयउ॥1

अर्थात् उत्तरायण में दिन बड़े हो जाते हैं, दक्षिणयन में रातें बड़ी हो जाती हैं और दिन छोटे हो जाते हैं। अब मेरे दोनों दिन भी और रातें भी बड़ी हो गई- यह तीसरा विरहायण हो गया।

अब्दुल रहमाण ने नायिका की तीव्र विरहानुभूति को प्रभावकारी बनाने के लिए नाटकीय कौसल का सहारा लिया है। थोड़ा संदेश सुनकर पथिक ज्यों ही चलने को होता है, नायिका नया प्रंसग छोड़ देती है। आज के सामाजिक-जीवन में टूटते मानवीय संबंध की तुलना जब 'संदेश रासक' के सहृदय पथिक की सहानुभूति से करते हैं तब हम पाते हैं कि आज के युग में मानवीय भावों का कितना ह्रास हुआ है। मानवीय करूणा और सहानुभूति के शीतल स्पर्श के कारण इस कृति की सार्थकता आज भी बनी हुई है।

2.9 गद्य रचनाएँ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आदिकालीन हिन्दी साहित्य में देश के विविध भागों में विविध प्रकार की गद्य रचनाएँ भी हो रही थीं। गद्य रचना में जीवन और समाज की वास्तविकता को प्रकट करने की शक्ति होती है। आदिकाल में जितने प्रकार की गद्य रचनाएँ मिलती है, उसमें कहीं न कहीं तत्कालीन जीवन यथार्थताओं का वर्णन है। इस युग का गद्य कृतियों में दामोदर भटट रचित 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' (12वीं शताब्दी), ज्योतिरीश्वर ठाकुर की कृति, 'वर्ण रत्नाकर' (14वीं शताब्दी) तथा विद्यापति की 'कीर्तिलता' और कीर्तिपताका (14वीं शताब्दी) का नाम उल्लेखनीय है।

दामोदर भट्ट गहड़वार के प्रसिद्ध राजा गोविन्दचन्द्र के दरबारी साहित्यकार थे। गोविन्दचन्द्र के पुत्रों को शिक्षा देने के लिए इस कृति की रचना हुई थी। लोकभाषा की लोकरुचि से संस्कृत व्याकरण का आधारभूत ज्ञान किस प्रकार से प्राप्त किया जाए- इसका संकेत हमें 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' में मिलता है।

'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' से इस बात का भी पता चलता है कि साहित्य की रूढ़ भाषा से बोलचाल की भाषा बिल्कुल अलग थी। साहित्य की रूढ़ भाषा अपभ्रंश थी और बोलचाल में लोकभाषा तथा बोली प्रयुक्त होती थी। अवधी भाषा और संस्कृति को समझने में 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' का ऐतिहासिक महत्त्व है।

'वर्णरत्नाकर' डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुकी है। 'वर्णरत्नाकर' की भाषा मैथिली हिन्दी है। 'वर्णरत्नाकर' कल्लोलों में विभाजित है। इस गद्य कृति में राज-दरबारों के कार्यकलापों का ब्योरेवार वर्णन मिलता है। 'वर्णरत्नाकर' में रीति ग्रंथों की तरह नायक-नायिका के गुणों, उनके प्रकारों की विवेचना मिलती है। इसमें वेश्याओं का वर्णन है और उनमें प्रचलित संगीत का वर्णन भी मिलता है। संपूर्ण रूप से देखें तो मैथिली भाषा और संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं को समझने में इस पुस्तक का विशिष्ट महत्त्व है।

2.9.1 विद्यापति— विद्यापति का रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी था। उस काल की देशभाषा को अपभ्रंश में मिलाकर रचने की प्रवृत्ति प्रचलित थी। विद्यापति ने भी इन रूढ़ियों का पालन किया, परन्तु उनके काव्य में देशभाषा का स्वतंत्र विकास भी देखने को मिलता है। अपभ्रंश मिश्रित लोकभाषा जिसे विद्यापति ने अवहट्ठ कहा है, तथा मिथिलांचल प्रदेशों में प्रचलित लोकभाषा मैथिली दोनों ही भाषाओं में विद्यापति ने रचना की। विद्यापति की स्पष्ट मान्यता थी-

देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
ते तैंसन जपओं अवहट्ठा।

अर्थात् देसी भाषा सबको मीठी लगती है, इससे वैसा ही अपभ्रंश में कहता हूँ। विद्यापति दो भाषाओं को स्वीकार करते हुए भी देशभाषा को प्रमुख मानते हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि वह कौन-सी जरूरत थी जिसके कारण विद्यापति को अवहट्ठ की रचना करनी पड़ रही थी। वस्तुत: राज-दरबार के अभिजात्य के बीच अपभ्रंश भाषा का प्रचलन था। विद्यापति राजाश्रय में रचना कर रहे थे। वे कीर्ति सिंह के दरबार में रहते थे। अत: उन्हें विवशतावश दरबार की भाषा को भी रचना के लिए अपनाना पड़ा। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' उनकी इसी विवशता का प्रतिफल है। विद्यापति की भाषा में लोक-अनुभूति और लोक-अनुभव का आधार इतना गहरा था कि उससे उनकी अवहट्ठ रचनाएं भी प्रभावित हुईं। उस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि उसमें देशभाषा का कुछ अधिक प्रभाव है। यह प्रभाव शब्द के साथ-साथ लय और टोन में अभिव्यंजित होता है :

धारि आनय बाभन बरूआ। मथा चढ़ावउ गाय का चरूआ।
हिन्दू बोले दूरहि निकार। छोटउ तुरूका भभकी मार॥

यह अपभ्रंश भाषा प्राकृत की रूढ़ियों में बंधी हुई प्रतीत नहीं होती। वस्तुत: विद्यापति के सामने कविता की दो धाराएं थीं- एक प्राचीन मैथिली की और दूसरी उत्तरकालीन अवहट्ठ की। विद्यापति ने दोनों प्रकार की भाषाओं को मिलकर एक नई शैली की उद्भावना की। आश्रयदाताओं की प्रशंसा के बावजूद मैथिल-कौकिल ने लोक-अनुभूति के मर्म से अपनी कविता को रचा। मिथिला का कोई पर्व-त्योहार, विवाह और अन्य लोकोत्सव मैथिल-कोकिल के गीत के बिना अधूरा माना जाता है। लोक-संवेदना में इतने गहरे स्तर तक हिन्दी में किसी दूसरे कवि की पैठ नहीं मिलती। इसी अर्थ में डॉ. रामविलास शर्मा ने उन्हें मध्यकालीन नवजागरण का अग्रदूत माना है। विद्यापति के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जाता है कि वे भक्त थे अथवा श्रृंगारी। इस विवाद को उनकी कविता के आधार पर ही विवेचित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

किया जा सकता है। विद्यापति के काव्य में मानवीय सौंदर्य का गहरा रंग है।

उनके द्वारा रचे गए सौंदर्य के चित्र सघन हैं। राधा और कृष्ण के साथ शिव और पार्वती को भी विद्यापति ने मानवीय बनाकर प्रस्तुत किया है। विद्यापति का काव्य जहाँ जयदेव के श्रृंगारी काव्य से प्रभावित है, वहीं दूसरी और उन पर कालीदास की स्वच्छद अनुभूति का प्रभाव भी मिलता है। विद्यापति ने कृष्ण के अतिरिक्त, शिव को भी श्रृंगार रस आलंबन बनाया है। कवि ने शिव और कृष्ण के मिथक का आश्रय इसलिए लिया है कि प्रेम जैसी अनुभूति का तन्मयता से वर्णन हो सके।

विद्यापति के श्रृंगार वर्णन की बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने अपने श्रृंगार वर्णन को सामंती श्रृंगार के सौंदर्य के उपभोग पक्ष से अलग रखा है। उनके श्रृंगारिक मनोभाव में लोकजीवन की सहजता है। उनके काव्य में किशोर और किशोरियों के प्रेम का सहज आकर्षण है, नवयौवन की चंचलता है और भावों की ऊहापोह है। वय: संधि के प्रकरण में विद्यापति अद्वितीय है :

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल, स्रावन क पथ दुहु लोचन लेल
निरजन उरज हेरइ कत वेरि, हंसइ जे अपन पयोधर हेरि।

नवयौवन में किन मन:स्थितियों का विकास होता है, विद्यापति ने उसका मनौवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया था। इन मन:स्थितियों के बीच जो प्रतिक्रिया होती है उसका विशद वर्णन विद्यापति के साहित्य में मिलता है। विद्यापति के नायक और नायिका में बेचैनी है। उनका मनोभाव अशांत है, उनके भावों में तरलता है और प्रिय से मिलने की आकांक्षा है। प्रेमानुभूति, यौवन और सौंदर्य के अतिरिक्त विद्यापति में सामान्य जीवन का चित्रण भी मिलता है। इनके कई पदों में मिथिला के गरीब लोगों का चित्र सामने आता है जो अपनी हीन वित्तीय स्थिति के कारण अपनी आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं कर पाते थे। प्रोषित पातिका नायिका अपनी हीन वित्तीय स्थिति के कारण पथिक को विभिन्न भाव-भंगिमा के द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करती है।

मिथिला में विद्यापति ने जिस तान को छेड़ा उसका प्रभाव मिथिला में ही सीमित न होकर असम, बंगाल, उड़ीसा तक जा पहुंचा। वस्तुत: मिथिला पूर्वी संस्कृति का केन्द्र था। मिथिला में गीति काव्य और दर्शन की दो धाराएँ एक-साथ प्रवाहित हो रहीं थीं। विद्यापति का संबंध इन दोनों धाराओं से था। पूरब के लोक मिथिला में पढ़ने-लिखने और कार्य करने आते थे। जब वे अपने प्रदेश लौटते थे तो मिथिला के गीत और भजन भी लेते जाते थे। इसी तरह से विद्यापति की कविताओं का प्रसार असम, बंगाल और उड़ीसा में हुआ। मैथिल-कोकिल की लयात्मक चेतना और गीतात्मक संवेदना से संपूर्ण पूर्वी भारत आनंदित हो उठा-

नंदक नंदक कदम्बक तरू तरे, धीरे-धीरे मुरली बजाय
समय संकेत निकेतन वैसल, बेरि-बेरि बोलि पठाव।

2.9.2 अमीर खुसरो — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार खुसरो (1255-1324) ने 1283 ई. के लगभग रचना आरम्भ की थी। उनका जन्म एटा के पटियाली गांव में हुआ था। कहा जाता है कि वे बड़े विनोदी और सहृदय व्यक्ति थे। जन-जीवन के साथ घुल-मिलकर काव्य-रचना करने वाले कवियों में खुसरो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने जनता के मनोरंजन के लिए पहेलियां और मुकरियाँ लिखी थी। आदिकाल में खड़ीबोली को काव्य की भाषा बनाने वाले वे पहले कवि हैं।

उनके द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या सौ बतायी जाती है, जिनमें अब बीस-इक्कीस ही उपलब्ध हैं। 'खालिकबारी', 'पहेलिया', 'मुकरिया', 'दो सुखने', 'गजल' आदि उनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग कहते हैं कि अमीर खुसरो नामक कई व्यक्ति हुए हैं अत: इन सब रचनाओं को पहेलीकार अमीर खुसरो की रचनाएं मानना एक भ्रम है। कुछ भी हो, आदिकाल में जो अमीर खुसरो हुए थे, उनकी पहेलियाँ और मुकरियां ही प्रसिद्ध है जिनमें मनोरंजन और जीवन पर गहरे व्यंग्य एक साथ मिलते हैं। अमीर खुसरो को भाव की गहराई की दृष्टि से भले ही महत्त्व न दिया जाए, किन्तु भाषा की दृष्टि से उनकी पहेलियां साहित्य के इतिहास का सदा एक महत्त्वपूर्ण अंग रहेंगी। वस्तुत: उनके काव्य में खड़ीबोली काव्य-भाषा बनने का सफल प्रयास कर रही थी। उनकी भाषा के ऐतिहासिक महत्त्व को समझने के लिए एक पहेली यहां प्रस्तुत है :

तरवर से इस तिरिया उतरी, उनने बहुत रिझाया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बाप का उसने नाम जो पूछा,
आधा नाम पिता पर प्यारा, बूझ पहेली गोरी।
अमीर खुसरो यों कहें, अपने नाम न बोली- 'निबोरी' ॥

पहेली-रचना की इस शैली का हिन्दी-काव्य में आगे विस्तार नहीं हुआ, किन्तु रहस्य-प्रकृति के विकास पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ा। चमत्कार और कुतूहल की प्रवृत्तियाँ भी खुसरो की प्रेरणा से हिन्दी-काव्य में विशेष स्थान पाने लगीं। फलत: रीतिकाल में कुतूहल-काव्यों की एक लम्बी परम्परा चली, जिसका अभी तक किसी ने अध्ययन नहीं किया है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप चारण साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को समझ गए होंगे। चारण साहित्य की प्रशस्तिपरक रचना तथा लोककाव्य के बीच के सूक्ष्म भेदों की चर्चा भी इस इकाई में हुई है। प्रशस्तिपरक साहित्य का स्थायी भाव युद्ध और प्रेम ही क्यों था इस बात को भी आप भली-भाँति समझ गए होंगे। मुलतान से लेकर मिथिला तक किस प्रकार से देशभाषा में साहित्य रचना की शुरूआत हुई तथा लोकभाषा और अपभ्रंश भाषा के द्वंद्वात्मक रिश्तों के बीच किस प्रकार कवियों ने देशभाषा को प्रतिष्ठित करने में अपनी भूमिका निबाही इसका अध्ययन भी अपने किया। लौकिक साहित्य के अध्ययन में आपको यह भी पता चल गया होगा कि संस्कृति की विषय-वस्तु भाषा छंद का कितना अटूट संबंध होता है।

2.10 सारांश

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि नाशों की मिश्रित अनुभूति ने न केवल मिश्र भाषा को ही, अपितु मिश्र संस्कृति को जन्म दिया है। यह भी कि नाथों और सिद्धों के दार्शनिक स्वरूप अलग-अलग थे। जैन साहित्य धार्मिक और मानवीय संवेदनापूर्ण था, इस तथ्य को स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है। इस प्रकार सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य ने अपने बेजोड़ वैशिष्ट्य के द्वारा परवर्ती साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया।

इसके साथ ही चारण-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों सहित उनकी प्रशस्तिपरक और लोक-साहित्य के बीच अन्तर को स्पष्ट किया गया है। इसके साथ ही मुलतान से लेकर मिथिला तक के देशभाषा, लोकभाषा और अपभ्रंश के द्वन्द्वमयी स्थिति का भी ज्ञान हो जाता है। संस्कृति की विषय-वस्तु, भाषा छंद के भी अटूट संबंध का ज्ञान होता है।

2.11 अभ्यास

1. सिद्ध साहित्य की चर्चा करते हुए उसके अभिव्यंजना पक्ष पर प्रकाश डालिए।
2. सिद्ध और नाथ में अन्तर स्पष्ट करते हुए नाथ साहित्य की चर्चा कीजिए।
3. जैन साहित्य के विविध प्रकारों का विवेचन कीजिए।
4. रासो काव्य की पृष्ठभूमि का विवेचन कीजिए।
5. आदिकालीन लौकिक साहित्य में अमीर खुसरों के योगदान की चर्चा कीजिए।
6. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :

   (1) संदेश रासक

   (2) विद्यापति

   (3) रासो साहित्य की प्रामाणिकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-3 : भक्तिकाल

इकाई-3

भक्तिकालीन साहित्य

संरचना

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 राजनीतिक पृष्ठभूमि

3.3 सामाजिक स्थिति

3.4 धार्मिक पृष्ठभूमि

3.5 दार्शनिक पृष्ठभूमि

- 3.5.1 वेद से बुद्ध तक
- 3.5.2 आलवार एवं नयनार
- 3.5.3 शंकराचार्य
- 3.5.4 वैष्णव आचार्य
- 3.5.5 राममार्गी भक्ति
- 3.5.6 कृष्णमार्गी भक्ति
- 3.5.7 निर्गुण संत साहित्य
- 3.5.8 सूफी भक्ति साहित्य

3.6 भक्तिकाल का उदय (विभिन्न विद्वानों के मतों की व्याख्या)

3.7 भक्ति आन्दोलन का अखिल भारतीय स्वरूप

3.8 दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन का स्वरूप

3.9 भक्ति आन्दोलन : (वर्ण-व्यवस्था एवं नारी) आंतरिक विरोध

3.10 सारांश

3.11 अभ्यास प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से है जिसमें मुख्यत: भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति-आंदोलन का सूत्रपात हुआ था और उसकी लोकोन्मुखी प्रवृति के कारण धीरे-धीरे लोक-प्रचलित भाषाएं भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गयीं और कालान्तर में भक्तिविषयक विपुल साहित्य की बाढ़-सी आ गयी। परन्तु यह भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित न थी- शैव, शाक्त आदि धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन सम्प्रदाय तक इस प्रवाह से प्रभावित हुए बिना न रह सके। भक्तिकाल का विवेचन करने से पूर्व भक्ति-भावना की परम्परा और परिवेश का संक्षिप्त परिचय पा लेना विषय को बोधगम्य बनाने में सहायक होगा।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई में भक्तिकालीन समय-सीमा के साथ-साथ भक्तिकालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि का अभिज्ञान प्राप्त हो सकेगा। इसके साथ ही साथ हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के उदय की व्याख्या, दक्षिण भारत में भक्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आंदोलन के उदय के कारण और उसके अखिल भारत में भक्ति आन्दोलन के उदय के कारण और उसके अखिल भारतीय स्वरूप के विषय में अभिज्ञान हो सकेगा।

3.2 राजनीतिक पृष्ठभूमि

राजनीतिक दृष्टि से भक्ति काल का विस्तार मुख्य रूप से तुगलक वंश से लेकर मुगल वंश के बादशाह शाहजहाँ के शासन काल तक है। इसलिए भक्तिकाल की राजनीतिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों को समझना आवश्यक है। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमोत्तर मार्ग से तुर्कों का भारत पर आक्रमण हुआ। राजपूत राजाओं की पारस्परिक फूट तथा शत्रुता के परिणामस्वरूप पृथ्वीराज चौहान मुहम्मद गौरी के हाथों तथा जयचंद कुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा मारा गया।

इसके पश्चात् ही दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। तुर्क आक्रमणकारियों द्वारा शासित राज्य को दिल्ली सल्तनत के नाम से पुकारा जाता है। दिल्ली सल्तनत का इतिहास मुहम्मद गौरी के द्वारा भारत पर आक्रमण से शुरू होता है। सन् 1206 में तुर्की गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक भारत में मुहम्मद गौरी का उत्तराधिकारी बना। गौरी का ही एक दूसरा गुलाम यनदोज गजनी का उत्तराधिकारी बना। यनदोज ने दिल्ली पर भी अपने अधिकार का दावा किया। तभी से दिल्ली सल्तनत ने गजनी से अपना संबंध तोड़ लिया। भारत के लिए यह फलदायी सिद्ध हुआ। इस तरह वह मध्य-एशिया की राजनीति से अलग हो गया और भारत दूसरे देशों पर निर्भर हुए बिना दिल्ली-सल्तनत में अपना स्वतंत्र विकास कर सका। शुरू के सौ वर्षों तक दिल्ली-सल्तनत को अपने राज्य की सुरक्षा के लिए प्रयास करना पड़ा। दिल्ली-सल्तनत को विदेशी आक्रमण, तुर्की अमीरों के आंतरिक विरोध, विजित शासकों और सरदारों द्वारा फिर से राज्य को वापस लेने का खतरा था। तुर्की शासकों ने इन बाधाओं पर विजय पायी। तेरहवीं सदी के अंत तक दिल्ली-सल्तनत का विस्तार न सिर्फ मालवा और गुजरात तक, बल्कि दक्कन और दक्षिण भारत तक हो गया।

सन् 1206-1290 ई. तक दिल्ली-सल्तनत का इतिहास उतार-चढ़ाव का रहा। 1281 ई. में बलवन की मृत्यु के बाद फिर से अराजकता फैल गई। इस अराजकता का फायदा उठाकर जलालुद्दीन के नेतृत्व में कुछ सरदार सन् 1290 ई. में बलवान के अयोग्य उत्तराधिकारियों को सिंहासन से वंचित करने में सफल हुए। यहीं से खिलजी वंश की शुरुआत हुई। जलालुद्दीन खिलजी का शासन काल छह वर्ष का रहा। इस अल्प शासन काल में ही उसने बलवन के कठोर शासन में नरमी लाने का प्रयास किया।

उसने राज्य का आधार 'प्रजा का समर्थन' माना। उसकी धारणा के अनुसार चूँकि भारत की अधिकांश जनता हिन्दू थी इसलिए सही अर्थ में यहाँ कोई इस्लामी राज्य नहीं हो सकता था। सहिष्णुता और सरत दंड-विधान की नीति से उसने स्थानीय शासक वर्ग का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की। अगला शासक उलाउद्दीन खिलजी बना। उसने जलालुद्दीन की नीति को बिल्कुल बदल डाला। जिन्होंने उसका विरोध करने का साहस किया उन्हें कठोर दंड दिया गया। अलाउद्दीन ने बड़े पैमाने पर अपने विरोधियों की हत्या की। उसने स्थानीय शासकों को अपने विरुद्ध षडयंत्र रचने पर रोक लगाने के लिए कई कानून बनाए।

अलाउद्दीन के मरणोपरांत गयासुद्दीन तुगलक विद्रोह के बाद दिल्ली-सल्तनत की गद्दी पर बैठा। गयासुद्दीन ने एक नए वंश की स्थापना की जिसका नाम तुगलक वंश था। तुगलक वंश का शासन 1320-1412 ई. तक रहा। इस वंश में तीन महत्त्वपूर्ण शासक हुए। गयासुद्दीन, उसका पुत्र मुहम्मद बिन तुगलक (1324-1357 ई.) और उसका भतीजा फिरोज तुगलक (1351-1388 ई.)। आरंभिक दो शासकों का शासन लगभग संपूर्ण भारत पर था। फिरोज के मरने के बाद दिल्ली-सल्तनत विघटित हो गयी। यद्यपि तुगलक शासकों ने सन् 1421 ई. तक शासन किया तथापि सन् 1398 ई. में तैमूर द्वारा दिल्ली पर आक्रमण को तुगलक साम्राज्य का अंत माना गया है।

कुल मिलाकर दिल्ली-सल्तनत का शासन काल साम्राज्य के विस्तार और केन्द्रीकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अलाउद्दीन खिलजी के सत्ता में आने से पच्चीस वर्षों के भीतर दिल्ली-सल्तनत की सेनाओं ने गुजरात और मालवा पर अधिकार कर लिया। साथ ही राजस्थान के अधिकांश राजाओं को हटाने के बाद दक्षिण भारत में दक्कन और मदुरै तक के क्षेत्रों को जीत लिया गया। आगे इस विस्तृत क्षेत्र को सीधे दिल्ली प्रशासन के अधीन रखने का प्रयास किया गया। विस्तार की नीति की शुरूआत अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा हुई। उसके उत्तराधिकारियों ने भी इस नीति को जारी रखा। मुहम्मद बिन तुगलक के काल में यह नीति अपने चरम पर पहुँच गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तैमूर आक्रमण के बाद सुलतान तुगलक दिल्ली से भाग गया। जब तक वह वापस दिल्ली लौटा तब तक दिल्ली के आस-पास ही कई स्थानीय शासकों और जमींदारों ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया था। दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद शर्की सुलतानों ने एक बड़े भू-खंड पर कानून और व्यवस्था को बनाए रखा। इस बीच कुछ समय के लिए दिल्ली पर सैयद वंश का और फिर 1451 ई. में अफगान सरदार बहलोल लोदी का शासन स्थापित हुआ। अफगानों की मदद से बहलोल ने शर्कियों को हटा दिया। इस तरह उतर भारत में अफगानों का वर्चस्व कायम हुआ। सबसे महत्त्वपूर्ण लोदी सुलतान सिकन्दर लोदी (1489-1517 ई.) था। सिकन्दर लोदी ने धौलपुर और ग्वालियर को जीतकर अपने राज्य का प्रसार किया।

अपने विजय अभियान के दौरान 1506 ई. में उसने आगरा शहर की नींव डाली। इस शहर का निर्माण पूर्वी राजस्थान के क्षेत्रों तथा व्यापारिक मार्गों पर नियंत्रण स्थापित करने के उद्देश्य से किया गया था। कालान्तर में आगरा एक बड़े शहर के रूप में विकसित हुआ। आगे चलकर आगरा लोदियों की दूसरी राजधानी भी बनी। 1517 ई. में सिकन्दर लोदी की मृत्यु के बाद इब्राहिम लोदी गद्दी पर बैठा। इब्राहीम के विशाल साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न से अफगान और राजपूत दोनों उसके दुश्मन बन गए। इस कारण दौलत खाँ लोदी और राणा सांगा के निमंत्रण पर बाबर भारत की ओर आया।

1525 ई. में जब बाबर पेशावर में था उसे खबर मिली कि दौलत खाँ लोदी ने अपना पलड़ा बदल दिया है, तब बाबर और दौलत खाँ के बीच युद्ध हुआ। दौलत खाँ पराजित हुआ और पंजाब पर बाबर का अधिकार हो गया। पंजाब पर विजय प्राप्त करने के बाद 20 अप्रैल 1526 ई. में बाबर की इब्राहीम लोदी से पानीपत की ऐतिहासिक लड़ाई हुई। इब्राहिम लोदी मारा गया। इस तरह अगला युद्ध राणा सांगा के साथ 1527 ई. में खनवा में हुआ। सांगा भी पराजित हुआ। उसकी मृत्यु के साथ ही बाबर के साम्राज्य का विस्तार राजस्थान तक हो गया। उसने ग्वालियर, धौलपुर, अलवर आदि पर कब्जा कर मुगल साम्राज्य का विस्तार किया। आगरा से काबुल जाते समय लाहौर में बाबर की मृत्यु हो गई। तब 1530 ई. में हुमायूँ बाबर का उत्तराधिकारी बना। हुमायूँ ने आरंभ में कई युद्धों में सफलता प्राप्त की, लेकिन कालांतर में अपने अधीनस्थ अफगान सरदार शेर खाँ से पराजित हुआ। कई युद्धों के बाद अंततः हुमायूँ को शेर खाँ ने दिल्ली के शासन से अपदस्थ कर दिया। दिल्ली की गद्दी पर बैठते ही उसने अपना नाम शेरशाह रख लिया। वह एक कुशल यौद्धा और शासक रहा।

शेरशाह का शासन 1555 ई. तक रहा। उसने न सिर्फ अपने साम्राज्य का विस्तार पूरे भारत में किया अपितु कुशल प्रशासन और केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप व्यापार को भी बढ़ाया। शेरशाह के असामयिक निधन के बाद 1555 ई. हुमायूँ दिल्ली पर फिर से अधिकार करने में सफल हुआ। लेकिन कुछ ही दिनों में हुमायूँ का निधन (1556 ई.) हो गया। 1556 ई. में 13 वर्ष की छोटी अवस्था में ही अकबर को गद्दी मिली। अकबर के उस्ताद और हुमायूँ के स्वामी भक्त और योग्य अधिकारी बैरम खाँ ने कठिन परिस्थिति का कुशलता और धैर्य से सामना किया। अकबर के नेतृत्व में आगे चलकर विशाल और स्थिर मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई।

उसका साम्राज्य उत्तर-पश्चिमी अफगान देश से असम तक और उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में अहमदनगर तक फैला हुआ था। अकबर के शासन काल में राज्य मूलतः धर्मनिरपेक्ष, सामाजिक विषयों में उदार तथा सांस्कृतिक एकता को प्रोत्साहित करने वाला बन गया। अकबर के बाद 17वीं सदी का पूर्वार्द्ध कुल मिलाकर प्रगति और विकास का काल था। इस अवधि में मुगल साम्राज्य जहाँगीर (1605-1627 ई.) तथा शाहजहाँ (1628-1658 ई.) इन दो शासकों के कुशल नेतृत्व में रहा। इन शासकों ने अकबर द्वारा विकसित प्रशासनिक व्यवस्था का और भी अधिक प्रसार किया। शाहजहाँ के अंत के साथ ही हिन्दी के भक्ति काल की भी समाप्ति हो गई। इसके बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल का दौर शुरू हो गया।

3.3 सामाजिक स्थिति

भारतीय समाज जिन तत्त्वों के ताने-बाने से निर्मित हुआ है, उसमें वर्णों और जातियों का विशिष्ट स्थान है। समय-समय पर कितनी ही मानव-मण्डलियाँ इस देश में आती रहीं जिनमें अपने-अपने धर्म-विश्वासों, रीति-रस्मों और आचार-विचार-पद्धतियों के संस्कार तथा अभ्यास थे।

मुसलमानों ने व्यावहारिक संबंधों के भेद को प्रकट करने के लिए यहाँ के निवासियों को 'हिन्दू' कहा। इस्लाम भ्रातृभाव का संदेश लेकर चला था, उसका द्वार कुछ शर्तों पर सबके लिए खुला था। परन्तु हिन्दूओं के यहाँ धर्म-परिवर्तन की शास्त्रीय व्यवस्था न थी, इसलिए उनके संस्कार इसके विपरीत पड़ते थे। इस बीच धर्म-परिवर्तन के जो उदाहरण मिलते हैं, वे धर्म-प्रेरित न होकर स्वार्थ या बलात्कार के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परिणाम थे। कभी-कभी विधर्मी तथा विजातीय शासकों द्वारा हिन्दू प्रजा के प्रति क्रूर दुर्व्यवहार तक हो जाया करते थे जिससे आतंकित होकर उन्हें अपने को मुस्लिम प्रजा से भिन्न मानने को बाध्य होना पड़ता था। फलस्वरूप इस्लाम का भ्रातृभाव-संदेश यहाँ उतना प्रभावकारी सिद्ध न हो सका।

हिन्दू समाज में भी वर्णाश्रम धर्म का उचित पालन नहीं हो पाता था, फलस्वरूप जातियों-उपजातियों की संख्या-वृद्धि हो गयी थी और उनके पारस्परिक व्यवहार में आत्मीयता नहीं रह गयी थी। वर्ण-व्यवस्था में आस्था न रखने वालों में भी किसी-न-किसी प्रकार का आपसी भेद-भाव बना हुआ था। इब्नबतूता के अनुसार इन दिनों दास-प्रथा भी प्रचलित थी। हिन्दू कन्याओं को सम्पन्न मुस्लमान अधिकाधिक संख्या में क्रय करके अपने घरों में रखा लिया करते थे।

कुलीन नारियों का अपहरण कराके अमीर लोग अपना मनोरंजन किया करते थे। मुहम्मद बिन तुगलक ने चीन-सम्राट के पास भारतीय काफिरों में से एक-एक सौ स्त्री-पुरुषों को सौगात के रूप में भेजा था। इसके साथ ही ऐसे हिन्दू राजाओं का भी अभाव न था जो मुस्लिम महिलाओं, विशेष: सैयद स्त्रियों को दासी-रूप में अपने यहाँ लाकर नृत्य-गीत की शिक्षा दिलवाया करते थे। तत्कालीन स्मृतियों के अनुसार दासों की चार कोटियाँ थीं-जन्मजात, क्रीत, अपहृत या कहीं से प्राप्त, अपने यहां उत्पन्न। समाज में बहुविवाह या पुनर्विवाह की प्रथाएं भी प्रचलित थीं। विदेशी पर्यटकों ने तत्कालीन सती-प्रथा का भी विवरण दिया है।

ओडरिक (1321-1322) नामक पादरी ने दक्षिण भारत में प्रचलित सती-प्रथा का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार पुत्रवती विधवा को 'सती' बनने का अधिकार नहीं था। इब्नबतता ने लिखा है कि सती होने के लिए सुल्तान की पूर्व-स्वीकृति अनिवार्य थी। स्त्रियों को पुरुषों-जैसा स्तर तथा सम्मान प्राप्त न था। परदा-प्रथा उन दिनों की आवश्यकता बन गयी थी। फिर भी स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था थी और कला साहित्य के निर्माण में स्त्रियों का योगदान रहा करता था। हिन्दुओं में संयुक्त परिवार पाये जाते थे, जो सामाजिक जीवन के मूलाधार थे। छुआछूत के नियम इतने कठोर थे कि शुद्रादि जातियों तक में परस्पर भेद-भाव बरता जाने लगा था।

भारतीय मुस्लिम समाज की अवस्था हिन्दुओं से अधिक भिन्न न थी। धर्मान्तरित मुसलमानों के हिन्दू-संस्कार धर्म-परिवर्तन के साथ ही घुल नहीं गये थे, विशेषतः जबकि वे बलात अथवा स्वार्थवश धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य हुए थे। आक्रमणकारी मुसलमानों के वंशजों में भी कालान्तर में सद्भाव और सहिष्णुता के भाव उदित होने लगे। इस प्रवृत्ति को सूफी साधकों का प्रश्रय प्राप्त था।

दैनिक जीवन, रीति-रस्म, रहन-सहन, पर्व-त्यौहार आदि की दृष्टि से तत्कालीन भारतीय समाज सुविधा-सम्पन्न और असुविधा ग्रस्त इन दो वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग में राजा-महाराजा, सुल्तान, अमीर, सामन्त और सेठ साहूकार आते थे जिनमें मनमाने ढंग से वैभव-प्रदर्शन की उल्लासपूर्ण प्रवृत्ति पायी जाती थी। द्वितीय वर्ग में किसान, मजदूर, सैनिक, राज्य कर्मचारी और घरेलू उद्योग-धन्धों में लगी सामान्य जनता थी। जो प्रथा-परम्परा का पालन कर संतोष की सांस ले लिया करती थी। अमीर और सामन्त सूती, रेशमी अथवा कार्मिके (कढ़े हुए) वस्त्र पहनते थे एवं बहुमूल्य नगीनों से जड़ी सुनहली अंगूठियां धारण करते थे।

उनकी पतियां रत्नजड़ित सुनहले कंगन तथा मूंगाजड़ित केयूर धारण करती थीं। समाज में सुव्यवस्था लाने के यत्न होते रहते थे। रूसी व्यापारी अफनेसियन निकितन (1470 ई.) के अनुसार बहमनी राज्य के सुयोग्य वजीर महमूद गावां (1405-1481) के समय शासकीय व्यवस्था प्रशंसनीय थी। भूमि की पैदावार प्रचुर थी, सड़के लुटेरों के आतंक से रहित थीं तथा राजधानी भव्य नगर के रूप में खुशहाल दिखायी देती थी। पुर्तगाली वारवासां (1500-1506) के अनुसार जहाँ उमरा और बादशाह महलों में निवास करते थे, वहां कुछ लोग गलियों में निर्मित मकानों में रहते थे, जिनके सामने थोड़ी खुली जगह भी रहती थी। शेष जनता के भाग्य में झोपड़ियों में रहना बदा था। मुगलों के शासनकाल के विषय में पेलसपार्ट नामक लेखक ने लिखा है कि उस समय समाज के भीतर तीन ऐसे वर्ग श्रमिक, नौकर और दुकानदार थे जिन्हें न तो कोई स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अवकाश था, न यथेष्ट पारिश्रमिक ही मिला करता था। दुकानदारों को अपनी चीजें छिपाकर रखनी पड़ती थीं कि कहीं क्रूर कर्मचारियों की दृष्टि न पड़ जाये। तत्कालीन साधु समाज पर भी पाखण्ड की काली छाया मंडराने लगी। गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'कवितावली' की निम्नलिखित पंक्तियों से तत्कालीन स्थिति का स्पष्ट परिचय मिलता है : -

'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहै एक एकन सो कहां जाई, का करी॥

3.4 धार्मिक पृष्ठभूमि

तुर्कों का आगमन तथा दिल्ली सल्तनत की स्थापना, विकास और खलबली दोनों साथ लेकर आया। विजय के आरंभिक चरण में अनेक शहरों को लूटा गया और मंदिरों को तोड़ा गया। कई मंदिरों को तोड़कर मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया। साम्राज्य के विस्तार के साथ यह प्रक्रिया कई चरणों में जारी रही। किन्तु जैसे ही कोई प्रदेश जीत लिया गया वैसे ही शांति और विकास की प्रक्रिया आरंभ हो गई। भारत में जमने के बाद तुर्कों ने अपने मस्जिदों का निर्माण किया। हिन्दुओं और जैनियों आदि के पूजास्थल के प्रति उनकी नीति मुस्लिम कानून (शरीअत) पर आधारित थी तो अन्य धर्मों के नए पूजा स्थलों के निर्माण की इजाजत नहीं देता फिर भी गांव में जहाँ इस्लाम का प्रचार नहीं था, मंदिरों के निर्माण पर कोई प्रतिबंध नहीं था। किन्तु युद्ध काल में इस उदार नीति का पालन नहीं किया जाता था।

साधारणत: इस युग में इस्लाम स्वीकार करने के लिए बल का प्रयोग नहीं किया जाता था। धर्म परिवर्तन कर इस्लाम स्वीकार करने का कारण राजनीति और आर्थिक लाभ की आशा अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की ललक थी। कभी-कभी जब कोई प्रसिद्ध शासक या जनजाति का प्रधान धर्म परिवर्तन करता था तो उसकी प्रजा उसका अनुकरण करती थी। मुसलमान शासकों ने अनुभव किया था कि हिन्दुओं में धार्मिक विश्वास इतना दृढ़ है कि बल प्रयोग द्वारा उसे नष्ट नहीं किया जा सकता था। मुसलमानों की उस समय कम जनसंख्या इसका प्रमाण है।

हिन्दू धर्म का इस्लाम से संपर्क तुर्कों के आने से बहुत पहले आरंभ हो चुका था। तुर्कों के भारत आगमन के बाद यह प्रक्रिया तेज हो गई। हिन्दू और मुसलमान दोनों में कुछ कट्टर लोग धर्मांधता फैला रहे थे। वे लोग दोनों धर्मों के बीच आभासित होने वाली परस्पर विरोधी प्रकृति को रेखांकित कर रहे थे। इस सबके बावजूद पारस्परिक सामंजस्य और मेल-मिलाप की धीमी प्रक्रिया आरंभ हुई। यह प्रक्रिया वास्तुकला, साहित्य, संगीत आदि क्षेत्रों में अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रही थी। आगे चलकर यह प्रक्रिया धर्म के क्षेत्र में भक्ति आंदोलन और सूफीवाद के रूप में दिखाई देने लगी। यह प्रक्रिया 15 वीं सदी में तेजी से चली और मुगल काल (16वीं-17वीं सदी) में काफी प्रबल हो गई। इतना होते हुए भी यह मान लेना गलत होगा कि टकराव खत्म हो गया था। बल्कि मेल-मिलाप की प्रक्रिया एवं टकराव साथ-साथ चलते रहे। कुछ शासकों के काल में मेल-मिलाप की इस प्रक्रिया को धक्का लगता था, जबकि कुछ अन्य शासकों के काल में अधिक तेजी से इसका विकास होता था। यह टकराव और मेल मिलाप विशेषाधिकारी एवं शक्तिशाली लोगों तथा मानवतावादी विचारों से प्रभावित आम जनता के बीच संघर्ष का रूप था। भक्ति आंदोलन के सभी भक्त कवि सबसे पहले मानवतावादी थे।

3.5 दार्शनिक पृष्ठभूमि

3.5.1 वेद से बुद्ध तक — आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने धर्म की भावात्मक अनुभूति को भक्ति कहा है। उनके अनुसार भक्ति का सूत्रपात महाभारत काल में और प्रवर्तन पुराण काल में हुआ। यद्यपि भक्ति के बीज वेदों में ढूंढे जा सकते हैं। वेदकाल के देवी देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। वेदों का मानव इन देवी-देवताओं का आवाहन करता हुआ दिखाई देता है। वहां इन्द्र, वरूण, सूर्य आदि अनेक दिव्य शक्ति के प्रति मानव की भावात्मक अनुभूति प्रकट हुई है। उपनिषद् युग में मानव का ध्यान प्रकृति शक्ति की अपेक्षा परमशक्ति ब्रह्म की ओर अधिक गया। विभिन्न प्रकृति देवताओं के स्थान पर त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उपासना का अधिक प्रचार हुआ। वेदोत्तर काल में व्यक्तिगत देवताओं (ब्रह्म, विष्णु एवं महेश) की उपासना शुरू होने पर भक्ति की संकल्पना भी पैदा हुई। 'महाभारत' (भगवत गीता जिसका भाग है) में ज्ञान और कर्म के साथ-साथ भक्ति को भी मोक्ष का एक मार्ग माना गया है।

इस तरह भारत में प्राचीन काल से ही धर्म और मोक्ष की साधना के लिए तीन मुख्य मार्ग प्रचलित रहे थें- कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। इनमें से कभी कर्म की प्रधानता रही, कभी ज्ञान की और कभी भक्ति मार्ग की उपनिषद काल में ज्ञान की प्रधानता थी, जबकि ब्राह्मण काल में कर्म की। ब्राह्मण काल में कर्म पर इतना अधिक बल दिया गया कि कर्म कांड के विस्तार और उसकी विकृतियों के विरूद्ध फिर से ज्ञान और निवृत्तिमार्ग को लेकर बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। ब्राह्मण काल में आकर यज्ञ में हिंसा और पाखंड की प्रबलता हो गई। इसलिए बौद्ध एवं जैन धर्म वैदिक संस्कृति के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आए। भारतीय धर्म के क्षेत्र में बौद्ध एवं जैन धर्म एक नया आंदोलन था। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म ज्यों-ज्यों प्राचीन होता गया त्यों-त्यों उसमें भी वैदिक कर्मकांड का प्रवेश होता गया तथा रूढ़िवादिता बढ़ती गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.5.2 आलवार एवं नयनार — छठी सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर दसवीं सदी तक दक्षिण भारत में अनेक संतों ने भक्ति आंदोलन का विस्तार किया। इन संतों की भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित थी। इनके उपास्य देव शिव और विष्णु थे। ये संत नयनार (जो शिव के भक्त थे) और आलवार (जो विष्णु के भक्त थे) के नाम से प्रसिद्ध हुए। नयनार और आलवार संतों ने जैनियों और बौद्धों के अपरिग्रह को अस्वीकार कर ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत भक्ति को ही मुक्ति का मार्ग बताया। इन संतों में ब्राह्मण के साथ-साथ निम्न जातियों के भी कई संत थे। उनमें अंदाल नामक एक महिला संत भी थी जिन्होंने कहा कि ईश्वर के साथ भक्त का संबंध पति के साथ स्नेहिल पत्नी के संबंध जैसा होता है। संतों के विस्तृत आधार वाले चरित्र के कारण प्रेमपूर्ण भक्ति का उनका संदेश किसी एक वर्ग के लिए नहीं था। सभी लोग इस भक्ति को ग्रहण कर सकते थे भले ही उनकी जाति, परिवार अथवा लिंग जो भी हो।

नयनारों और आलवारों के आक्रमण का प्रमुख लक्ष्य बौर्ध धर्म और जैन धर्म थे। उन दिनों दक्षिण भारत में बौद्ध एवं जैन अधिक प्रभावशाली थे। आम जनता को अपने साथ लाने में नयनार एवं आलवार संतों को सफलता मिली। इसका कारण कालांतर में बौद्ध एवं जैन धर्म का दकियानूस एवं पुराण पंथी हो जाना था। वे निरर्थक अनुष्ठानवाद में लिप्त हो गए थे तथा लोगों की भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाने में समर्थ नहीं रह गए थे। नयनार एवं आलवार संतों ने स्थानीय मिथकों एवं गाथाओं का सहारा लिया। उनकी भाषा आम लोगों की भाषा (तमिल एवं तेलुगू) थी। इस तरह उन्होंने एक सरल एवं सहज धर्म का प्रचार-प्रसार किया। ये संत आम लोगों पर भावात्मक प्रभाव डालने में सफल हुए। इस आन्दोलन को कई स्थानीय शासकों को भी समर्थन प्राप्त हुआ। लोगों का विश्वास और स्थानीय शासकों के समर्थन से यह आन्दोलन पूरे दक्षिण भारत में फैल गया।

3.5.3 शंकराचार्य—आठवीं- नवीं सदी से दार्शनिक स्तर पर बौद्ध विचारों से टकराने की भूमिका शंकराचार्य ने निभाई। बौद्धों का प्रभाव घटाने तथा वेदों और ब्राह्मणों की महत्ता की स्थापित करने के लिए शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक चिंतन में अद्वैतवाद के सिद्धान्त पर जोर दिया। अद्वैतवाद का आधार है- ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है। आत्मा परमात्मा ही है, वह उससे भिन्न या पृथक नहीं है। सांसारिक माया के कारण मानव आत्मा-परमात्मा की एकता को पहचानने की भूल करता है। शंकराचार्य एक ओर बौद्ध एवं जैन दर्शन का विरोध कर रहे थे तो दूसरी ओर उनका विरोध आलवार एवं नयनसार से था। शंकराचार्य के दर्शन में वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया गया है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि शंकराचार्य ने ज्ञान के साथ-साथ निर्गुण ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया। ईश्वर को शिव का स्वरूप देकर जन-साधारण के लिए शैव उपासना और पंडितों के लिए ज्ञान मार्ग के द्वारा एकेश्वरवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

3.5.4 वैष्णव आचार्य—इस प्रकार हम देखें तो 10वीं सदी तक दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन ने बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म पर विजय प्राप्त कर ली थी। परन्तु आगे चलकर दक्षिण भारत का भक्ति आंदोलन धीरे-धीरे अपना उन्मुक्त और समतावादी चरित्र खोने लगा। संतों द्वारा जातिगत प्रतिबंध की उपेक्षा करने के बावजूद जाति व्यवस्था और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती नहीं दी गई। मंदिरों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। बृहत् अनुष्ठान एवं कर्मकांड की अधिकता होने लगी। इन अनुष्ठानों एवं कर्मकांड के माध्यम से ब्राह्मणों की शक्ति बढ़ गई। इस स्थिति को सुधारने का प्रयास रामानुंजाचार्य ने किया। उन्होंने आलवारों की भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया। उनके मत को विशिष्टा के नाम से जाना गया। नयनार और आलवार संत पुस्तकीय ज्ञान की उपेक्षा करते थे। जबकि रामानुज ने भक्ति को वेदों की परंपरा के साथ जोड़ने का प्रयास किया। उनके मत में भक्ति का मार्ग सबके लिए खुला था। इसके बावजूद निम्न वर्ग के साथ खान-पान का निषेध बना रहा। आलवारों की भक्ति रामानुज के यहाँ दार्शनिक आधार पाकर नए युग की चुनौतियों का मुकाबला करने में सक्षम हुई। भक्ति आंदोलन के इस विकास क्रम में आगे चलकर रामानन्द आए। शंकराचार्य का निर्गुण ज्ञानवाद मन में बैठी निराशा से मानव को मुक्ति नहीं दे सका। यही कारण है कि आगे चलकर चिंतकों ने अद्वैतवाद का डटकर विरोध किया तथा वैष्णव संतों द्वारा निम्नलिखित चार मतों की स्थापना हुई।

काल	संस्थापक	मत	संप्रदाय
12वीं शताब्दी	रामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैतवाद	श्री संप्रदाय
13वीं शताब्दी	मध्वाचार्य	द्वैतवाद	ब्राह्म संप्रदाय
13वीं शताब्दी	विष्णुस्वामी	शुद्धादैतवाद	रूद्र संप्रदाय
13वीं शताब्दी	निम्बार्काचार्य	द्वैताद्वैतवाद	सनकादि संप्रदाय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन चारों वैष्णव संप्रदायों ने शंकराचार्य के अद्वैत और ज्ञान मार्ग का विरोध किया। थोड़े बहुत अंतर के होते हुए भी इन सबकी प्रवृत्ति सगुण भक्ति की ओर होती चली गई। इन सभी ने ब्रह्म और जीव की पूर्ण एकता को अस्वीकार किया तथा इस धारणा का प्रचार-प्रसार किया कि सांसारिक जन्म के बाद जीव का ब्रह्म से एकीकरण समाप्त हो जाता है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में राम मार्गी भक्ति और कृष्ण मार्गी भक्ति का संबंध इन संप्रदायों से है।

3.5.5 राममार्गी भक्ति— रामानुजाचार्य के शिष्य राघवानंद ने उनके विचारों का प्रसार उत्तर भारत में किया। राघवानंद ने रामानुजाचार्य के सिद्धान्त में कुछ संशोधन भी किया। इन संशोधनों में वैष्णव भक्ति में जाति-पांति के बंधन तोड़ने की भावना, लक्ष्मीनारायण के उपास्य रूप के साथ सीता-राम की उपासना, भक्ति को योग से समन्वित करना आदि महत्त्वपूर्ण है। राघवानंद के शिष्य रामानन्द हुए। रामानन्द, ने श्री संप्रदाय का प्रसार 14वीं सदीं में राम भक्ति के रूप में किया। रामानंद ने भी सभी वर्णों और वर्गों के लोगों को भक्ति का अधिकारी बताया। उन्होंने निम्न वर्ग के लोगों के साथ खान-पान पर निषेध का विरोध किया। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की भक्ति का उपदेश उन्होंने दिया। उनके अनुसार सगुण ब्रह्म को ज्ञान और वैराग्यमुक्त प्रेमयोग से तथा निर्गुण ब्रह्म को प्रेम और वैराग्यमुक्त ज्ञानयोग से प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि रामानन्द के अनुयायियों में निर्गुण संत तथा सगुण भक्त दोनों हुए। इन के बारह शिष्य जो प्रसिद्ध हैं वे हैं : रैदास, कबीर, धन्ना, सेना, पीपा, भवानंद, सुखानंद, अनंतानंद, सुरसुरानंद, पद्मावती, सुरसुरी। रामानन्द ने अपने मत का प्रचार लोक भाषा में किया।

3.5.6 कृष्णमार्गी भक्ति— रामानुजाचार्य के श्री संप्रदाय का उत्तर भारत में विकास रामभक्ति के रूप में हुआ, जबकि कृष्ण भक्ति का संबंध मध्वाचार्य के ब्रह्म संप्रदाय, विष्णुस्वामी के रूद्र संप्रदाय और निम्बार्काचार्य के सनकादि संप्रदाय से है। इन तीनों प्रवर्तकों के अनुयायियों में कुछ ऐसे भी हुए जिन्होंने संप्रदाय विशेष में दीक्षित होकर भी निजी सिद्धान्तों के आधार पर स्वतंत्र भक्ति संप्रदायों की स्थापना की। ऐसे अनुयायियों में चैतन्य महाप्रज्ञ (1433-1533 ई.) और महाप्रज्ञ बल्लभाचार्य (1478 ई.) प्रमुख हैं। बल्लभाचार्य की शिष्य परंपरा में हिन्दी साहित्य के कृष्ण भक्त कवि आते हैं। बल्लभाचार्य की भक्ति को पुष्टिमार्गी भक्ति के नाम से जाना जाता है। अष्टछाप कवियों का संबंध इसी पुष्टिमार्गी भक्ति से है।

3.5.7 निर्गुण संत साहित्य— निर्गुण संतों का संबंध एक तरफ रामानन्द से है। तो दूसरी तरफ ये नाथों एवं सिद्धों से भी प्रभावित है। इस्लाम के आने से पहले उत्तर भारत में ब्राह्मण धर्म के विरोध में कुछ पंथ सक्रिय थे। नाथपंथी एवं सिद्ध इनमें प्रमुख थे। राजपूत राजाओं की पराजय और तुर्कों का साम्राज्य स्थापित होने से ब्राह्मणों का आदर और उनकी शक्ति कम हो गई। परिणामत: नाथपंथ जैसे वे आन्दोलन, जो वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व को चुनौती देते थे, पनपने लगे और उन्हें लोकप्रियता मिली। नाथों एवं सिद्धों में अक्सर निम्न जातियों के लोग होते थे। चमत्कारिक शक्तियों में उनका विश्वास था। वे वर्ण व्यवस्था, ब्रह्मण धर्म की आचार संहिता तथा कर्म कांड के सरल विरोधी थे। समाज में व्याप्त मान्यताओं के प्रति अपना विरोध दर्शाने के लिए उनमें से कुछ लोगों ने वर्जित भोजन एवं पेय ग्रहण करना शुरू कर दिया। कुछ ने तो उच्चतर ज्ञान की प्राप्ति के लिए उन्मुक्त प्रेम की वकालत भी की। यद्यपि नाथपंथियों ने उच्च नैतिक स्तर अपनाया, किन्तु ब्राह्मणों ने उन सबको भ्रष्ट और समाज का शत्रु करार करते हुए उनकी भर्त्सना की। नाथों का विस्तार मध्यप्रदेश के पश्चिमोत्तर भागों में हुआ जबकि सिद्धों का पूर्वी भाग में। उत्तर भारत के निर्गुण संत साहित्य की पृष्ठभूमि के तौर पर नाथों एवं सिद्धों के साहित्य को देखा जा सकता है। सिद्धों एवं नाथों ने संधा भाषाशैली में रचनाएँ की हैं। संधा भाषा एक प्रकार की प्रतीक भाषा है। उन्होंने अंत: साधनात्मक अनुभूतियों को प्रतीक भाषा में ही व्यक्त किया है। यह कबीर के साहित्य में भी मौजूद है। इसे उलटबाँसी भी कहा जाता है। नाथों एवं सिद्धों के साथ ही कबीर आदि निर्गुण संतों पर महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर और नामदेव का प्रभाव भी देखा जा सकता है। सामाजिक क्षेत्र में समानता की भावना का विचार आलवारों, महाराष्ट्र के संतों और उत्तर भारतीय निर्गुण संतों में एक समान है। कबीर आदि निर्गुण संत रामानन्द के शिष्य होते हुए भी श्री संप्रदाय से नहीं जुड़े। इन संतों ने अपना स्वतंत्र विकास किया।

3.5.8 सूफी भक्ति साहित्य— भारत में सूफी संप्रदाय अपेक्षा कृत नया है। इस्लाम के आगमन के साथ सूफी साधकों का आगमन होने लगा। तब तक भारत में भक्ति आंदोलन अपना स्वरूप ग्रहण कर चुका था। भारत में सूफी साधकों के कई संप्रदाय है, इनमें चिश्ती संप्रदाय, कादिरा संप्रदाय, सुहरावर्दी संप्रदाय, नक्शबंदी संप्रदाय और शत्तारी संप्रदाय प्रमुख है। सल्तनत काल के दौरान भारत में उन्नति करने वाले दो सर्वाधिक प्रसिद्ध सूफी संप्रदाय चिश्ती और सुहारवर्दी थे। सुहरावर्दी संप्रदाय के लोग मुख्य रूप से पंजाब और सिंध में सक्रिय थे, जबकि चिश्ती लोग दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्रों, राजस्थान, पंजाब के कुछ भाग, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, मालवा, गुजरात आदि एवं बाद में दक्षिण में भी फैल गए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रहस्यवादियों का जन्म इस्लाम के अंतर्गत बहुत पहले हो गया था। यही रहस्यवादी बाद में सूफी कहलाए। इनमें से अधिकांश ऐसे थे जो महान भक्त थे। ये भक्त समृद्धि के भोंड़े प्रदर्शन और इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के बाद उत्पन्न नैतिक पतन के कारण दुखी थे।

यही कारण था कि सूफियों को राज सत्ता से कोई सरोकार नहीं था। बाद में उनमें यही परंपरा जारी रही। सूफियों ने ईश्वर और व्यक्ति के बीच प्रेम संबंध पर बहुत बल दिया। उनकी सर्वेश्वरवादी दृष्टि के कारण उनमें और इस्लामिक परंपरावादी तत्त्वों के बीच संघर्ष की स्थिति कई बार उत्पन्न हुई। इसके बावजूद मुस्लिम में रहस्यवादी विचारों का प्रसार बढ़ता रहा। सूफियों तथा हिन्दू योगियों और रहस्यवादियों के बीच प्रकृति, ईश्वर, आत्मा और पदार्थ के संबंध में विचारों की काफी समानता है। यही बात पारम्परिक सहनशीलता और एक-दूसरे के सिद्धान्तों को समझ सकने के संदर्भ में भी कही जा सकती है। सूफियों की साधना भारतीय भक्तों एवं संतों के अनुकूल थी। इन सूफी साधनों ने समान भाव से हिन्दू और मुसलमान दोनों का आदर और विश्वास प्राप्त किया। सूफी कवियों ने हिन्दू घरों में प्रसिद्ध कथानकों के माध्यम से सूफी रचनाएं की। सर्वेश्वरवादी होने के कारण सूफी साधक भी इस भक्ति आदोलन में शामिल हो गए।

3.6 भक्तिकाल का उदय (विभिन्न विद्वानों के मतों की व्याख्या)

उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के उदय को लेकर साहित्येतिहास में व्यापक विचार विमर्श हुआ है। इस संबंध में सर्वप्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है-''हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आंदोलन के सामने पाते हैं, जो उन सब आंदोलन से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा था।... इस युग में धर्म, ज्ञान का नहीं, बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहां से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति का नहीं है, बल्कि जिसकी एकता मध्म युग के युरोपियन भक्त बर्नर्ड आफ क्लेअरवक्स, टामस-ए-केम्पिस और सेंट थेरिसा से है।... बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी।

कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता ?ग्रियर्सन ने अनुमान किया है कि ईस्वी सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसिडेंसी के कुछ हिस्सों में आकर बस गए थे। रामानुजाचार्य ने इन्हीं ईसाई भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास की धार्मिक भावना का परिचय प्राप्त किया था, जो आगे चलकर उत्तर भारत में प्रचारित प्रसारित हुआ। इस आधार पर जार्ज ग्रियर्सन ने उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन को ईसाइयत की देन सिद्ध किया है। ग्रियर्सन के इस विश्लेषण के बाद के सभी इतिहासकारों ने विरोध किया। फिर भी ग्रियर्सन महत्त्वपूर्ण हैं तो बस इसलिए कि उन्होंने भक्ति आंदोलन की पहचान सबसे पहले की।

ग्रियर्सन के बाद हिन्दी साहित्य का पहला वैज्ञानिक इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। उन्होंने भक्तिकाल का विश्लेषण विस्तार से किया है। शुक्लजी की दृष्टि में भक्ति साहित्य हतोत्साहित और पराजित हिन्दू जनता की प्रतिक्रिया है। उनके अनुसार देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर मुसलमान शासकों द्वारा देव मंदिर गिराए गए और हिन्दूओं के पूज्य प्रतिष्ठित पुरूषों का अपमान किया जाने लगा। यह सब होने के बावजूद हिन्दू जनता कुछ नहीं कर सकती थी। शुक्ल जी के शब्दों में -'ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?''

आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त विश्लेषण की दृष्टि क्या है ?शुक्लजी का मानना है कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चितवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। यहां दो बिन्दुओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है। पहली बात यह है कि शुल्क जी का बल तत्कालीन परिस्थिति पर अधिक है। इसलिए वे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के संदर्भ में साहित्य को देखते हैं। यही कारण है कि 'आदिकाल' का नामकरण शुक्लजी ने 'वीरगाथा काल' किया है। आदिकाल की राजनीतिक परिस्थिति को देखें तो यह समय इस्लाम के आक्रमण का काल है। शुक्लजी ने उस समय के साहित्य का विश्लेषण इस्लाम आक्रमणकारियों के विरूद्ध हिन्दू राजाओं की वीरतापूर्ण युद्ध की गाथाओं के रूप में किया है। इसी क्रम में भक्ति काल की व्याख्या को भी देखा जा सकता है। तत्कालीन परिस्थितियों के दबाव के परिणामस्वरूप शुक्ल जी ने भक्तिकाल के आरंभ के कारण की व्याख्या 'मुस्लिम आक्रमणकारियों से पराजित और अपने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पौरूष से हताश जाति का भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ले जाना' कहकर की है। यह आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि का परिणाम है। इसे ध्यान में रखकर ही शुक्लजी की भक्तिकाल के आरंभ की व्याख्या को ठीक से समझा जा सकता है। अपने विश्लेषण में शुक्लजी ने उस समय के इतिहास के केन्द्रीकरण की विशेषता को रेखांकित किया है। केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप आर्थिक सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में शुक्लजी के समय इतिहास में शोध नहीं हुआ था। इस परिवर्तन को हम पहले देख चुके हैं। हिन्दू मंदिरों को तोड़ने का कार्य युद्ध के समय ही होता था। यह इतिहासकारों के परवर्ती शोध से पता चलता है। इसकी चर्चा भी हम कर चुके हैं। इसलिए शुक्लजी के विश्लेषण की सीमा बहुत दूर तक उस समय के शोध की सीमा है।

आचार्य शुक्ल उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन का संबंध दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन से जोड़ते हैं। शुक्लजी का निष्कर्ष इस प्रकार है-''भक्ति का जो स्रोत दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदयक्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला। यहां हम 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लायो रामानंद' वाली जनोक्ति देख सकते हैं। 'धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि' के विश्लेषण में दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन से उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन का संबंध'' हम देख चुके हैं। यहाँ शुक्ल जी ने भक्ति का मूल स्रोत दक्षिण भारत में माना है, किन्तु उसके विकास और प्रसार के लिए अनुकूल परिस्थिति प्रस्तुत करने का संबंध उनके अनुसार सीधे तत्कालीन सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि से है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि शुक्लजी से भिन्न है। द्विवेदी जी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखते हैं-''मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस (हिन्दी) साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'' द्विवेदी तात्कालिकता को तो महत्त्वपूर्ण मानते हैं, परन्तु तात्कालिकता का प्रतिशत उनके यहाँ चार आना ही है। द्विवेद जी का बल 'परम्परा' पर अधिक है। इसे उन्होंने 'भारतीय परंपरा का स्वाभाविक विकास' या 'भारतीय साहित्य की प्राणधारा' कहा है। 'प्राणधारा' या 'स्वाभाविक विकास' स्वभावत: परिवर्तनशील है, किन्तु परिवर्तन का यह क्रम अटूट भी है। द्विवेदी जी ने भक्ति आंदोलन को इसी प्राणधारा या स्वाभाविक विकास के रूप में पहचाना है।

द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य: उद्‌भव और विकास' में लिखा है-''यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मंदिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण के भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में या फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर प्रकट हुई वह दक्षिण भारत में।'' इस तरह द्विवेदी जी ने शुक्लजी की 'हतदर्प पराजित जाति की प्रतिक्रिया' वाली अवधारणाा का खंडन किया है। उन्होंने इस्लाम के प्रभाव को पूरी तरह से नकारा नहीं है। इस्लाम के प्रभाव को द्विवेदी जी ने सिर्फ चार आना ही माना है। सवाल उठता है कि बाकी का 'बारह आना' क्या है ?द्विवेदी जी का मानना है कि भारतीय पाण्डित्य ईसा के एक हजार साल बाद आचार-विचार और भाषा क्षेत्रों में स्वाभाविक रूप से 'लोक' की ओर झुक रहा था। ऐसे में आगे की शताब्दियों में इस्लाम का विस्तार न भी हुआ होता तब भी 'भक्ति' आंदोलन का रूप ले लेती। इसका कारण उनके अनुसार 'भीतर की शक्ति' है। 'भीतर की शक्ति' से उनका संकेत 'लोक शक्ति' की ओर है। यही लोक शक्ति शास्त्र को लोक की ओर झुकने के लिए बाध्य कर रही थी। इस तरह द्विवेदी भक्ति आंदोलन को लोक आंदोलन या जन आंदोलन के रूप में पहचानते है। नामवरसिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में द्विवेदी जी की मध्य युग विषयक दृष्टि को रेखांकित करते हुए लिखा है-'इस प्रकार मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिन्दू धर्म का संघर्ष।' द्विवेदी जी शास्त्र की इसी लोकोन्मुखता को भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि मानते हैं।

भक्ति आंदोलन की अभिव्यक्ति मुख्यत: चार मार्गों में हुई ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, राममार्गी और कृष्णमार्गी भक्ति। द्विवेदी जी ने चारों मार्गों की भक्ति को भारतीय परंपरा में दिखाया है। 'धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि' से इसे हम जान चुके हैं। इन चारों मार्गों की भक्ति के साहित्य को द्विवेदीजी ने महाभारत, रामायण, संस्कृत साहित्य, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य की परंपरा में दिखाया है। सूफी भक्तों ने अपने साहित्य में जिन कथानकों को चुना है यह द्विवेदीजी के अनुसार भारतीय लोककथा से लिए गए है। द्विवेदीजी ने साहित्य की परंपरा में 'शास्त्र का लगातार लोक की ओर झुकाव' को रेखांकित किया है। इसका एक बड़ा प्रमाण भक्त कवियों द्वारा लोक भाषा का चुनाव भी है। द्विवेदीजी शास्त्र के लोक की ओर झुकाव को स्वाभाविक विकास मानते हैं। उन्होंने भक्ति आंदोलन को इसी स्वाभाविक विकास के रूप में समझने का प्रस्ताव किया है। द्विवेदीजी ने उत्तर भारत की भक्ति को दक्षिण भारत के आलवार भक्तों से जोड़ा है। यह परंपरा वैष्णव आंदोलन की परंपरा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस तरह हम देखते हैं कि शुक्लजी के यहाँ तात्कालिक परिस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण थी, जबकि द्विवेदीजी के यहाँ उससे आगे बढ़कर तात्कालिक परिस्थिति और परंपरा का योग है। यहीं यह प्रश्न उठता है कि 'शास्त्र' लोक की ओर झुकने के लिए क्यों मजबूर हुआ ?इसका कोई आर्थिक सामाजिक कारण भी है ? समाज के आर्थिक संबंधों में ऐसा कौन–सा परिवर्तन हुआ। जिसके कारण भक्ति की चेतना आंदोलन के रूप में सामने आई ?इन प्रश्नों पर शुक्लजी और द्विवेदीजी के यहाँ विचार नहीं हुआ है। इन प्रश्नों का उत्तर आगे चलकर के दामोदरन और इरफान हबीब जैसे इतिहासकारों ने की है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के संदर्भ में आर्थिक पहलू को ध्यान में रखकर भक्तिकाल की व्याख्या मुक्तिबोध और डॉ. रामविलास शर्मा ने की है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने भक्ति आन्दोलन को हिन्दी प्रदेश के सामाजिक ऐतिहासिक संदर्भ में देखने का प्रयास किया है। सबसे पहले उन्होंने हिन्दी प्रदेश में 'आधुनिक हिन्दी भाषी जाति' का निर्माण की प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया है। वे जाति का अर्थ भूमि से अलग केवल मानव–समुदाय मानते हैं। उनके अनुसार जाति की वह मानव समुदाय है, जो व्यापार द्वारा पूंजीवादी सम्बन्धों के प्रसार के साथ गठित होती है। जाति का सम्बन्ध राष्ट्रीय एकता की भावना से है। इस राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास आर्थिक विनिमय, सांस्कृतिक सम्पर्क, भाषागत समानता और सम्बद्ध ऐतिहासिक परम्पराओं से होता है। रामविलासजी भक्ति आन्दोलन को एक जातीय और जनवादी आन्दोलन के रूप में देखते हैं। सामन्ती उत्पीड़न, वर्ण–व्यवस्था और पुरोहितों–सामंतों के विशेष अधिकारों के विरोध का स्वर भक्ति आन्दोलन में दिखाई देता है।–

''अब न बसो गाँव इइी गोसाई''–कबीर

''धूत कहौं अवधूत कहौं।''–तुलसी

3.7 भक्ति आन्दोलन का अखिल भारतीय स्वरूप

भक्ति–काल के साहित्य में ज्ञान और भक्ति की प्रधानता लक्षित होती है। इस युग में कुछ कवि ईश्वर के निर्गुण रूप की उपासना करते थे तथा कुछ ईश्वर के सगुण रूप के उपासक थे। वे राम अथवा कृष्ण के प्रति पूर्णतया समर्पित थे। इस युग में सूफी कवि प्रेम के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने पर बल देते थे। कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा आदि इस काल के प्रमुख कवि थे। वे मायिक संसार के आकर्षण से दूर रहकर प्रभु की प्राप्ति को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानते थे। भक्ति–काल की कुछ सामान्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. ईश्वर के प्रति दृढ़ आस्था– इस युग के सभी कवियों की ईश्वर के प्रति अनन्य आस्था थी। निर्गुणमार्गी तथा सगुणमार्गी– सभी कवियों ने ईश्वर की सर्वोपरि माना है। सभी सन्त एवं भक्त कवि ईश्वर को अनादि, अनंत, अन्तर्यामी और सर्वशक्तिमान मानते हैं। कबीर, दादू, रैदास आदि ने ईश्वर के निर्गुण रूप की उपासना की है। वे मूर्ति–पूजा आदि में विश्वास नहीं रखते थे, परन्तु ईश्वर के प्रति उनकी अनन्य आस्था थी। तुलसी के राम भी परब्रह्म थे और सूर के कृष्ण भी साक्षात् सच्चिदानन्द थे। तुलसी ने ईश्वर के विषय में लिखा है,

पद बिनु, बिनु काना, कर बिनु करइ कर्म चितइ, सुनइ विधि नाना,
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु वाणी बकता बढ़ जोगी।

सूफी कवियों ने भगवान के निर्गुण रूप की रसामयी उपासना की है। वस्तुतः इस युग के सभी कवियों की ईश्वर के प्रति अद्भुत आस्था थी।

इस युग के अधिकांश कवियों ने भगवान् के नाम की महिमा का वर्णन किया है। इन कवियों के अनुसार संसार सागर को पार करने का एकमात्र उपाय प्रभु का नाम स्मरण है। तुलसी ने तो नाम की महिमा का वर्णन करते हुए यहाँ तक लिखा है कि 'राम न सकहिं नाम गुण गाइ।' अर्थात् प्रभु राम भी अपने नाम की महिमा का वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं। कबीर, रैदास आदि सन्त–कवियों ने भी भगवान् के नाम स्मरण पर बहुत अधिक बल दिया है। कबीर के शब्दों में,

केसो कहि कहि कूकिए न सोइए असरार।
रात दिवस के कूकणै कबहुँ लगे गुहार॥

तुलसी ने राम–नाम की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि 'रा' कहने से मुंह से पाप निकल जाते हैं तथा 'म' अक्षर उन पापों को भक्ति के भीतर प्रवेश नहीं करने देता–

तुलसी रा के कहत ही निकसत पाप पहार।
ते पुनि आवत नहीं, देत मकार विकार॥

भक्तिकाल के सभी कवियों ने गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है। सभी सन्त एवं भक्त कवि यह स्वीकार करते हैं कि भवसागर को पार करने को नौका की पतवार गुरु के सबल हाथों में देकर जीव स्वयं को निश्चिन्त अनुभव कर सकता है। गुरु के बिना साधक ईश्वरीय मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता। कबीर तो गुरु को भगवान् से भी बढ़कर मानते थे। कबीर के अनुसार,

गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिन्द दियो मिलाय॥

मीरा ने गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि

मोहे लागी लगन गरु चरनन की
चरण बिना मोहे कछु ना भावे, झूठी माया सपनन की।
भवसागर तो सूखि गयो है, फिकर नहीं मोहे तरनन की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आस वही गुरु सरनन की।

भक्तिकाल के सभी कवियों ने ईश्वर के मिलन में माया को बाधक माना है। ये कवि यह स्वीकार करते हैं कि संसार से वैराग्य होने पर ही ईश्वर के चरणों में अनुराग होता है। कबीर ने 'कामिनी' को माया का रूप माना है। उनके शब्दों में,

नारी की झांई परत, अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिन की कौन गति, नित नारी के संग॥

कबीर ने 'कंचन' और 'कामिनी' को दुर्गम घाटी की संज्ञा दी है,

एक–कनक एक कामिनी, दुर्गम घाटी दोए।

सूरदास भी प्रभु से निरन्तर प्रार्थना करते हैं कि वे अपने दास की माया से रक्षा करें। तुलसीदास ने भी माया की निन्दा की है तथा माया के जाल से मुक्त होने के लिए प्रभु की वन्दना की है।

भक्ति काल के सभी कवि ईश्वर के प्रति अनन्य अनुराग रखते हैं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, रैदास आदि सभी के काव्य में ईश्वर के प्रति गहरे अनुराग की अभिव्यक्ति मिलती है। कबीर के दोहों में विरह की उत्कट अभिव्यक्ति गहन प्रेम की परिचायक है। कबीर का एक दोहा दृष्टव्य है,

आइ न सकौं तुज्झ पे, सकौं न तुझे बुलाइ।
जियरा यों ही लेहुगे, विरह तपाइ तपा॥

सूफी कवियों ने तो प्रेम को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने ईश्वर को प्रेमिका तथा स्वयं को प्रेमी रूप में चित्रिति किया है। सूफी कवि मंझन की प्रेम सम्बन्धी धारणा दृष्टव्य है,

प्रेम अमौलिक नवा सयंसारा। जेहि जिऊं प्रेम सो धनि औतारा।
बिरला कोई जाके सिर भागू। सो पावे यह प्रेम सोहागू।
सबद ऊंच चारिहुं जुग बाजा। प्रेम पन्थ सिर देह सो राजा।

प्रेम दीवानी मीरा तो अपने आराध्य का गुणगान करती है। प्रभु के चरणों में समर्पण की भावना इस युग के साहित्य में स्पष्ट देखने को मिलती है। कबीर ने साधक को उस बूंद के समान माना है, जो परमात्मा रूपी समुद्र में खो जाती है, जिसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ। बूंद समानी समंद में, सो कत हेरी जाइ॥

'भक्ति-साहित्य मनुष्य जीवन के एक लक्ष्य को लेकर चला है, यह लक्ष्य है भगवान भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान् के निर्गुण चरित्र और लीलाओं का गायन। इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्त्व भक्ति है।'

3.8 दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन का स्वरूप

इतिहासकारों के अनुसार दक्षिण भारत की पहली सदी की स्थिति उत्तर भारत में 13वीं-14वीं सदी में आयी। दक्षिण भारत में पहली सदी के बाद कई सदी तक राजसत्ता अनेक शक्तिशाली शासकों के अधीन बनी रही। दक्षिण में चोलवंशीय शासक कीरकाल ने कावेरी जल के नियंत्रण से सिंचाई की व्यवस्था करके किसानों को सीधा लाभ पहुंचाया। इससे कृषि के उत्पादन में वृद्धि हुई। उसी समय श्रीलंका को युद्ध में पराजित करके युद्ध कैदियों के माध्यम से कावेरी के मुहाने पर पुहार का प्रसिद्ध बन्दरगाह बनाया गया। इससे विदेशी व्यापार होने लगा। 7वीं-8वीं सदी में पल्लव शासकों द्वारा चित्रकला का विकास हुआ। काँचीपुरम् में बुनकरों को वैश्य-व्यापारियों के जैसा सम्मान प्राप्त हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था का प्रसार हुआ। सामंती व्यवस्था से पिछड़ी हुई जातियों का आर्थिक सुधार हुआ। दक्षिण भारत में आलवार भक्तों की बड़ी संख्या में शूद्र और महिलाएं थीं।

3.9 भक्ति आन्दोलन : (वर्ण-व्यवस्था एवं नारी) आंतरिक विरोध

आलवार और नयनार भक्तों में वर्ण-व्यवस्था के प्रति घोर विरोध और सामाजिक समानता की भावना स्पष्ट रूप से है। इनमें बहुत अधिक शूद्र थे। महिलाएं भी थीं। आठवीं सदी के अंत में शंकराचार्य ने वर्ण-व्यवस्था को मजबूत करने के लिए शूद्र को ज्ञान देने का विरोध करके केवल द्विजों को ही यक्ष-पाठ करने और दान लेने का अधिकारी बताया। रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य ने इसका तीव्र विरोध करके सबकी समानता का पुरजोर प्रयास किया। इन्हीं की शिष्य-परम्परा में रामानंद हुए। उन्होंने भक्ति तथा धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों के एकाधिकार और जाति-प्रथा से उत्पन्न छुआछूत की भावना का जोरदार विरोध किया। यों तो रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानंद, बल्लभाचार्य आदि ब्राह्मण थे। फिर इन सभी ने कर्मकाण्ड, ब्राह्माचार, ब्राह्मण-पुरोहित वर्चस्व और जाति एवं वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया। इस प्रकार भक्तिकाल की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि सामन्ती समाज-व्यवस्था में दरार पड़नी शुरू हो गयी। फलत: निम्न जातियों का आर्थिक पतन होने लगा। फलस्वरूप अधिक से अधिक संख्या में शूद्रों और उपेक्षित जातियों से संत, महात्मा, कवि, कलाकर और विचारक सामने आने लगे। ये लोग अपने अनुभव के आधार पर रूढ़ शास्त्रमतवादियों का विरोध करने लगे। इस सम्बन्ध में महात्मा कबीर ने अपने अनुभव का दावा ठोकते हुए यह कहा-

''मैं कहता आखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।''

तुलसी और कबीर ने नारी को माया के रूप में देखा। तुलसी ने नारी पराधीनता के प्रति अपनी संवेदनशीलता प्रकट की, तोउ से 'ताड़ना' का अधिकारी भी कहा-

''ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥''

दूसरी ओर तुलसीदास ने वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हुए इस प्रकार कहा है-

''बादहिं सूद्र द्विजन सम, हम तुझसे कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँख देखा बहिं डांटि॥

साखी, सबदी, दोहरा, कहे किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निन्दलिं वेद, पुरान॥''

– दोहावली

''सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
जे बरनाधरम तोरिल कुम्हारा। रचपच किरात कोल कलवारा॥

नारि मुई घर संपत्ति नासी। मुड़ मुड़ाई होंहिं संन्यासी॥
ते विप्रन सन आपु पूजावहिं। उभयलोक निज हाथ नसावहिं॥
सूद्र करिहं जप, तप, व्रत नाना। बैठि बरासन पढ़हिं पुराना॥'' – मानस

''बरना धरम गायो आश्रम निवास तज्यो
भासन चकित सो परावनो परोसो है।'' – कवितावली

नाथ, सिद्ध और कबीर आदि संत–महात्माओं ने वर्ण–व्यवस्था का विरोध अपनी स्थिति के कारण किया। चूँकि तुलसीदास ब्राह्मण है और ब्राह्मण ने पीड़ित भी किया। लेकिन उनकी सहानुभूति उनके प्रति इसीलिए रही है कि वे भक्ति मार्ग पर चलते रहे। समाज–व्यवस्था में तो तुलसी की दृष्टि सामंतवादी दृष्टि थी। यह उनके ज्ञान के ऐतिहासिक विकास की सीमा थी। इस सीमा को समझे बिना भक्तिकाल के इस अंतर्विरोध को भी नहीं समझा जा सकता है।

3.10 सारांश

इस इकाई में हमने भक्तिकाल की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझा। इस विषय में हमने विभिन्न साहित्य समीक्षकों के मतों को रखते हुए उनकी समीक्षा की। हमने इस तथ्य पर प्रकाश डाला कि भक्ति आन्दोलन ने सामाजिक, राजनीति, दार्शनिक और धार्मिक संदर्भों के साथ–साथ कला और संस्कृति को भी प्रभावित किया। इस आन्दोलन में अवर्ण और सवर्ण के साथ महिला–पुरुष सहित शिक्षित–अशिक्षित हिन्दू–मुसलमान दोनों ही शामिल थे। यही भक्ति–साहित्य की उपलब्धि है।

3.11 अभ्यास प्रश्न

1. भक्ति आन्दोलन की राजनीतिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।
2. भक्ति–आंदोलन के दौरान सामाजिक व्यवस्था कैसी थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–4

निर्गुण ज्ञानमार्गी संत काव्य धारा

संरचना

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 संत शब्द का अर्थ

4.3 संत मत

4.4 संत परम्परा

4.5 ज्ञानमार्ग : अर्थ एवं दृष्टिकोण

4.5.1 निर्गुण

4.5.2 भक्ति आन्दोलन और निर्गुण संत

4.6 प्रमुख संत कवि

4.7 प्रमुख प्रवृत्तियाँ

4.7.1 भक्ति–निरूपण

4.7.2 सामाजिक चेतना

4.7.3 सद्गुरु की महत्ता

4.7.4 संत काव्य में राम

4.7.5 रहस्यवाद

4.7.6 प्रेम लक्षणा भक्ति

4.7.6 अद्वैतवाद

4.8 अभिव्यंजना शिल्प

4.9 सारांश

4.10 अभ्यास प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

इस इकाई में निर्गुण ज्ञानमार्गी संत काव्यधारा के विषय में उल्लेख करते हुए उनकी भक्तिभावना, न्यायप्रियता और निष्पक्षता पर विचार करते हुए इसे संत काव्यधारा और निर्गुण काव्यधारा के नाम से अभिहित किया गया है। इन कवियों ने तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं को अपने जीवन के व्यापक अनुभव के आधार पर जनसामान्य के लिए हृदयस्पर्शी बनाया। यही नहीं, इन्होंने हिन्दू और मुसलमान में भावात्मक एकता लाने का प्रयास किया। इस प्रकार उनके काव्य में धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना के साथ सामाजिक चेतना भी है, यह भी कि इन कवियों का सामंती समाज के वर्णवादी मूल्यों के प्रति आक्रोश भी है। इसके लिए वे पाण्डित्य परम्परा और पुस्तकीय ज्ञान के वाद–विवाद को व्यर्थ मानते हुए अपनी अनुभूतियों की निश्छलता और शिल्प की अनगढ़ता के द्वारा लौकिक अनुभवों को महत्त्व दिया।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई में संत काव्य की पृष्ठभूमि की चर्चा कर सकेंगे, संत मत के सिद्धान्त का परिचय प्राप्त कर उसके स्वरूप को समझा सकेंगे, संत काव्य की विशेषताओं का परिचय दे सकेंगे, संत काव्य की प्रवृत्तियों को बता सकेंगे, संत काव्य के वस्तु एवं शिल्प पक्ष की जानकारी दे सकेंगे, और संत काव्यधारा के महत्त्व का प्रतिपादन कर सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.2 संत शब्द का अर्थ

संत शब्द का प्रचलन प्राय: बुद्धिमान, पवित्रात्मा, परोपकारी और सज्जन व्यक्ति के रूप में है। वैदिक साहित्य में भी संत शब्द का सत् सबका ब्रह्म या परमात्मा के लिए ही प्रयोग हुआ है। कबीरदासजी ने भी अपनी एक साखी में 'संत' शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है-

''निरबैरी निहकायता, साईं सेती मेह।
विषया सून्दरा रहै, संतनि को अंग एह॥''

कबीर की उपर्युक्त साखी से संत का लक्षण निर्बैरी, निष्काम, प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है। इस प्रकार संत शब्द का प्रयोग व्यापाकता के साथ-साथ समय, विशेष रूप से उन भक्तों के लिए होने वाला था, जो निर्गुण सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे। उनकी साधना निर्गुण भक्ति के आधार पर चलती थी। उनमें नामदेव, ज्ञानदेव, एकता या कबीर आदि उल्लेखनीय हैं।

4.3 संत मत

संत मत के विषय में कबीरदास ने कहा है-

''सतगुरु सत कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै विस्तार॥''

तत्त्व को ग्रहण कर, अनुभव और विवेक के समन्वय से ही यह मत अस्तित्व में आया। बुद्धदेव ने कहा था-

''कोई बात इसलिए न मानो कि वह किताबों में लिखी है, कि वह तुम्हारे मत के अनुरूप है, कहने वाला सुवेश है, अधिक पढ़ा-लिखा है, वयोवृद्ध है, तुम्हारा श्रद्धेय है। जब तुम मर्म-विवेचन से यह जान लो कि वह जो-कुछ कह रहा है, उसमें तुम्हारा ही नहीं, दूसरों का भी कल्याण है, तभी मानो 'या' अपना दीपक स्वयं बनो।''

कबीर की तरह और संतों ने भी अनुभव और विवेक को महत्त्व दिया है। राम नाम के महत्त्व को वे इसका मर्म जान लेने पर ही जोर देते हैं। ये परम तत्त्व को राम, खुदा, रहीम, ब्रह्म आदि नामों से पुकारते हुए ''परमतत्त्व का साक्षात्कार'' नामक अपने लक्ष्य से नहीं भटकते हैं। इनके नामस्मरण की यह विशेषता रही कि ये अपना ध्यान इष्टदेव की ओर ही लगाए रखते हैं। इस प्रकार ये उसे क्षणभर के लिए भी अपनी साधना से नहीं छोड़ते हैं।

4.4 संत परम्परा

संतों की परम्परा का आरंभ 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जाता है। स्वामी रामानंद (सं. 1355-1467) कबीरदास के दीक्षा गुरु थे। संत रविदास, सेना, नाई, पीपा, धन्ना आदि उनके गुरुभाई थे। यह कहा जाता है कि स्वामी रामानंद के उपदेशों से प्रभावित होकर ही इन्होंने संत-परम्परा का आरंभ किया था। लेकिन इससे पहले ही संत-परम्परा की नींव पूर्व में बौद्ध धर्म, वज्रयान एवं सहजयान में बदल गया था। वैष्णव सम्प्रदाय और उसमें कई बातों का आदान-प्रदान हुआ। इससे दोनों ही निकट आ गए थे। इसी प्रकार का वैचारिक सामंजस्य नामपंथ और स्थानीय वैष्णव सम्प्रदाय के बीच महाराष्ट्र और राजस्थान में रहा। इसी से पूर्व की ओर से संत जयदेव, दक्षिण की ओर से संत ज्ञानदेव और नामदेव, पश्चिम की ओर से संत बेनी और सधना और कश्मीर की ओर से संतललदेव का उदय रामानंद से पहले ही हो चुका था।

इसके बाद कबीर आदि संतों की एक लम्बी परम्परा हिन्दी में चली। इससे कई पंथों और गद्दियों की स्थापना हुई, जैसे नानक देव पंथ, दादू पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, मलूक पंथ, कबीर पंथ आदि। 13वीं शताब्दी में कबीरदास ने संत मत के निश्चित सिद्धान्तों का प्रसार-प्रचार किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें ही निर्गुण भक्ति का प्रवर्त्तक माना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.5 ज्ञानमार्ग : अर्थ एवं दृष्टिकोण

शंकराचार्य ने ज्ञान और भक्ति एवं निर्गुण और सगुण भक्ति के विरोध की स्थापना करते हुए निर्गुण को ज्ञान से सम्बद्ध किया। इसी कारण निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने का साधना ज्ञान कहा गया। यह वास्तव में अन्तर्ज्ञान है। यह सहज ही बिना किसी भक्तिमार्गीय पद्धति के साधनों से उत्पन्न होता है इसलिए इसे सहजज्ञान कहा गया। शंकराचार्य का ज्ञान सैद्धान्तिक और बौद्धिक चिन्तन का द्वन्द्व है। कबीर आदि संत कवियों का ज्ञान अनुभव की देन है। यों तो संत कवियों ने निर्गुण मार्ग और ज्ञान मार्ग को सैद्धान्तिक रूप में अपनाया, लेकिन उसके व्यावहारिक पक्ष पर ही बल दिया।

4.5.1 निर्गुण- अर्थ एवं स्वरूप - सामान्य रूप से निर्गुण शब्द का अर्थ गुण सहित होता है। लेकिन संतकाव्य में निर्गुण साहित्य का प्रतीक न होकर गुणातीत की ओर संकेत करता है। इसमें परब्रह्म के लिए निर्गुण शब्द का प्रयोग हुआ है जो सत्व, रजस और तमस तीनों गुणों से अतीत है। वह अनुभूति और वाणी से परे हैं। वह घट-घट का वासी है। निर्गुण के स्वरूप के विषय में कबीर ने कहा है-

संतो, धोखा कासूं कहिये।
गुन में निरगुन, निरगुन में गुन, बाढ छाँड़ि क्यूँ बहिये॥

अजर-अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाइ।
नाति-स्वरूप-वरण नहिं जाके घटि-घटि रह्यौ समाइ॥

पिंड-ब्रह्मांड कथै सब कोई वाके आदि अरु अंत न होइ।
पिंड-ब्रह्मांड छाँड़ि जे कहिये कहै कबीर हरि सोइ॥ - **कबीर ग्रन्थावली, पद 180**

अर्थात् हे संतो! मैं धोखे की बात किससे कहूँ? गुण में ही निर्गुण, निर्गुण में ही गुण, उसका ध्यान छोड़कर कहाँ बहता फिरा जाये? लोग उसे अजर कहते हैं, अमर कहते हैं, पर सच्चाई यह है कि वह अलख है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका कोई स्वरूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है, वह घट-घट में समाया रहता है (कहने का अर्थ है कि वह सभी रूपों और सभी वर्णों में है) लोग पिंड और ब्रह्माण्ड की बातें करते हैं (पर विचार करने पर ज्ञान होता है कि पिंड और ब्रह्माण्ड की सीमा है।) किन्तु उसका न तो आदि है और न अंत। अत: जो पिंड और ब्रह्माण्ड से भी परे हैं, वही हरि है। ऐसा जिसका रूप नहीं, रेखा नहीं, जो सूर्य चन्द्र, पवन, पानी भी नहीं, वही संतकवियों का 'निर्गुण' है।

4.5.2 भक्ति आन्दोलन और निर्गुण संत- आबिद हुसैन ने लिखा है कि "अगर यूनानियों की तरह, जो दूसरी शती ईस्वी में बख्तर से आये थे, अपने और अपनी संस्कृति के उद्‌गम स्थान से बहुत अरसे तक उनका नाता टूटा रहता अथवा उनकी संस्कृति सीरियन और हूणों की तरह आदिम होती, तो वे हिन्दू समाज में घुल-मिलकर एकात्म हो जाते। लेकिन पहले तो वे एक समुन्नत अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के प्रतिविधि थे, दूसरे वे भारत के बाहर उस संस्कृति के केन्द्रों से, इनमें इस्लामी जगत का राजनीतिक केन्द्र बगदाद भी शामिल था, जिसका महत्त्व आज नाम मात्र को रह गया है, बराबर संपर्क बनाए हुए रहे। इन कारणों से उन्हें पूरी तरह भारतीय होने में समय लगा।" **(आबिद हुसैन, राष्ट्रीय संस्कृति, पृष्ठ 44)**

मध्यकाल में सामान्य जनता दो दुश्चकों के नीचे पिसी जा रही थी-पहला यह कि हिन्दी जाति वर्णाश्रम धर्म पर आधारित धर्म की जटिलताओं से युक्त थी, तो उधर इस्लाम भी किसी प्रकार से धार्मिक कट्टरता से अलग नहीं था। दूसरा यह कि उत्तर भारत में सिद्धों, नाथों के कर्मकाण्ड के कारण सच्ची धर्म-भावना का ह्रास हो रहा था। यह सच है कि दक्षिण से आने वाली भक्ति की लहर ने हिन्दू-मुसलमान दोनों को प्रभावित किया। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन तो दक्षिण भारत में उत्पन्न होकर उत्तर भारत की ओर बढ़ा-

'भक्ति द्रविड़ ऊपजी लाए रामानंद।
प्रकट किया कबीर ने सप्तदीप नवखण्ड॥'

यह ध्यातव्य है कि रामानंद से पहले अलावरों और नयनारों ने दक्षिण भारत में भक्ति-भावना बौद्धों के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने के लिए ही जगायी थी। इनसे भक्ति का वह प्रभाव आगे बढ़ते हुए नाथमुनि, यमुनाचार्य, रामानुजाचार्य, रामानंद, बल्लभाचार्य, माध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बाकाचार्य आदि तक खूब प्रवाहित हुई। शैवों में वर्त्तमान भक्ति का यह प्रवाह नयनारों के मध्य विकसित होकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

महाराष्ट्र की ओर मुड़ गया। इस प्रवाह को कर्नाटक के 'पुण्डलोक' में देखा जा सकता है। वहाँ इसका विकास वैष्णवों और शैवों के मतभेदों को दूर करने के लिए समन्वयात्मक रूप में हुआ। भक्ति आन्दोलनों में संतो की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए महाकवि गजानन माधव मुक्ति बोध ने लिखा है–

''पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए। अपना साहित्य और गति सृजित किए। कबीर रैदास, नाभा, सिंगा, सेना नाई आदि महापुरूषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरूद्ध आवाज बुलंद की। समाज के स्वार्थवादी वर्ग के विरूद्ध नया विचारवाद अवश्यभावी था। वह हुआ। संक्षेप में, भक्ति आंदोलन का जन–साधारण पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। सामान्य जनता कुलकानि लोकरूढि, अंधविश्वास, धार्मिक, आडम्बर कट्टरता के विरूद्ध कमर कसकर खड़ी हो गई।''

4.6 प्रमुख संत कवि –

नामदेव– इनका जन्म सन् 1329 ई. को सतारा के नरमी (बहमनी) गाँव में हुआ। ये बचपन से ही विरक्त होकर साधु सेवा और सत्संगत करने लगे। यों तो उनके गुरु संत बिसोवा खेचर थे, लेकिन उन्होंने संत ज्ञानेश्वर के प्रति भी अपनी अपार श्रद्धा भावना प्रस्तुत की है।

संत नामदेव के षद हिन्दी और मराठी दोनों में हैं। चूँकि ये जाति के दर्जी थे इसलिए इन्होंने गज, कैंची, सुई और छागे के माध्यम से भक्ति रहस्य को प्रस्तुत किया है। सधुक्कड़ी भाषा में रचित उनके पदों में निर्गुणोपासना, कर्मकाण्ड आदि का खण्डन तो है ही, इसके साथ ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादन भी। एक उदाहरण देखिए–

''जल तरंग अरूफेन बुदबुदा, जलते भिन्न ने होई।
रहु परपंचु पारब्रह्म की लीला, विचरत आन न होई।

मिथिआ भरम अरू सुपन मनोरथ, सति पदारथु जानिआ।
सक्रित मनसा गुर उपदेसी, जागत ही मनु मानिआ।

कहत नामदेव हरिकी रचना, देजहु रिदै बीचारी।
घट–घट जंतरि सरब निरन्तरि, केवल एक मुरारी॥'' –**नामदेव**

हिन्दी कवियों में कबीर का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इनका जन्म सन् 1455 ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा चन्द्रवार (सोमवार) के दिन हुआ। उनके जन्म के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है–

चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार इक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रकट भए॥

कबीर पन्थियों का विश्वास है कि कबीर का जन्म स्वामी रामानन्द जी के आशीर्वाद के फलस्वरूप एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था वह ब्राह्मणी नवजात शिशु को काशी के लहरतारा नामक तालाब के समीप छोड़ आई थी। उसी समय वहां से नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पत्ति कहीं जा रहे थे। उन्होंने उस बालक को गोद में ले लिया। उसी शिशु का नाम बाद में कबीर रखा गया। 'काशी में हम प्रकट भए हैं, रामानन्द चेताए' के अनुसार वे काशी में उत्पन्न हुए थे। प्रात: वेला में गंगा–स्नान को जाते समय पंचगंगा धार पर स्वामी रामानन्द से 'राम' शब्द सुनकर कबीर ने उन्हें अपना गुरु बनाया था। कबीर जुलाहे का कार्य करते थे। उनकी पत्नी का नाम लोई था, जिससे उनके कमाल और कमाली पुत्र–पुत्री भी हुए। कबीर–पंथी लोग कबीर को अविवाहित मानते हैं, परन्तु यह मत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। कबीर ने स्वयं कहा है–

'नारी तो हम भी करी, आना नाहिं विचार।
जब जाना तब परिहरि, नारी बड़ा बिकार॥'

'बूड़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल'– इस अन्त:सादय के आधार पर यह सिद्ध होता है कि कबीर के पुत्र का नाम कमाल था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वामी रामानन्द से दीक्षा लेने के पश्चात् कबीर ने उनके सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारंभ किया। कबीर अन्धविश्वासों का दृढ़ता से खण्डन करते थे। सिकन्दर लोदी ने उनकी आलोचना से क्रुद्ध होकर उन्हें गंगा में डुबोने का आदेश दिया, परन्तु उनका बाल भी बांका न हुआ।

'गंग लहर मेरी टूट जंजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर॥'

कबीर ने अपने अन्त समय में काशी छोड़ दी और मगहर चले गए। इस विषय में उन्होंने स्वयं कहा है,

क्या काशी, क्या असर मगहर, राम हृदय बस मोरा।
जो काशी तन तजै कबीरा, रामै कौन निहोरा॥

उनकी मृत्यु 1505 में हुई। उस विषय में पद दोहा प्रसिद्ध है,

संवत पन्द्रह सौ और पाँच भौ, मगहर किया गौन।
अगहन सुदी एकादशी, टलौं पौन में पौन॥

कुछ विद्वानों का यह मत है कि उनकी मृत्यु संवत 1557 माघ सुदी एकादशी के दिन हुई।

कबीर का प्रामाणिक ग्रन्थ 'कबीर बीजक' माना जाता है। इसमें रमैनी, साखी तथा पद संग्रहीत हैं। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, परन्तु उनका हृदय ज्ञान की ज्योति से जगमगाता था। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि 'वे सिर से पैर तक मस्तमौला थे। मस्त जो पुराने कृत्यों का हिसाब नहीं रखता, वर्तमान कर्मों को सर्वस्व नहीं समझता और भविष्य में सब-कुछ झाड़-फटकार निकल जाता है। जो दुनियादार किये-कराए का लेखा-जोखा दुरूस्त रखता है, वह मस्त नहीं हो सकता। जो इश्क का मतवाला है, वह दुनिया के माप-जोखा से अपनी सफलता का हिसाब नहीं करता।'

डॉ. रामकुमार वर्मा ने कबीर की प्रतिभा की चर्चा करते हुए लिखा है, इसमें संदेश है कि कबीर की कल्पना के सारे चित्रों को समझने की शक्ति किसी में आ सकेगी अथवा नहीं। जो हो, कबीर का बीजक पढ़ जाने के बाद यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि कबीर के पास कुछ ऐसे चित्रों का खजाना है, जिसमें हृदय में उथल-पुथल मचा देने की बड़ी भारी शक्ति है। हृदय आश्चर्यचकित होकर कबीर की बातों को सोचता ही रह जाता है।

कबीर को हिन्दी काव्य-क्षेत्र में निर्गुण धारा का प्रवर्तक माना जाता है। ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि सन्त कबीर भक्त होने के साथ-साथ समाज सुधारक भी थे। वे मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं करते थे-

मनुआ कैसा, बावरा, पाथर पूजन जाइ।
वाते घर चक्की भली, जाका पीसा खाइ॥

हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियों के धार्मिक आडम्बरों की उन्होंने खुलकर निन्दा की है। वे मुसलमानों को कड़े शब्दों में फटकारते हुए कहते हैं कि :

दिन में रोजा रखत हो, राति हनत हो गाइ।
एक खून, एक बंदगी, कैसे खुशी खुदाइ॥

'जो तू बामन बामनी जाया आन बाट है क्यों नहिं आया' कहकर उन्होंने ढोंगी ब्राह्मणों को भी चुनौती दी है। कबीर की सरल आत्मा में धर्म के ठेकेदारों के प्रति घृणा भर गई थी। उन्होंने हिन्दुओं तथा मुसलमानों को फटकारते हुए कहा :

कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरक कहे रहिमाना।
आपस में दोउ लरि-लरि मुए, मरम न काहू जाना।

कबीर उच्चकोटि के साधक थे। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'साधना के क्षेत्र में वे युग-युग के गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्यद्रष्टा' एक अन्य विद्वान ने उन्हें 'मानवता का प्रथम कवि' कहा है। कबीर भक्त, कवि, उपदेशक, साधु और सन्त सभी-कुछ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

थे। ज्ञान की खोज में उनका संपूर्ण जीवन व्यतीत हुआ। उन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार का लिया था। सांसारिक आकर्षण उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ थे। उन्होंने कविता के लिए कविता की रचना नहीं की। उन्हें न पांडित्य प्रदर्शन की लालसा थी और न आचार्य बनने की अभिलाषा थी।

कबीर के काव्य में ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति अत्यंत सशक्त रूप में मिलती है। उनके अनुसार मानव-जीवन की सार्थकता ईश्वर-दर्शन में है। कबीर ने निर्गुण ईश्वर को 'राम' कहकर पुकारा है। कबीर के अनुसार राम को सच्चे प्रेम से ही पाया जा सकता है। प्रेम की साधना वस्तुत: विरह की भावना है, कबीर कहते है कि प्रेम का नाम तो बहुत लोग लेते है, पर सच्चा प्रेम क्या है, इसे नहीं जानते। आठों पहर राम के ध्यान में डूबे रहना ही सच्चे प्रेम का लक्षण है।

आठ पहर मीना रहै, प्रेम कहावे सोच

राम की बाट जोहते-जोहते साधक की आंखों में झांई पड़ जाती हैं तथा उसकी जीभ में छाले पड़ जाते हैं-

अंखड़ियाँ झांई पड़ी, पंथ निहरि निहारि। जी भड़ियां छाला पड्या, राम पुकारि-पुकारि॥

भक्त प्रतीक्षा करते-करते अधीर हो उठता है। प्रियतम का विरह उसके लिए असह्य हो जाता है। वह विरत की अग्नि में स्वयं को जला डालने का निश्चय करता है-

यह तन जारौं मसि करो, ज्यूं धूआं जाय सरगि। मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अगि॥

इस प्रकार कबीर ने प्रेम-साधना की ऐसी व्यंजना की है कि पाठक उसमें पूरी तरह से डूब जाता है। कबीर पर वेदान्त के अतिरिक्त हठयोग का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। सूक्ष्म तत्त्व का वर्णन करते हुए कबीर ने कहा है-

जा के मुँह माथा नहीं, रा ही रूप कुरूप। पुहुप वास से पातरा, ऐसो तत्त्व अनूप॥

कबीर के काव्य का कलापक्ष :- कबीर ने जो कुछ कहा है, वह स्वानुभूति के बल पर कहा है, फलत: उनकी वाणी में बड़ी सहजता एवं मार्मिकता है, जो हृदय पर सीधी चोट करती है। कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, इसलिए कुछ लोग उनकी भाषा को अनगढ़ कहते है। वास्तव में उनकी भाषा में कृत्रिमता नहीं है। व्यापक देशाटन के कारण उनकी भाषा में विभिन्न प्रादेशिक बोलियों का सम्मिश्रण मिलता है। उन्होंने स्वयं अपनी भाषा को 'पूरबी' कहा है, परन्तु उसमें अवधि, ब्रज, खड़ी बोली, राजस्थानी, पंजाबी, संस्कृत, फारसी आदि का मिश्रण दीख पड़ता है। इसी कारण आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान उनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी' या 'पंचमेल खिचड़ी' कहते है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी भाषा पर कबीर का असाधारण अधिकार मानते हैं। वे वाणी के डिक्टेटर है। जिस बात को उन्होंने जिस रूप से प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है।

कबीर की शैली में गजब का प्रवाह है। वह किसी पहाड़ी झरने की भांति अपने तेज बहाव में हमें बहाती ले चलती है। कबीर ने रस-अलंकार आदि का जानबूझ कर प्रयोग नहीं किया, परन्तु ये सभी तत्त्व उनकी वाणी में अपने आप आ गए है। अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, विरोधाभास आदि अनेक अलंकार अपने स्वाभाविक रूप से उनके काव्य को शोभा प्रदान करते हैं। अपने सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए कबीर ने प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग किया है।

उदाहरणार्थ-

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तथ कथौ गियानी॥

कबीर के जीवन और संदेश के समान उनकी कविता भी आडम्बर रहित है, उसकी यह सादगी ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। भाषा में विषयानुकूल माधुर्य और ओजगुण उनकी अभिव्यक्ति को अतीव हृदयग्राही बना देते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, 'हिन्दी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है- तुलसीदास।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रैदास- रामानंद के शिष्यों में कबीर आदि संतों की तरह रैदास का जीवनवृत्त कुछ निश्चित रूप से नहीं प्राप्त होता है। धन्ना और मीरा के कुछ पदों में इनका उल्लेख मिलता है। इस आधार पर ये उनके समकालीन कहे जा सकते हैं। दूसरी बात यह है कि उनके पदों में भी अन्य मध्यकालीन संतों की तरह सामाजिक विडम्बनाओं के प्रति तीखा स्वर है। उनकी कविताओं में जाति-प्रथा, कर्मकाण्ड, मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा आदि बाह्याचारों के प्रति तीखा स्वर है। निश्छल भाव से भक्ति की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करते हुए उनका कहना है कि-

अब कैसे छूटै राम, नाम रट लागी।
प्रभुजी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग-अंग बास समानी।
प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द चकोरा।
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती।
प्रभुजी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलत सुहागा।
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा॥

गुरु नानकदेव :- गुरु नानकदेव नानक पंथ के प्रवर्त्तक थे। उनका जन्म सवंत् 1526 के वैशाख मास की तृतीया को तलवंडी गाँव में हुआ था। आप बचपन से अध्यात्म की ओर झुक गए। उनकी बानियों का संग्रह आदि 'ग्रन्थ' के 'महला' नामक खंड में है। इनकी रचनाओं की यह विशेषता रही कि उनमें धार्मिक विश्वास, नाम-स्मरण, एकेश्वरवाद, परमात्मा की सर्वव्यापकता, विश्व-प्रेम, नाम की महत्ता आदि है। इनकी प्रवृत्ति अति सरल अहंभाव शून्य आदि रही। इनका साहित्य मुख्य रूप से पंजाबी में है।

संत दादू दयाल :- दादू पंथ के प्रवर्त्तक संत दादू दयाल का जन्म गुजरात राज्य के अहमदाबाद नगर में सवंत् 1601 में स्वीकार किया जाता है और मृत्यु संवत् 1660 को राजस्थान के नराणा गाँव में, जहाँ इनके अनुयायियों का प्रधान मठ 'दादू द्वारा' है। ये जाति के धुनिया थे। इनकी बानियों का संग्रह 'हरडेवाणी' नाम से है। इनके प्रमुख शिष्यों में रज्जब थे। इनकी रचनाओं में ईश्वर की सर्वव्यापकता, सदगुरु की महिमा, संसार की असारता आदि का प्रभावशाली उल्लेख है। इसके साथ ही इनकी कविताओं में निर्गुण निराकार ईश्वर के प्रति प्रेमभाव भरा हुआ है, एक उदाहरण देखिए-

भाई रे। ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पखरहित पंथगह पूरा अबरन एक अधारा।
वाद विवाद काहू सौ नाहीं मैं हूँ ना जग थे न्यारा॥
समदृष्टि सूँ भाई सहज में आपहिं आप विचार॥
मैं तो मेरी यह मति नाहीं निरवैरी निरविकारा॥
काम कतपना कदेन कीजै पूरन ब्रह्म पियारा।
एहिपथि पहुँचि पार गहि दादू सो तब सहज संभारा॥

संत सुन्दरदास :- ये संत दादू दयाल के सर्वप्रथम शिष्य थे। इनका जन्म सवंत् 1653 में जयपुर की प्राचीन राजधानी धौसर नगर में हुआ था। इन्होंने बंगाल, द्वारिका, बदरिकाश्रम और मध्यप्रदेश तक यात्रा करते हुए दादू के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया और ग्रन्थ रचना भी किए। 'सुन्दर-विलाप' इनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इन्होंने अपनी कविताओं के द्वारा निर्गुण-सगुण विवाद को आर्थिक रूप में प्रस्तुत किया। लोकजीवन की रूढ़ियों के विरोध और विद्रोह का स्वर इनमें नहीं रहा। उनकी रचनाओं के पढ़ने से लगता है कि निर्गुण भक्ति काव्यशास्त्रीय बंधन में बँधने के लिए तैयार होने लगा था-

गेह तज्यो अरू नेह तज्यो पुनि खेंह लगाइ कै देह संवारी।
मेह सहे सिर सीत सहे तन धूप सभे जो पंचागिनि बारी॥
भूख सही रहि रूख तरै पर, सुन्दरदास सबै दुख भारी।
डासन छाँड़ि कै कासन ऊपर आसन मारयो तै आसन भारी॥

संत मूलकदास : मध्यकालीन संतों में संत मलूकदास का जन्म इलाहाबाद के केकड़ा गाँव में सवत् 1631 में हुआ था। इनकी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मृत्यु सवंत् 1739 में 106 वर्ष की दीर्घायु में हुई। यद्यपि इन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे, तथापि 'रत्नखान' और 'ज्ञान बोध' ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने विभिन्न कथाओं के दृष्टान्त द्वारा लोगों को इन्द्रिय निग्रह, ब्रह्मोपासना, आत्मबोध, वैराग्य आदि का ज्ञान दिया। एक उदाहरण देखिए-

कहत मलूक जो बिन सिर खेपै सो यह रूप बखानै।
पा नैपा के अजब कथा, कोइ बिरला केवट जानै॥
कहत मलूक निरगुन के गुनकोइ बड़भागी गावै।
क्या गिरही औ क्या बैरागी जेहि हरि देये सो पावै॥

4.7 प्रमुख प्रवृत्तियाँ

संत काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं-

4.7.1 भक्ति-निरूपण :- सन्त काव्य का मूल आधार निर्गुण (निराकार) ब्रह्म की उपासना है। सन्त कवियों ने यह स्पष्ट किया कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है। उसका कोई विशेष रूप नहीं है तथा साधना के द्वारा निर्गुण ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर व्यक्ति के हृदय में भी विराजमान है। वह अविनाशी तथा सर्वशक्तिमान है। ब्रह्म के विषय में अपना अनुभव बताते हुए कबीर कहते हैं-

जाके मुख माथा नहीं, नाहिं रूप कुरूप।
पुहुप बास से पातरा ऐसा तत्त अनूप॥

ज्ञानमार्गी कवियों के अनुसार ईश्वर का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। वह केवल अनुभवगम्य है। प्रेम तथा योग साधना से उसकी अनुभूति हो सकती है। वह अलख और निरंजन है। वह अक्षय अर्थात् अविनाशी है। कबीर के शब्दों में,

निर्गुण राम जपहु रे भाई।
अविगत की गति लखि न नाई।

4.7.2 सामाजिक चेतना :- संत कवियों ने तत्कालीन समाज में प्रचलित धार्मिक आडम्बरों का प्रबल विरोध किया। इनसे पूर्व नाथ योगियों ने भी धार्मिक पाखण्डों की आलोचना की थी। ये कवि मूर्ति-पूजा, व्रत, तीर्थ, रोजा आदि में विश्वास नहीं रखते थे। कबीर ने मूर्ति-पूजा का विरोध करते हुए कहा है-

दुनिया ऐसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजे, जेहि का पीसा खाय॥

इन कवियों ने धर्म के नाम पर आडम्बर करने वालों को फटकारा। कबीर के एक पद की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

मुखड़ा क्या देखे दरपन में
तेरे दया धरम नहीं मन में
ऐंठी धोती पाग लेपटी तेल चुआ जुलफन में
गली-गली की राखी रिझाई, दाग लगाया तन में।

इन कवियों ने माला जपने के स्थान पर हृदय की शुद्धता पर बल दिया। कबीर के शब्दों में,

कबिरा माला काठ की, कहि समुझावे तोहि।
मन न फिरावे आपना, कहा फिरावे मोहि॥

ज्ञानमार्गी कवि जाति-पाति में विश्वास नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि प्रभु सर्वव्यापक है। वह प्रत्येक जीव के हृदय में विराजमन है। ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य बराबर हैं। जो व्यक्ति प्रभु का स्मरण करता है, वह उसे प्राप्त कर लेता है। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जाति–पांति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजे सो हरि का कोई।

अधिकांश ज्ञानमार्गी कवि समाज में नीची माने जाने वाली जातियों से संबंध रखते थे। कबीर का संबंध जुलाहा जाति से था, तो रैदास चमार जाति से संबंधित थे। हिन्दू–मुसलमानों तथा सभी जातियों में प्रेम स्थापित करना भी इन कवियों का उद्देश्य था। ये कवि ब्राह्मणों को जाति के आधार पर कोई महत्त्व नहीं देते थे। इन्होंने समाज के तथाकथित उच्चजाति के लोगों को चुनौती देते हुआ कहा,

जो तू बामन बामनी जाया, आन बाट है क्यों नहीं आया।
जो तू तुरक तुरकिनी जाया, भीतर खतना क्यों न कराया॥

सन्त कवियों के मन में समाज–सुधार की भावना भी प्रबल रूप से विद्यमान थी। इन संतों की साधना न तो व्यक्तिगत थी और न शास्त्रीय ही। इन कवियों ने अपने युग में प्रचलित सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए वाणी की शक्ति का प्रयोग किया। उन्होंने धर्मभीरूता, जाति–पांति बन्धन, छुआछूत, पाखण्ड–आडम्बर, अन्धविश्वास आदि को दूर करने का प्रयास किया। ये कवि हिन्दू–मुसलमानों को सम दृष्टि से देखते थे। कबीर ने मांसाहार का विरोध करते हुए कहा है–

बकरी पाती खात है, तिनकी काढ़े खाल।
जो जन बकरी खात हैं, तिनको कौन हवाल॥

कबीर ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों को सच्चे धर्म का अनुसरण करने की प्रेरणा दी है–

हिन्दू कहे मोहि राम पियारा।
तुरक कहे रहमाना।
आपस में दोऊ लरि–लरि मुरू
मरन व काहू जाना।

4.7.3 सद्गुरू की महत्ता :– संत कवियों ने सदगुरू की महिमा का बहुत अधिक वर्णन किया हैं। इन संत कवियों के अनुसार सदगुरू की कृपा साधक के लिए अत्यंत आवश्यक है। उसके बिना साधक को ईश्वर प्राप्ति नहीं हो सकती। इन संतों का विश्वास है कि ईश्वर के रूठ जाने पर साधक की रक्षा हो सकती हैं, परन्तु गुरू के रूठ जाने पर उसके लिए कहीं भी ठिकाना नहीं रहता। कबीर ने गुरू को गोविन्द से भी अधिक महत्त्व देते हुए कहा है कि–

गुरू गोबिन्द दोऊ खड़े, का के लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरू आपणे, जिन गोविन्द दियो बताय॥

4.7.4 संतकाव्य में राम :– संतकाव्य में राम का उल्लेख सगुण–काव्य की तरह अवतारी पुरूष के रूप में न होकर निरूपाधि ब्रह्म के रूप में हुआ है। वे दशरथ–पुत्र राम न होकर ब्रह्म स्वरूप राम हैं। कबीर का यह मत इसी तथ्य का पूरक है–

''दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम का मरम कोउ नहीं जाना॥''

इस संत कवियों के राम अगम, अगोचर, अतीन्द्रिय, अविनाशी और अनिर्वचनीय हैं। वे तो जन्म–मरण से भी परे हैं–

''जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप–कुरूप।
पुहुप बास ले पातरा, ऐसा तत्व अनूप॥''

4.7.5 रहस्यवाद :– दर्शन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, साहित्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। संत–काव्य में भारतीय रहस्यवाद के दर्शन होते है। कबीरदास ने ब्रह्म को सत्य तथा जगत को मिथ्या कहा है। उन्होंने आत्मा तथा परमात्मा के मिलन में माया को बाधक माना है। ज्ञानमार्गी कवियों के रहस्यवाद में प्रेम–भाव की प्रधानता है। स्त्री रूपी आत्मा–परमात्मा को पति रूप में प्राप्त करना चाहती है। वह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उसके विरह में तड़पती है। परमात्मा से मिलन होता है, तो विवाहिता पत्नी की तरह उसका उतलास देखते ही बनता है। कबीर की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

दुलहिनी गावहु मंगलाचार
हम घर आए हो, राजा राम भरतार।
कहे कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरुष एक अविनाशी।

4.7.6 प्रेम लक्षणा भक्ति :- सूफीमत में प्रेम को अधिक महत्त्व दिया गया है। सूफी परमात्मा को प्रेम स्वरूप मानते हैं। संत काव्य में प्रेम दर्शन सूफी काव्य के प्रभाव स्वरूप ही आया। इससे ही संत काव्य में प्रेम लक्षणा भक्ति का जन्म हुआ। प्रेम की तीव्र अनुभूति उस अनादि तत्त्व के प्रति एक ऐसी लगन पैदा कर देती है कि संसार की कोई स्मृति नहीं रहती। शरीर के स्वरूप की भी कोई चिन्ता नहीं रहती।

''हरि रस पिया जानिए, कबहूँ न जाए सुधार।
मैं मन्ता घूमत फिरै, नाही तन की सार॥''

4.7.7 अद्वैतवाद :- संत-कवियों की वाणियों पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रभाव भी लक्षित होता है। कबीर आदि संत भी शंकराचार्य की तरह आत्मा और परमात्मा के बीच की खाई माया को ही माना है। वे माया के हटते ही आत्मा-परमात्मा के मिलन को संभव मानते हैं। अद्वैतवाद की झलक कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में देखी जा सकती है-

''पावक रूपी सांइयां, सब घटा रहा समाय।
चित चकमक लागे नहीं, ताते बुझ-बुझ जाय॥''

4.8 अभिव्यंजना पक्ष

संत-कवियों की बानियों में हृदय के सहज, सरल व अनुभूतिपूर्ण भावों के निर्द्वन्द्व उद्‌गार व्यक्त हुए हैं। इस प्रकार इनकी कविता हर प्रकार के कलावादी संस्कारों से कोसों दूर थी। यों तो इनकी अभिव्यंजना में विविधता है, फिर भी उस पर इनका पूरा अधिकार है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार-

''इन्होंने जब जैसा चाहा, भाषा का वैसा प्रयोग किया, बन गया, तो सीधे-सीधे तो दरेरा देकर।''

काव्य-भाषा :- संत कवि अशिक्षित थे। इन्होंने बोलचाल की भाषा को अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इनकी भाषा में अवधी, ब्रज, खड़ी बोली, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, अरबी-फारसी, पंजाबी आदि भाषाओं के शब्द मिले हुए हैं। इस भाषा को 'खिचड़ी भाषा' या सधुक्कड़ी भाषा कहा जाता है। इन कवियों ने अपनी भाषा में अलंकारों का सहज प्रयोग किया है। अलंकारों को कहीं भी ठूंसने का प्रयास नहीं किया गया। कबीर ने कहीं-कहीं प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ,

बरसे कम्बल, भीगे पानी,
यहाँ कम्बल और पानी प्रतीकात्मक शब्द हैं,

कबीर को वाणी का डिक्टेटर कहा जाता है। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। इनकी भाषा में व्यंग्यात्मकता का सौंदर्य भी देखते ही बनता है। उदाहरणार्थ,

दिन भर तो रोजा रखत हैं, राति हनत हैं गाय।

सन्त-कवियों की भाषा अत्यंत परिष्कृत या कलात्मक न होने पर भी चमत्कार से पूर्ण है। उनकी भाषा में संगीतात्मकता का सौंदर्य भी निहित है। भाषा की दृष्टि से सन्त काव्य पर्याप्त महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

उलटबाँसी शैली :- कबीर की तरह अन्य संत-कवियों में उलटबाँसियाँ बहुत अधिक हैं। इन्हें पहले संध्या भाषा के नाम से जाना जाता था। संध्या भाषा का तात्पर्य है, एक ऐसी भाषा जिसका अर्थ समझ में कुछ आए और कुछ न आए। संत-साहित्य में मुख्य रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से कबीर साहित्य में हम यह देखते हैं कि उसमें अनेक विचार उलटबाँसियों के माध्यम से अभिव्यक्त हुए हैं। यह भी कि उलटबाँसियों में प्रतीकों के प्रयोग हुये हैं और वे प्रतीक सुनने पर ही अपना अर्थ खोलते हैं, जैसे-

''मारिअ सासु ननद धरे शाली।
माअ मारिअ कान्ह भडल कपाली॥''

प्रतीकात्मकता :- संत-कवियों ने योगी, सहजयानी तांत्रिकों से प्रश्न करने के लिए उनकी ही प्रतीकात्मकता भाषा को काव्य का माध्यम बनाया। संत-काव्य में प्रयुक्त कुछ प्रतीक नीचे सोदाहरण दिए जा रहे है-

मन-मच्छर, मीन, जुलाहा, निरंजन, हस्ती आदि।
माया-माता, नारी, बिलैया, मैया आदि।
इन्द्रिय-सखी आदि।
जीवात्मा-पुत्र, पारथ, योगी, भौंरा, मूसा, सिंह आदि।

सेवक भावना को व्यक्त करने के लिए कबीर ने स्वामीभक्त पालतू पशु कुत्ते को प्रतीक रूप में अपनाया है-

''कबिरा कुत्ता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेबड़ी, जित खींचै तित जाउँ॥''

कल्पना सौंदर्य :- संतो की कल्पना में सुन्दरता विद्यमान है। उनकी कल्पना के सौंदर्य के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं-

''माली आवत देखकर, कलियन करी पुकार।
फूल-फूल चुन लिए, काल्हि हमारी बार॥''-(कबीर)

साहब तुमहि दयाल हौ, तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काम जहाज को, सूझे और न ठौर॥- (कबीर)

गर्व भुलाने देह के, रति-रति बाँधे पाग।
सो देहि नित देखि के, चोंच संवारे काग॥ -(मलूकदास)

महल मुँडेरी नीम सब, चलै कौन के साथ।
कागा रोला हो रहा, ना कुछ लागा हाथ॥- (गरीबदास)

छन्द :- संत-कवियों ने विविध प्रकार के छन्दी के द्वारा काव्य रचनाएं की। उन्होंने प्राय: रमैनी में दोहा, चौपाई, सोरठा, सार, हरिपद चौतीसी, वेली, कवित्त, कुंडलियाँ, सवैया आदि छन्दों के प्रयोग किए हैं। संतों के लिए छन्द साध्य नहीं थे। अपितु साधन मात्र थे।

काव्य-रूप :- संत-कवियों ने समाज के मार्मिक बिन्दुओं की पूरी पहचान रखते हुए मुक्तक काव्य को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इस काव्य के अन्तर्गत उन्होंने सबसे अधिक सबद, साखी और रमैनी की रचनाएँ की। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि साखी का अर्थ ही यह है कि पर्वत साधकों की बात पर कबीर साहब अपनी साक्षी या गवाही दे रहे हैं। कबीरदास ने भी कहा है-

''साखी आखिन ज्ञान की, समुझि देखि मन माहिं।''

रमैनी और सबद में भाव और रूप का अद्भूत संयोग मिलता है, लय इस बात का संकेत है कि संतों की कविता में लोकजीवन के प्रति गहरा अनुराग है। एक उदाहरण देखिए-

''नाचुरे मन मेरो नट होइ।
ग्यान के ढोल बजाइ रैनि-दिन सबद सुनै सब कोई।
राहु केतु अरू नवग्रह नाचै जयपुर आनंद होई॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

छापा–तिलक लगाइ बाँस चढ़ि होहु राहु जग तै न्यारा।
प्रेम मगन होइ नाचु सभा मैं रीझि सिरजन हारा॥

4.9 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि मध्यकालीन संतों ने भक्ति को वह स्वरूप प्रदान किया, जिससे व्यापक और समग्र धार्मिक सांस्कृतिक आन्दोलन का रूप खड़ा हो गया। इससे हिन्दु–मुसलमान का चला आता हुआ पार्थक्य सामान्य भक्ति मार्ग की ओर हो गया। इसके प्रभाव से लोक हृदयों में सामाजिक सरसता की आशा जगी। इन संतों की बानियों के भाव, भाषा और शैली बड़े ही काव्यत्व एवं उत्कर्ष के रूप में हैं। इनकी भाषा सहज और लोकोन्मुख रही। इनके अनुभूति पक्ष ने इन्हें क्रान्तिदर्शी कवि के रूप में उपस्थित कर दिया।

4.10 अभ्यास प्रश्न

1. संत कवियों की प्रवृतियों पर एक निबंध लिखिए।
2. भक्तिकाल का काव्य सामाजिक चेतना का काव्य है। संक्षेप में बताइए।
3. संत–कवियों की अभिव्यंजना शिल्प पर एक निबंध लिखिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–5

निर्गुण प्रेममार्गी सूफी काव्य धारा

संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 'सूफी' शब्द का अर्थ
5.3 सूफी मत और सिद्धान्त
5.4 प्रेमाख्यान का स्वरूप
5.5 सूफी काव्य की मूल प्रेरणा
5.6 सूफी प्रेमाख्यानक काव्य–परम्परा
5.7 भाव–व्यंजना तथा रस–निरूपण
5.7.1 प्रेम–पद्धति
5.7.2 चरित्र–चित्रण
5.8 सूफी रहस्यवाद
5.9 काव्य–रूप तथा कथानक रूढ़ियाँ
5.10 काव्य–शैली
5.11 काव्य–भाषा–अलंकार एवं छन्द–विधान
5.12 सारांश
5.13 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.0 प्रस्तावना

इस इकाई में हम आचार्य रामचन्द शुक्ल के इस कथन को सत्य पायेंगे–"एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है, जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप–रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटाकर एकत्त्व का अनुभव करने लगता है।" सूफी कविता पर आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त कथन पूरी तरह ठीक लगता है। भावुक मुसलमानों द्वारा प्रवर्तित 'प्रेम की पीर' की यह काव्य–परम्परा अपनी विकास प्रक्रिया के दौरान प्रत्येक उदार मानवीय एवं कवि हृदय को स्वयं ने स्थापित करती चली गई।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई में सूफी काव्य की पृष्ठभूमि सहित सूफी मत और सिद्धान्त के विधायक तत्त्वों की पहचान एवं स्वरूप का उल्लेख किया जायेगा। इसके साथ ही सूफी प्रेमाख्यान के स्वरूप, प्रेरणा, परम्परा, प्रवृत्तियों और वैशिष्ट्य को सामने लाया जायेगा। इसके बाद सूफी रहस्यवाद के स्वरूप व प्रदेय के साथ सूफी काव्य के वस्तु और शिल्प पक्ष की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए इस धारा के महत्त्व को स्पष्ट किया जायेगा।

5.2 सूफी शब्द का अर्थ

सूफी प्रेमाख्यानक काव्य–परम्परा में प्रयुक्त 'सूफी' शब्द के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग 'सूफी' शब्द का संबंध

सुफ्फा या सूफ से मानते हैं। उनके, अनुसार इसका अर्थ है– 'चबुतरा'। इसके मानने वालों का कहना है कि साऊदी अरब के एक पवित्र नगर मदीना की मस्जिद के सामने चबूतरे पर एकत्र होकर परमात्मा का चिंतन करने वाले संत ही सूफी कहलाए। 'सूफी' शब्द के विषयों में दूसरा मत है। उनके अनुसार यह शब्द 'सफ' से निकला है। इसका अर्थ है– सबसे आगे की पंक्ति या श्रेणी। इसका अभिप्राय कयामत के दिन ईश्वर के प्रियपात्र होने के कारण सबसे आगे की पंक्ति में खड़े किए जाने वाले व्यक्ति। इसी प्रकार अबू नम्र अल सर्राज, श्राउन आरबेरी तथा वलीउद्दीन का मानना है कि 'सूफी' शब्द 'सूफ' शब्द से ही बाहर आया है। इसका अर्थ है–ऊन। उनके अनुसार मोटे सफेद ऊन के कपड़े पहनकर परमात्मा के प्रेम में मगन रहने वाले फकीर ही सूफी कहलाए। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार–

'सूषी' एवं 'सूफी' शब्दों के बीच सीधा शब्दसाम्य दीखता है।.........ऐसे लोग अपने इस वस्त्रों के व्यवहार द्वारा अपना सादा जीवन तथा स्वेच्छा या द्रारिद्रय भी प्रदर्शित करते थे। ये लोग परमेश्वर की उपलब्धि को ही अपना एकमात्र ध्येय मानते थे। .... परमेश्वर के साथ निर्बाध मिलन और उसके प्रति सच्चे अनुराग में ही कालयायन करना उनके जीवन का सर्वोच्च आदर्श था और इसके अतिरिक्त सभी बातों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा करना उनके लिए स्वाभाविक–सा हो गया था।''

अबुल फिदा के अनुसार मोहम्मद साहब के समय में लगभग पैंतालीस (45) व्यक्तियों ने मक्का में ध्यान धारणा को ही जीवन समझ लिया था। पूजा–स्थल में बैठकर निरन्तर उपासना करने वाले ये व्यक्ति सूफी कहलाते हैं। सूफी शब्द की उत्पत्ति सूफ शब्द से हुई है जिससे यह ज्ञात होता है कि कयामत के दिन ये लोग सर्वप्रथम पंक्ति में होगे। सूफी शब्द का संबंध ऊनी वस्त्र पहनने वाले फकीरों से भी जोड़ा जाता है। अरब और इराक के वे व्यक्ति जो मोटा ऊनी वस्त्र धारण करते हैं और विरक्त सन्यासियों की तरह रहते हैं, सूफी कहलाते हैं।

5.3 सूफी मत और सिद्धान्त

सूफियों के सिद्धान्त एवं दर्शन किसी सम्प्रदाय विशेष या पूर्वाग्रह से निर्मित न होकर उनकी उदार मानवीय दृष्टि का ही प्रतिफलन थे। उनका मार्ग उदार प्रेममार्ग रहा–

''प्रेम प्रहार कठिन बिधि गढा। सोपै चढै जो सिर सौं चढ़ा॥
पंथ सूरि कर उठा अंकूरू। चोर चढ़े को चढ़ मंसूरू॥''

भारत में सूफीमत 1000 ई. के बाद इस्लाम धर्म के साथ ही आया। भारत में सूफीमत के चार सम्द्रदाय हैं–

1. चिती सम्प्रदाय (बारहवीं शताब्दी): यह सबसे अधिक प्रसिद्ध और लोकचर्चित सम्प्रदाय है। इसके प्रवर्त्तक ख्वाजा अबू इसहाक शामी चिश्ती थे। भारत में इसका प्रचार–प्रसार ख्याजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी ने किया।

2. सुहवर्दिया, सुहरवर्दी या सोहरावर्दी सम्प्रदाय (बारहवीं शताब्दी): इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक बहउद्दीन जकारिक कहे जाते हैं। इसके साधकों ने अपनी उदार दृष्टि से इसका प्रचार–प्रसार किया।

3. कादरी या कादिरिया सम्प्रदाय (पन्द्रहवीं शताब्दी): इस सम्प्रदाय के प्रर्क्तक अब्दुल कादिर अल–जीलानी थे। भारत में इसका प्रचार–प्रसार सैयद मुहम्मद गौस 'वाला पीर' ने किया। इस संप्रदाय में संगीत का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

4. नक्सबंदी या नक्श बंदिया सम्प्रदाय (पन्द्रहवीं शताब्दी): इस संप्रदाय को ख्वाजा बहाउद्दीन 'नक्शबन्द' ने आरम्भ किया। भारत में इसका प्रचार–प्रसार ख्वाजा बाकी बिल्ला बेरंग ने किया।

'सूफी' साधक चार जगत मानते हैं– 1. आलमे नासूत– भौतिकजगत, 2. आलमे मलकूत– चितजगत या आत्मजगत 3. आलमे जबरूत– आनंदमयजगत और 4. आलमे लाहत– सत्यजगत या ब्रह्मजगत।

सूफी 'साधक' की चार अवस्थाएँ हैं–

1. शरीअत– अर्थात् धर्मग्रन्थ के विधि निवेध का सम्यक् पालन।

2. तरीकत– अर्थात् बाहरी क्रिया–कलाप से परे होकर केवल हृदय की शुद्धता से भगवान् का ध्यान।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. हकीकत– अर्थात् भक्ति और उपासना के प्रभाव से सत्य का बोध होना।

4. मारफत– अर्थात् सिद्धावस्था।

राह 'हकीकत' परै न चूकी। पैठि 'मारफत' मार बुड़ूकी॥

कही 'सरीअत' चिस्ती पीरू। अधरित असरफ औ जाहाँगीरू॥

ईश्वर और जगत् के विषय में सूफियों के पाँच प्रकार के मत हैं–

1. ईश्वर जगत से परे होकर उसमें लीन है।

2. ईश्वर और जगत् समपरिणामस्वरूप हैं।

3. जगत् की ईश्वर से अलग कोई सत्ता नहीं है।

4. ईश्वर और जगत पृथक–पृथक वस्तुएँ हैं और ईश्वर जगत् से बाहर है।

5. ईश्वर तो जगत् में है और न जगत् से बाहर है।

उपर्युक्त अवस्थाओं, मतों एवं सिद्धान्तों पर विचार के बाद हम इस

5.4 प्रेमाख्यान का स्वरूप

सूफी काव्य अपनी अंतवर्ती विशेषताओं के कारण प्रेमाश्रयी, प्रेममार्गी, प्रेम–काव्य, प्रेमाख्यानक तथा कथा काव्य के नाम से जाना जाता है। इससे स्पष्ट है कि इस काव्यधारा की मूल चेतना प्रेम रही है। यहाँ प्रेमाख्यानक तथा कथा–काव्य को छोड़ अन्य नामों का अर्थ स्पष्ट है, अत: सूफी काव्य के सन्दर्भ में इन दो नामों पर विचार अपेक्षित है। यहाँ उल्लेखीय है कि प्रेमाख्यान का आख्यान तथा कथा–काव्य का कथा शब्द पर्याप्त रूप में प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दी साहित्य में यह शब्द प्राय: प्राचीन कथानक या वृत्तान्त के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके अन्य पर्याय रहे हैं– कथा, कथानक, आख्यायिका वृत्तान्त आदि। अपने व्यापक अर्थ में यह कहानी कथा के पर्याय हैं और इसका सीमित अर्थ है : ऐतिहासिक कथानक, पूर्ववृत्त कथन। (हिन्दी साहित्यकोश) जहाँ तक प्रेमाख्यानों के अर्थ एवं स्वरूप का प्रश्न है उसके संबंध में रामपूजन तिवारी जी के शब्दों में कहा जा सकता है कि "लोकप्रचलित कथाएँ ही इन काव्यों का आधार रही हैं। इन कहानियों के नायक ऐतिहासिक पुरुष भी हो सकते थे। वैसे इन कहानियों में ऐतिहासिक होना जरूरी नहीं था। कल्पना का सहारा लेकर उन प्रेमकहानियों को मांसल बनाया जाता था।... इन प्रेम कहानियों में प्रेमी और प्रेमिका के उत्कट प्रेम, उनके मिलन के मार्ग की बाधाएँ, मिलन का वर्णन बड़े रोचक ढंग से होता है।" भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यान की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद एवं महाभारत के अनेक आख्यान इस परंपरा के आदि स्रोत कहे जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में इस परंपरा ने बल पकड़ा। मध्यकाल में यह परंपरा तीन रूपों में दृष्टिगत होती है।

1. विषय और भाषा के स्तर पर पुरानी परंपरा से चले आते प्रेमाख्यान, जिनमें ऐहिक तत्त्वों पर अधिक बल दिया गया है।
2. सूफी साधकों द्वारा रचित प्रेमाख्यान।
3. दक्षिणी हिन्दी में रचित लौकिक एवं पारलौकिक प्रेम समन्वित आख्यान।

सूफी साधकों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों पर भारतीय आख्यान परंपरा के साथ–साथ फारसी की मसनवी शैली का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है। यह प्रभाव विषय–वस्तु एवं शिल्प दोनों स्तरों पर दिखाई देता है। इनमें भारतीय लोककथाओं एवं भारतीय काव्य की कथानक रूढ़ियों को आधार रूप में ग्रहण किया गया है। फारसी की मसनवी शैली के संयोग से इन प्रेमाख्यानकों में अभिव्यक्त प्रेम का स्वरूप परम्परागत काव्य से भिन्न एवं विशिष्ट हो गया है।

5.5 सूफी काव्य की मूल प्रेरणा

यह तो आप जानते हैं कि भारत में सूफी संप्रदाय का आगमन एवं विकास मुस्लिम, साधकों द्वारा ही हुआ। इसका लक्ष्य करके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यह कहा कि शैली की प्रमुख कहानियाँ मुसलमानों के ही द्वारा लिखी गई। इन भावुक और उदार मुसलमानों ने इसके द्वारा मानो हिन्दू जीवन के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की। यदि मुसलमान हिन्दी और हिन्दू साहित्य से दूर न भागते, इनके अध्ययन का क्रम जारी रखते, तो उनमें हिन्दुओं के प्रति सद्भाव की वह कमी न रह जाती जो कभी-कभी दिखाई पड़ती है।

मुसलमान होने के बावजूद सूफी कवियों की दृष्टि मानवतावादी उदार दृष्टि थी। वे मानुष सत्य का उद्घाटन करना चाहते थे। इस सत्य की अभिव्यक्ति में जो दर्शन उनका सहायक हो सकता था, उसे सूफी प्रेमाख्यानकारों ने बड़े आदर भाव से ग्रहण किया। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने जायसी की कविता पर विचार करते हुए लिखा है- ''जायसी के संदर्भ में यह बात फिर उभर कर आती है कि कविता मात्र सांप्रदायिक नहीं होती। मुसलमान होकर हिन्दू शौर्य की गाथा- दिल्ली के सुल्तान के विरुद्ध -एक नाजुक प्रसंग है। पर जायसी 'पद्मावत' के चित्रण में एकदम खरे उतरते हैं। यहाँ दोनों पक्षों का पूरे आदर और आत्मीयता से उल्लेख हुआ है- 'हिन्दू तुरुक दुवौ रन गाजे' और अगर आत्मीयता कहीं कुछ अधिक है तो चित्तौड़ के साथ, न कि दिल्ली के।''

स्पष्ट है कि सूफी साधकों की मूल दृष्टि संप्रदाय-सापेक्ष न होकर मूल्य-सापेक्ष रही। ये मूल्य समय सापेक्ष होने के साथ-साथ सार्वभौम भी थे। इसी कारण सूफी कविता अपने प्रभाव में कालजयी कविता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने समय संदर्भ में इस के कविता के महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहा है- ''मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मग्न होने और मग्न करने का समय आ गया था। ..... ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्यक्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिन्दुओं के घर की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने दिखला दिया कि एक गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता था।''

5.6 सूफी प्रेमाख्यान काव्य-परंपरा

मनुष्यता के सामान्य-स्वरूप को लेकर अग्रसर होने वाली सूफी काव्य परंपरा अत्यंत समृद्ध रही है। मालिक मुहम्मद 'जायसी' का पद्मावत इसी परम्परा का उत्कृष्ट ग्रंथ है। जायसी के इस ग्रंथ में सूफी काव्य परंपरा की सभी विशेषताएँ साथ दिखाई पड़ती हैं। इस ग्रन्थ की उत्कृष्टता एवं विषय तथा शैली इस बात की ओर संकेत करते हैं कि जायसी से पूर्व ही यह परंपरा प्रारंभ हो गई थी। जायसी में इस परंपरा का चरम रूप दिखाई पड़ता है। जायसी के पश्चात् भी सूफी प्रेमाख्यान काव्य की यह परंपरा निरंतर प्रवहमान रही। इस काव्य परंपरा के सिरमौर कवि जायसी को आधार बनाकर प्रेमाख्यान काव्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

1. जायसी पूर्व प्रेमाख्यान काव्य
2. जायसी उत्तर प्रेमाख्यान काव्य

1. जायसी पूर्व प्रेमाख्यान काव्य : जायसी के पूर्व प्रेमाख्यान काव्यों की पुष्टि जायसी का पद्मावत कर देता है। जिसमें कवि ने स्पष्ट रूप से अपनी पूर्ववर्ती परंपरा का उल्लेख किया है-

''विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
मधूपाछ मुगुधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधु कुँवर खंडरावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लगि अनिरुध वर बाँधा॥''

इस सूची में गिनायी गई प्रेमाख्यान रचनाओं में केवल मृगावती और मधुमालती ही प्राप्त हो सकी हैं। जायसी के छंद में कुछ नाम छूट गए हैं। इस परंपरा में मुल्ला दाऊद की **चंदायन** या नूरकंचदा, दामो कवि की **लक्ष्मण सेन पद्मावती,** शेख रिजकुल्ला मुश्ताकी की रचना **प्रेमवनजोब निरंजन,** नारायणदास (रतनरंग) की **छिताईवार्ता** ईश्वरदास विरचित **सत्यवती कथा** महत्त्वपूर्ण हैं।

2. जायसी के उत्तरवर्ती प्रेमाख्यान काव्य : जायसी के बाद भी प्रेमगाथाओं की यह परंपरा गतिमान रही। इस परंपरा को आगे बढ़ाने वाले कवि, उनकी रचनाएँ तथा उनका रचनाकाल इस प्रकार कहा गया है :

रचयिता	रचना	रचनाकाल
मंझन	मधुमालती	संवत् 1602
उसमान	चित्रावली	संवत् 1670
शेखनबी	ज्ञानद्वीप	संवत् 1676
न्यामत खां जान	कनकावति	संवत् 1675
	कामलता	संवत् 1678
	मधुकर मालति	संवत् 1691
	कथा रत्नावति	संवत् 1691
	छीता	संवत् 1693
कासिमशाह	हंसजवाहिर	संवत् 1793
नूर मुहम्मद	इंद्रावति	संवत् 1801
	अनुराग बाँसुरी	संवत् 1821
निसार	यूसुफ जुलेखा	संवत् 1847
ख्वाजा अहमद	नूरजहाँ	संवत् 1962
शेख रहीम	प्रेमरस	संवत् 1972
कवि नसीर	प्रेमदर्पण	संवत् 1974

सूफी काव्य परंपरा का उद्घाटन करने के उपरांत अब हम इस परंपरा के महत्त्वपूर्ण कवियों एवं उनकी रचनाओं पर संक्षेप में विचार करेंगे, जिससे परंपरा को समग्र रूप से ग्रहण करने में सुविधा हो।

1. मुल्ला दाऊद- मुल्ला दाऊदा या मौलाना दाऊद की रचना 'चंदायन' से सूफी प्रेमाख्यान काव्य परंपरा का आरंभ माना जाता है। यह लोर या लोरिक तथा चन्दा की प्रेमकथा है। विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें भारतीय प्रेमाख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों का निरुपण हुआ है। इसमें भी सूफी रचनाओं के समान लोक प्रचलित विश्वासों के साथ-साथ परमतत्व से प्रेम की व्यंजना की गई है। चंदायन के छंद से एक दोहा उद्धृत है :

''पियर पात जस बन जर, रहेऊँ काँप कुँभलाई।
विरह पवन जो डोलेउ, टूट परेऊँ घहराई॥''

2. कुतुबन : चौपाई-दोहे के क्रम में कुतुबन ने 'मृगावती' की रचना 909 हिजरी (संवत् 1558) में की। इसमें चंद्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेमकथा का वर्णन है। इस कहानी के माध्यम से कवि ने प्रेममार्गी के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच-बीच में सूफियों की शैली पर बड़े सुन्दर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास हैं। ग्रंथ की परिणति शांत रस में दिखाई गई है :

रुकमिनी पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंति सत सों सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
बिधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥

3. मंझन : मझन की रचना का नाम 'मधुमालती' (संवत् 1545) है। मधुमालती नाम की अन्य रचनाओं का भी पता चलता है। लेकिन मंझन कृत मधुमालती जायसी के पद्मावत के पाँच वर्ष बाद रची गई। जायसी ने अपने पूर्ववर्ती सूफी प्रेमाख्यानक ग्रंथों का उल्लेख

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करते हुए जिस मधुमालती का नाम लिया है, वह मंझन की रची हुई नहीं है। इस ग्रंथ में कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र राजकुमार मनोहर का महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के साथ प्रेम और पारस्परिक वियोग की कथा है। इस रचना में विरह-कथा के साथ आध्यात्मिक तथ्यों का निरुपण सुंदर ढंग से किया गया है।

4. मलिक मुहम्मद 'जायसी' : जायसी सूफी साधकों एवं कवियों के सिरमौर हैं। प्रेममार्गी कवियों के इस प्रतिनिधि कवि की रचना-पद्मावत सन् 927 हिजरी (सन् 1520 ई.) में मानी गयी है-

''सन् नौ सै सत्ताइस अहा। कथा आरंभ बैन कवि कहा।''

आचार्य शुक्ल ने इस कृति के संबंध में लिखा- ''जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है 'पद्मावत', जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष में, क्या अध्यात्म पक्ष में दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।'' इस कृति में राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की पद्मावती के प्रेम का वर्णन किया गया है। प्रेमगाथा परंपरा की इस प्रौढ़ में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय देखते ही बनता है।

5. उसमान : उसमान कवि की 'चित्रावली' सन् 1613 ई. में लिखी गई थी। इसका कथानक कल्पाश्रित है। इसमें नेपाल के राजकुमार सुजान के चित्रावली के साथ विवाह का वर्णन अत्यन्त सरस रूप में हुआ है। रचनाकार अपने रचनाविधान में जायसी से प्रभावित रहा है। इसमें सूफी और सूफी प्रेमाख्यान इतर काव्य की परंपराओं और काव्य-रूढ़ियों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

5.7 भाव व्यंजना तथा रस निरूपण

साहित्य की प्रत्येक विद्या अपने समय और रचनाकार की आपसी टकराहट से विषय-वस्तु ग्रहण करती है। सूफी कविता फिर इसका अपवाद कैसे हो सकती है? सूफी कवियों के आख्यानों में उनकी रचना-दृष्टि और समय की आवश्यकता दोनों मौजूद हैं। इसका परिणाम यह है कि उस युग का जीवन प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं में अपने वैविध्य के साथ चित्रित है। रति, शोक, उत्साह, भय, वीभत्स, हास, ईर्ष्या, उत्सुकता, सहानुभूति, विवशता आदि जीवन के प्रमुख भाव, प्रेमाख्यानों में संदर्भ-सापेक्ष होने के कारण जीवंत बन पड़े हैं। पर इस सबंध में मतभेद नहीं हो सकता कि इस कविता का बीज-भाव ऐहिक एवं पारलौकिक प्रेम है। प्रेम की शक्ति जीवन के तमाम भावों में सर्वोपरि है। सूफी कविता का प्रेम-तत्व भी अन्य भावों को ढक लेता है-

''प्रीति बेलि जिन अरुझै कोई। अरुझै, मुए न छुटै सोई।
प्रीति बेलि ऐसै तन डाढा। पलुहत सुख, बाढ़त दुख बाढ़ा॥
प्रीति अकेलि बेलि चढ़ि आवा। दूसर बेलि न सँचरै पावा।''

इस काव्य-धारा का अपर नाम 'प्रेमाश्रयी' या 'प्रेमाख्यानक' काव्य-परंपरा इस काव्यधारा की मूल विषय-वस्तु 'प्रेम' की ओर संकेत करता है। काव्यशास्त्र की शब्दावली में इसे श्रृंगार कहा जा सकता है। इनका प्रणय भाव इनकी साधना पद्धति के परिप्रेक्ष्य में ही अभिव्यक्ति पाता है। लोक जीवन की प्रेमकथा को आधार बनाकर ये इश्क हकीकी के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करना चाहते थे। ईश्वर, जगत, ईश्वर और जगत के पारस्परिक संबंध, मनुष्य तथा साधना को विविधि अवस्थाओं के निरूपण द्वारा ये अपने चरम लक्ष्य- ईश्वर प्रेम के विविध सोपानों को ही उजागर करते हैं। प्रेम के संयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग पक्ष की प्रधानता इनके यहाँ दिखाई पड़ती है। इस माध्यम से यह ईश्वर से मिलन-संयोग के विविध सोपानों के वर्णन का मार्ग निकाल लेते हैं। वास्तव में सूफी रचनाकारों की प्रणय भावना साहस संघर्ष की भावना से परिचालित रही है। इनके यहाँ न सामाजिक रूढ़ियों का बंधन स्वीकार्य है न शास्त्र का अनावश्यक हस्तक्षेप।

सूफी कवियों ने नायिका को अलौकिक शक्ति का प्रतीक मानकर उसमें अनुपम सौंदर्य का विधान किया है। सौंदर्य निरूपण में इन्होंने शरीर और मन दोनों के सौंदर्य का चित्रण किया है। नख-शिख, रूप-रंग, हाव-भाव के वर्णन के साथ कला-विशारदता, विदग्धता आदि का भी समावेश किया है। सूफी प्रेमाख्यानों के नायक अनेक बाधाओं को झेलकर भी निरंतर लक्ष्य की ओर बढ़ते चलते हैं। इस प्रणय भावना के स्वरूप को उद्घाटित करते हुए डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने लिखा है-''इन आख्यानों के नायकों की प्रणय भावना, साहस, संघर्ष, शौर्य, आत्मत्याग आदि से युक्त होकर एक ऐसा रूप प्राप्त कर लेती है जिसमें वासना, स्वार्थ, अहंकार का लोप हो जाता है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विरह–दशा की प्रधानता के माध्यम से ये जीवन के क्षुद्र–स्वार्थों से उत्पन्न खाई को पाटना चाहते थे। जायसी के यहाँ रानी नागमती का तमाम अहंकार बियोग के दौरान खंड–खंड हो जाता है और कोमल मानवीय भावनाएँ अपने वास्तविक रूप में प्रकट होती दिखाई पड़ती हैं।

सूफी कवियों की इस भाव–निरूपण प्रकृति का अवलोकन करने पर कहा जा सकता है कि इनकी रचनाएँ **कथारूपक** श्रेणी में आती है। सांसारिक व्यक्तियों की प्रेम चर्चा द्वारा इश्क हकीकी के सिद्धान्त का प्रतिपादन, करना इनका लक्ष्य रहा है। इनमें प्रेम–मार्ग की बाधाओं के निरूपण के माध्यम से साधक के साधना–मार्ग की ओर संकेत किया गया है। सूफियों के यहाँ सौंदर्य को प्रेम के उद्रेक का मूल कारण बताया गया है।

प्रेमारंभ का मूल कारण, नायिका का अनुपम रूप–सौंदर्य- 'खुदा के नूर' की ओर संकेत करता है। प्रेम के इस विशिष्ट प्रेम–स्वरूप के माध्यम से इन्होंने लौकिक के साथ लोकोत्तर, अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है। पद्मावती और नागमती के विवाद में जो 'असूया' का भाव प्रकट होता है, वह स्त्री–भाव चित्रण की दृष्टि से चित्रित है। वह प्रेम के लौकिक स्वरूप के अंतर्गत है।

5.7.1 प्रेम–पद्धति – आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने दाम्पत्य–प्रेम की चार पद्धतियाँ कही है–(क) पहले प्रकार का प्रेम आदिकाव्य रामायण में लिखा गया है। इसका विकास विवाह संबंध हो जाने के बाद और पूर्ण उत्कर्ष, जीवन की विकट स्थितियों में दिखाई पड़ता है। (ख) दूसरे प्रकार का प्रेम विवाह के पूर्व का होता है, विवाह जिसका फल होता है। इसमें नायक–नायिका संसार क्षेत्र में घूमते फिरते हुए कहीं–जैसे उपवन, नदीतट, वीथी इत्यादि में- एक दूसरे को देख मोहित होते हैं और दोनों में प्रीति हो जाती है। (ग) तीसरे प्रकार के प्रेम का उदय प्राय: राजाओं के अंतपुर, उद्यान आदि के भीतर भोगविलास या रंग रहस्य के रूप में दिखाया जाता है। जिसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास, परिहास और राजाओं की स्त्रैणता का दृश्य होता है। (घ) चौथे प्रकार का वह प्रेम है जो गुण, श्रवण, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन आदि से बैठे बिठाए उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को संयोग के लिए प्रयत्नवान करता है। सूफियों के यहाँ प्रेम–पद्धति का चौथा रूप दिखाई देता है। फारसी की प्रेम पद्धति से प्रभावित सूफी कवियों का यह प्रेम अभिनव रूप में दिखाई देता है। सूफी प्रेमाख्यानकारों ने भारतीय और विदेशी प्रेम पद्धतियों को मिलाकर प्रेम का आदर्श रूप स्थापित किया है। फारस के प्रेम में नायक के प्रेम का वेग अधिक तीव्र दिखाई पड़ता है और भारत के प्रेम में नायिका के प्रेम का। जायसी ने आगे चलकर नायक और नायिका दोनों के प्रेम की तीव्रता समान करके दोनों आदर्शों का एक में मेल कर दिया है। इतना ही नहीं फारसी की मसनवियों, लोकबाह्य और आदर्शात्मक प्रेम को इन्होंने भारतीय प्रेम पद्धति के लोकसंबद्ध और व्यवहारात्मक रूप में संबद्ध किया। इनका प्रेम काम, सौंदर्य और प्रणय की भावना से युक्त रहा। प्रेम की परिणति भाव रूप में दिखाई गई है। रूप–लोभी अलाउद्दीन की समझ में यह बात अन्तत: आ ही जाती है कि :–

''मानुष पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं तो ब्याह छार इक मूठी॥''

5.7.2 चरित्र–चित्रण – सूफी प्रेमाख्यानों में उपलब्ध पात्रों को उनकी प्रकृति के आधार पर विविध भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) मानवीय पात्र तथा अमानवीय पात्र

(2) मुख्य पात्र, गौण पात्र तथा अनावश्यक पात्र।

(3) ऐतिहासिक पात्र तथा काल्पनिक पात्र।

मानवीय श्रेणी के पात्रों में राजकुमार, राजकुमारी तथा उनसे संबधित अन्य पात्र आते हैं। मानवीय चरित्र की तमाम विशेषताओं से यह पात्र युक्त दिखाई पड़ते हैं। नागमती और पद्मावती के विवाद में स्त्री सुलभ असूया भाव का, नागमती के विरह में भारत की मध्यकालीन नारी और उसके भावों का प्रकाशन हुआ है। प्रेमाख्यानों में कथारूपक के निर्वाह के लिए नायक को नायिका की अपेक्षा अधिक अधीर दिखाया गया है। पं. परशुराम चतुर्वेदी ने सूफी कवियों के प्रबंधों में चरित्र–चित्रण के विषय में लिखा है– ''सूफी–प्रेम गाथा के कवियों को जब अपनी कथा–वस्तु के घटना–प्रवाह में डालकर किसी पात्र को अंत तक निबाह ले जाने की आवश्यकता पड़ती है, तब उन्हें केवल इसी बात की चिंता नहीं रहा करती कि उनका स्वरूप किसी परिस्थिति–विशेष के अनुकूल गढ़ता जा रहा है या नहीं। उन्हें इस बात को देखते रहने के लिए भी जागरूक बनना पड़ता है कि वह अंत में जाकर हमारे आदर्शों के अनुरूप ही उतर सकेगा।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परिवेश की संदर्भ–सापेक्षता का बोध सूफी कवियों को था यही कारण है उनके मानवीय–चरित्र भारतीय परिवेश की उपज प्रतीत होते हैं। फारसी प्रेमाख्यानों से भारतीय प्रेमाख्यानों के चरित्र की भिन्नता एवं विशिष्टता को लक्ष्य करते हुए कहा गया है कि फारसी प्रेमाख्यानों में प्राय: नायक एकपत्नीव्रतधारी तथा नायिका प्रेमी के अनन्तर पति को स्वीकार करने वाली दिखाई जाती है। हिन्दी प्रेमाख्यानों में नायक के प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रतिनायक का अस्तित्व प्राय: नहीं है– नायक का विरोध प्राय: नायिका के पिता या संरक्षक के द्वारा ही होता है, अत: फारसी–मसनवियों की भांति इनमें प्रेम का त्रिकोण उपस्थित नहीं होता।

मानवेतर प्राणियों के वर्ग में असुर, राक्षस, बैताल, हंस, तोता, अप्सराएँ, परियाँ आदि आते हैं। ये पात्र स्थिति विशेष को आगे बढ़ाने में सहायक की भूमिका निभाते हैं। ये पात्र एक तरह की प्रतीकात्मक भूमिका लिए रहते हैं। असुर राक्षस, क्रूर, तोता तथा हंस विद्वान और अप्सरा या परी सहृदय रूप में चित्रित हुए हैं।

मुख्य पात्र ऐतिहासिक एवं काल्पनिक दोनों प्रकार के रहे हैं। नायक–नायिकादि यदि ऐतिहासिक पात्र हैं तो कतिपय काल्पनिक पात्रों की योजना भी कथा–विधान के अंतर्गत की गई है। काल्पनिक पात्रों के अंतर्गत देव, परी, परेवा आदि गौण पात्र के रूप में आते हैं। जायसी के पद्मावत का हीरामन तोता ऐतिहासिक पात्र नहीं पर कथा–प्रसंग में उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। वह गुरू सूआ जेई पंथ देखावा की भूमिका में आकर पूरे कथा–विधान के संचालक की भूमिका का ग्रहण कर लेता है।

सूफी प्रेमगाथाओं में लोक और शिष्ट, कल्पना और इतिहास का सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ता है ''सूफी प्रेम–गाथा के कवियों को जहाँ ऐतिहासिक घटनाओं का आधार लेना पड़ा है, इसके लिए उन्होंने भरसक ऐतिहासिक पात्रों की ही अवतारणा की है, वहाँ परिस्थिति–विशेष को सँभालने के लिए उन्हें कुछ काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि करनी पड़ी है, जिन्हें उन्होंने प्रसंगानुसार उपस्थित कर अपनी कहानी में खपा दिया है।'' (सूफी काव्य–संग्रह– पं. परशुराम चतुर्वेदी)।

पद्मावत में कल्पना और इतिहास की स्थिति और उससे निर्मित पात्रों की स्थिति को उद्घाटित करते हुए डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है– ''जायसी ने अपने कथानक का विधान इस तरह किया है कि पूर्वार्द्ध लोक–कथा के रूप में काल्पनिक वृत्त है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक बनावट लिए हुए है। ये दो अलग–अलग संसार है और इनकी विश्वसनीयता की अलग–अलग शर्तें हैं। लोक कथा की रंगत लिए पूर्वार्द्ध में अनेक अतिप्राकृत चरित्र और घटनाएँ हैं– देवी, देवता, राक्षस, मनुष्य की बोली बोलने वाला तोता, सिद्धि गुटिका आदि। उत्तरार्द्ध में ये अतिप्राकृत तत्व एकदम अनुपस्थित हैं, उनका कहीं कोई उल्लेख नहीं होता।'' स्पष्ट है कि चरित्र चाहे वे किसी भी पाकृति के रहे हों, संदर्भ की माँग के अनुरूप हैं। सूफी कवियों के पात्रों के चरित्र–चित्रण का अवलोकन करने के उपरान्त कहा जा सकता है कि यहाँ पात्र कथा–रूपक निर्वाह के अनुरोध के स्वरूप ग्रहण करते हैं। वे स्वतन्त्र रूप में गतिशील न होकर प्राय: स्थिर और रूढ़िबद्ध रूप में ही कथानक के अनुरूप प्राय: पूर्वनियत भूमिकाओं का निर्वाह करते दिखाई पड़ते हैं।

5.8 सूफी रहस्यवाद

ज्ञान के क्षेत्र का अद्वैतवाद, भावना के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कहलाता है। रहस्यवाद अपनी प्रकृति से दो प्रकार का होता है–

(1) साधनात्मक रहस्यवाद,

(2) भावनात्मक रहस्यवाद।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार ''हमारे यहाँ का योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है। यह अनेक अप्राकृतिक और जटिल अभ्यासों द्वारा मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार कराने तथा साधक को अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कराने की आशा देता है। तंत्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद हैं, पर निम्न कोटि के। भावनात्मक रहस्यवाद की भी कई श्रेणियाँ है, जैसे भूत–प्रेम की सत्ता मानकर चलने वाली भावना स्थूल रहस्यवाद के अंतर्गत होगी। अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलने वाली भावना से सूक्ष्म और उच्च कोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है।''

भारतीय भक्ति का सामान्य स्वरूप रहस्यमय नहीं। यही कारण है कि यहाँ भक्ति के क्षेत्र में रहस्यधर्मी माधुर्य भाव का अधिक प्रचार नहीं हुआ। पर सूफियों के यहाँ रहस्यात्मक माधुर्य भाव व्यापक स्तर पर दिखाई पड़ता है। इन्हीं के प्रभाव से सगुण भक्तिधारा की कृष्णाश्रयी शाखा में इस भाव को स्वीकृति मिली। सूफियों के इस रहस्यात्मक भक्ति मार्ग की कतिपय रूढ़ियाँ रही है, सूफी प्रेमाख्यान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परंपरा में इन रूढ़ियों का विस्तार दिखाई पड़ता है। हाल की दशा में आकर मूर्च्छित होना, मद, प्याला, उन्माद तथा प्रियतम ईश्वर के विरह की दूरारूढ़ व्यंजना भी सूफियों की बँधी हुई परंपरा है। सूफियों के इस रहस्यवाद ने निर्गुण संतों को भी व्यापक स्तर पर प्रभावित किया।

जिस प्रकार सूफियों के प्रभाव से भारतीय भक्ति साहित्य के रचनाकार प्रभावित हुए थे, उसी प्रकार सूफी भी यहाँ के साधनात्मक-रहस्यवाद से प्रभावित हुए। आचार्य शुक्ल ने इस प्रभाव को रेखांकित करते हुए लिखा भी है कि ''जिस समय सूफी यहाँ आए उस समय उन्हें रहस्य की प्रवृत्ति, हठयोगियों, रसायनियों और तांत्रिकों में ही दिखाई पड़ी। हठयोग की तो अधिकांश बातों का समावेश उन्होंने अपने साधना-पद्धति में कर लिया।''

इस प्रकार रहस्यवाद सूफियों के यहाँ अपने संपूर्ण रूप में दिखाई देता है। इस क्षेत्र में सूफी कवियों के प्रदेय को विशेषतः जायसी के प्रदेय को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्वीकार किया है- ''हिन्दी कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही ऊँची कोटि की है। वे सूफियों की भक्ति भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत् के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरूष' के समागम के हेतु प्रकृति के श्रृंगार, उत्कंठा या विरह विकलता के रूप में अनुभव करते हैं।'' (जायसी ग्रंथावली)

5.9 काव्य रूप तथा कथानक रूढ़ियाँ

काव्य के दो प्रधान रूपों में से सूफी प्रेमाख्यानों की रचना प्रबंध रूप में की गई है। प्रबंध काव्य के किस रूप के अन्तर्गत इन्हें रखा जाए, यह समस्या आलोचकों के सामने आती है। इन्हें कभी फारसी प्रबंध (मसनवियों) के अन्तर्गत रखा गया है तो कभी भारतीय कथा-काव्य की परंपरा में। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका सबंध फारसी की मसनवियों से माना है। उनका अभिमत है- ''इन प्रेमागाथाओं में पहली बात ध्यान देने की यह है कि उनकी रचना भारतीय चरितकाव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है, जिसमें कथा, सर्गो या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होता, बराबर चली चलती है, केवल स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक के रूप में रहता है। मसनवी के लिए साहित्यिक नियम तो केवल इतना ही समझा जाता है कि सारा काव्य एक ही मसनवी छंद में हो पर परंपरा के अनुसार उसमें कथारंभ के पहले ईश्वरस्तुति, पैगंबर की वंदना और उस समय के राजा (शाहे वक्त) की प्रशंसा होनी चाहिए। ये बातें पद्मावत, इंद्रावत, मृगावती इत्यादि सबमें पाई जाती हैं।''

यहाँ उल्लेखनीय है कि भाषाशैली और संस्कृति का आपसी संबंध बड़ा गहरा होता है। उदार सूफी साधक लोक जीवन की कथा को आधार बनाकर अपने मूल विषय-मानवीय प्रेम- को प्रतिपादित करना चाहते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए हिन्दू घरानों की कहानियों को फारसी की काव्य शैली में ढाला। सूफी साधकों की उदार-दृष्टि काव्य-रूप के चयन में भी इसी उद्देश्य से परिचालित होती जान पड़ती है। सिद्धान्त, मत, कथानक रूढ़ियों के संदर्भ में उन्होंने भारतीय- अभारतीय तत्वों की जो मिलावट की है, वह प्रयोजन-सापेक्ष थी।

आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त कथन प्रेमाख्यानों की विस्तृत परंपरा पर समान रूप से लागू नहीं होता- ''कुछ रचनाओं के स्तुति-खंड में ही इस प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा मसनवी काव्य के अन्य लक्षण जैसे पूरे काव्य का एक ही छंद में लिख जाना, कथा का सर्गों या खंडों में विभक्त न होना आदि इन प्रेमाख्यानों में नहीं मिलते, अत: इन्हें काव्य-रूप की दृष्टि से 'मसनवी' कहना कठिन है।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं.) डॉ. नगेन्द्र) आचार्य शुक्ल जिस शैली को मसनवी कहते हैं, उस शैली के विषय में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह अभिमत है ''इस शैली के पीछे देसी लोक-गाथाओं का संस्कार भी देखा जा सकता है, जिनमें शास्त्रीय दृष्टि का कोई विभाजन नहीं, कथा लगातार चलती है।''

अब प्रश्न उठता है कि यदि सूफी प्रेमाख्यान मसनवी नहीं है, तो क्या है? मसनवी के अतिरिक्त सूफी प्रेमाख्यानों को महाकाव्य, रोमांचक आख्यान या कथा-काव्य कहा गया है। यहाँ यह उल्लेखीय है कि ''कथा-काव्य एवं महाकाव्य दोनों ही प्रबंधात्मक होते हैं तथा उनके अनेक बाह्य लक्षणों में समानता भी संभव है, किन्तु दोनों की आधारभूत चेतना, उनके लक्ष्य व प्रयोजन में इतना गहरा अंतर है कि एक को दूसरे की कसौटी पर परखना अनुचित होगा। महाकाव्य के मूल में प्राय: आदर्शपरक (मर्यादावादी) चेतना होती है, जो किसी महत् पात्र या महान्-पुरुष के चरित्र का अवतरण करती हुई उदात्त संदेश की व्यंजना करती है, जबकि कथा-काव्य की मूल चेतना स्वच्छंदतापरक होती है, उसमें आदर्श की स्थापना की अपेक्षा सौंदर्य प्रेम की अभिव्यंजना का तथा लोक-मंगल की अपेक्षा लोक-रंजन का लक्ष्य अधिक रहता है।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास-(सं.)(डॉ. नगेन्द्र)।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संस्कृत आचार्यों द्वारा कथा-काव्य के जो लक्षण दिए गए हैं, उनके आधार पर सूफी प्रेमाख्यान कथा-काव्य या रोमांच काव्य ही प्रतीत होते हैं- कारण, कथा-काव्य की अधिकांश रूढ़ियाँ इनमें लक्षित होती है।

कथा-काव्य की रूढ़ियाँ निम्नलिखित है :

1. कथारंभ में देवता गुरु की वन्दना, ग्रंथकार का स्व: परिचय।

2. कथा- प्रयोजन का उल्लेख।

3. रचना का प्रतिपाद्य, प्रेयसी की प्राप्ति।

4. समकालीन शासक का उल्लेख, बीच-बीच में धार्मिक नैतिक तत्वों का समायोजन, लोक शैली के अनिवार्य अंगों- लम्बे और सिलसिलेवार वस्तु वर्णन का समावेश, कथा का समापन शान्त रस में, चौपाइयों के बीच-बीच में दोहे का प्रयोग तथा कथा को खंड में विभक्त करना।

ये उपर्युक्त रूढ़ियाँ सूफी प्रेमाख्यानों के अंतर्वर्ती तत्व हैं। अत: इस आधार पर कहा जा सकता है कि सूफी-प्रेमाख्यान अपनी मूल चेतना के आधार से कथा-काव्य या रोमांचक आख्यान हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों ने प्राय: उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परंपरा से भारतीय कथाओं में व्यक्त होती रही हैं, जैसे- चित्र दर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मंदिर या चित्रशाला में प्रिययुगल का मिलन होना, इत्यादि। कुछ नई कथानक-रूढ़ियाँ ईरान साहित्य से आ गई हैं, जैसे प्रेम व्यापार में पारियों और देवों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियाँ, राजकुमारी का प्रेमी को गिरफ्तार करा लेना इत्यादि। परन्तु इन नई कथानक शैलियों को भी कवियों ने पूर्ण रूप से भारतीय वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है।

5.10 काव्य-शैली

सूफी प्रेमाख्यान कवियों ने विविध काव्य-शैलियों का संदर्भगत और विषयानुरूप प्रयोग किया है। लोक-रंगत के कारण वस्तु-वर्णन प्राय: इतिवृत्तात्मक, **अभिधापरक शैली** में किए गए हैं। लोक जीवन के विविध रूपों में अत्युक्ति, अतिशयोक्ति आदि का भी यथासंभव सुंदर प्रयोग किया गया है। मुख्यत: प्रकृति, नारी सौंदर्य, विरह-वेदना के प्रसंगों में इस शैली का उपयोग किया गया है।

सूफी काव्य में प्रयुक्त दूसरी शैली प्रतीकात्मक है। लौकिक प्रेम-व्यापारों के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना करने वाले ये आख्यान काव्य अपनी प्रकृति से कथा-रूपक हैं। सभी आख्यानों के ऐतिहासिक, काल्पनिक पात्र प्रतीकात्मक भूमिका में सामने आते हैं। अलाउद्दीन, रत्नसेन, पद्मावती, हीरामन तोता, नागमती के अपने-अपने प्रतीकार्थ है :

''सिंघल दीप पदुमिनी रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनी।
अलाउद्दीन दिल्ली सुलतान। राधौ चेतन कीन्ह बखान॥
सुना सहि गढ़ छेंका आई। हिन्दु तुरकन भई लराई।
आदि अंत जसि कथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै॥''

सूफी जन-मानस के कवि हैं। अत: जन-मानस की लौकिक-पारलौकिक आकांक्षाएँ उनके साहित्य में यथास्थान अभिव्यक्त हुई हैं। इसलिए उन्होंने अन्योक्ति, समासोक्ति का माध्यम ग्रहण किया। प्रस्तुत के माध्यम से अप्रत्यक्ष का संकेत या प्रस्तुत के साथ-साथ अप्रस्तुत का संकेत इनके यहाँ दिखाई पड़ता है-

सांसारिक जीवन की क्षण भंगुरता, अत: उसका पूर्ण भोग, (द्वन्द्वों से ऊपर उठकर) जीवन खेल-खेलना और लोकोत्तर ईश्वर तत्व की ओर बढ़ना पद्मावत की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है :

''ए रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी॥
जब लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौ खेलहु आजु॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पुनि सासुर हम गौनब कालि। कित हम कित यह सरवर पालि॥'' (पद्‌मावत- मानसंरोदक खंड)

5.11 काव्य-भाषा, अलंकार एवं छंद-विधान

अधिकांश सूफी कवि देश के पूर्वी भागों के निवासी थे, अत: इनकी काव्य भाषा अवधि रही। अवधी का लोक-प्रचलित सरल एवं सरस रूप ही इनके यहाँ प्रयोग में लाया गया है पर भाषा पर अधिकार प्रतिनिधि कवियों के यहाँ ही दिखाई देता है। पं. परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार- ''सूफी प्रेम-गाथा के कवियों का भाषा पर पूरा अधिकाश सर्वत्र नहीं लक्षित होता। जायसी, जान कवि, उसमान और नर मुहम्मद इस विषय में अधिकांश सफल जान पड़ते हैं। जायसी द्वारा किया गया शुद्ध और मुहावरेदार अवधी का प्रयोग तथा नूर मुहम्मद का संस्कृत शब्द-भंडार पर अधिकार विशेष रूप से उल्लेखनीय है।'' जायसी की भाषा का वैशिष्ट्य परंपरा के अन्य कवियों के लिए अनुकरणीय रहा है। अवधी का निजी मिजाज इनकी भाषा में हर कदम पर देखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने जायसी की भाषा के संबंध में लिखा है- ''जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला है। वह माधुर्य 'भाषा' का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। वह संस्कृत की कोमलकांत पदावली पर अवलंबित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है, मंजु 'अमंद' आदि की चाशनी उसमें नहीं है। जायसी की भाषा और तुलसी की भाषा में यह बड़ा भारी अंतर है। जायसी की पहुंच अवध में प्रचलित लोकभाषा के भीतर बहते हुए माधुर्य स्रोत तक ही थी... अवधी की खालिस, बेमेल मिठास के लिए 'पद्‌मावत' का नाम बराबर लिया जाएगा।'' इस परंपरा में कतिपय आख्यान राजस्थानी एवं ब्रजभाषा में भी लिखे गए। हंसावली, लखनसेन पद्‌मावती कथा, माधवानलकामकंदला, ढोला मारूरा दूहा आदि राजस्थानी में तथा नंददास की 'रूपमंजरी' और जान कवि के प्रेमाख्यान ब्रजभाषा में रचे गए हैं। लोकप्रचलित देशज एवं विदेशी शब्द भी इनके यहाँ देखे जा सकते हैं। इनमें अरबी, फारसी, तुर्की, तद्‌भव, भोजपुरी आदि भाषा के शब्द प्रमुख हैं। सूफी आख्यानकारों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों एवं लोकोक्तियों में अवधी भाषा की गंध का अनुभव किया जा सकता है। अलंकारों के प्रयोग में परंपरा पालन की प्रवृत्ति ही प्रमुख रही है। विषय की अपेक्षा के अनुरूप अतिशयोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अन्योक्ति का सुन्दर प्रयोग देखा जा सकता है। अन्य अलंकार छुट-पुट रूप में इन प्रेमाख्यानों में दिखाई पड़ते हैं।

छंद प्रयोग की दृष्टि से भी इन्होंने फारसी की बहरों को न अपनाकर भाषा के अपने छंद विधान को अपनाया है। इनके द्वारा प्रयुक्त मुख्य छंद चौपाई दोहा छंद है। इन कवियों के छंद प्रयोग पर दृष्टि डालते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है- ''चौपाई और दोहा में काव्य लिखने की प्रथा पूर्वी प्रदेशों में ही पाई जाती है। पश्चिमी-प्रदेशों की काव्य पद्धति पद्धड़ियाँ बंध प्रथा थी। कभी-कभी दूसरे छंद भी व्यवहृत होते थे, परंतु साधारण प्रथा धत्ता ही की थी। इस प्रकार आठ पद्धड़िया या अलिल्लह छंद के बाद जो धत्ता दिया जाता था उसे अपभ्रंश में 'कड़वक' कहते थे। चौपाई और दोहे का सबसे पुराना प्रयोग सरहपाद की रचनाओं में मिलता है। शुरू-शुरू में पाई जाने वाली सूफी कहानियों में पाँच-पाँच अर्द्धालियों के बाद दोहा देने का नियम था पर मलिक मुहम्मद जायसी ने आठ-आठ अर्द्धालियों पर दिया है। आगे चलकर यह प्रथा रूढ़ हो गई। किसी-किसी सूफी कवि ने दोहे का धत्ता न देकर अन्य छदों का भी धता दिया है। कितनी अर्द्धालियों के बाद धता दिया जाएगा इसका कोई नियम नहीं है। किसी ने पाँच, किसी ने छ:, किसी ने सात अर्द्धालियों पर दोहा लिखा है। कभी-कभी नौ अर्द्धालियों पर भी दोहे का धत्ता मिलता है।'' (हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास -हजारी प्रसाद द्विवेदी)

इनके अतिरिक्त सूफी कवियों के यहाँ सोरठा, बरवै, कवित्त, कुण्डलिया तथा झूलना का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

5.12 सारांश

इस इकाई में आपने निर्गुण प्रेममार्गी काव्यधारा का अध्ययन किया। आपने पढ़ा कि सूफी प्रेमाख्यानों का पल्लवन और विकास जिस क्षेत्र में हुआ वह भक्ति-आन्दोलन का मुख्य केन्द्र रही। हिन्दी की मध्ययुगीन कविता का यह रूप युग के महत्त्वपूर्ण ध्रुवों- राजाश्रय एवं धर्माश्रय को छोड़ लोकाश्रय में पनपा। लोक भूमि में पल्लवित पोषित होने के कारण ही इसमें लोक मन की साहित्यिक अभिव्यक्ति हुई। मनुष्यता के सामान्य भावों को अपने प्रेमाख्यानों द्वारा चरितार्थ कर इन्होंने एक संवाद-सेतु निर्मित किया, जहाँ व्यक्ति, संप्रदाय, मत, सिद्धान्त, वाद की खाइयाँ अपने आप पट जाती हैं। इन्होंने मनुष्य के भीतर छिपे प्रेम की रचनात्मक शक्ति को पहचाना और युगीन-आवश्यकता की जमीन पर उसका प्रतिपादन किया :

''मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी। नाहिं तो काह छार इक मूठी॥''

सूफी कवियों जैसी उदार प्रकृति ही इस जीवन-शक्ति को उद्‌घाटित करने में समर्थ हो सकती है। वादों से जन्मी द्वैत दृष्टि के लिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह संभव नहीं। उन्होंने न केवल अपने आख्यानों द्वारा बल्कि अपने मत, सिद्धान्त, रहस्यानुभूति, काव्य-रूप, भाषा एवं अभिव्यक्ति के नाना रूपों द्वारा मनुष्य-मात्र के भीतर विद्यमान तार को झंकृत किया। इस लक्ष्य को समन्वय दृष्टि से ही सिद्ध करना संभव था। परंपरा को रूढ़ि समझ कर त्यागने की भूल करने वालों के लिए यह कविता एक चुनौती है। परम्परा और युग धर्म के समन्वय में ही सूफी रचनाकारों की कविता कालजयी एवं कालमयी हो गई। सूफी काव्यधारा अपने प्रेम भाव की सरसता एवं जनधर्मिता के कारण ही व्यापक स्वीकृति पा सकी।

5.13 अभ्यास प्रश्न

1. सूफी शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों पर विचार करते हुए सूफी शब्द के मूलार्थ को स्पष्ट कीजिए।
2. सूफी मत एवं सिद्धान्त को प्रभावित करने वाले भारतीय तत्वों का उल्लेख कीजिए।
3. 'सूफी प्रेमाख्यान' में प्रयुक्त प्रेमाख्यान का अर्थ स्पष्ट करते हुए सूफी प्रेमाख्यानों के वैशिष्ट्य को रेखांकित कीजिए।
4. जायसी प्रेमाख्यान काव्य की मूल प्रेरणा पर विचार कीजिए।
6. सूफी प्रेमाख्यानों के संदर्भ में निम्नलिखित विषयों पर विचार कीजिए :

   1. भाव व्यंजना तथा रस निरूपण,
   2. चरित चित्रण,
   3. काव्य-रूप

7. सूफी कवियों के अभिव्यक्ति-विधान पर एक निबंध लिखिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-6

राम भक्ति काव्य

संरचना

6.0 प्रस्तावना

6.1 उद्देश्य

6.2 राम काव्य परम्परा

6.3 रामकथा की प्राचीनता और विरुद्धों में सामंजस्य स्थपित करने की दृष्टि

6.4 राम भक्तिकाव्य और रामानंद सम्प्रदाय

6.5 राम लीला परम्परा का प्रवर्तन

6.6 राम भक्ति भावना

6.7 वैष्णव-शैव-भक्ति आंदोलन और हिन्दी का भक्ति काव्य

6.8 हिन्दी साहित्य का भक्ति आंदोलन : इस्माल का प्रभाव है या प्रतिक्रिया

6.9 राम भक्ति काव्य के सामन्तवाद विरोधी मूल्य

6.10 भक्ति-भावना का अर्थ संदर्भ

6.11 रामकाव्य परम्परा में लोकजीवन और लोकसंघर्ष

6.12 रामकाव्य परम्परा में नारी

6.13 रामकाव्य में समन्वय साधना

6.14 तुलसी परवर्ती राम काव्य-परम्परा

6.15 सारांश

6.16 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.0 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में रामभक्ति काव्यधारा ने सगुण भक्ति और भक्ति आंदोलन की मूल संवेदना को लोक-भाव-भूमि पर दृढ़ता से प्रतिष्ठित किया है। दक्षिण भारत में भक्ति-आंदोलन और उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन दोनों की चेतना को तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में देखना होगा। इस इकाई में हम चिन्तन-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में यह भी समझेंगे कि इसमें रामानंद की क्या भूमिका रही है और उन्हें रामकाव्य परम्परा के चिंतन का मेरुदण्ड क्यों कहा जाता है ? रामानन्द का रूढ़िया-पुरोहितवाद विरोधी चिन्तन ही कबीर और तुलसीदास में रचनात्मक निष्पत्ति पाता है। रामानन्द ने शास्त्र-परम्परा और संस्कृत भाषा के स्थान पर लोक-जागरण, लोक-कल्याण के लिए लोकभाषा में काव्य-सृजन की भूमिका तैयार की।

इसमें भूमिका पर कबीर और तुलसी की भक्ति-चेतना, लोक-संवेदना का निर्माण विस्तार हुआ। वाल्मीकि रामायण की परम्परा ने समय के साथ परिवर्तनों को स्वीकार किया, उसी का नया सृजन-चिंतन राम-भक्ति काव्य में देखने को मिलता है।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई में आप भक्तिकालीन रामभक्ति काव्य का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भक्ति आंदोलन के संदर्भ में रामभक्ति काव्य की चर्चा कर सकेंगे,
- रामभक्ति शाखा की दार्शनिक पृष्ठभूमि का परिचय दे सकेंगे,

- रामभक्ति काव्य के सामन्तवाद विरोधी मूल्यों का विवेचन कर सकेंगे, और
- रामभक्ति साहित्य में लोकमंगल की भावना से परिचित हो सकेंगे।

6.2 रामकाव्य परम्परा

राम–कथा ऐतिहासिक है या पौराणिक–काल्पनिक ?इस प्रश्न का सप्रमाण उत्तर देना कठिन है। रामकाव्य–परम्परा के अध्ययन से ऐसा अनुमान होता है कि राम भारतीय–संस्कृति के भाव–नायक हैं। इस भाव–नायक की कथा में हर युग कुछ–न–कुछ जोड़ता चला आया है। राम ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं- पुराण पुरुष हैं, मिथक नायक है- भावनायक और लोकनायक। देश और काल के परिवर्तन चक्रों में पड़े राम को लोक–नायक बनने में हजारों वर्ष लग गए। वैदिक काल के बाद संभवत: छठी शताब्दी ई. पू. में इक्ष्वाकुवंश के सूत्रों द्वारा रामकथा–विषयक गाथाओं की सृष्टि होने लगी। फलत: चौथी शताब्दी ई. पू. तक राम का चरित्र स्फुट आख्यान–काव्यों में रचा जाने लगा। इसलिए रामकथा के विद्वानों की एक बड़ी संख्या यह मानती है कि आदिकवि वाल्मीकि से कई शताब्दी पूर्व राम-कथा को लेकर आख्यान–काव्य–परम्परा मिलती है। किन्तु यह वाचिक परम्परा थी अत: इसका साहित्य आज अप्राप्य है। ऐसी स्थिति के कारण वाल्मीकिकृत रामायण प्राचीनतम उपलब्ध रामकाव्य है। भारतीय परम्परा वाल्मीकि को 'आदिकवि' और रामायण को 'आदिकाव्य' मानती है- यह भी इस बात का प्रमाण है कि काव्य–रूप में 'रामायण' को ही सर्वप्रथम लोकप्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। संभवत: आदिकाव्य का रचनाकाल चौथी शताब्दी ई. पू. रहा होगा। बहुत समय तक मौखिक रूप में प्रचलित रहने के कारण इस रचना का रूप स्थिर न रह सका। बालकांड तथा उत्तरकाण्ड के साथ अन्य कांडों में भी प्रक्षिप्तांशों का मुक्त प्रवेश हुआ। इस प्रकार वाल्मीकिकृत आदि रामायण का कलेवर दुगुना हो गया। कहते हैं कि वाल्मीकि ने तो बारह हजार श्लोकों के प्रबंध काव्य की रचना की थी। जिसमें अयोध्या कांड से लेकर युद्धकांड तक की कथा थी, बाद में बालकांड और उत्तरकांड जोड़े गए।

वाल्मीकि ने देवताओं पर काव्य रचने की परंपरा को अस्वीकार करते हुए मानव की महिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए नर–काव्य 'आदिकाव्य' का सृजन किया। रवीन्द्रनाथ टेगोर ने 'भारतवर्ष में इतिहास धारा' नामक निबंध में कहा है कि वाल्मीकि ने सर्वप्रथम नरकाव्य परंपरा का प्रवर्तन किया। कथागायक कुशीलव अपने श्रोताओं की रुचि को ध्यान में रखकर रामकथा का गायन करते रहे। राम कौन थे, सीता कौन थी, इनका जन्म विवाह कब कहाँ हुआ, रावण कौन था, रावण वध के बाद राम–सीता का जीवन कैसा रहा, लोक में उठे इन तमाम प्रश्नों जिज्ञासाओं को शान्त करने के लिए 'आदिकाव्य' में बालकांड तथा उत्तरकांड को प्रक्षिप्त रूप में जोड़ दिया गया। इस प्रकार राम–कथा राम का अयन अर्थात् राम का भ्रमण न रहकर सम्पूर्ण राम चरित के रूप में विकसित हुई। तुलसीदास का यह कहना 'मास आदि कवि पुंगव नाना। जिन भाषा हरि चरित बखाना' तथा 'राम कथा की मिति जग नाहीं' इसी सत्य की ओर संकेत करता है।

प्रचलित 'वाल्मीकि रामायण' के आज तीन भिन्न पाठ मिलते हैं–

1. दाक्षिणात्य पाठ (दक्षिण तथा गुजराती संस्करणों के पाठ),
2. गौड़ीय पाठ (गोरेसियो द्वारा सम्पादित तथा पेरिस में 1843 ई. प्रकाशित कलकत्ता सीरीज का संस्करण) तथा
3. पश्चिमोत्तरीय पाठ (लाहौर का संस्करण)। इन सभी पाठों में काफी अन्तर है। इसका कारण है कि 'आदिकाव्य' को कई शताब्दियों के बाद अलग–अलग परंपराओं के आधार पर लिपिबद्ध किया गया।

बौद्धों ने कई शताब्दियों पूर्व राम को 'बोधिसत्व' मानकर, राम–काव्य को जातक साहित्य में स्थान दिया है। इस मेल–मिलाप से 'दशरथ जातक', 'अनाकम् जातक' तथा 'दशरथ कथानक' ये तीन जातक उत्पन्न हुए। बौद्धों की भांति जैनियों ने भी राम–कथा को अपनाया और पर्याप्त लोकप्रियता प्रदान की। फलत: जैनियों ने विपुल राम–साहित्य की सृष्टि की। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में जैनकवि विमलसूरि ने 'पउमचरिय' प्राकृत भाषा में लिखकर राम–कथा को जैन धर्म के साँचे में ढाल दिया। इसका संस्कृत रूपान्तर रविषेण ने सन् 660 ई. में 'पद्मचरित' नाम से किया और संवत् 1818 में दौलतराम ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया। इस प्रमुख ग्रंथ के आधार पर रामकाव्य की परम्परा में सृजन–कर्म को लेकर तेजी दिखाई दी। संस्कृत में हेमचन्द्र ने 'जैन रामायण' (12वीं शताब्दी) जिनदास ने 'रामपुराण' (15वी शताब्दी) पद्मदेव विजयगणि ने 'रामचरित' (16वीं शताब्दी) अपभ्रंश में सत्यभूदेव ने 'पउमचरिय' कन्नड़ में नागचन्द ने 'परम्परायण' (11वी. श.) कुमुन्देन्दु ने रामायण (13 वी.श.) तथा देवाय ने 'रामविजय चरित' की रचना की। जैन राम कथा का एक दूसरा रूप गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' (9वीं शताब्दी) लिखकर प्रस्तुत किया। इसके आधार पर भी सस्कृत–प्राकृत–अपभ्रंश में रामकाव्य रचा गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संस्कृत के सृजनात्मक साहित्य में राम कथा को लेकर महाकाव्य तथा नाटकों के सृजन की एक विशाल परम्परा मिलती है। इस सृजन–परम्परा में '**वाल्मीकि रामायण**' से अलग हटकर श्रृंगार को स्थान मिला। **सेतुबंध** तथा **भट्टिकाव्य** में राक्षसों की श्रृंगार–चेतना, **जानकीहरण, कुमारसंभव** में भोगवाद का उभार मिलता है। कालिदास ने रघुवंश में पूरी रघुवंश की परम्परा का वर्णन किया। इस प्रकार वे रामायण के अंधानुकरण से दूर रहे। महाराष्ट्री प्राकृत में कश्मीर के राजा प्रवरसेन ने **रावणवहो** लिखा। भट्टिकवि ने बाईस सर्गो में व्याकरण के नियमों के निरूपण के साथ **रावणवध** लिखा। कुमार दास ने **जानकी हरण,** अभिनन्द ने **रामचरित,** आचार्य क्षेमेन्द्र ने **रामायणमंजरी,** साकल्पमल्ल ने **उदारराघव** शीर्षक महाकाव्य की रचना की। संस्कृत नाटकों ने राम कथा को नया रूप देकर नया सहृदय समाज दिया। **आश्चर्य चूड़ामणि, अद्भुत दर्पण, महावीर दर्पण, अनर्घ राघव, बाल रामायण, महानाटक** आदि नाटकों में इसी परम्परा के संकेत मिलते हैं। भास ने **प्रतिमानाटक** तथा अभिषेक नाटक लिखकर राम कथा को लोक में आगे बढ़ाया। इस परम्परा का श्रेष्ठ रूप भवभूति के **महावीरचरित** तथा **उत्तररामचरित** में लिखा है। उत्तररामचरित ने प्रचलित रामायण के उत्तरकांड की कथा को नया रूप दिया। भवभूति ने राम तथा अयोध्या की जनता के सामने सीता–चरित संबंधी करुण कथा के अभिनय की योजना की। भवभूति ने यह सिद्ध किया है कि मानव कर्म को स्पर्श करने में करुण–रस जैसा दूसरा कोई रस नहीं है। भवभूति के अनुकरण पर धीरनाग ने कुंदमाला नाटक की रचना की पर सफल न हो सके। राजशेखर ने बाल रामायण (10वीं शताब्दी) की रचना भी भवभूति के अनुसरण पर की– पर उत्तरराम–चरित के उत्कर्ष को कोई नहीं पा सका। प्रसन्नराघव, उदात्तराघव, महानाटक, अनर्घराघव आदि बहुत से नाटक लिखे गए वे भी राम कथा में कुछ नया नहीं जोड़ सके। राम काव्य परम्परा में कालिदास के मेघदूत के अनुकरण पर हंसदूत अथवा हंस संदेश, सीताराघव, राघवविलास आदि का सृजन भी हुआ।

भारतीय भाषाओं में राम की परम्परा बहुत विशाल है। दक्षिण की भाषाओं में प्राचीनतम प्राप्त राम कथा कवि कम्बन कृत तमिल रामायण है जिसका रचना काल ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। तेलुगु में रंगनाथ रामायण (12वीं शताब्दी), बुद्धराजकृत भास्कर रामायण (14वीं शताब्दी), मोल्ला कुम्हारिन रचित 'मोल्ला रामायण' जनप्रिय रही है। मलयालम में वाल्मीकि रामायण के 'कण्ण्श्श रामायण' तथा 'केरलवर्मा रामायण' दो अनुवाद लोकप्रिय हुए। यहाँ अध्यात्म रामायण का अनुवाद भी हुआ। कन्नड़भाषा में 'तोवेर रामायण' नरहरिकृत 'मैरावणवध' की रचना जनसाधारण में लोकप्रिय रही है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के राम काव्य पर इन रामायणों की गहरी छाप है। उत्तरी भारत में तुलसी रचित 'रामचरितमानस' तथा कृत्तिवासीय रामायण' दोनो बहुत लोकप्रिय हैं। कृत्तिवास ने पन्द्रहवीं शताब्दी में बंगला के पयारछन्द में रामायण रच डाली। इसके बाद बंगला में चन्द्रावली ने 'रामायण' रामानंद ने 'रामलीला', रघुनन्दन ने 'राम रसायन' लिखा। माधवि कन्दलि ने चौदहवीं शताब्दी में असमिया के 'वाल्मीकि रामायण' का पद्यानुवाद किया तथा दुर्गावर ने 'गीतिरामायण' की रचना की। असमिया कवि शंकर देव ने 'राम विजय नाटक' लिखा। गुजराती में भालण ने 'सीतास्वयंबर' (राम–विवाह) गिरधरदास ने 'रामायण', 'बलरामदास रामायण', 'दाण्डिरामायण', 'सरलादासकृत विलंकारामायण' या 'विचित्र रामायण', कश्मीरी में दिवाकर भट्ट ने 'कश्मीरी रामायण' नेपाली में कवि भानु ने 'अपना रामायण' की रचना की। सारांश यह है कि पूरा भारतीय काव्य शताब्दियों तक नैतिक–आध्यात्मिक आदर्शों, मूल्यों को लेकर राममय रहा है।

विदेश में रामकथा का प्रसार सर्वप्रथम बौद्धों ने किया है। 'अनामजातकम्' तथा 'दशरथकथानम्' का तीसरी–चौथी शताब्दी में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। इसके बाद तिब्बती रामायण मिलती है और रामायण के अनुवाद छाए रहे। जावा में रामायण का काविन, हिकायत सेरीराम काव्य, कम्बोडिया में रामकेर्ति, श्याम रामकियेन की रामकाव्य परम्परा है। विदेशों में रामलीला का अभिनय आज भी जारी है। भारत से मारीशस, फीजी आदि जाने वाले लोग भी रामचरितमानस को साथ लेकर गए और राममय होकर जीते हैं। भारत से रोजी–रोटी के लिए विदेश जाने वाले मजदूर, कुली अपने साथ रामचरितमानस, कम्बरामायण, कृत्तिवास रामायण अवश्य ले गए। अपने प्रवास में इन सभी ने अपने राम को नहीं छोड़ा–सीता–हनुमान को नहीं छोड़ा। इस प्रकार विश्वभर में अवध के राम किसी न किसी रूप में विद्यमान मिलते हैं। विदेश में राम–काव्य की एक ऐसी परम्परा है जिसका इतिहास हमें आश्चर्यचकित कर देता है।

हिन्दी में सगुण रामकाव्य परंपरा

रामभक्ति शाखा में रामकाव्य के महत्त्वपूर्ण कवि तुलसीदास के अतिरिक्त भी कुछ कवि हैं। इन कवियों ने तुलसीदास की तरह सार्वदेशिक और सार्वकालिक रचना तो नहीं की परन्तु उनका महत्त्व भी रामभक्ति शाखा के इतिहास में है। उन रामभक्त कवियों में रामानंद का नाम आता है। रामानन्द ने भक्ति को शास्त्रीय मर्यादा के बंधन से मुक्त माना। जाति और वर्ण के भेदभाव से ऊपर उठकर भक्ति को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जनसामान्य से जोड़ने का प्रयत्न किया। इसलिए रामानंद की शिष्य परंपर का संबंध रामभक्ति शाखा के तपसी और उदासी सम्प्रदाय से जोड़ा जाता है, वहीं निर्गुण भक्ति के ज्ञानमार्गी परंपर से भी उनका संबंध संकेतित किया जाता है। रामानंद के कुछ पद हनुमान जी की स्तुति के रूप में प्रचलित हैं।

''आरति कीजै हनुमान लला की, दुष्ट दलन रघुनाथ कला की।''

दूसरे रामभक्त कवियों में अग्रदास का नाम प्रमख है। अग्रदास ने रामभक्ति को कृष्ण भक्ति के लोकानुरंजन के समीप लाने का प्रयत्न किया। उनके काव्य में अष्टयाम अथवा रामाष्टयाम को मुख्य माना जाता है। राम के ऐश्वर्य रूप की झाँकी इन लीलाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। इन्होंने सखी सम्प्रदाय के लिए रास्ता साफ कर दिया। ईश्वर दास भी रामभक्त कवि थे। राम कथा से संबद्ध उनकी रचनाओं में 'भरत मिलाप' और 'अंगद पैज' प्रमुख हैं। भरत मिलाप में उन्होंने करुण प्रसंग को तन्मन्यता से रचा है। अंगद पैज में अंगद की वीरता का ओजपूर्ण वर्णन है।

नाभादास तुलसीदास के समकालीन रामभक्त कवि थे। नाभादास अग्रदास के शिष्य थे। भक्त माल की रचना नाभादास ने की थी। भक्त माल हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें मध्यकाल के भक्त कवियों पर टिप्पणी की गई है। इस ग्रंथ से तत्कालीन समाज की मानसिकता का पता चलता है। भक्त कवियों का जनता पर क्या प्रभाव था इसकी भी सूचना हमें मिलती है। अन्य राम भक्त कवियों में प्राण चंद चौहान का और हृदय राम का उल्लेख किया जाता है। प्राणचंद चौहान ने रामायण महानाटक और हृदयराम ने भाषा हनुमान नाटक लिखा।

6.3 रामकथा की प्राचीनता और विरुद्धों में सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि

वैष्णव मत 'भागवत मत' पांचरात्र मत में सब का सब आर्यों का दिया हुआ नहीं है। शैव-शाक्य मत में द्राविड़ प्रभाव भी कम नहीं है। विद्वानों ने यह प्रश्न शंका के साथ समय-समय पर उठाया है कि गौरवर्ण के आर्यों ने विष्णु की कल्पना (राम और कृष्ण) में काले रंग को क्यों स्थान दिया। ऋग्वेद में तो विष्णु सूर्य के पर्याय हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने वैष्णव धर्म को आर्य-धर्म न मानकर अवैदिक मानते हुए कहा है कि जिस भृगु ने लिंगधारी शिव को शाप दिया था उसी ने विष्णु के वक्षस्थल पर पदप्रहार किया। अत: वैष्णव धर्म प्राचीनतम वैदिक भृगु के उस पदाघात से लांछित होकर हमारे देश में प्रतिष्ठित हुआ। भारत में आर्यों के देव विष्णु, द्रविडों के आकाश-देव से मिल गए जिनका रंग द्रविड़ों के अनुसार आकाश सदृश नीला या श्याम था। डॉ. भण्डारकर ने कहा कि विष्णु में सूर्य, नारायण, वासुदेव तीनों तत्वों का योग है। विष्णु और राम का मूल स्रोत क्या है, इसका समाधान आज भी सरल नहीं है। हाँ, यह सच है कि राम के प्रति आदर, बुद्ध तथा महावीर के समय में भी जोरों पर था। वेदों में रामकथा के पात्रों के नाम हैं- दशरथ, कैकेयी, जनक, सीता आदि। वैदिक सीता (खेत में हल से बनायी हुई रेखा) को इन्द्रपत्नी और पर्यन्द- पत्नी भी कहा गया है। महाभारत के द्रोणपर्व में कृषि की अधिष्ठात्री देवी सीता का उल्लेख है। हरिवंश पुराण में आता है- 'तू कृषकों के लिए सीता है।' पंडितों का अनुमान है सीता-कृषि देवी रही होगी। सीता ही बाद में 'आयोनिजा कन्या' बन गईं और उन्हें हल चलाते जनक ने पाया। इन्द्र ही परम्परा में विकसित होकर राम बन गए। कई बार पंडितों ने राम-रावण युद्ध को आर्य-अनार्य युद्ध की कल्पना से भी जोड़ा है। किन्तु इस प्रकार की कल्पना से राम कथा की किसी समस्या का समाधान नहीं होता।

ऐसा लगता है कि रामायण की कथा में तीन कथाओं का मेल हुआ है- 1. अयोध्या के राजा की कथा, 2. दक्षिण में रावण की कथा तथा 3. किष्किंधा के वानरों की कथा- हनुमान आदि की कथा। अत: राम, रावण, हनुमान तीनों ही तीन संस्कृतियों के प्रतीक हैं जिनका समन्वय-सामंजस्य ऋषि वाल्मीकि की प्रतिभा द्वारा संभव हुआ। आर्य-आर्येतर जातियाँ- वैष्णव, शिव सब एक हो गए। राम धीरे-धीरे विष्णु के अवतार बन गए। रामधारीसिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में खोज-बीन के बाद कहा है, ''भारत में संस्कृतियों का जो विराट समन्वय हुआ है, राम कथा उसका अत्यंन्त उज्ज्वल प्रतीक है। सबसे पहले तो यह बात है कि इस कथा में भारत की भौगोलिक एकता ध्वनित होती है, एक ही कथा में अयोध्या, किष्किंधा और लंका तीनों के बँध जाने के कारण सारा देश एक दीखता है। राम कथा की दूसरी विशेषता है कि इसके माध्यम से वैष्णव और शैव मतों का विभेद दूर किया गया।''

6.4 रामभक्ति काव्य और रामानंद सम्प्रदाय

रामानंद को रामभक्ति परम्परा के चिंतन का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। उन्होने ही सर्वप्रथम लोक भाषा में रचना कर्म करने की प्रेरणा दी। रामानंद की दो भुजाएँ- निर्गुण धारा में कबीर और सगुणधारा में तुलसीदास दोनों ही रामानंद के मानस-शिष्य हैं और दोनों ही दो

परम्पराओं के प्रवर्तक और अपने-अपने ढंग के लोकमंगलवादी हैं। रामानंद सम्प्रदाय की स्थापना आज से छह सौ वर्ष पूर्व हुई थी। इस सम्प्रदाय या मत के प्रवर्तक स्वामी रामानंद का पूर्व-सम्बंध रामानुजाचार्य (11वीं शताब्दी) के सम्प्रदाय से रहा। इस बात की पुष्टि नाभादासकृत 'भक्तमाल' से भी होती है। रामानुजाचार्य की चिन्तन-परम्परा को हर्याचार्यकृत 'रामस्तवराज भाष्य', 'रसिक प्रकाश', 'भक्तमाल', 'सम्प्रदाय दिग्दर्शन' आदि ग्रंथों ने आगे बढ़ाया। विद्वानों ने रामानंद के द्वारा स्वतंत्र सम्प्रदाय के निर्माण का कारण बताते हुए कहा है कि देश-भ्रमण के बाद रामानंद के भाइयों ने जगह-जगह खान-पान करने के कारण उन्हें धर्मभ्रष्ट कहकर अलग कर दिया। फलत: गुरु-आज्ञा पाकर रामानंद ने एक अलग सम्प्रदाय की स्थापना की जिसमें जातिवाद का खंडन प्रमुख स्थान रखता है। राम को अपना आराध्य स्वीकार करते हुए रामानंद ने गाया-'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥' इस प्रकार सभी जातियों के लिए बिना किसी भेद-भाव के हरि-भक्ति का मार्ग रामानंद ने खोल दिया। हिन्दी के भक्ति-आंदोलन का जातिवाद-विरोधी चरित्र रामानंद की इसी विचारधारा का प्रचार-प्रसार कहा जा सकता है।

रामानंद-सम्प्रदाय से पूर्व 'श्री सम्प्रदाय' था। मंत्र, ध्यान, पूजा, उपासना, उपास्यदेव आदि के आचारों के कारण इसकी दो शाखाएँ हो गई- एक में भगवान राम को प्रधानता मिली, दूसरे में नारायण को। कालान्तर में राम-शाखा का उद्धार रामानंद ने किया। अग्रदास ने रामानंद की गुरु-परम्परा में श्रुतानंद, चिदानंद, पूर्णानंद, हर्यानंद, राघवानंद तथा रामानंद का उल्लेख किया है। रामानंद ने स्वयं अपने ग्रंथ 'रामार्चन-पद्धति' में अपनी गुरु-परम्परा दी है। रामानदं ने अनुभव किया कि राम-भक्ति को साधना पक्ष की रूढ़ियों-जटिलताओं से मुक्त कर जनता के हृदय में उतारा जाए। उन्होंने राम और सीता के साथ हनुमान को नया रूप दिया। रामानंद ने ही हनुमान की पूजा-आरती का तुलसीदास से पहले उत्तरी भारत में विस्तार किया। उन्होंने ही 'आरति श्री हनुमान लला की' प्रार्थना की रचना की जो भक्तों का कंठहार बनी है। रामानंद का जन्म प्रयाग में हुआ था और इस यायावर संत-आचार्य का देहावसान काशी में हुआ (सं. 1356-सं. 1467)। रामानंद के ग्रंथों में 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर', 'श्री रामार्चन पद्धति', 'आनंद भाष्य', 'सिद्धान्त पटल', 'रामरक्षा स्त्रोत्र', 'योग चिन्तामणि', 'श्री रामाराधन', 'रामानंदादेश', 'वेदान्त विचार', 'शिवारामाष्टक', 'हनुमानस्तुति' आदि है। रामानंद के शिष्यों में अनंतानंद, सुखानंद, नरहर्यानंद, भावानंद, कबीर, पीपा, तुलसीदास आदि हैं। इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध स्थान अयोध्या, चित्रकूट, मिथिला और काशी रहे हैं।

रामानंद-सम्प्रदाय में विशिष्टाद्वैत को ही मान्यता प्राप्त है। रामानंद ने अपने मत को 'आनंद भाष्य' में प्रस्तुत किया और विशेष दार्शनिक विचार-धारा को 'श्री रामार्चन पद्धति' 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' में स्पष्ट किया। उनके शिष्य कृष्णदास पयोहारी ने राजस्थान में गलता नामक स्थान में रामानंद की गद्दी स्थापित की। रामानंद के आराध्य हैं- श्रीराम। वे शील, शक्ति एवं सौंदर्य के केन्द्र हैं। रामानंद का यही प्रतिमान तुलसी ने 'मानस' में अपनाया है। इस सम्प्रदाय ने माना कि संसार के एकमात्र कर्त्ता, पालक एवं संहर्त्ता राम ही हैं- जीव उनका ही अंश है- अंशी-अंश सम्बन्ध। सीता, राम की अनादि-सहचरी, आद्याशक्ति हैं। राम-सीता की एकाग्रभाव से भक्ति ही भव-मोक्ष का साधन है। प्रपत्ति और न्यास इसके दो प्रधान अंग हैं और व्यवहार में नवधा-भक्ति की महिमा है। इस सम्प्रदाय की मुख्य भक्ति पद्धति दास्य भाव की है। भक्ति के अधिकारी ब्राह्मण, शूद्र सभी हैं। यहाँ कर्मकाण्ड को विशेष आदर नहीं दिया गया। कबीर, तुलसी, मैथिलीशरण पर रामानंदी, विचारधारा का गहरा प्रभाव है। राम के साथ जीव का सेवक-स्वामी सेव्य-सेवक, रक्ष्य-रक्षक संबंध है और राम ही रस-रूप हैं- आनंद रूप हैं कबीर ने अपने राम को निर्गुण-निरंजन कहते हुए भी उसके गुणों का वर्णन किया है- पर दशरथ पुत्र अवतारी राम में कबीर का विश्वास नहीं है- तुलसी का है। किन्तु दोनों की भक्ति दास्य-भाव की है और दोनों ही लोक-भाषा के कवि हैं। तुलसी ने गोरखनाथ के योग-मार्ग की निंदा की है और कबीर ने शाक्तों की, किन्तु दोनों भक्ति-मार्ग के धीरे-गंभीर साधक हैं। रामानंद सम्प्रदाय के कवियों में अग्रदेव, अवधभूषणदास, कृपानिवास, कामदेन्द्रमणि, चित्रनिधि, जनकराज किशोरीशरण, जानकी रसिक शरण, नाभादास, रामचरणदास, रामप्रियाशरण, रसरंगमणिदास आदि का प्रमुख स्थान है। भ्रष्ट भक्तों ने राम-भक्ति में रसिक-सम्प्रदाय चलाकर माधुर्य-भाव के बहाने श्रृंगार-भाव योग का चक्र भी चलाया है।

6.5 रामलीला परम्परा का प्रवर्तन

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'गोसाईं तुलसीदास' शीर्षक ग्रंथ में राम-लीला परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय तुलसीदास जी को दिया है। उनका मत है कि जनश्रुति के अनुसार नाटक की लोकशक्ति को समझकर तुलसीदास ने रामलीला का प्रारूप तैयार किया और काशी में पहली राम-लीला उन्हीं की प्रेरणा से हुई। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' 'नाट्य लीला प्रबंध' के काव्य रूप में ढाला है। आज भी 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता का आधार रामकथा का लीला के रूप में मंचन है। राम को लोक-नायक बनाकर तुलसी ने पूरे भारत में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एकत्राणकारी के रूप में राम को निर्मित्त किया। सिद्धों-नाथों की चमत्कारवादी-योगवादी-अद्वैती परम्परा से तुलसी ने अपने ढंग से मुकाबला किया- सगुण, साकार ब्रह्म के लीला गायन- भजन कीर्तन के द्वारा। जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक पुस्तक के 'रहस्यवाद' लेख में लिखा है- 'दुखवाद जिस मनन शैली का फल था, वह बुद्धि या विवेक के आधार पर तर्कों के आश्रय में बढ़ती ही रही। अनात्मवाद की प्रतिक्रिया होनी ही चाहिए। फलत: पिछले काल में भारत के दार्शनिक अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप में हुआ। फिर आगे उन्होंने कहा, ''जिन-जिन लोगों में आत्मविश्वास नहीं था उन्हें एकत्राणकारी की आवश्यकता हुई।'' कविवर प्रसाद का यह मत आचार्य रामचंद शुक्ल के मत 'भगवान की शरण' में जाने वाली बात से एकदम जुड़ जाता है। राजनीतिक पराभव के कारण जातीय आत्मविश्वास के स्खलन के भाव की चर्चा सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने 'तुलसीदास' काव्य में भी की है। स्वयं निराला पर तुलसीदास का बहुत गहरा प्रभाव है। तुलसीदास ने जातीय-आत्मविश्वास को दृढ़ करने के लिए राम लीला-नाट्य की रचना की। इस बात में पूर्णसत्य चाहे न हो पर आंशिक सत्य अवश्य है। उसकी चिंता 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोक' निश्चय ही थी और रामानंद विचार पद्धति के भाव से हिन्दूजाति तन्त्र की जड़ता पर भी प्रहार करना चाहते थे। 'परम्परा का मूल्यांकन' पुस्तक में डॉ. रामविलास शर्मा ने 'तुलसी साहित्य में सामंत-विरोधी मूल्य' तथा 'भक्ति आंदोलन और तुलसीदास' में तुलसी के भक्त की क्रान्तिकारी भूमिका का अच्छा विवेचन मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। डॉ. रामविलास शर्मा ने ग. मा. मुक्तिबोध के प्रसिद्ध निबन्ध 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' की इस स्थापना कि सगुणवासियों ने निर्गुण संतों की भक्ति धारा के दांत- 'क्रान्तिकारी दाँत उखाड़ दिए' का खण्डन किया है। राम भक्ति ने चाहे शूद्र राम भक्ति कवि पैदा न किया हो पर शूद्र केवट, शबरी-निशाद, कोल-विरात को गले लगाया है। तुलसी के राम के मन में शूद्र और नारी के प्रति अपार सम्मान का भाव है। 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' जैसी काव्यपंक्ति का अज्ञानियों ने दुरुपयोग किया है। राम के अयोध्या लौटने पर राम की आगवानी में नारियाँ आगे हैं, पुरुष नहीं। 'नारि समुद्र समान' का अर्थ भी हमें ठीक से समझना चाहिए।

राम लीला का प्रचार भक्तिकाल में जोरों पर था। अवध, काशी पहले प्रधान केन्द्र थे पर राजपूताना, इटावा, मथुरा, मैनपुरी, एटा, फर्रूखाबाद, अलीगढ़, कानपुर सभी जगह इसकी धूम थी। यह दक्षिण में बरार, मैसूर, रामेश्वर तक पहुँची। राम लीला का आधार पौराणिक राम कथा है और 'रामचरित मानस' इसका प्राण पोषण। संवाद छंदोबद्ध रहते हैं- प्राय: दोहा-चौपाई। सभी रस कथा में अद्‌भुत तत्व की सृष्टि करते हैं। धनुष यज्ञ के दृश्य, सीता स्वयंवर, परशुराम-लक्ष्मण संवाद, सीताहरण प्रसंग, बालि-वध प्रसंग, हनुमान -सीता-अशोकवाटिका आदि के दृश्य प्रसंग जनता के हृदय में रच बस जाते हैं। रंगमंच पर हर आयु का व्यक्ति अभिनय करता है। सूत्रधार रंगभूमि में उपस्थित रहता और लीला का संचालन करता है। लीला के आरंभ और अंत में राम-सीता की आरती होती है। आज भी राम-लीला भारतीय जनता का अतीत नहीं वर्तमान है।

6.6 राम भक्ति भावना

भारतीय भक्ति भावना की प्राचीन परम्परा तथा वैष्णव चिन्तन में राम-भक्ति की महत्त्व प्रतिष्ठा देखकर सहसा ही यह विश्वास होता है कि राम भक्ति के विकास में वैष्णव चिंतन की आगम (लोक) निगम (वेद) परम्पराओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यज्ञप्रधान, कर्मकाण्डी, ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप भागवत धर्म उत्पन्न हुआ था। कहते हैं कि स्वयं भगवान को इस धर्म का प्रवर्तन करना पड़ा इसलिए इसका नाम पड़ा - 'भागवत धर्म'। भागवत-धर्म में भक्ति-मार्ग का विकास हुआ एवं भागवतों ने इष्टदेव वासुदेव को वैदिक देवता विष्णु का अवतार माना। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म तथा भागवत धर्म के सामंजस्य से वैष्णव धर्म की उत्पत्ति हुई। वैष्णव धर्म में भक्ति-भावना विष्णु नारायण वासुदेव कृष्ण के साथ उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। ईसवीं सन् के प्रांरभ से राम को विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकृति मिल गई। किन्तु शताब्दियों तक राम-भक्ति ठंडी पड़ी रही। फादर कामिल बुल्के (रामकथा) तथा गोपाल भण्डारकर (वैष्णविज्म एंड शैविज्म) जैसे विद्वानों का कहना है कि भक्ति के क्षेत्र में राम की प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी ई. के लगभग प्रारंभ हुई। दरअसल, राम भक्ति की सशक्त अभिव्यक्ति काव्य के रूप में हुई। तमिल आलवारों की 'नालियर-प्रबन्ध' नामक रचना में भगवान विष्णु के अवतारों के प्रति भक्ति मिलती है। कवि कुलशेखर (नवीं शताब्दी ई.) के पदों में राम-भक्ति का प्रवाह है और वहाँ ग्यारहवी शताब्दी में राम-भक्ति से संबंधित रचनाओं की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई तथा स्तोत्र साहित्य उमड़ पड़ा, जैसे श्री राम सहस्त्रनाम स्तोत्र, रामरक्षा स्तोत्र आदि। पन्द्रहवीं शताब्दी ई. तक राम भक्ति की धारा ने दक्षिण से उत्तर में नया मोड़ लिया। श्रीसम्प्रदाय के आचार्यों ने राम-भक्ति-काव्य की शास्त्रीय दार्शनिक भूमिका तैयार की। ध्यान देने की बात यह है कि श्री सम्प्रदाय उन चार सम्प्रदाय में से एक है जो शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में सामने आया है। इसने अवतारवाद को स्वीकार कर भक्ति के दार्शनिक आधार को प्रस्तुत किया। श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने अपने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'श्रीकाव्य' में राम और कृष्ण के अवतारों का उल्लेख किया तथा भक्ति के नर-नारायण सिद्धान्त को आदर के साथ प्रतिष्ठित किया। श्री सम्प्रदाय के तीनों उपनिषद् राम-भक्ति का प्रतिपादन करते हैं- 'रामपूर्वतापनीय', 'रामोत्तरतापनय' तथा 'रामरहस्योपनिषद्'। राम भक्ति में संहिताएँ लिखी गईं- जैसे 'अगस्त्य संहिता', 'कालिराघव संहिता',राघवीय संहिता आदि। यह ठीक बात है कि रामानंद से पूर्व महाराष्ट्र में नामवेद और त्रिलोचन राम-भक्ति का प्रचार कर चुके थे। किन्तु उत्तर भारत में राम-भक्ति को जनसाधारण में लोकप्रियता प्रदान कराने का श्रेय रामानंद को ही है। 'अध्यात्मरामायण', 'आनंदरामायण', 'अद्‌भुत रामायण' तथा 'भुशुण्डी रामायण' आदि ने राम-भक्ति की भूमि तुलसीदास के लिए तैयार कर दी थी।

6.7 वैष्णव-शैव-भक्ति आंदोलन और हिन्दी का भक्ति काव्य

भारतीय चिंतनधारा में भक्ति-मार्ग का विशिष्ट महत्त्व अनेक साहित्यिक सांस्कृतिक, धार्मिक-राजनीतिक कारणों से है। अपने पूरे स्वरूप में यह आन्दोलन अखिल भारतीय है और इसका चरित्र सामन्त-विरोधी है। कर्मकाण्डवाद-ब्राह्मणवाद, पुरोहितवाद, कट्टर धार्मिक, जातिवाद का विरोध इस भक्ति-आंदोलन की क्रान्तिकारी चेतना है। भक्ति के बीज वैदिक-उपनिषद् युग में ही मिलने लगते हैं। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की दुरुहता को भक्ति-मार्ग समाप्त करता चलता है इसलिए शास्त्र के विरुद्ध लोक-जागरण की विद्रोही चेतना इस भक्ति आन्दोलन का 'स्व-भाव' है। वेद, उपनिषद्, रामायण-महाभारत-काल, गीता महाकाव्य, भागवत धर्म आदि को वैष्णव-भक्ति भावना के विकास का सोपान मानना होगा। ब्राह्मण ग्रंथों का कर्मकाण्ड और यज्ञ का पुरोहितवाद बौद्धों के चिंतन से लड़खड़ा जाता है। बौद्ध और जैन दोनों दर्शनों का चिंतन ब्राह्मणवाद विरोधी रहा है। बौद्ध धर्म जैसे-जैसे लोक-धर्म में घुलता गया, वैसे-वैसे मध्ययुगीन धर्म-साधना में सहज-साधना और भक्ति-भावना की भूमि तैयार होती गई।

दक्षिण भारत में विशेषकर तमिल प्रदेश में आलवार और नयनारों ने भक्ति आंदोलन को तेज गति प्रदान की। आलवारों ने भक्ति-मार्ग को जो नया रूप दिया, उसे ही 'वैष्णव भक्ति आन्दोलन' कहा जाता है। आंदोलन का यहां अर्थ है- सुधारवादी नवजागरण की चेतना का विद्रोही तेवर। आलवारों ने शास्त्रीय वैष्णव भक्ति को भावमूलक बनाकर जनसाधारण में फैलाया। इस प्रकार भक्ति आंदोलन को जन-आंदोलन बनाने में आलवारों की बहुत बड़ी भूमिका रही है। इन आलवार भक्तों का समय ईसा की पांचवी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक है। आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य के आविर्भाव ने भक्ति आंदोलन को भारी झटका दिया लेकिन कुछ समय बाद रामानुजाचार्य (11वीं शताब्दी) ने इसमें पुनः प्राण डाल दिए। रामानुजाचार्य ने शंकर की दार्शनिक स्थापनाओं का विरोध करते हुए भक्ति का शास्त्रीय विवेचन किया। इस प्रयत्न से अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ और दक्षिण भारत की भक्ति का प्रवाह उत्तर भारत पहुँचा। 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद' के पीछे मध्ययुग के महान संत रामानंद की महिमा का ही उद्‌घोष है। भक्ति की निर्गुण और सगुण मार्गी धाराओं पर रामानंद के चिंतन का प्रभाव पड़ा है।

रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य और बल्लभाचार्य जैसे आचार्यों ने भक्ति आन्दोलन को दृढ़ दार्शनिक और सामाजिक आधार प्रदान किया। दक्षिण के ये आचार्य उत्तरी भारत में आए और जनता की भक्ति-भावना को सींचने का कार्य करने लगे। मध्वाचार्य-वल्लभाचार्य ने कृष्णोपासना को और रामानंद ने रामोपासना को संजीवनी देने का कार्य किया।

आलवार और नयनार दोनों ने सगुणभक्ति को विशेष रूप से अपनाया और उसमें शरणागतिभाव (प्रपत्तिभाव) को प्रधानता दी। सामान्यत: आलवारों की संख्या बारह मानी गई और इनके भजन गीत जिस ग्रंथ में संग्रहीत किए गए हैं उसका नाम है- 'तमिलदिव्यप्रबन्धम्'। नवीं शताब्दी में नाथमुनि ने मौखिक परम्परा में विद्यमान आलवार भक्तों की रचनाओं को संगृहीत किया। रामानुजाचार्य के समय में उनके शिष्य अमुदन ने अपने गुरु रामानुजाचार्य की स्तुति में जो पद रचे थे उन्हें भी बाद में 'तमिल प्रबन्धम' कहते हैं। इस वैष्णव कवि समूह में आंदाल (गोदा) एकमात्र स्त्री है। वैष्णव आलवारों के साथ शैव भक्त कवि नयनार का भक्ति आंदोलन में अविस्मरणीय योगदान है। शैव भक्तों ने तमिल में बौद्धों और जैनों को परास्त कर शैव भक्ति को जनभक्ति का रूप दिया। वे शैव संत इतने लोकप्रिय हुए कि शैव मंदिरों में इनकी मूर्तियाँ स्थापित की गई और इनके पदों का गायन शुरू हुआ। नयनार भक्तों की एक लम्बी परम्परा है जिसमें तिरसठ संत-भक्त आते हैं। पल्लव-चोल राजाओं का इन्हें राज्याश्रय मिला और सैकड़ों शैव-मंदिरों का निर्माण हुआ।

आलवारों ने श्रीकृष्ण और राम को विष्णु का अवतार माना है और क्षीरशायी विष्णु के रूप में विशेष महिमामंडित किया। किन्तु आलवारों का मन राम में कम श्रीकृष्ण में ज्यादा रमा है। सच बात यह है कि रामकथा का विकास भारतीय भाषाओं में ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद ही अधिक हुआ है। 'नालियार दिव्य प्रबन्धम' से प्रभावित दक्षिण भारत के भक्त आचार्यों ने शंकरचार्य के 'मायावाद' का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खंडन किया। रामानुजाचार्य (सं. 1084-1194) ने उत्तरी भारत की यात्रा की और विशिष्टाद्वैत (जीव और जगत दोनों परमात्माओं के गुण विशेष हैं और जगत सत्य है- यह सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है।) के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। कर्मकांड एवं ज्ञान कांड का खंडन करते हुए भक्ति मार्ग की स्थापना की तथा उच्चवर्णों के साथ निम्नवर्णों के लिए भी भक्ति का द्वार खोल दिया। निम्बार्काचार्य (सं. 1171-1219) ने दार्शनिक मत द्वैताद्वैत के अनुसार राधा-कृष्ण भक्ति का प्रतिपादन किया। मध्वाचार्य (सं. 1254-1333) ने द्वैत-सम्प्रदाय के अनुकूल सगुण राधा-कृष्ण के लीलागान पर बल दिया। बल्लभाचार्य (सं.1536-1587) ने अपने शुद्धाद्वैतवाद में राधा-कृष्ण का 'पुष्टि-मार्ग' प्रदिपादित किया। बल्लभाचार्य के प्रभाव से भक्ति आंदोलन में जनता के लिए राग और रस तत्व का प्रवेश डटकर हुआ है। चैतन्यदेव (सं. 1542-1590) ने राग प्रधान रागानुरागा भक्ति को जनभाषा के माध्यम से जनसाधारण के भक्ति आंदोलन में बदलने का प्रयास किया। रामानंद के द्वारा यह बहुत बड़ा कार्य हुआ कि उन्होंने कबीर और तुलसीदास दोनों को जातिवाद विरोधी भक्ति आंदोलन का रास्ता दिखाया है।

6.8 हिन्दी साहित्य का भक्ति आंदोलन : इस्लाम का प्रभाव है या प्रतिक्रिया-

इस विषय पर हमने इस खंड की इकाई सं. 5 में भी चर्चा की है। आइए इस विषय की स्पष्ट समझ के लिए अधिक विस्तार से चर्चा करें। हिन्दी साहित्य में भक्ति धारा का उदय 'वीरगाथाकाल' के बाद क्यों, और कैसे हुआ, इस पर विद्वानों में विवाद हुआ। जिन-जिन लोगों में आत्मविश्वास नहीं था उन्हें एक त्राणकारी की आवश्यकता हुई।' (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध) जयशंकर प्रसाद के इस मत से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत बहुत मिलता है। इस्लाम की आक्रामक परिस्थितियों ने भक्ति आंदोलन को तीव्र किया। साथ ही भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा अवकाश दिया।' आचार्य शुक्ल 'जनता की चित्तवृत्ति' के अनुसार भक्तिकाल के उदय की व्याख्या करते रहे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में 'लोकचिंता' को आधार बनाकर आचार्य शुक्ल के मत का प्रतिवाद किया। भारतीय साहित्य की प्राणधारा और भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास पर ध्यान देकर उन्होंने कहा-'मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस (हिन्दी) साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।' आचार्य द्विवेदी ने कहा कि हिन्दी साहित्य 'हतदर्प पराजित जाति' की सम्पत्ति नहीं है और न मुस्लिम आक्रामण की प्रतिक्रिया है।

आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के द्वारा उठाए गए विवाद को लेकर नए सिरे से रामस्वरूप चतुर्वेदी और नामवर सिंह के बीच एक वैचारिक युद्ध हुआ। प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' (पृ. 39) में लिखा है- 'यहाँ स्पष्ट है कि रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति संबंधी अपनी व्याख्या में इस्लाम के प्रति जो प्रतिक्रिया की बात कही थी वह हजारीप्रसाद द्विवेदी को स्वीकार नहीं है। अच्छा तो होता कि दो पंडितों के बीच के इस विवाद को यही छोड़ा जा सकता। पर एक तथ्य की ओर ध्यान दिलाए बिना यह प्रसंग अधूरा रह जायगा। सूरदास विषयक अध्ययन करते समय विद्वानों ने प्राय: वल्लभाचार्य की इन पंक्तियों को उद्धत किया है, 'देश म्लेछाक्रांत है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, तत्पपुरुष पीड़ित व ज्ञान-विस्मृत हो रहा है, ऐसी स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।' भक्त कवियों के प्रमुख गुरु के सीधे साक्ष्य पर यों प्रतिक्रिया वाली व्याख्या पुष्ट होती है। अच्छा होता है कि प्रभाव और प्रतिक्रिया दोनों रूपों में इस्लाम की व्याख्या सहज भाव और अकुंठ मन से की जाए। तब आचार्य शुल्क और आचार्य द्विवेदी के बीच दिखने वाला यह मतभेद अपने आप शांत हो जाएगा। भक्ति काव्य के विकास के पीछे बौद्ध धर्म का लोकमूलक रूप है और प्राकृत के श्रृंगार की प्रतिक्रिया है तो इस्लाम के सांस्कृतिक आंतक से बचाव की सजग चेष्ट भी है। इस्लामी प्रतिक्रिया वाली रामचन्द्र शुक्ल की व्याख्या को कई बार अनजान में, या कि शायद जानबूझकर, विभ्रमित किया जाता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य का भूमिका' और उनके योग्य शिष्य नामवर सिंह ने गुरु-प्रसंग में लिखित अपनी पुस्तक 'दूसरी परम्परा की खोज' में इस्लाम के आगमन से उत्पन्न सांस्कृतिक आतंक की समस्या को हिन्दुओं के लिए महज सरकारी नौकरियाँ न मिल पाने की चिंता के रूप में देखा है। पर वल्लभाचार्य के लिए प्रश्न नौकरियों का नहीं है हिन्दु अस्मिता का है। इसी प्रश्न को आधुनिक काल में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने 'तुलसीदास' शीर्षक काव्य में उठाया है- 'भारत के नभ का प्रभापूर्ण या शीतल च्छाय सांस्कृतिक सूर्य' अर्थात् भारत का सांस्कृतिक सूर्य मंद पड़ गया है तथा इस्लाम के चन्द्रमा की चाँदनी फैल रही है। निराला ने मुगलों-पठानों के आक्रमण को वर्षा के रूपक में बाँधा है-

'मोगल-दल-बल के जलदायन,
दर्पित पद उन्मदनद पठान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हैं बहा दिग्देश ज्ञान, शरखरतर,
छाया ऊपर घन अंधकार– टूटता वज्र वह दुर्निवार
नीचे प्लावन की प्रलयधार, ध्वनि हर–हर।'

यहाँ का कवि निर्भय–भाव से इस्लाम के सांस्कृतिक आतंक को देख रहा है। इस पर रामस्वरूप चतुर्वेदी की टिप्पणी है–''इस सांस्कृतिक संकट की चुनौती से जुझने को उद्यत होते हैं– तुलसीदास। भक्तिकाल के उदय को लेकर रामचन्द्र शुक्ल की व्याख्या का यह जैसे काव्यात्मक चित्रण निराला ने किया हो। इतिहासकार के दृष्टिकोण का जैसा पुष्ट समर्थन वल्लभाचार्य के प्रकरण ग्रन्थ से होता है वैसी ही मार्मिक सहमति उसे आधुनिक कवि निराला से मिलती है। जायसी ने खुले मन से 'पद्मावत' में हिन्दु–तर्क युद्ध का वर्णन किया है– निराला ने वैसे ही कहा–'शासन करते हैं मुसलमान'। वल्लभ ने 'म्लेच्छाक्रांतेष देशेषु पापैकनिलपेषुच' कहा है। वास्तव में यह हिन्दु–अस्मिता के लिए संकट का समय है।''

'दूसरी परम्परा की खोज' में नामवर सिंह ने रामस्वरूप चतुर्वेदी के मत का विरोध करते हुए लिखा है कि 'यह सही है कि स्त्रोत के इन श्लोकों में एक जगह देश के 'म्लेच्छाक्रान्त' होने का उल्लेख है और यदि म्लेच्छ को मुसलमानों का वाचक मान भी लिया जाए तो यह कहाँ सिद्ध होता है कि गंगादि तीर्थों के भ्रष्ट होने, वेदों के अर्थ के तिहोहित होने, व्रतादिक सभी कर्मों के नष्ट होने, पाखण्ड, पाप, अज्ञान आदि के बढ़ने के लिए म्लेच्छ ही जिम्मेदार है और इन्हीं के आक्रामण के कारण कृष्ण का आश्रय ढूँढा जा रहा है।'' इस पर चतुर्वेदी जी का कहना है कि 'बड़ी कठिनाई से आलोचक मान पाता है कि 'म्लेच्छा' का अर्थ मुसलमान हो सकता है' पर इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि 'अज्ञान आदि के बढ़ने के लिए ये म्लेच्छ ही जिम्मेदार हैं।' तब वल्लभाचार्य का 'कृष्णाश्रय' का मत और आचार्य शुक्ल का 'विपरीत दशा' का देश–संकेत क्या झूठा है, नहीं ऐसा नहीं है। दरअसल, नामवर सिंह मध्ययुग के भारतीय का मुख्य अन्तर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व मानते हैं, इस्लाम और हिन्दु धर्म का संघर्ष नहीं। जबकि इस्लाम के सांस्कृतिक आतंक की बात को नकारा नहीं जा सकता। इसलिए चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि नामवर सिंह इस पूरे परिदृश्य से मुँह मोड़ लेते हैं। क्यों मुँह मोड़ लेते हैं ?ऐसे आलोचक वस्तुत: हिन्दू मुसलमान की चर्चा आते ही परेशान होने लगते हैं। उनकी दृष्टि में यह चर्चा मात्र साम्प्रदायिकता से प्रेरित और प्रभावित है। इस मन: स्थिति के कारण वे हिन्दी भाषा और साहित्य के सच्चे असाम्प्रदायिक चरित्र की अवहेलना करते हैं। वे यह नहीं देखते कि चन्द और जायसी हिन्दू मुसलमान युद्ध की चर्चा करके भी साम्प्रदायिक नहीं होते। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में जायसी यदि किसी से तुलनीय हैं तो तुलसीदास से। रहीम और तुलसी की जनप्रियता की चर्चा में भी वे रहीम को तुलसी से कम महत्त्व नहीं देते। कबीर और जायसी की निर्गुणधारा में हिन्दू तुर्क संघर्ष की चर्चा जगह–जगह मिलती है, पर कृष्ण भक्ति धारा, राम भक्ति धारा या पूरी सगुण भक्ति परम्परा में 'हिन्दू–तुर्क' संघर्ष का सीधा उल्लेख नहीं मिलता है। उल्लेख मिलता है तो नगण्य रूप में। इसका कारण है कि सगुण भक्त कवियों की धारा प्रेम–भक्ति–रागानुगा भक्ति की चरम तन्मयता में ही निमग्न रही है। तुलसी ने तो साफ कहा है कि 'रामहि केवल प्रेम पियारा।' सूफी प्रेम–भाव का प्रभाव कृष्ण भक्त कवियों पर पड़ा और सभी कृष्ण भक्त प्रेम महिमा के मुक्त गायक और प्रशंसक हैं। पूरी की पूरी सगुण भक्ति धारा सामन्तवाद के विरोध में पंडावाद, पुरोहितवाद, जातिवाद के विरोध में डटी हुई है, इस बात की डॉ. रामविलास शर्मा ने तो 'हिन्दी जाति का इतिहास' पुस्तक में विस्तार से चर्चा की है। भक्ति शास्त्र से प्रेरणा लेकर भी भक्तिकाव्य 'शास्त्र' मोह में नहीं फँसता, वह 'लोकधर्म' की ओर उन्मुख रहा है। आचार्य शुक्ल ने 'तुलसीदास' पुस्तक में तुलसी के लोकधर्म की इसी विचार से चर्चा की है। तुलसी के 'लोकधर्म' को 'वर्णाश्रम–धर्म' का पर्याय मानना न केवल अनुचित है बल्कि इतिहास की गलत व्याख्या का परिणाम है। यह न भूलना चाहिए कि रामानंद की भक्ति चेतना से प्रेरित भक्ति आंदोलन न केवल जातिवाद विरोधी था बल्कि विराट जन–आंदोलन था।

6.9 रामभक्ति काव्य के सामन्तवाद विरोधी मूल्य

'भक्ति' तथा 'भक्ति आंदोलन' का पूरा चरित्र सत्तावाद सामन्तवाद का विरोधी रहा है। कृष्ण भक्त धारा के एक भक्त कवि कुम्भनदास का पद 'सन्तन को कहा सीकरी सो काम' इस पूरी विचार परम्परा का प्रतीक है। तुलसीदास ने 'प्राकृत जन कीन्हे गुन गाना' की प्रशस्ति परम्परा का विरोध किया। उनका यह स्वर न केवल विद्रोही स्वर है बल्कि गहरे अर्थों में चारण–भाट–सामन्त पूजा का तिरस्कार करता है। भक्ति आन्दोलन की प्राणधारा से प्रभावित अकबर ने तीर्थकर और जजिया समाप्त कर दिया। उसी के समय में राजा मानसिंह ने वन्दावन और काशी में विशाल मन्दिर बनवाए। कुछ अकबरकालीन ऐसे सिक्के मिले हैं जिन पर 'राम–सीता' का चित्र अंकित है, ऐसी एक अठन्नी 'भारत कला भवन' काशी में है। 'राम–सीय' नागरी में अंकित हैं। अकबर स्वयं सूर्यनाम का हजारा जप करता था और पंडित

सुन्दर लाल जी से हिन्दू शास्त्रों की चर्चा सुनता था। 'ईश्वर' से बड़ा कोई नहीं है यह बात भक्तिकाल में निर्गुण कबीर, प्रेममार्गी जायसी में पूरे विश्वास के साथ मौजूद है उसी बात को 'राम से बड़ो है कौन' पूछकर तुलसी ने राम-भक्ति-महिमा का लीला गान किया है। रसिक राम भक्तिधारा में रामदास, अग्रदास, विष्णुदास, नरहरिदास, कल्याण जी, नाभादास, चतुरदास, मलूकदास सभी ने 'दाताराम' के गुणों का गान किया है- किसी हिन्दू मुसलमान सामन्त का नहीं। इन सभी के लिए भक्ति मात्र उपासना पद्धति नहीं है- एक मूल्य है, एक पूरी जीवन-पद्धति। मर्यादावादी रामभक्ति परम्परा ने वाल्मीकि रामायण के आदर्श पर रामकथा पर आधारित प्रबन्धों की रचना की। तुलसी पूर्व रामभक्ति धारा में कवि ईश्वरदास तथा विष्णुदास ने चरित्र काव्य परम्परा का राम-रूप लिया है। मोहन ने 'हनुमन्नाटक' सूरदास ने 'सूरसागर' में राम-रामायण लिख दी और मीराबाई ने राम की शवन-आरती लिखकर कृष्ण भक्तों की राम निष्ठा का विस्तार किया। परमानंद दास, नंददास, हितहरिवंश सभी राम-सीता गान करते हैं। इस पम्परा का श्रेष्ठ रूप तुलसी दास में 'रामचरितमानस', 'कवितावली' 'गीतावली' 'विनय पत्रिका' आदि रचनाओं के द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। जहाँगीर-कालीन सामंतवाद के अत्याचार तुलसी को याद हैं-

करहि उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करिमाया।
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहि वेद प्रतिकूला॥

'नाना पुराण निगमागम सम्मत' अर्थात् आगम (लोक-परंपरा) निगम (वैदिक-बौद्धिक परम्परा शास्त्र) दोनों परम्पराओं को मिलाकर तुलसी ने राम कथा को सामन्तविरोधी मूल्यों से मंडित किया। राम वनवास के समय ग्रामवासियों से मिलते हैं- केवट-निषाद को गले लगाते हैं, अहिल्या को तारते हैं, पतित पावन राम, दीनबन्धु-दीनानाथ के रूप में सामने आते हैं- वे राजाओं के पास मदद माँगने नहीं जाते, बानरों-भालुओं-भीलों निषादों की मदद से 'जगत दु:खदाता' रावण का वध करते हैं। जगह-जगह मानस में सामन्तवाद-साम्राज्यवाद को नीचा दिखाया गया है। मुनियों-तपस्वियों को सताने वाले ताड़का, सुबाहु, मारीचि का वध लोक को सुखी बनाने के लिए किया गया है। बालि का वध भी 'अनुज-वधू भागिनी सुत नारी' की मर्यादा के तर्क को पुष्ट करता है। तुलसी का रामकाव्य महलों के खिलाफ झोपड़ियों-ग्रामों-वनों की प्रतिष्ठा का काव्य है।

यवन भील कोल किरात निषाद सभी को राम अपनाते हैं और निषादराज को तो 'भरत सम भाई' कहते हैं। शास्त्र और शास्त्रीयता को तोड़कर तुलसी राम कथा को लोक ग्राह्य बनाते हैं। राम कथा के रचनाकार शिव हैं और श्रोता पार्वती। शिव-पार्वती ही यह कथा लोक में फैलाते हैं। संस्कृत को छोड़कर तुलसी-जन-भाषा (अवधी) में रचते हैं। लोक-काव्यरूपों को, लोक छन्दों को अपनी कृतियों में अपनाते हैं। दरबारी काव्य-परम्परा के मूल्यों को राम भक्ति हर स्तर पर चुनौती देती है। रीतिकाल में (केशवदास जिनका समय भक्तिकाल में पड़ता है) 'रामचन्द्रिका' के राम केशव के दरबारी काव्य के राम हैं भक्ति काव्य के 'अशरण-शरण राम' नहीं हैं। तुलसी की भक्ति का स्वरूप पुरोहितवाद, मुल्लावाद-पंडितवाद को अपनाने के विरूद्ध सतत संदेश देता है। राम का दीन बंधु, दीन दयाल, दीन रक्षक का रूप ही सामन्तवादविरोधी मूल्य है। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'तुलसी साहित्य के सामन्तविरोधी मूल्य' तथा 'भक्ति आंदोलन और तुलसीदास' शीर्षक निबन्धों में कहा है कि-

1. यथार्थ यह है कि वर्णाश्रम धर्म के समर्थक पुरोहितों ने तुलसीदास को काफी सताया था और तुलसीदास ने भी उनका उचित उत्तर देने में आगा-पीछा न किया था।
2. तुलसी की भक्ति सभी जातियों और वर्णों को मिलने वाली थी।
3. तुलसी की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती। जिन तमाम लोगों के लिए पुरोहित वर्ग ने उपासना और मुक्ति के द्वारा बन्द कर दिए थे, उन सबके लिए तुलसी ने उन्हें खोल दिया।
4. पुरोहित वर्ग ने जो व्यवहार नीची जातियों के साथ किया था वही व्यवहार उसने स्त्रियों के साथ किया था। उनके लिए केवल एक ही धर्म था कि पति की सेवा करें। तुलसीदास ने स्त्रियों के लिए उपासना के द्वार खोल दिए। राम से मिलने, उनका स्वागत सत्कार करने, उनका स्नेह पाने में स्त्रियाँ सबसे आगे रहती हैं।
5. तुलसीदास ने जनसाधारण के सौंन्दर्य-बोध की जैसी सुकुमार व्यंजना की है, वह हिन्दी साहित्य में अनुपम है।
6. याद रखना चाहिए कि तुलसी सूर आदि कवियों ने चार सौ साल पहले ही भारतीय संस्कृति को चम्तकारवादियों से मुक्त करने का बीड़ा उठाया था।
7. तुलसीदास हमारे जातीय जनजागरण के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी कविता की आधार शिला जनता की एकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तुलसी साहित्य एक ओर आत्मनिवेदन और विनय का साहित्य है, दूसरी ओर वह 'प्रतिरोध का साहित्य भी है।' (परम्परा का मूल्यांकन, पृ. 94)

6.10 भक्ति-भावना का अर्थ-संदर्भ

निर्गुण-सगुण में अभेद भाव, सगुण में गहरी आस्था ही राम भक्ति की भक्ति नहीं है। भक्ति रसपान के लिए भक्त कवि में याचक भाव है और भक्ति ऐसी जिसमें अहं का विलयीकरण हो। रचना और भक्ति दोनों प्रक्रियाएँ एक साथ सक्रिय रहती है। ये भक्त कवि अपने को सबसे बुरा, सबसे पतित कहते हैं, यह इनका विनय-भाव है। प्रपत्तिवाद, शरणागत भाव से उपजी दास्य भक्ति का चरम प्रतिमान हनुमान भाव की भक्ति है जिसमें राम से बड़ा राम भक्त है- 'राम ते अधिक राम कर दासा'। नाम, ध्यान, स्मरण, जप नवधा भक्ति के सभी रूपों को राम भक्ति में अपनाया गया है। रामभक्ति का सार यही है- सेव्य-सेवक भाव।

सेव्य सेवक भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त विचारि॥ (मानस)

तुलसीदास ने दार्शनिक और ज्ञानी से भक्त को बड़ा घोषित किया है और अलख-निरंजनवादी-'गोरख जगायो जोग' योग-तन्त्र के चमत्कारवादी विधान का खण्डन किया- **तुलसी अलखहि का लखै राम नाम जपु नीच।** साथ ही उन्होंने शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, नारद भक्ति-सूत्र, गीता के भक्ति मार्ग को छानकर भक्ति-रस का लोकमंगलमय स्वरूप निर्मित किया। इस भक्ति पर राजा रंक, नर-नारी, ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान, मंडित-मूर्खा सभी का समान अधिकार है, सभी राम भगति के अधिकारी हैं। तुलसी ने धर्म और दर्शन को जोड़कर 'भक्ति' का एक विशिष्टद्वैतवादी ढाँचा निर्मित किया जिसमें कोई भी पराया नहीं है और किसी को भी भक्ति की मनाही नहीं है। तुलसी से पूर्व कबीर ने भक्ति की व्याख्या में कर्मकाण्ड-पुरोहितवाद का खण्डन किया था- वेद पुराणों की निंदा की थी-

.... कहनी उपखान।

साखी सबदा चाहरा ....

भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहि वेद-पुराण॥

रामभक्ति धारा ने वैष्णव भक्तिवाद को सरल बनाने के लिए लोकचित्त को आकृष्ट करने के लिए अवतार-लीलावाद को अपनाया। 'रामचरितमानस' महाकाव्य से ज्यादा लीलाकाव्य है, चरित काव्य है। राम कथा सभी संशयों को दूर कर जन मन में राम के प्रति दृढ़ भक्ति पैदा करती है। भक्तों के लिए राम करुणा के सागर है। सन्तों का संग, प्रभु का कथा में प्रेम, गुरुपद सेवा, प्रभु के गुणों का गान, मन्त्र-जाप, सज्जन धर्म से सेवा, सन्तों का आदर, प्रभु का सखा-सखी भाव से स्मरण, आत्मनिवेदन यही नवधा भक्ति है। 'नवधा भगति कहौं मोहि पाही' तुलसी का यही संकेत है। ज्ञानमार्ग, कर्मयोग मार्ग से भक्ति-मार्ग श्रेष्ठ है। तुलसीदास ने 'मानस' के 'उत्तरकाण्ड' में ज्ञान और भक्ति की विस्तार से चर्चा की है। ज्ञान-मार्ग को तलवार की धार पर चलना कहा है, पर भक्ति-मार्ग सभी के लिए सुलभ है। इस प्रकार राम काव्य परम्परा 'निर्वाण' तथा 'मोक्ष' को न चाह कर राम के चरणों की भक्ति, अनन्य भक्ति का प्रतिपादन करती है।

6.11 रामकाव्य परम्परा में लोक जीवन और लोक संघर्ष

रामभक्ति काव्य में 'लोक-धर्म', 'लोक चिन्ता', 'लोक मानस', 'लोकरक्षा' तथा 'लोक मंगल' की भावना का प्राधान्य है। प्रमुख राम भक्त कवि तुलसी ने लोक संघर्ष अर्थात् साधारण जनता के जीवन संघर्ष का चित्रण किया है। तुलसी काव्य के नैतिक मूल्यों का संघर्ष साधारण जन संघर्ष से जुड़ा संघर्ष है। स्वयं तुलसी ने भूख-गरीबी, अकाल, काम-क्रोध-मद-लोभ से संघर्ष किया है और इस आत्म संघर्ष के चित्र 'कवितावली, गीतावली, दोहावली, विनय पत्रिका में विशेष रूप से दिए हैं। तुलसी काम से लड़ते हैं तो उसे नष्ट करने के लिए, उसे 'मर्यादित' करने के लिए लड़ते हैं। 'नारद मोह प्रसंग' में नारद की खिल्ली उड़ाते हैं तो शूर्पणखा की काम-उद्दण्डता पर दण्ड देते हैं और रावण को 'काम' मर्यादा अस्वीकार करने के कारण मरण-दण्ड। तुलसीदा वैराग्य का उपदेश नहीं देते पर लोक मर्यादा के पालन का संदेश देते हैं। जनक वाटिका में राम को 'कंकन-किंकिन नुपुर धुनि सुनि', 'मदन दुंदुभी दीन्हीं' का विचार आता है तो कहते हैं- 'मन कुपंथ पथ' कभी भी रघुवंश परम्परा में नहीं रहा है। रावण परशुराम, नारद और बालि को मद हो गया तो राम उस मद को तोड़ते हैं। समुद्र को बल का मद हो गया तो राम ने 'भय बिनु होय न प्रीति' का सहारा लिया। तुलसी ने लोक को संघर्ष करने का उपदेश दिया है- यह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संसार झूठा मिथ्या नहीं है सत्य है, इसमें कर्म सौंदर्य ही सत्य है।'झूठो है झूठो है' कहने वालों पर तुलसी ने व्यंग्य किया है और इस संसार को 'सीय राम मय सब जग जानी' अर्थात् सीता-राम का यथार्थ रूप माना है। नीच कर्म में पड़े ब्राह्मण-पुरोहित, जातिवाद में पागल व्यक्ति की वे निंदा करते हैं।'राम राज्य' की आदर्श-कल्पना में सुखी सम्पन्न जीवन का स्वप्न है। तुलसी के समय 'कालि बारहि बार अकाली परै', 'खेती न किसान को भिखारी को भीख बलि', बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी' की चर्चा है- 'दारिद-दसानन' ने दरिद्रता रूपी रावण ने जनता को बेहाल कर दिया। गरीबी-भुखमरी-दरिद्रता का जितना वर्णन अकेले तुलसी ने अपनी रचनाओं में किया है उतना मध्ययुग के किसी अन्य कवि ने नहीं। उन्हें स्वयं 'बारे ते लाल बिललात द्वार-द्वार दीन' का अनुभव था। इसलिए उन्होंने जनता को 'दारिद दसानन' से संघर्ष करने का संदेश दिया है।

6.12 रामकाव्य परम्परा में नारी

राम भक्ति काव्य में नारी को लेकर जो बातें कही गई, दुर्भाग्यवश उनका गलत प्रचार किया गया है। तुलसी को तो नारी विरोधी छवि ही बना डाली है। जबकि राम भक्तिधारा नैतिकतावादी-मर्यादावादी मूल्यों पर ही टिकी विचारधारा है और तुलसी के ग्रंथ लोक-जीवन में आचार-शास्त्र का काम करते रहे हैं। यह भी कहा जाता है कि तुलसी ने मीराबाई को पत्र-लिखकर जीवन का रास्ता दिखाया था- 'जाकै प्रिय न राम वैदेही। तजिए ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही।' ऐसे तुलसीदास को नारी-विरोधी कहने का क्या अर्थ हो सकता है ?इस बात पर आज गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। तुलसी के 'रामचरित मानस' 'कवितावली' को बिना पढ़े, बिना सही संदर्भ में समझे प्रायः तुलसी की निंदा की जाती है।'वन्दौ कौसल्या दिशि प्राची' कह कर राम की माता की वन्दना करते हैं- सीता को जगत-जननी कहते है और शिव के साथ पार्वती का आदर करते हैं।

'रामचरित मानस' के कथा-प्रसंगों में कई बार 'सुनहु सती सब नारि सभाऊ' की चर्चा विशेष सन्दर्भ में आती है- पार्वती शिव से छल करती हैं तब शिव नारी स्वभाव में छल की बात उठाते हैं। राम के सामने शबरी विनय-वश कहती है- 'अधम ते अधम अधम अति नारी' यहाँ नारी को अधम सिद्ध करना कवि का उद्देश्य नहीं है। भरत जैसा महान् चरित्र एक बार क्रोध में नारियों को 'सकल कपट अघ अवगुन खानी' कह देता है पर यह सामान्य-भाव धारणा नहीं है। रावण को नीच-वचनों में एक नरि स्वभाव के 'आठ अवगुन' आते हैं पर सोचने की बात है कि तुलसी के मन में रावण के प्रति कौन सा भाव है। तुलसीदास नारी के माता रूप पर प्रहार नहीं करते। कभी कभार नारी के कामिनी कामान्ध रूप पर प्रहार करते हैं 'नारि निबिड़ रजनी अंधियारी'। कभी कभार 'जिमि स्वतंत्र होई बिगरहि नारी' या 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' जैसे वचन आते हैं। तुलसी सतीनारी और कुलटा नारी में लोकमन के हिसाब से भेद करते हैं। राम और रावण में भी भेद करते हैं। नारी के प्रति तुलसी के अपार आदर न होता तो राम-कथा में राम, सीता के लिए मारे-मारे न फिरते। रावण द्वारा हरण करने पर सीता के लिए मछली की तरह न तड़पते। थकानभरी सीता को देखकर 'पिय की अँखिया' आँसू न टपकातीं। राम के अवध लौटने पर नारियाँ ही आगे हैं- नारि-समुद्र उमड़ पड़ा है। कैकेयी से राम क्षमा न माँगते- 'प्रथम तासु घर गए भवानी'। इस प्रकार राम-कथा में नारी की महिमा है यही महिमा गान मैथिलीशरण के 'साकेत' और निराला की 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' काव्य की शक्ति बना है।

6.13 राम काव्य में समन्वय साधना

हिन्दी में राम भक्ति काव्य धारा अपनी उदार समन्वय साधना के कारण बड़े आदर से याद की जाती है। इस समन्वय साधना का सर्वोत्तम रूप तुलसीदास के रचना-कर्म में प्रतिफलित हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि लोक-नायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। ध्यान में रखने की बात है कि विरुद्धों में सामन्जस्य स्थापित करना सरल कार्य नहीं है, उसके लिए अक्ल और धीरज चाहिए। यह अक्ल और धीरज, समन्वय के साधक तुलसीदास में है- 'उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है, लोक-शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा तत्वज्ञान का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय- 'रामचरित मानस' शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।'

हिन्दी में आगम-निगम परम्परा का इतना बड़ा जानकार और समन्वयकार कोई दूसरा नहीं। विद्वानों ने ठीक कहा है कि गौतम बुद्ध के बाद तुलसीदास ही भारत में सबसे बड़े लोक नायक हुए। इस कवि ने अपने समय में प्रचलित देवी-देवताओं, दार्शनिक विचारधाराओं, अवधी, ब्रजी की भाषा परम्पराओं का समन्वय किया। शैव-शाक्त चिन्तन पम्परा से वैष्णव-चिन्तन परम्परा का पुराना झगड़ा चला आ रहा था। इस कलह का शमन जरूरी था। 'मानस' में राम सीता को आदर दिया गया है। राम कहते हैं- शिव-द्रोही मेरा दास मुझे एकदम नापसन्द है।'शिव द्रोही मम दास कहाना। जोजन मोहि सपनेहुं नहिं माना'।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मध्ययुगीन भारतीय विचारधारा में अनेक मत–मतान्तर थे और उनका परस्पर विरोध कभी भी प्रबल हो जाता था। विद्रोही के मूल में सामाजिक–धार्मिक विषमता थी। धर्म, जाति, दर्शन और उपासना के रगड़े–झगड़े थे। कर्मकाण्डी पुरोहितवर्ग भक्तिवादियों से झगड़ रहा था। आर्य और आर्येतर विचारधाराएँ टकरा रही थीं तुलसी जब 'गोरख जगाओ जोग भार्गात भगाओ लोक' कहते हैं तो यों ही नहीं कहते। उसके पीछे भक्ति आंदोलन का पूरा अनुभव बोलता है। सिद्धों–नाथों–कापालियों–तान्त्रिकों के चमत्कारवाद, गुह्य–साधना, कृच्छ–साधना से भक्ति मार्ग के साधकों को टकराकर नया मार्ग निकालना पड़ा। वाममार्गी मद्य, मांस, मुद्रा और मैथुन – इन पाँच मकारों की उपासना करते थे, तुलसी ने इस शाक्त–मत का विरोध किया– 'तजि श्रुतिपंथ वामपंथ चलहीं'। तुसली को वेद–मार्ग आता था– वैष्णव चिन्तन परम्परा स्वीकार्य थी। रामानंद ने वैष्णव भक्ति के द्वार निचली जातियों के लिए खोलकर बहुत बड़ा सामाजिक उपकार किया। कबीर और तुलसी, निर्गुण और सगुण दोनों को मिला देने का नतीजा सुखदायक सिद्ध हुआ। भक्ति काव्य की एक मूल विचार ध्वनि है– प्रेम (पेमो पुमर्थो महान), प्रेम ही मानव–जीवन का अमृत है। रामानंद ने मंत्र दिया था– 'जाति–पाँति बूझे नहि कोई। हरि को भजै सो हरि का कोई।' इसी मंत्र से तुलसी ने 'सियाराम मय सब जग जानी' का प्रतिपादन किया।

'नाना पुराण निगमागम सम्मत्' विचार ने राम भक्ति धारा में नया लोक धर्म पैदा किया। यही सिद्धपीठ लोकमंगल कहलाती है। जो लोग तुलसी को 'ब्राह्मणवादी' मानते हैं उन्हें गंभीरता से उनके समन्वय सिद्धान्त पर विचार करना चाहिए। 'मांगि के खाइबो मसीन में सोइबो' कहने वाले तुलसीदास को जीवन भर संघर्ष करना पड़ा। काशी के सामन्तों–पुरोहितों ने उन्हें कम नहीं सताया था पर वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए।

6.14 तुलसी परवर्ती राम काव्य-परम्परा

तुलसीदास ने राम–भक्ति काव्य को इतना उत्कर्ष प्रदान किया कि वे आगे के कवियों के लिए नवीन सर्जनात्मक सम्भावनाएँ लगभग समाप्त हो गई। यह भी सच है कि तुलसी के पश्चात् राम–भक्त कवि अधिक नहीं हुए। अग्नदास ने 'कुण्डलिया रामायण' और 'ध्यानमंजरी' में राम–कथा का वर्णन किया है। प्राणचन्द चौहान ने 'रामायण–महानाटक' तथा हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' का सृजन किया। लालदास ने 'अवध–विलास' लिखी। रामभक्त कवियों की संख्या बहुत कम है। वैयक्तिक अनुभूतियों के स्वच्छन्द विलास के लिए कृपाण का चरित्र–अधिक उपयुक्त था। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने कृष्ण राधा को 'श्रृंगार को सार किसोर–किसोरी' कहकर अपनी कविता का विषय बनाया है। तुलसीदास तथा परवर्ती भक्त कवियों के पश्चात् रामकाव्य का सृजन करने वाले कवियों में केशवदास का नाम उल्लेखनीय है। विद्वानों का मत है कि केशव ने बाल्मीकि रामायण और तुलसी के 'रामचरितमानस' से प्रेरणा ग्रहण करते हुए 'रामचन्द्रिका' की रचना की। केशव विद्वान और आचार्य तो थे– पर उन्हें कवि–हृदय नहीं मिला था। प्रबन्ध काव्य के लिए कथा के मर्मस्पर्शी स्थलों की उन्हें पहचान नहीं थी। केशव ने राम को मर्यादा–पुरुषोत्तम के रूप में नहीं, एक रीतिकालीन वैभवसम्पन्न सामन्त के रूप में प्रस्तुत किया। अलंकार और द्वन्द्वकला के प्रदर्शनकारी चमत्कारवाद के कारण 'रामचन्द्रिका' आभाहीन होती गई। फिर केशव का समय तो भक्तिकाल है, पर प्रवृत्तियाँ रीतिकालीन हैं। पंडिताई उनके लिए बोझ है जिसके नीचे उनका कवि दबकर रह गया है।

रीतिकाल में राधा–कृष्ण के सुमिरन के बहाने श्रृंगार को अतिशय महत्त्व मिला। राम का लोकसंग्रही रूप रीतिकालीन कवियों की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं पड़ सका। यही कारण है कि इस काल में बहुत कम रचनाएँ राम को लेकर लिखी गई हैं। रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह ने 'रामस्वयंवर' तथा 'आनन्दरघुनन्दन नाटक' महन्त रामचरण दास ने 'कवितावली रामायण' आदि राम कथा की रचनाएँ की हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि रामचरण दास ने राम–सीता के श्रृंगार का वर्णन करके राम भक्ति में माधुर्य भाव को स्थान दिया।

आधुनिक काल में नवजागरण की चेतना से प्रेरणा पाकर अनेक रचनाकर रामकाव्य के सृजन कर्म में प्रवृत्त हुए हैं। इनमें भारतेन्दु, रामचरित उपाध्याय, रामनाथ ज्योतिषी अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', 'आचार्य बलेदवप्रसाद मिश्र, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक साहित्य की रामकाव्य–परम्परा से सर्वाधिक महत्त्व मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य 'साकेत' और खण्डकाव्य 'पंचवटी' को मिला है। साकेत पर वैष्णव चिन्तन और गाँधी–विचार दर्शन की गहरी छाप है। 'साकेत' का कथा विधान नए युग की विचारधाराओं से आन्दोलित है। तुलसी के 'मानस' के बाद रामकाव्य परम्परा में 'साकेत' और 'पंचवटी' का अविस्मरणीय स्थान है। छायावाद के और आधुनिक हिन्दी कविता के सबसे क्रान्तिकारी कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के प्रिय कवि तुलसीदास रहे हैं। निराला जी ने जीवन भर काव्य सृजन किया लेकिन सर्वाधित प्रतिभा का विस्फोट उनकी दो रचनाओं में हुआ– 'राम की शक्तिपूजा और 'तुलसीदास' हिन्दी प्रदेश का नवजागरण निराला जी की जातीय प्रतिभा में नया अर्थ–सन्दर्भ पाता है और इस अर्थ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सन्दर्भ को सामने लाने का माध्यम है– रामकथा। इस परम्परा में आगे चलकर सुमित्रानन्दन पंत, नरेश मेहता और जगदीश गुप्त के नाम भी उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि राम–काव्य–परम्परा आज भी हिन्दी कविता में नए रूपों और रंगों को लेकर निरन्तरता और परिवर्तन के साथ दिखाई देती है।

6.15 सारांश

राम भक्ति काव्य धारा तीन रूपों में प्रवाहित हुई–

(1) बौद्धों तथा जैनियों के द्वारा रचित राम काव्य,

(2) रसिक–सम्प्रदाय के कवियों का राम–काव्य और

(3) नैतिक मूल्यों पर आधारित राम–भक्त कवियों की मर्यादावादी परम्परा।

इन तीनों रूपों में सर्वाधिक लोकप्रिय हुए– राम भक्त कवि इनमें भी तुलसीदास। तुलसीदास ने प्रबन्ध–मुक्तक गेय परम्पराओं की सभी लोक–शैलियों को अपनाकर जनता का मन मोह लिया। अवधी–भाषा के सरल सहज साहित्यिक रूप को निखारकर इतना सर्वनात्मक बना दिया कि उसका काव्य सौन्दर्य अपनी शोभा में अनुपम हो उठा। भारतीय मिथकशास्त्र और सौन्दर्य–दर्शन, काव्य शास्त्र और संस्कृत–प्राकृत के रचनात्मक साहित्य को निचोड़कर तुलसी ने राम काव्य में शील, भक्ति, सौन्दर्य का निरूपण किया। दरअसल रामकाव्य का विकास 'लीला नाट्य' 'लीला काव्य' के रूप में हुआ। राम लीला की परम्परा का श्रीगणेश भी तुलसीदास ने किया। आज देश विदेश में राम लीला की एक विशाल परम्परा मिलती है। राम–कथा के राम को साम्राज्यवाद–अधिनायकवाद का विरोधी बना दिया। राम कथा अन्याय के विरोध का प्रतीक बन गई। अंग्रेजी–शासन में बाबा रामचन्द्र ने रामकथा से अवध–किसान–आन्दोलन चलाया और हर भारतीय ने अपनी शक्ति और अस्मिता को राम कथा में पाया। राम कथा का लोक–सौंदर्य कथा की नाटकीयता, मार्मिकता, रसज्ञता, संवाद योजना, अप्रस्तुत–योजना, छन्द–लय–विधान या पात्र–योजना तक ही सीमित नहीं है। वास्तविकता यह है कि राम कथा समस्त भारतीय सौंदर्य चेतना का प्रतिमान है। भक्ति–काव्य के बाद रीतिकाव्य में राम कथा में उतार आया। लेकिन आधुनिक काल में मैथिलीशरण गुप्त और निराला ने राम काव्य को नया अर्थ–सौन्दर्य दिया। आज भी 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है' वाली बात सच मालूम होती है। हिन्दी में राम भक्ति काव्य परम्परा ने लोक और शास्त्र दोनों के सामन्जस्य से अपना पथ–प्रशस्त किया है। ऊपर से उनकी रचना–स्वान्तः सुखाय, आत्म निवेदनात्मक, आत्म प्रबोध के लिए दिखाई देती है– लेकिन गहराई में हम पाते हैं कि लोक–धर्म, लोक–चिन्ता, लोक–मंगल ही इस रचना कर्म की प्रेरणा भूमि है। ये सभी भक्त कवि 'भक्ति' को लोक कल्याण के अहं के परिष्कार का माध्यम मानते हैं लेकिन उपदेशक की भूमिका में नहीं जाते। रचना में उपदेश है तो राम–कथा के अंतर्गत ही है। रामभक्त कवि की ओर से उसे आरोतिप नहीं किया गया है।

कवि का तो एक ही उपदेश है– हरि पद में अनुराग, नवधा–भक्ति में डूबकर तन्मन्यता की प्राप्ति, नैतिक–मूल्य भावना से सुधार–परिष्कार–विस्तार। भारत के राममय होने का कारण भी यही है कि संत कवि तुलसी ने परम्परा के अमृत तत्व को उसमें भर दिया है। राम हमारे जीवन का आदर्श है और रावण यथार्थ। व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो यदि इसमें रावण वृत्तियाँ हैं तो उसका पतन निश्चित है। ऐसी भावना के कारण राम–कथा अन्याय पर न्याय के जीत की कथा है।

6.16 प्रश्न अभ्यास

1. राम काव्य परंपरा का परिचय दीजिए।
2. काव्य प्रवृत्ति के आधार पर रामभक्ति साहित्य का मूल्यांकन कीजिए।
3. रामकाव्य में लोकमंगल की भावना का विवेचन कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–7

कृष्ण भक्ति काव्य

संरचना

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 कृष्ण का विकास

 7.2.1 अवतारवाद और कृष्ण का मानुषीकरण

 7.2.2 भागवत और सगुण कृष्ण

7.3 भक्ति चिंतन

 7.3.1 वैष्णवाचार्यों की भूमिका

 7.3.2 मध्यकालीन समय और समाज

 7.3.3 सामंतवाद का विरोध

 7.3.4 लोक और शास्त्र

 7.3.5 लोक छवि और दृश्य

 7.3.6 रंजक और रक्षक रूप

7.4 सगुण भक्ति

 7.4.1 भ्रमरगीत प्रसंग

 7.4.2 कृष्णलीला

 7.4.3 वात्सल्य और श्रृंगार

7.5 अष्टछाप

7.6 शिल्प विधान

 7.6.1 भाषा

 7.6.2 कृषि–चरागाही संस्कृति

 7.6.3 ललित कलाएँ

7.7 सारांश

7.8 अभ्यास प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

कृष्ण भक्तिकाव्य एक लंबा समय पार करता है। कृष्ण का व्यक्तित्व प्राचीन है और उसमें परिवर्तन होते रहे हैं। इतिहास, गाथा, पुराण, मिथकीय जगत् सब उसमें सम्मिलित हुए हैं। महाभारत में वे सूत्रधार की भूमिका में हैं और यह उनकी असंदिग्ध स्वीकृति है। मध्यकाल तक आते–आते कृष्ण का अवतारी रूप भारतीय भाषाओं की रचनाशीलता में स्थापित हुआ। भागवत् को भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ स्वीकार किया जाता है जहाँ कृष्णलीला के उत्स मौजूद हैं, राधा की अनुपस्थिति अवश्य आश्चर्य में डालती है। लगभग इसी समय छठी–नौंवी शताब्दी के बीच तमिल आलवार संतों का दिव्यप्रबंधम है जहाँ कृष्णभक्ति को पूरी रागमयता में प्रस्तुत किया गया। पुराणों में कृष्ण का मानुषीकरण भक्तिकाव्य को नयी दिशाओं में अग्रसर करता है और उसे व्यापकता मिलती है। जयदेव से लेकर अष्टछापी कवियों, सूरदास आदि तक इसकी लीला का प्रसार है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

एक विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि कृष्णभक्ति काव्य के विकास में वैष्णवाचार्यों की भूमिका क्या है और कवियों ने इस चिंतन का उपयोग कैसे किया। आलवार संतों की भक्ति भावनामय है, पर भागवत को कृष्ण के अवतारी रूप का बराबर ध्यान है और उसमें ईश्वरत्व के संकेत निरंतर मौजूद हैं। रामानुजाचार्य ने भक्ति का प्रपत्ति दर्शन विकसित किया जिसमें सब सम्मिलित हो सकते हैं। पर जहाँ तक कृष्णभक्ति का संबंध है, निम्बार्क का प्रमुख स्थान है जो कृष्ण अथवा बासुदेव को पर ब्रह्म मानते है– सच्चिदानन्द। यहाँ राधा–कृष्ण की युगल मूर्ति की स्वीकृति है। आगे चलकर वल्लाभाचार्य ने विशिष्टाद्वैत तथा पुष्टिमार्ग के माध्यम से इसे पूर्णता पर पहुँचाया। आचार्यों ने कृष्ण भक्तिकाव्य को बौद्धिक आधार दिया, पर कवियों ने उसे संवेदन–संसार में विलयित करने का प्रयत्न किया। साथ ही इसको व्यापकत्व भी मिला। हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों के साथ बंगाल में चैतन्य, चंडीदास आदि हैं और असम में शंकर देव।

कृष्ण भक्तिकाल मध्यकाव्य सामंती समाज की उपज है पर उसका वैशिष्ट्य यह है कि वह उसे संवेदना के धरातल पर ललकारता भी है। सामंती देहवाद के स्थान पर वह प्रेममय रागभाव को स्वीकृति देता है, जिसका पर्यवसान भक्ति में होता है। जिस गोकुल–वृन्दावन में कृष्णलीला का सर्वोत्तम रचाया गया, वह बैकुंठ समान है। कृष्ण, जीव के सुख के लिए अवतरित होते हैं और वे निर्विकार हैं। बाल लीलाओं के माध्यम से कृष्ण का निर्मल रूप उभरता है और गोवर्धन लीला जैसे प्रसंगों से कृष्ण के व्यक्तित्व का लोकरक्षक रूप स्थापित होता है क्योंकि वे इन्द्र को चुनौती देते हैं। कृष्ण का व्यक्तित्व खुली भूमि पर है, जिसमें प्रकृति की भी भूमिका है। यहाँ यथार्थ लोकसंस्कृति के माध्यम से आया है, इसलिए उसकी पहचान कठिन है।

एक प्रश्न लोक और शास्त्र अथवा लोकछवि का भी है। भक्ति का शास्त्र निर्मित हुआ और काव्यशास्त्र भी। पर कृष्ण–भक्तिकाव्य शास्त्र के स्थान पर लोक का वरण करता है और कर्मकांड आदि की यहाँ कोई अनिवार्यता नहीं है। उपास्य–उपासक के मध्य सीधा संवाद इसकी विशेषता है। कृष्ण की जो लोकछवि लीलाओं के माध्यम से उभरती है, वही उन्हें पूज्य बनाती है। इसलिए कवियों का आग्रह सगुण भक्ति पर है, जिसका आधार कृष्ण की विभिन्न लीलाएँ हैं– बालजीवन, माखनलीला, वृन्दावन विहार, रास आदि। ये कवि मानते हैं कि निर्गुण कठिन है, इसलिए से सगुण का वरण करते हैं। भ्रमरगीतसार प्रसंग में गोपिकाएँ ऊधौ द्वारा प्रतिपादित निर्गुण को अस्वीकार कर देती हैं। मर्यादा के स्थान पर यहाँ रागात्मकता का आग्रह है।

कृष्ण भक्तिकाल में अष्टछाप के कवियों को विशेष महत्त्व दिया जाता है, जिनमें सूरदास सर्वोपरि हैं। रागभाव से भक्ति के उच्चतम धरातल पर पहुँचने के प्रयत्न में कवियों ने ब्रजभाषा के लोकभाषा रूप को ग्रहण किया और लोकप्रियता मिली। संगीत से मिलकर वह जनवाणी में प्रवेश कर गया। यह भी विचारणीय पक्ष है कि क्या कृष्ण भक्तिकाव्य को कृष्ण–चरागाही संस्कृति से संबद्ध कर के देखा जा सकता है। इस इकाई में हम इस विषय पर भी विचार करेंगे। एक उल्लेखनीय पक्ष यह है कि कृष्ण भक्तिकाल कलाओं के अंतरावलम्बन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। अपनी दृष्टि में वह उदार है कि रसखान जैसे कवि इस ओर आकृष्ट हुए। कृष्णलीला, साहित्य के अतिरिक्त संगीत, चित्र आदि के माध्यम से भी व्यक्त हुई और इस आकृष्ट हुए। कृष्णलीला, साहित्य के अतिरिक्त संगीत, चित्र आदि के माध्यम से भी व्यक्त हुई और इस प्रकार कृष्ण भक्तिकाव्य का समग्र कला–संसार निर्मित हुआ और उसे व्यापकत्व मिला।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कृष्ण के मिथकीय व्यक्तित्व के विकास को समझा सकेंगे,
- भक्ति चिंतन और भक्ति संवेदना के आधार पर कृष्ण काव्य का मूल्यांकन कर सकेंगे,
- कृष्ण काव्य के संदर्भ में मध्यकालीन समाज के अंतर्द्वन्द्वों की चर्चा कर सकेंगे, और
- कृष्ण भक्ति के संदर्भ में उपजे सांस्कृतिक आंदोलन को भी आप समझ सकेंगे, जिसने कला के विविध क्षेत्रों को प्रभावित किया।

7.2 कृष्ण का विकास

भारतीय परंपरा में राम और कृष्ण दो ऐसे विशिष्ट चरित्र हैं, जिन्होंने संपूर्ण रचनाशीलता को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। उन्हें विष्णु के अवतार के रूप में देखा गया और भारतीय समाज में उन्हें व्यापक स्वीकृति मिली। प्राय: माना जाता है कि राम त्रेता के अवतार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हैं और कृष्ण द्वापर के। पर विचारणीय तथ्य यह है कि कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास कुछ चरणों में हुआ और मध्यकाल तक आते–आते उनमें इतिहास के साथ गाथा का ऐसा संयोजन हो चुका था कि उन्हें ''सोलह कला अवतार'' कहा गया। भारतीय रचनाशीलता ने कृष्ण के बालरूप से लेकर महाभारत तक के उनके व्यक्तित्व का उपयोग किया और वे ऐसे चरित हैं जो केवल साहित्य तक सीमित नहीं हैं, नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, लोक समग्र रचना–संसार में उनकी उल्लेखनीय उपस्थिति है। कृष्ण का चरित्र इतिहास के लंबे प्रवाह में रूपांतरित होता रहा है और महाभारत से लेकर पुराण तक उन्होंने जो स्वरूप ग्रहण किया, उससे उनका बहुरंगी व्यक्तित्व निर्मित हुआ। कवियों ने इसे अपने–अपने ढंग से ग्रहण किया।

7.2.1 अवतारवाद और कृष्ण मानुषीकरण – कृष्ण का नामोल्लेख यद्यपि ऋग्वेद में है वैदिक युग के देवता इन्द्र के प्रतिद्वंद्वी रूप में उन्हें देखा गया है, पर वास्तविकता यह है कि महाभारत में कृष्ण के मानुषीकरण का जो प्रयत्न हुआ है वह रचनाशीलता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। ध्यान रखना होगा कि देवत्व का अलौकिक और कई बार अविश्सनीय चमत्कार से भरा रूप कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। उससे भय और आतंक का संचार तो हो सकता है, पर संवाद तथा साधारणीकरण में कठिनाई होती है। अग्रसर होते इतिहास में भारतीय समाज में कई प्रकार के तत्व संयोजित हुए, जिन्होंने कृष्ण के रूपायित होने में अपने प्रभाव का परिचय दिया। हमारे लिए कृष्ण के व्यक्तित्व–विकास के इतिवृत पर विचार करना इतना उपयोगी नहीं, जितना यह कि जब रचना में उन्हें केन्द्रीयता मिली, तब उनके चारों ओर एक समग्र गाथा–संसार निर्मित हो चुका था। इतिहास के बिन्दु पृष्ठभूमि में चले गए थे और लोकमानस ने उन्हें अपना प्रिय आराध्य स्वीकारते हुए, उनमें कई ऐसे तत्वों का प्रवेश करा दिया था, जिनमें लोक उपादानों और कल्पना की भूमिका होती है। वे इतिहास से चलकर एक गाथा–पुरुष बने और उनके चारों ओर एक मिथकीय संसार निर्मित हुआ।

अवतार के विकास में नर और नारायण के संयोजन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। परिकल्पित देवत्व की विश्वसनीयता के लिए आवश्यक है कि पृथ्वी पर उनका अवतरण हो, नारायण नर रूप में अवतरित हों। इसके लिए तर्क दिया गया कि जब मूल्य–मर्यादाएँ विनष्ट हो जाती हैं, अत्याचार–अनाचार बहुत बढ़ जाते हैं, तब संसार में सत्य की प्रतिष्ठा के लिए देव का मनुष्य रूप में अवतरण होता है। गीता ने इसे कृष्ण से ही कहलवाया : ''यदा कदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे–युगे''।

महाभारत एक विकसनशील महाकाव्य माना जाता है और ई. पू. समय में उसका रूप स्थिर हुआ। वहाँ कृष्ण सूत्रधार हैं, यथार्थ की भूमि पर। उनका प्रयत्न है कि पांडव–कौरव संघर्ष न हो और वे इसे टालने की भरसक चेष्टा करते हैं। वे युद्ध के विनाशकारी रूप को समझते हैं, पर जब युद्ध आ ही गय है तो वे पांडवों के साथ हैं, जिनकी विजय में उनकी भूमिका असंदिग्ध है। कोई और साधारण चरित्र होता तो उसकी नैतिकता को लेकर प्रश्न उठाए जा सकते हैं कि आखिर कृष्ण ने ऐसा क्यों किया? शिखंडी की सहायता से भीष्म पर आक्रमण, अश्वत्थामा की मृत्यु की गलत सूचना के सहारे द्रोणाचार्य का अंत और दुर्योधन पर कटि के नीचे भीम का गदा प्रहार आदि कृष्ण को कटघरे में खड़ा करने के लिए पर्याप्त हैं। पर हमारे लिए विचारणीय तथ्य यह है कि कृष्ण यथार्थ और वास्तविक की भूमि पर उपस्थित हैं, और वही जानते हैं कि कोरे आदर्शवाद के सहारे युद्ध नहीं जीता जा सकता। आखिर शकुनि ने भी तो छल से ही जुआ जीता था और अभिमन्यु को चक्रव्यूह में आठ महारथियों ने घेर लिया था। यदि गीता महाभारत का ही अंश है तो दो कृष्ण हैं– महाभारत के सूत्रधार कृष्ण और गीता के परमज्ञानी कृष्ण।

7.2.2 भागवत और सगुण कृष्ण – अभी जो हमने चर्चा की उस का प्रयोजन यह है कि कृष्ण यथार्थ की भूमि पर उपस्थित नायक हैं, परिवर्तित समय का बोध कराते हुए। कवियों ने रचना में जब उनका उपयोग किया, तब उन्हें पुनर्सर्जित करने का प्रयत्न किया। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि रचना में कृष्ण का सुदर्शन चक्रधारी और महाभारत का सूत्रधार रूप परिपार्श्व में चले गए। यदि कहीं साहित्य में आए भी तो प्राय: वर्णनात्मक ढंग से। इसके स्थान पर उनकी बाललीला, गो–चारण, गोकुल–प्रसंग, वृन्दावन विहार, गोप–गोपी साहचर्य, रास प्रकरण, राधा–प्रेम प्रमुखता पा गए। इस संदर्भ में भागवत को प्रस्तुत किया जा सकता है जिसे ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता के क्रम में चतुर्थ प्रस्थान कहा गया है, भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ तो वह है ही। पुराणों में– कृष्णलीला का वर्णन विस्तार से आया है, पर ब्रह्मवैवर्त का उल्लेख इसलिए जरूरी है कि यहाँ राधा उपस्थित है। भागवत में उनका न होना आश्चर्यजनक है और विद्वानों के समक्ष कठिनाई उपस्थित करता है कि ऐसा क्यों हुआ कि कृष्ण प्रिय राधा यहाँ अनुपस्थित हैं। कई तर्क दिए जाते हैं और उनमें एक यह कि राधा आभीरों की प्रिय देवी है। घूमंतू जाति के रूप में पश्चिमी से चलकर वह उत्तर भारत आई। जहाँ भागवत की रचना हुई, वह दक्षिण का भाग उस रूप माधुरी–संपन्न नारी व्यक्तित्व के अछूता रहा गया। पर इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भागवतकार को बराबर यह एहसास है कि जिस कृष्ण का लीला–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गान वह कर रहा है वह नर रूप होकर नारायण है और लौकिक होकर भी दिव्य है। इसी माध्यम से भक्ति-स्थापना का उद्देश्य संपादित होता है। लीला, जीवधारियों के सुख के लिए और देवरूप कृष्ण उसमें नर रूप में सम्मिलित होकर भी असम्पृक्त हैं। भागवत में रासलीला के मध्य कृष्ण का अंतर्धान हो जाना और गोपिकाओं का विरह-प्रलाप इस दृष्टि से विचारणीय है कि नर-लीला के बावजूद कृष्ण का देवरूप सुरक्षित रहना चाहिए। भागवत में बार-बार कृष्ण के देवत्व का उल्लेख है और एकादश अध्याय में भक्ति का विस्तृत विवेचन है। यहाँ भक्ति समाजीकृत होती है, जातिवाद की सीमाएँ टूटती हैं क्योंकि भक्ति सबके लिए है।

7.3 भक्ति चिंतन

प्राय: कह दिया जाता है कि भागवत भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ है और चूंकि वह कृष्णगाथा से संबद्ध है, इसलिए कृष्ण भक्तिकाव्य उसी से प्रेरणा ग्रहण करता है। पर यहाँ कुछ तथ्य विचारणीय हैं जिनमें एक सैद्धान्तिक पक्ष यह है कि इतिहास, गाथा अथवा किसी कालखंड विशेष की सामग्री का उपयोग जब रचना में होता है, तब यह प्रक्रिया अनुवाद की नहीं होती। परिवर्तित समय-संदर्भ में उसकी नयी व्याख्या होती है और रचना में एक प्रकार से उसका पुनर्जन्म होता है। महाभारत, भागवत, आलवार संत, जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास से लेकर सूरदास तक कृष्णकथा का स्वरूप एक ही नहीं है। समय और कवि की अपनी दृष्टि कृष्ण को रूपायित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कृष्णभक्ति काव्य के संदर्भ में एक प्रासांगिक प्रश्न यह भी उठता है कि कृष्णगाथा के साथ-साथ जो भक्ति चिंतन विकसित हो रहा था, उसने रचनाशीलता को किस रूप में प्रभावित किया। दर्शन विचारधारा, रचना को किस सीमा तक प्रभावित करते हैं और साथ ही रचनाकार के समक्ष एक बड़ी चुनौती यह भी होती है कि रचना के बृहत्तर संवेदन संसार में उसे किस प्रकार विलयित करें कि वह बाह्यारोपण न प्रतीत हो। कृष्णभक्ति काव्य नारायण को नर की भूमिका में प्रस्तुत करता है और देवों के मानुषीकरण की प्रक्रिया को गति देता है। कृष्णभक्त कवि का एहसास है कि वह जिस देव का वर्णन मानव रूप में कर रहा है, वह कहीं न कहीं विशिष्ट भी है। सामान्य के साथ विशिष्ट और साधारण के साथ असाधारण की इस द्वंद्वात्मक स्थिति को पार करते हुए भक्तिकाव्य जिस भक्ति दर्शन का संकेत संवेदन धरातल पर करता है, उसकी प्रेरणा तो उसे वैष्णवाचार्यों से मिली, पर कविता दर्शन शास्त्र, विचारधारा को अतिक्रमित करती हुई अधिक व्यापक विश्वनीय संवेदन-संसार निर्मित्त करती है।

कृष्ण भक्तिकाव्य की पीठिका में व्यापक वैष्णव आंदोलन उपस्थित है, जिसने सभी भारतीय भाषाओं की रचनाशीलता को प्रभावित किया। मध्यकालीन कृष्ण भक्ति के संदर्भ में प्राय: एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि काव्य में प्रस्थान रूप में भागवत को स्वीकारा जाए अथवा आलवरों के दिव्यप्रबंधम को। इतिहास की दृष्टि से ये समकालीन भी कहे जा सकते हैं। अधिकांश विद्वानों का विचार है कि कृष्णकथा के रूप में भागवत मौखिक परंपरा के रूप में प्रचलित था और छठी-नौवीं शताब्दी के मध्य दक्षिण में इसने वर्तमान स्वरूप ग्रहण किया। आलवार संतों का समय भी यही है जिसे तमिल साहित्य का भक्तिकाल कहा जाता है। आलवार संतों के पदों का संकलन आचार्य नाथमुनि ने नौवीं शताब्दी के अंत में किया, जिसे "दिव्यप्रबंधम" नाम दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत की बौद्धिक दृष्टि जहाँ कृष्ण के देवत्व को सुरक्षित रखने का प्रयत्न है और दिव्यप्रबंधन- जिसमें कृष्ण के प्रति आलवारों की सहज भावनामयता का प्रकाशन है-इन दोनों के संयोजन से परवर्ती कृष्ण भक्तिकाल विकसित हुआ। एक ओर कृष्ण का मानव रूप है जो उनकी लीलाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ, दूसरी ओर उनके देवत्व के संकेत भी हैं। इतिहास की दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है कि गुप्त साम्राज्य का मुख्य वृत्त चौथी-पाँचवीं शताब्दी है, जिसे भागवत धर्म के पुनरुत्थानकाल के रूप में देखा जाता है।

7.3.1 वैष्णवाचार्यों की भूमिका - जिसे आज विचारधारा अथवा 'आइडियॉलाजी' कहा जाता है, उसके लिए मध्यकाल के संदर्भ में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग किया जाता है। संपूर्ण भक्तिकाल के संदर्भ में यह प्रश्न कई रूपों में उठाया गया है कि इसके मूल में कौन सी दार्शनिक अवधारणाएँ रही हैं और रचना को इन्होंने किस सीमा तक प्रभावित किया है। बहुत प्राचीन समय में जाने की आवश्यकता नहीं पर भारतीय मध्यकाल में जिसे दक्षिण का आचार्य युग कहा जाता है और जिसमें दिव्यप्रबंधम् के संकलनकर्त्ता नाथमुनि (नौंवी-दसवीं शती) प्रमुख प्रस्थान के रूप में हैं- इन्होंने भक्ति के द्वार सभी जातियों के लिए खोले। आगे चलकर चतुष्सम्प्रदाय बने : रामानुज, मध्व, निम्बार्क, विष्णु स्वामी। इन आचार्यों ने शंकराचार्य की अद्वैत वेदान्ती व्याख्या से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए, भक्ति का प्रवृत्तिमार्गी दर्शन निर्मित्त किया। रामानुज ने प्रपत्ति दर्शन अथवा शरणागति भाव का प्रतिपादन किया, जिसे संपूर्ण भक्तिकाव्य में देखा जा सकता है। ग्यारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के मध्य इन वैष्णवाचार्यों ने कई धरातलों पर कार्य किया। वे कल्पनाजीवी, अनुमानवादी भाष्यकार मात्र नहीं हैं, अपितु उन्होंने अपनी लंबी यात्राओं से दक्षिण-उत्तर को सांस्कृतिक स्तर पर जोड़ने का प्रयत्न भी किया। बौद्धिक स्तर पर भक्ति का विवेचन करते हुए, उन्होंने शास्त्र के साथ ही लोक को भी अपने सामने रखा और इस प्रकार भक्तिकाव्य के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि निर्मित की।

Jain Vishva Bharati Institute/(Deemed University), Ladnun

चार प्रमुख वैष्णवाचार्यों के अलावा रामानन्द और वल्लभाचार्य का सांस्कृतिक प्रदेय सर्वाधिक उल्लेखनीय है। जहाँ तक कृष्ण भक्तिकाव्य का संबंध है, दार्शनिक निष्पत्तियों के लिए निम्बार्क और वल्लाभाचार्य का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है। निम्बार्क (बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी) देव कृष्ण को सर्वोपरि पर ब्रह्म मानते हैं- सत् चित आनन्द से सम्पन्न। जो राधा भागवत में अनुपस्थित हैं वे निम्बार्क में महत्त्वपूर्ण स्थान पर हैं। इससे कृष्ण भक्ति काव्य को नई गतिशीलता प्राप्त हुई। निम्बार्क संप्रदाय में यद्यपि प्रपत्ति अथवा शरणागति का भाव रामानुजाचार्य से साम्य रखता है, पर यहाँ आग्रह प्रेमभाव पर है जिस राधा के लिए प्राय: ब्रह्मवैवर्त पुराण को आरंभिक प्रस्थान के रूप में स्वीकार किया जाता है, वह निम्बार्क संप्रदाय में विशिष्ट स्थान पर है। कृष्ण यदि सर्वेश्वर हैं तो राधा सर्वेश्वरी और इस प्रकार दोनों की समान स्थिति है। इससे कृष्ण भक्तिकाल के लीला प्रसंग को नई भंगिमा प्राप्त हुई। प्राय: कहा जाता है कि कृष्ण भक्तिकाव्य को नई दिशाओं में अग्रसर करने का श्रेय वल्लभाचार्य (पंद्रहवी-सोलहवीं शती) को है। वल्लभ का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत है जो शंकर के मायावाद का खंडन करता है। उन्होंने माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में निरूपित किया, पर यह भी प्रतिपादित किया कि ब्रह्म उसके आश्रित नहीं है। वल्लभ के लिए कृष्ण ही परब्रहम हैं जो परमानन्द रूप हैं- परम आनन्द के दाता। कल्पना की गई कि ब्रह्म कृष्ण का जो अविकृत रूप है, वह हर स्थिति में बना रहता है, वह शुद्ध अद्वैत है। रमण की इच्छा से, वे नर रूप ग्रहण करते हैं, जहाँ मुख्य आशय जीव के सुख और कल्याण है। इस प्रकार वल्लभ का भक्ति चिंतन ईश्वर और जीव के मध्य एक घनिष्ठ संबंध स्थापित करता है, जहाँ ब्रह्म लीला भूमि में संचरित होकर भी शुद्ध है, और जीव उनसे तदाकार होकर आनन्द की उपलब्धि करता है। दर्शन में जो शुद्धाद्वैत है, वह व्यवहार अथवा साधना पक्ष में **पुष्टि मार्ग** कहा जाता है। '**पुष्टि**' का अर्थ है ईश्वर के अनुग्रह, प्रसाद, अनुकम्पा अथवा कृपा से पुष्ट होने वाली भक्ति। यहाँ ईश्वर की कृपा की प्राप्य है, वही परम सुख और परम आनन्द है। कृष्णभक्ति में गोपिकाएँ मोक्ष की कामना नहीं करती, कृष्ण का दर्शन ही उनकी लालसा है, वही उनका सुख है। कृष्ण के प्रति निश्छल भाव से संपूर्ण समर्पण पुष्टि मार्ग का आग्रह है। इस प्रकार वल्लभ रामानुज की शास्त्रीय प्रपत्ति और शरणागति भाव का एक नयी दीप्ति प्रदान करते हैं। उन्होंने राधा की कल्पना कृष्ण की परम आह्लादिनी शक्ति के रूप में की। इस प्रकार इन आचार्यों ने कृष्ण भक्तिकाल को पुष्ट वैचारिक आधार दिया, जिसे कवियों ने संवेदन संसार में विलयित करने का प्रयत्न किया।

कृष्णभक्ति के विकास में आचार्यों की भूमिका के कुछ प्रमुख पक्ष हैं, जिन पर हमारा ध्यान जाना चाहिए। निम्बार्क, वल्लभ के साथ चैतन्य का भी उल्लेख करना होगा, जिन्होंने पूर्वांचल में कृष्णभक्ति का प्रसार किया और अपने षट्गोस्वामियों- रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदि को वृन्दावन भेजा। इस प्रकार पूर्वांचल ब्रजभूमि से जुड़ा। चैतन्य के चिंतन का आधार भागवत् है, पर उनके चिन्तन में राधा की उल्लेखनीय उपस्थिति है जिन्हें राधाभाव, महाभाव आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया। इससे प्रेमभक्ति को प्रमुखता मिली, जिसे कीर्तन आदि माध्यम से व्यक्त किया गया। कीर्तन-भाव के लिए चण्डीदास का स्मरण विशेष रूप से किया जाता है। भक्ति चिंतन के आधार पर चैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी ने भक्ति का एक शास्त्र निर्मित करने का प्रयत्न किया और 'भक्ति रसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रंथ लिखे। कृष्णभक्ति के आचार्य एक ओर दार्शनिक हैं और भक्ति का शास्त्र भी निर्मित करना चाहते हैं पर दूसरी ओर उन्हें यह एहसास भी है कि चिंतन की सार्थकता जीवन से सबद्ध होने में है, इसलिए वे इसके व्यवहार रूप अथवा साधना पक्ष की ओर भी ध्यान देते हैं।

शास्त्र और लोक के द्वैत को पाटने का उनका यह प्रयत्न विशेष रूप से विचारणीय है क्योंकि इससे कृष्ण भक्तिकाव्य को एक ओर वैचारिक आधार मिला और दूसरी ओर उसकी लोक-सस्पृक्ति में गति आई। भाव-विचार की यह मैत्री उसे इतिहास के लंबे प्रवाह में संचरित करती है। कोरे तर्काश्रित विचार रचना में अधिक उपयोगी नहीं हो पाते और मात्र भावुकता लंबी दूरी नहीं तय कर पाती। कृष्णभक्ति के आचार्यों ने राधा को प्रमुख स्थान देते हुए कृष्णलीला को नए आयाम दिए और उन्होंने राधा को कृष्ण से अपृथक् रूप में चित्रित किया। आगे चलकर हित हरिवंश (सोलहवीं शती) ने राधा को केन्द्र में रखकर राधा-वल्लभप संप्रदाय की स्थापना की जहाँ राधा-कृष्ण की युगल उपासना का आग्रह मिलता है। कृष्णभक्ति के आचार्यों ने कृष्ण के व्यक्तित्व को सहज मानव भूमि दी और सभी वर्गों, जातियों का प्रवेश यहाँ संभव हो सका। इस संदर्भ में प्राय: निर्गुण मत को यह श्रेय दिया जाता है कि वहाँ सामान्यजन के लिए अधिक अवसर है और कबीर से लेकर नानक तक की परंपरा इसका प्रमाण है। पद्धति का अंतर हो सकता है पर कृष्णभक्ति के आचार्यों के समक्ष भी यह आशय मौजूद है कि कृष्ण के व्यक्तित्व को अधिकाधिक सामान्यीकृत कैसे किया जाए। आचार्यों के साथ कृष्णभक्त कवियों के सामने भी यह प्रश्न बराबर उपस्थित है कि कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से उन्हें सामान्यजन का समीपी बनाया जाए। पर वे इस कठिनाई को भी जानते हैं कि जिस प्रेम के माध्यम से भक्ति तक पहुँचने का उपक्रम किया जा रहा है, उसमें उदात्तता का प्रवेश कराना ही होगा, नहीं तो काव्य में साधारण रसिक रेखाएँ उभर कर रह जाएँगी। यह दुर्घटना रीतिकालीन काव्य के साथ हुई, जहाँ राधा-कृष्ण साधारण नायक-नायिका की भूमि पर आ गए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.3.2 मध्यकालीन समय और समाज - भक्तिकाव्य एक लम्बा समय पार करता है– चौदहवीं शती के आरंभ से लेकर सत्रहवीं शती के लगभग मध्य भाग तक और इसी दौर में कृष्ण भक्तिकाव्य भी सक्रिय है। इतिहास की दृष्टि से यह सल्तनतकाल और मुगलकाल है, जिसका मूल ढाँचा सामंती है। यहाँ प्रधान शासक हैं, सुल्तान तथा बादशाह, जिनके चारों ओर एक सामंती समाज है– उच्च पदों पर आसीन राजकुल से सबंद्ध अधिकारी, सेनापति, वजीर, अमीर–उमरा से लेकर हजारी मनसबदार तक। केन्द्रीय सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए सूबों में विश्वसनीय सूबेदार हैं, जो प्रमुख शासक की तर्ज पर अपना दरबार चलाते हैं। इन सबसे देशी भाषाओं को नई सक्रियता मिली और भक्तिकाव्य की रचनाशीलता को नई दिशाएँ मिलीं। इस सम्पन्न सामंती समाज के विपरीत बहुसंख्यक ग्राम समाज है, अतिवृष्टि–अनावृष्टि से जुझता हुआ। यहाँ देखा जाए तो दो अलग संसार हैं, जैसे एक भोग विलास में मग्न और दूसरा जीवन–संघर्ष में उलझा हुआ। यह राजनीतिक–सामाजिक स्थिति है, जिसमें वर्ग–भेद स्पष्ट है। पर मध्यकालीन इतिहास का एक दूसरा पक्ष है, जिस ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए और जो भक्तिकाव्य की सही समझ के लिए आवश्यक है। इसका संबंध उस सांस्कृतिक परिवेश से है जो रचना को व्यापक स्तर पर प्रभावित करता है। आरंभिक टकराहट के बाद दो प्रमुख जातियों से पारस्परिक संवाद की जो प्रक्रिया आरंभ हुई, वह अकबर जैसे उदार शासकों के समय में अपनी पूर्णता पर पहुंची। उसके दीन–ए–इलाही अथवा सुलहकुल को व्यापक जनसमर्थन नहीं मिला, पर इसमें संदेह नहीं कि वह सर्वधर्म समभाव का ईमानदार प्रयत्न था। इस सांस्कृतिक सौमनस्य के उदाहरण के रूप में सूफियों के उदारपंथ को प्रस्तुत किया जाता है।

7.3.3 सामंतवाद का विरोध - कृष्ण भक्तिकाल इस मध्यकालीन सामंती समाज की भूमिका पर विकास पाता है। रचना–सामर्थ्य की जानकारी के लिए वह तथ्य उपयोगी है कि महान रचनाशीलता स्वीकृति और निषेध के द्वंद्व से निर्मित्त होती है। गहरे स्तर पर समाज की जटिलताओं की पहचान उसका प्रस्थान है, और परिवेश से टकराते हुए, बृहत्तर संवेदन–संसार की रचना उसका सही गंतव्य है। इसे 'विजन' अथवा कवि–स्वप्न कहा गया और जितना विराट होगा, रचना उतनी ही समर्थ होगी। कृष्ण भक्तिकाव्य में समय से टकराहट उस रूप में मुखर नहीं है, जिसके लिए प्राय: निर्गुणी संतो– कबीर आदि का उल्लेख किया जाता है। यहाँ तक कि तुलसी के कलिकाल वर्णन को मध्यकालीन यथार्थ के रूप में देखा जाता है– 'कलि बारहि बार दुकाल परै, बिन्नु अन्न दुखी सब लोग मरै' आदि। पर कृष्णभक्ति काव्य अपने समय को दूसरे ढंग से देखता–समझता है और यहाँ मूल अंतर 'कवि–दृष्टि' का है। एक तो, यहाँ कृष्ण के बाल, किशोर, यौवन की लीलाओं का प्राधान्य है और महाभारत का सुदर्शन चक्रधारी रूप गौण हो गया है। दूसरे ब्रजमंडल की लीलाभूमि में गोकुल, वृन्दावन प्रमुखता प्राप्त करते हैं और सहचर रूप में राधा, गोपी, ग्वालि–बाल हैं। यहाँ प्रेम के माध्यम से भक्ति के सर्वोच्च धरातल पर पहुँचने का जो प्रयत्न है, वह एक प्रकार से सामंती समय के देहवाद के अतिक्रमण से उपजा है। प्रेम स्वयं में शुभ है, यदि उसमें शरीरवाद को पार कर सकने की क्षमता हो। कृष्णभक्त कवियों ने सामन्ती समाज के कुछ दृश्य स्वीकारे, महानायक कृष्ण के संदर्भ में कतिपय विरुद्ध भी प्रयुक्त किए, पर उनकी निरंतर अभीप्सा यह है कि वे एक साथ कई सीमाओं का अतिक्रमण कर सकें। सबसे पहले उन्होंने चरितनायक कृष्ण को सहज लोकभूमि पर अवतरित किया ताकि वे सामान्यजन से समरस हो सकें। यहाँ देवत्व पृष्ठभूमि में है, और बीच–बीच में उसके संकेत भी हैं, वह उपदेशक वृत्ति से बाह्यारोपित नहीं है। यहाँ सब कुछ व्यापक संवेदन–संसार का अंश है, जिसमें ब्रज संस्कृति प्रमुखता प्राप्त करती है, जिसका प्रतिनिधित्व सामान्यजन करते हैं जैसे कृषक-चरवाहा आदि।

कृष्ण भक्तिकाव्य पर प्राय: इस ढंग से विचार होता रहा है कि इनमें किसी दर्शन–पंथ विशेष का प्रतिफलन किस रूप में हुआ है। इस संदर्भ में वल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण के बाल–किशोर रसिक रूप, अष्टयाम पदगायन आदि की परंपरा का उल्लेख किया जाता है। पर हमारा ध्यान इस ओर भी जाना चाहिए कि आखिर कृष्ण के बाल रूप के आग्रह के मूल में कवि का क्या उद्देश्य हो सकता है ?इस प्रश्न पर पंथ से थोड़ा हटकर विचार करना होगा। मध्यकाल का जो विलासी सामंती समाज है, उसे देखते हुए कृष्ण का सहज बाल–किशोर रूप इस ओर संकेत करता है कि जिसे हम सौंदर्य कहते हैं वह शरीर–सीमित नहीं है, उसकी कई उच्च इकाइयाँ हैं, जिनमें गुण, मूल्य, कर्म का सौंदर्य है। इसलिए भक्तिकाव्य में रूप, छवि आदि शब्दों का प्रयोग बहुलता से होता है। कृष्ण के बाल रूप पर ग्वाल–समाज का मुग्ध होना, एक प्रकार से सामाजीकृत होने की प्रक्रिया है। नन्द के घर बेटा जन्मा है तो संपूर्ण ब्रजमंडल उस उत्सव में सम्मिलित है :

आज बन कौउ वै जनि जाइ। सब गाइन बछरनि समेत, ले आनहु चित्र बनाइ।
ढोटा है रे भयौ महर के, कहत सुनाइ–सुनाइ। सबहि घोष में भयो कुलाहल, आनंद उरन समाइ।

कृष्ण भक्तिकाल में रसिक रेखाओं की कमी नहीं है और कई प्रसंगों में उसमें ऐसा खुलापन भी है कि प्रचलित रूढ़ नैतिकता से

उसकी संगति बिठा पाना संभव नहीं है। भागवत बार-बार कृष्ण के देवत्व का संकेत करता चलता है, पर कविता में इस प्रकार के बाह्यारोपण से संवेदनशीलता का क्षरण होता है। कृष्ण भक्तिकाव्य में सामंती सीमाओं का निषेध सर्वाधिक इस रूप में है कि यहाँ सब कुछ प्रकृति के विराट मंच पर घटित होता है। इस प्रकार से वह कृष्ण के व्यक्तित्व को नई दीप्ति देता है। कविता को राजभवन की सामंती सीमाओं से बाहर ले जाना, ऐसा प्रयत्न है कि हमारा ध्यान इस ओर जाना चाहिए।

7.3.4 लोक और शास्त्र - कृष्ण भक्तिकाल के संदर्भ में प्राय: लोक और शास्त्र का प्रश्न उठाया जाता है, जो दूसरे रूप में अन्य रचनाओं में भी मौजूद है। शास्त्र कई धरातलों पर है, जिनमें प्रमुख है भक्ति चिंतन की वह लंबी परंपरा, जिसका संकेत हम पहले कर चुके हैं। इसके साथ पांडित्य शास्त्र की परंपरा भी है। भागवत प्रस्थान ग्रंथ है, पर रचना दर्शन-विचार का अनुवाद नहीं होती। कवि दृष्टि-विचारधारा के रूप में उसका उपयोग करते हैं, पर वहाँ पुस्तकीय ज्ञान का अतिक्रमण होता है। जीवन से संबद्ध होकर ही रचना विश्वसनीय बनती है, मार्मिकता पाती है। इसलिए कबीर ने प्रेम के ढाई आखर का आग्रह किया। भक्ति का विवेचन भाष्य, टीका के रूप में तो है ही, उसे शांत रस से अलगाकर दशम रस बनाने का प्रयत्न भी किया गया है। नवधा भक्ति की चर्चा प्राय: सभी कवियों ने की है, पर कृष्ण भक्तिकाव्य कृष्ण को अपना बहुत समीपी मानता है। यहाँ जिसे सख्यभाव कहा गया है उसमें विनय-समर्पण का दास्यभाव भी सम्मिलित है। सूर के विनय पद इसका प्रमाण हैं : ''चरन-कमल बंदौ हरिराई, स्याम गरीबनि हूँ के गाहक, दयाधिनि तेरी गति लखि न परे'' आदि। ध्यान दें तो ईश्वर के प्रति यह विनय-रागभाग भ्रमरगीत में अपनी पूर्णता पर पहुँचता है और गोपिकाएँ इसका माध्यम बनती है।

उपास्य और उपासक की समीपता से कई मध्यस्थ अप्रासंगिक हो जाते हैं क्योंकि यहाँ दोनों के मध्य सीधा संवाद स्थापित होता है। कृष्ण भक्तिकाव्य में उपास्य का बोध कराने वाला गुरु उतना स्थान भी नहीं प्राप्त करता, जितना कि रामकाव्य में। तुलसी ने रामचरितमानस के आरंभ में ही इसका संकेत किया है :

''श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती, सुमरित दिव्य हियं होती''।

निर्गुण भक्तिकाव्य में तो गुरु गोविन्द से भी बढ़कर है, वह ज्ञान-माध्यम है, जो चरम सत्य का उद्घाटन करता है। कृष्णभक्ति काव्य में सीधे संवाद से एक ऐसा रागमय वातावरण उपजता है, जहाँ शास्त्र का स्थान लोक को मिलता है। कर्मकांड, पुरोहितवाद की सीमाओं को तोड़ते हुए कृष्ण भक्तिकाव्य नई आचार-संहिता निर्मित करता है। यहाँ रागानुगाभक्ति ही सर्वोपरि है, शेष इसी में समा जाता है। गोपिकाएँ कृष्णर्पित हैं, यही उनका सुख है, यही उनका प्राप्य।

7.3.5 लोक छवि और दृश्य - काव्य में लोक की उपस्थिति कृष्ण भक्तिकाव्य का सबसे उल्लेखनीय पक्ष है और इसकी चर्चा इसलिए भी आवश्यक है कि प्राय: सगुण की तुलना में निर्गुण काव्य को अधिक प्रगतिशील कहा जाता है, तथा प्रचलित धारणा यह है कि कृष्णकाव्य, अन्य की तुलना में लगभग यथार्थ-विरहित है। पर क्या यह संभव है कि एक ही समय में सक्रिय समर्थ स्वर अपनी प्रकृति में इतने भिन्न हों कि एक में यथार्थ हो और दूसरे में वह पूर्णतया अनुपस्थित ? लोक और शास्त्र की चर्चा करते हुए कृष्ण भक्तिकाव्य हमें कुछ ऐसे सूत्र देता है कि हम यह जान सकते हैं कि यथार्थ के प्रति दृष्टि का अंतर तो है ही, उसकी अभिव्यक्ति की विधियाँ भी अलग-अलग हो सकती हैं।

तुलसी की प्रबंधात्मकता में कलिकाल के माध्यम से माध्यकालीन यथार्थ वर्णन की सुविधा है। कबीर का स्वर जुझारू है। पर ध्यान दें तो कृष्ण भक्तिकाव्य और सूफी कवि जायसी आदि ने उस लोक की सहज रसमयता को केन्द्रीयता दी, जिसमें वे उपस्थित थे। कृष्ण भक्तिकाव्य का लीला-संसार ब्रजमंडल से अधिक संबद्ध है और लगता है जैसे वहां की लोकछवि अपनी पूरी रंगमयता में यहाँ उपस्थित है। गोकुल-वृन्दावन अपनी पूरी शोभा के साथ यहाँ स्थान पाते हैं। यमुना तो जैसे कृष्णलीला का परम साक्ष्य है। कृष्ण का जन्म, दधि-माखन चोरी, वृन्दावन विहार के साथ ब्रज के अनेक और लोकोत्सव यहाँ स्थान पाते हैं। नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ से लेकर उन सभी सामाजिक उत्सवों तक जिसमें पूरा गोकुल सम्मिलित है। दृश्यों का यह सामाजीकरण ऐसी विशेषता है जिसने अपनी रागमयता से रसखान जैसे कवि को आकृष्ट किया :

'मानुष हौ तो वहै रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।'

उत्सव के क्षणों में ग्वाल-गोपी सब कृष्ण को केन्द्र में रखकर उल्लसित होते हैं, जैसे सूर में फाग के दृश्य:

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

''वृन्दावन खेलत हरि होरी।
बाजत ताल मृदंग झांझ डफ नंदलला वृषभानु किसोरी''

मांगलिक अवसरों पर वंदनवार, चौक, कलश आदि की व्यवस्था भी दृष्टिगत होती है। वसन्त-फागुन के दृश्य कृष्णकाव्य में बहुलता से मिलते हैं क्योंकि यहाँ रागमयता के लिए खुला अवसर है। यहाँ शास्त्र पृष्ठभूमि में चला जाता है और लोक प्रमुखता प्राप्त करता है। यों भी रचना में शास्त्र पूरे संवेदन-संसार में इस प्रकार विलयित हो जाता है कि उसकी तलाश का अधिक अर्थ नहीं रह जाता है। निश्चित है कि रामकाव्य की तुलना में कृष्णकाव्य में शास्त्र की अपेक्षा लोक की स्वीकृति कहीं अधिक है क्योंकि कृष्णकाव्य अधिक उन्मुक्त भूमि पर संचरित होता है। रास, महारास में इसे देखा जा सकता है, जहाँ रागभाव अपने चरम पर पहुँचता है और प्रेम के माध्यम से ही भक्ति का प्रतिपादन होता है।

7.3.6 रंजक और रक्षक रूप - कृष्ण भक्तिकाव्य के संदर्भ में अरसे तक यह कहा जाता रहा है कि राम का जन्म लोकरक्षक का है और कृष्ण का लोकरंजन का। रचना में इस प्रकार का विभाजन एक सीमा तक ही उपयोगी हो सकता है, विशेषतया भक्तिकाव्य के संदर्भ में। कवियों की राग-दृष्टि ने अपना ध्यान गोकुल-वृन्दावन तक केन्द्रित रखा और कृष्ण का महाभारत रूप, पृष्ठभूमि में चला गया। कृष्ण भक्तिकाव्य में वर्णनात्मक ढंग से महाभारत के कुछ प्रसंगों का उल्लेख कर दिया गया है, पर कवियों की रुचि उसमें रमती नहीं प्रतीत होती। वास्तविकता यह है कि कृष्ण के बाल-किशोर जीवन की जो चमत्कारी घटनाएँ वर्णित हुई हैं, उनमें भी कवि उस संलग्नता के साथ उपस्थित नहीं है, जिसके लिए बाल-लीलाओं का उल्लेख किया जाता है। लोकरंजन से ही कृष्णभक्त कवि अपनी अभीप्सा की पूर्ति करना चाहते हैं, कृष्ण की भक्ति ही उनका प्रमुख प्रयोजन है। पूतना वध, कालीदह से लेकर मथुरा-प्रसंग तक कृष्ण के वीरत्व के जो कार्य हैं, वे प्रमुखता नहीं प्राप्त करते, जबकि कृष्ण की अन्य लीलाएँ कृष्ण भक्तिकाव्य में विस्तार से आई हैं। यहाँ कृष्णगाथा के एक प्रसंग का उल्लेख विशेष रूप से करना होगा। सूरसागर के दशम स्कंध में गोवर्धन प्रसंग विस्तार से आया है- लगभग पौने दो सौ पदों में और इसी के अनन्तर रासपंचाध्यायी का आरंभ होता है। भारत मूलत: कृषि-समाज है और इन्द्र-पूजन की परंपरा यहाँ पर्याप्त प्राचीन है। ब्रजमंडल में इन्हें कुलदेव माना गया और इनके पूजन की आदरपूर्ण व्यवस्था थी। कृष्ण इस प्रचलित परंपरा को चुनौती देते हैं और कहते हैं कि अगोचर इन्द्र की पूजा व्यर्थ है। वे कहते हैं कि सामने के गोवर्धन पर्वत का पूजन करो और गोकुलवासी पूरी संलग्नता से इसे सम्पन्न करते हैं :

छांड़ि देहु सुरपति की पूजा।
कान्ह कह्यो गिरी गोवर्धन तैं और देव नहिं दूजा।
गोपनि सत्य मानि यह लीन्हीं, बड़ौ देव गिरिराज।
मोहिं छाड़िये परबत पूजत, गरब कियो सुरराज।
पर्बन सहित धोइ ब्रज डारौं, देउं समुद्र बहाइ।
मेरी बलि और हिलै अरपत, इनकी करो सजाइ।
राखो नहीं इन्हें भूतल पर, गोकुल देउं बुड़ाइ।
सूरदास-प्रभु जाको रच्छक, संगहि संग रहाइ।

इन्द्र का क्रोध स्वाभाविक है क्योंकि उनके वर्चव को चुनौती दी गई है, उनके स्थान पर गोवर्धन पर्वत को कुलदेव रूप में स्वीकार गया है। इन्द्र सुरपति हैं- देवेन्द्र, उनका अहंकार आहत होता है और वे गोकुल को जलवृष्टि में डुबो देते हैं। यह कृष्ण के व्यक्तित्व की परीक्षा का क्षण है, जिसमें वे स्वयं को सामाजिक रक्षक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। गोकुल को अपने कृष्ण पर विश्वास है कि वे ही उनकी रक्षा कर सकते हैं। यहाँ इन्द्र और कृष्ण आमने-सामने हैं। कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठा लेते हैं और गोकुल की रक्षा करते हैं। इन्द्र की पराजय, जिसमें वे कृष्ण के समक्ष शरणागत होते हैं, कई संकेतों से सम्पन्न है। यह प्रकारान्तर से अगोचर इन्द्र की तुलना में सामने विद्यमान गोवर्धन पर्वत के महत्त्व की स्वीकृति है। इस घटना में चमत्कार ही सही, पर कृष्ण का व्यक्तित्व यहाँ स्थापित होता है :-

''घरनि-घरनि ब्रज होत बधाई।
सात बरष को कुंवर कन्हैया, गिरिवर धरि जीत्यो सुरराई।
गर्व सहित आयो ब्रज बोरन, यह कहि मेरी भक्ति घटाई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सात दिवस जल बरषि सिरान्यौ, तब आयो पाहन तर घाई।
सूर स्याम अब कैं ब्रज राख्यो, ग्वाल करत सब नंद दौहाई।''

7.4 सगुण भक्ति

कृष्ण भक्तिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों पर विचार करते हुए हमें यह ध्यान रखना होगा कि कवियों की अपनी दृष्टि के अनुसार आग्रहों में आंशिक परिवर्तन देखे जा सकते हैं, पर समानता के सूत्र अधिक हैं। कृष्ण का मानुषीकरण लीलाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ है, और वह भी अपनी पूरी रसमयता में। यहाँ आग्रह माधुर्य भाव पर है और कृष्ण अपनी रसिक छवि में अद्वितीय हैं। कृष्णकाव्य एक प्रकार से सगुणोपासना का आग्रह इस सीमा तक करता है कि निर्गुण की अस्वीकृति के उसके अपने तर्क हैं। व्यापक दृष्टि से विचार करें तो साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण की अपनी धारणाएँ हैं।

मध्यकाल में कर्मकांड-पुरोहितवाद जिस ढंग से विकृत हो रहे थे और समाज में आडम्बर, मिथ्याचार आदि का प्रचार था, उससे मुक्ति का उपाय खोजते हुए, विचारक निर्गुण-निराकार का आग्रह करते हैं। मूर्ति को केन्द्र में रखकर कर्मकांड उपजता है और कई प्रकार के संघर्ष भी होते हैं। इसलिए निर्गुणियों का आग्रह ज्ञान पर है : संतों भाई आई ज्ञान की आँधी। ज्ञान से विकार का नाश होता है। पर सगुण मतावलम्बियों, विशेषतया कृष्ण भक्तिकाव्य के अपने तर्क हैं। उनका कहना है कि मन यों ही चंचल है, उसे स्थिर एकाग्र करने के लिए कोई आश्रय चाहिए। निर्गुण ज्ञानमार्गियों के लिए तो संभव है, पर सामान्यजन के लिए तो साकार-सगुण ही गम्य है। इस विषय में सूरदास का तर्क यही है कि जो वर्णनातीत है, उसका साक्षात्कार कैसे हो। इसके लिए आकार-प्रकार चाहिए :

''अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौ गूंगै मीठे फल कौं रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम-अगोचर, सो जाने जो पावै।
रूप-रेख-गुन -जाति-जुगति-बिनु निरालंब कत धावै।
सब बिधि अगम बिचार हिं तातें सूर सगुन पद गावै।''

सूर का तर्क यही है कि निराकार को लेकर ध्यानावस्थ कैसे हुआ जाए। इसलिए कृष्ण भक्तकवियों ने कृष्ण का पूरा लीला-संसार रचा, जिसमें उन्होंने मिथकीय संसार और निजंधारी कथाओं का भी उपयोग किया। अपनी कल्पनाशीलता से उसे एक ऐसा स्वरूप दिया कि सब समरस हो सकें। कृष्ण की लीलाओं के साथ यात्रा करता हुआ समाज यह भूल जाता है कि कृष्ण अवतारी पुरुष हैं, अलौकिक गुण-सम्पन्न। कई बार हम उनकी चमत्कारी लीलाओं से आश्चर्यचकित तो होते हैं पर भागवत की तरह कृष्ण के देवत्व का स्मरण कराना, कृष्णभक्त कवि आवश्यक नहीं समझते। उनका लक्ष्य है, कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से ही उनके बहुरंगी का बोध कराना।

7.4.1 भ्रमरगीत-प्रसंग - कृष्ण भक्तिकाव्य में भ्रमरगीत प्रसंग का विशेष महत्त्व है, जिसका उल्लेख भागवत में मिलता है और अधिकांश कवियों ने इसका उपयोग किया है। सूरदास ने **सूरसागर** के दशम स्कंध में विस्तार से इसका वर्णन किया है। परमानन्ददास के **परमानन्दसागर** में भी इससे संबद्ध पद हैं पर वास्तविक यह है कि यहाँ भागवत कथा का अनुसरण नहीं किया गया है तथा कृष्ण के मथुरा-गमन से लेकर भ्रमरगीत प्रसंग तक को प्रमुखता मिली है। नन्ददास ने **भंवरगीत** नाम से भ्रमरगीत प्रसंग को लेकर स्वतन्त्र रचना की। यह परंपरा आधुनिक समय में जगन्नाथदास रत्नाकर तथा डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के **'उद्धवशतक'** में देखी जा सकती है। भ्रमरगीत में कृष्ण भक्तकवियों ने गोपिकाओं के प्रगाढ़ प्रेमभाव को व्यक्त किया है और इसे विप्रलंभ श्रृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। ज्ञान-गर्व-परिचालित उद्धव, गोपिकाओं को निर्गुण-निराकार की शिक्षा देकर कृष्ण से उनका ध्यान चाहते हैं। पर वे अनेक रूपों में कृष्ण का स्मरण करती हुई, उन्हें अपना सर्वस्व मानती हैं। निर्गुण को अस्वीकारते हुए वे भावनामय तर्क देती हैं, जिन्हें सही मायने में तर्क भी नहीं कहा जा सकता : **निर्गुण कौन देस कौ वासी, मधुकर हांसि समुझाइ सौंह दे, बूझत बात न हांसी।** बहुत विस्तार से वे कृष्ण के प्रति अपनी गहरी रागात्मकता व्यक्त करती है : ''**हमारे हरि हारिल की लकड़ी।**'' कृष्ण का स्मरण करते हुए वे निरंतर अश्रुपूरित हैं : ''**निसि दिन बरसत नैन हमारे।**'' जैसे भी हो वे कृष्ण का दर्शन चाहती हैं, उसी रूप में जिसमें वे गोकुल-वृन्दावन में विचरे थे। गोपिकाओं की राजा कृष्ण में कोई रुचि नहीं, उन्हें लीलाधारी कृष्ण चाहिए : **उर में माखन चोर गड़े।** भ्रमरगीत गोपिकाओं के प्रेमभाव की मार्मिक अभिव्यक्ति है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कृष्ण भक्तिकाव्य ने भावनाश्रित तर्क के सहारे सगुण को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया और इसके लिए भ्रमरगीत प्रसंग का उपयोग किया। आचार्य विश्‍वनाथप्रसाद मिश्र इसे 'सगुण का मंडन और निर्गुण का खंडन' कहते हैं। पर थोड़ा गहराई से विचार करें तो इस प्रसंग की अन्य ध्वनियाँ भी हैं जो कृष्ण भक्तिकाव्य को वैशिष्ट्य देती हैं। यहाँ नन्द-यशोदा का वात्सल्य भाव भी है, जिनके लिए कृष्ण संपूर्ण आधार हैं। विचारणीय यह है कि कृष्ण देवकी-वासुदेव का बेटा है, नन्द-यशोदा ने केवल उनका पालन-पोषण किया है। पर वात्सल्य उन्हीं का वर्णित है : ''संदेसो देवकी सौं कहियो, हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियौ।'' गोपिकाओं का प्रेम भ्रमरगीत प्रसंग में परीक्षित होता है और वे अडिग हैं। ऊधो से कहती हैं, अच्छा हुआ तुम आ गए, प्रेम की परीक्षा हो गई, वह और प्रगाढ़ हो गया। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि भ्रमरगीत के माध्यम से कवि मध्यकाल के ग्राम-नगर द्वंद्व का संकेत भी करते हैं। सूर की गोपिकाएँ मथुरा को काजरि की कोठरी कहती हैं, जो आता है 'काला मन' है। कुब्जा को वे नागरी कहकर व्यंग्य करती हैं और स्वयं को भोली-भाली मानती हैं, जो ठगी गई। भ्रमरगीत प्रसंग में ऊपर से देखने पर एक पक्षीय प्रेम जैसा प्रतीत होता हैं पर यहाँ गोपिकाओं की अनन्य भावना के साथ कृष्ण के बृहत्तर दायित्व-बोध का संकेत भी मिलता है। भ्रमरगीत के अंत में कृष्ण गोपिकाओं के प्रेम प्रेमभाव को स्वीकारते है :

''उधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुंदर नगरी, अरु कुंजर की छाहीं।
वे सुरभी वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं।
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरत आवति वा सुख्र की जिय उमगत तन नाहीं।
अनगन भांति करी बहु लीला, जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन हवै, यह कहि-कहि पछिताहीं।

7.4.2 कृष्ण लीला - कृष्ण भक्तिकाव्य में कृष्ण का लीला रूप प्रधान है जो जीवों के सुख के लिए है और जिसमें कृष्ण स्वयं दुहरी-तिहरी भूमिका में हैं। बाहर से देखने पर वे संलग्न लीलाभूमि पर हैं, जिसमें रासलीला का घनिष्ठ प्रकरण भी है। पर किसी बिन्दु पर वे तटस्थ भी हैं, इसलिए रस के अवसर पर अंतर्धान हो जाते हैं। कृष्णलीला में माखन-चोरी, वृन्दावनलीला, रास आदि की प्रमुख भूमिका है जहाँ कृष्ण मानुष-रूप में संचरित हैं। प्रसंग रूप-माधुरी से आरंभ होता है, पर क्रमशः उसमें गुणों का संयोजन होता है। मिथकीय, निजन्धरी कथाओं के चमत्कार एक ओर हैं, पर कृष्ण की मुरली उनके व्यक्तित्व को नई दीप्ति देती है। कृष्ण-लीला के विस्तार में इसका योगदान सर्वोपरि है। मुरली वशीकरण है, जब कृष्ण वंशी-वादन करते हैं, तब गोपिकाएँ मर्यादाओं का निषेध करती हुई, उन तक पहुँच जाती हैं : ''**जब मोहन मुरली अधर धरी, गृह व्योहार थके आरज पथ तजत न संक करी।**'' कवियों ने मुरली के व्यापक प्रभाव का वर्णन किया है : ''**जब हरि मुरली अधर, थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहें, जमुना जल न बहत**'' आदि। रूप के साथ गुण का यह संयोजन कृष्ण को वैशिष्ट्य देता है। मुरली-प्रसंग के अनेक पद कृष्ण भक्तिकाव्य में आए हैं।

कृष्ण-लीला में स्वकीया-परकीया जैसे प्रश्न उठाए जाते रहे हैं जो आज बहुत प्रासांगिक नहीं है। राधा के प्रसंग में यह चर्चा पर्याप्त विवाद उपजाती रही है। राधा विशिष्ट गोपी है उसे रासेश्वरी रूप में चित्रित किया गया है, कृष्ण के समतुल्य। राधा अनरूप रूप है, जिसका बखान जयदेव विद्यापति आदि ने भी किया है। कृष्णभक्त कवियों को राधा के प्रसंग में एक साथ कई भूमिकाओं का निर्वाह करना है। वल्लभ सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है और कृष्ण में संयोजित है। राधा-कृष्ण का प्रेम बालजीवन, किशोरावस्था के निश्छल समय में अंकुरित-विकसित होता है। उसे 'बालापन की छोरी' कहा गया जो अपने रूप में अद्वितीय है, रूप की सीमा है, जिससे उपमान पराजित हैं, '**लोक चतुर्दस नीरस लागत, तु रसरासि रची**'। राधा परम निर्मल नारी है, निश्छल प्रेम की प्रतिमा। सौंदर्य ऐसा कि '**चुंवतहि चुवत सुधारस मानो रह गई बूंद मंझार**'। इसलिए राधा महाभाव है- प्रेम का सर्वोपरि प्रतीक। जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो गोपिकाएँ अपनी व्यथा ऊधो से कह देती हैं, उपालम्भ रूप में ही सही। पर प्रायः मौन हैं, कृष्ण के प्रति संपूर्ण भाव से समर्पित। ऊधो कृष्ण से कहते हैं : ''तुम्हारे बिरह ब्रजनाथ राधिका नैननि नहीं बढ़ी या लीन्हें जात निमेष कूल दोउ एते मान चढ़ी।'' भ्रमरगीत प्रसंग में सूर राधा की पीड़ा को गइराई से महसूस करते और व्यक्त करते हैं :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

''अति मलीन वृषभानु कुमारी, हरि स्नमजल अन्तरतम भीजे, तेहि लालचि न धुवावति सारी।''

उसकी स्थिति यह है कि ज्यों गथ हारे थकित जुआरी 'अथत्रा' ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।' राधा अपने व्यक्तित्व में कृष्ण की समकक्षता प्राप्त करती है, पूज्य बनती है।

7.4.3 वात्सल्य और श्रृंगार – कृष्ण भक्तिकाव्य के संवेदन-संसार की निश्चित रेखाएँ हैं और गीत काव्य उसका प्रिय माध्यम है। वात्सल्य और श्रृंगार उसकी दो प्रमुख भूमियाँ हैं और निर्विवाद है कि जहाँ तक वात्सल्य का प्रश्न है कृष्णकाव्य विश्व की रचनाशीलता में प्रमुख स्थान का अधिकारी है। प्रयोजन है कृष्ण की बाल-लीलाओं के माध्यम से सहज सौंदर्य को उद्घाटित करना, जिससे सब आकृष्ट होते हैं। बाल छवि का निरपेक्ष वर्णन यहाँ कवियों का अभिप्राय नहीं है, इसमें उनकी अनेक लीलाएँ सम्मिलित हैं। नन्द-यशोदा के साथ गोकुल के ग्वाल-बाल, गोपियाँ सब इस सुख में निमग्न हैं। बार-बार कहा गया है कि इस सुख के समक्ष त्रैलोक्य का वैभव व्यर्थ है। यह गतिशील चित्र है, जहाँ बालक कृष्ण के जन्म से लेकर किशोर होने तक के दृश्य हैं :

''घुटुरन चलत रेणु तन मंडित, मुख दधि-लेप किए'' से माखन लीला तक के प्रसंग, कृष्ण के क्रमश: बढ़ते, बड़े होने की सूचना देते हैं। उल्लेखनीय यह है कि कृष्ण की बाल-लीलाएँ सर्वत्र फैल जाती हैं और उन्हें शोभा-सागर कहा गया है : ''सोभा सिंधु न अंत रही री, नंद भवन भरि पूरि उमंगि चलि ब्रज की बीथिन फिरत बही री।'' माखन-लीला और मुरली-वादन के प्रसंग कृष्ण के मनोहारी रूप को नया विस्तार देते हैं, जिससे प्रेमांकुर विकास पाता है।

श्रृंगार-भाव को लेकर यह है कि कृष्ण भक्तिकाव्य का प्रयोजन क्या है? रामकाव्य में शील-मर्यादा की रेखाएँ श्रृंगार-भाव की सीमाएँ निश्चित कर देती हैं, पर कृष्णकाव्य अधिक खुली भूमि पर है। श्रृंगार से जो रागभाव जन्म लेता और विकास पाता है, वही भक्ति के चरम बिन्दु तक जाता है, जिसे भावनामय भक्ति कहा गया, रागानुगा माधुर्य भक्ति। कृष्णभक्तों का कृष्ण के प्रति संपूर्ण समर्पण प्रचलित प्रपत्ति दर्शन का मधुरतम रूप है, जहाँ भक्त अपने उपास्य की रूप-माधुरी को ही अपना प्राप्य मानता है। इस श्रृंगार में जो जीवन सम्पृक्ति अथवा लोकपक्ष है, वही उच्चतम धरातल पर भक्ति है। इसलिए कृष्ण भक्तिकाव्य के श्रृंगार भाव की सही पहचान के लिए समझदारी की आवश्यकता है। कृष्ण भक्ति काव्य का अध्ययन करने पर आप पाएँगे कि कई स्थल हैं, जिन्हें कवियों ने उन्मुक्त भाव से व्यक्त किया है, अकुंठित भाव से, जिनमें घनिष्ठ मिलन चित्र हैं। पर मुख्य प्रश्न यह है कि कवि का प्रयोजन क्या है, वह पहुँचना कहाँ चाहता है। यहीं भक्तिकाव्य और परवर्ती रीतिकालीन श्रृंगार का अंतर स्पष्ट हो जाता है। भक्ति में श्रृंगार देह का अतिक्रमण करने की सामर्थ्य रखता है, उच्च स्तर पर आता है, पर रीतिकाल में वह देहवाद में बंदी होकर रह जाता है। कहा भी गया है कि वहाँ राधा-कृष्ण स्मरण का बहाना बन गए। उच्चतम भूमि से वे नायक-नायिका में घटित हो गए। पनघट, चीरहरण, दान आदि लीलाओं को लें तो गोपिकाएँ इस समर्पण में सुख मानती है। जिस श्रृंगार को वे मुग्धभाव से निहारती हैं, जिसके साथ वे संचरित होती हैं, उसी के प्रति संपूर्ण राग-भाव से अर्पित होती हैं।

7.6 अष्ट छाप

कृष्ण भक्त कवियों में अष्ट छाप का विशेष उल्लेख किया जाता है। वल्लभाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवादी पुष्टिमार्ग की स्थापना की थी। आगे चलकर बिट्ठलनाथ ने अष्टछाप कवियों की परिकल्पना की, जिन्हें कृष्णसखा भी कहा गया। इनमें चार वल्लभाचार्य के शिष्य हैं : **सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास और कृष्णदास।** बिट्ठलनाथ के शिष्य है : नन्ददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास वल्लभ सम्प्रदाय में अष्टछाप कवियों का विशेष स्थान है और कहा जाता है कि जब गोवर्धन में श्रीनाथ की प्रतिष्ठा हो गई, तब ये भक्तकवि अष्टछाप सेवा में संलग्न रहते थे- मंगलाचरण-श्रृंगार से लेकर सन्ध्या आरती और शयन तक। अष्टछाप के इन कवियों में सूरदास सर्वोपरि हैं जिन्हें भक्तिकाव्य में तुलसी के समकक्ष माना जाता है। तुलसीदास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रिय कवि हैं, पर उन्होंने भी स्वीकार किया है कि माधुर्य भाव में 'सूरसागर' रससागर है और जहाँ तक वात्सल्य तथा श्रृंगार का प्रश्न है, सूर सर्वोपरि हैं। अष्टछाप के कवियों में परमानन्ददास ने कृष्ण की बाललीला को लेकर अपना ध्यान केन्द्रित किया और माधुर्य गुण को प्रमुखता दी। नन्ददास पंडित कवि हैं और उनके भंवरगीत में शास्त्र ज्ञान का परिचय मिलता है। उन्हें अलंकृत अथवा 'जड़िया कवि' कहकर संबोधित किया गया। उनमें काव्य की सहजता अपनी पूर्णता पर नहीं आने पाती, पांडित्य बाधा बनता है। कुंभनदास की उक्ति प्रसिद्ध है :

''संतन को कहा सीकरी सो काम''
''आवत जात पन्हैया टूटी बिसरी गयो हरिनाम।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह उक्ति कवि के उस विराग भाव की ओर संकेत करती है, जिसमें राजाश्रय का निषेध है।

7.6 शिल्प विधान

कृष्ण भक्तिकाव्य का शिल्प विधान इस दृष्टि से विचारणीय है कि प्रमुख पद मंदिरों में गायन-परंपरा का अंग बन गए और इस प्रकार व्यापक प्रचार-प्रसार पा गए। उन्हें राग-रागिनियों में बाँधा गया और एक ओर वे शास्त्रीय गायन में स्वीकृत हुए, दूसरी ओर लोकगायन में प्रचलित हुए। कृष्ण भक्तिकाव्य का यह दुर्लभ पक्ष है कि अपने माधुर्य गुण के कारण उसे व्यापक स्वीकृति मिली। यों तो लगभग सभी भाषाओं के भक्ति-काव्य के भजन-गायन की व्यवस्था रही है- दिव्यप्रबंधम से लेकर मीरा के पदों तक। चैतन्य महाप्रभु, चण्डीदास आदि ने प्रार्थना-कीर्तन भाव से भक्ति को व्यापकता दी और असम में शंकरदेव ने उसे विस्तार दिया। गुरु नानक के सबद गाए जाते हैं। भक्ति संगीत नाम से मध्यकाल में जिस राग-रागिनीबद्ध संगीत की परिकल्पना की गई, वह आधुनिक समय में भी जीवित है। शास्त्र और लोक का ऐसा संयोजन भक्तिकाव्य में प्राप्त होता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण भक्तिकाव्य मूलत: पदगायन-परंपरा पर आधारित है और इसे मुक्तक प्रधान काव्य कहा जाता है। आख्यान काव्य से इसकी परंपरा पृथक है। यहाँ कथा का संकेत तो मिलता है, पर उनमें क्रम-स्थापना का बरबस प्रयत्न नहीं है। यदि हम सूरसागर को ही लें तो देखते है कि आगे चलकर शिष्यों ने लीलाओं के आधार पर इसे वर्गीकृत किया जिसका आरंभ विनय के पदों से होता है और बाललीला से अवतार तक जिसकी व्याप्ति है। चित्र, संगीत, नृत्य आदि में इसके श्रृंगार भाव का उपयोग हुआ। कृष्ण भक्तिकाव्य मुख्यता गीत सृष्टि है और गेयता इसका सराहनीय गुण है। गीतिकाव्य की लंबी परंपरा में कृष्ण भक्तिकाव्य को लीला पदों की सुविधा है, जहाँ माधुर्य भाव की प्रधानता की सहायता से भाव-संचार हो सका है। ब्रजभाषा का लालित्य यहाँ पूर्णतया पर पहुँचता है और संगीतमयता उसमें सहज भाव से आ जाती है। गीत भावाश्रित माध्यम है, जहाँ भावनामयता प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण है। प्रासंगिक बात यह है कि भ्रमरगीत प्रसंग में गोपिकाओं के भाव-संसार में सूरदास स्वयं भी सम्मिलित हैं, इसलिए पूरे प्रकरण को मार्मिकता मिल सकी है। वियोग के साथ यहाँ भक्तिभावना भी संयोजित है- एकाग्र भाव से। कृष्णभक्त कवि की भावप्रवणता गीतसृष्टि का प्रस्थान है और एक पद में एक भाव-विशेष को संग्रथित किया गया है। भाव बिखरने नहीं पाते और अभिव्यक्ति अपने प्रयोजन में सफलता प्राप्त करती है। विनय पदों से लेकर कृष्ण के लीला पदों तक इस संग्रंथन को देखा जा सकता है। जहाँ प्रसंग वर्णनात्मक ढंग से आए है, वहाँ कोई विशेषता कथन में नहीं है, जैसे कथाक्रम स्थापना का औपचारिक प्रयत्न हो। पर जब किसी भाव-प्रसंग को उजागर किया जाता है, तब कवियों की संलग्न तन्मयता उच्चतम धरातल प्राप्त करती है। कवियों ने अपनी गीतमयता की व्याप्ति के लिए लोकधुनों तक का प्रयोग किया और यहाँ लोकगीत मूल काव्यधारा में संयोजित हुए हैं।

7.6.1 भाषा - भक्ति काव्य के सफल निर्वाह के लिए संवेदन सम्पन्न, मधुर, लयात्मक भाषा की अपेक्षा होती है, उसके लिए ब्रजभाषा समर्थ है और कृष्ण भक्तकवियों ने उसका सक्षम उपयोग किया। यहाँ भाषा का वह रूप है जो लोकप्रचलित है और जिसे कवियों ने काव्योपयोगी बनाया। यह कार्य कठिन है और सर्जनात्मक प्रतिभा की मांग करता है। भाषा एक प्रकार से लोकसम्पत्ति होती है जिसमें लोक स्वयं को अभिव्यक्ति देता है। इस दृष्टि से वह एक संस्कृति की वाहक भी होती है। कृष्ण भक्तिकाव्य ब्रज संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि कृष्ण के व्यक्तित्व का मुख्यांश उससे संबद्ध है और जिन्हें कृष्णभक्ति के अष्टछापी कवि कहा जाता है वे इससे जुड़े हुए हैं। सूर जैसे कवियों ने लोकभाषा ब्रजभाषा को वैसे ही काव्योपयोगी बनाया जैसे जायसी ने अवधी को। तुलसी में अवधी का स्वरूप किंचित भिन्न है, क्योंकि उस पर संस्कृत की छाया भी है। पर सूर जैसे कवि भाषा की वर्णनात्मकता को पार करते हैं क्योंकि गीत उनका प्रमख माध्यम है। कृष्ण भक्तकवियों ने भाषा के मुहावरे को मुख्य रूप से जीवन संसक्ति से प्राप्त किया, पर ब्रज का परिवेश इस कार्य में उनकी सहायता करता है। इसलिए संस्कार, उत्सव सब यहाँ पूरी रसमयता में आए हैं। उल्लेखनीय यह है कि यहाँ प्रकृति की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वास्तविकता तो यह है कि लोकजीवन में प्रकृति भी सम्मिलित है, और जहाँ तक भाषा-सम्पदा का प्रश्न है, वह कविता को विशेष सम्पन्नता प्रदान करती है। इस प्रसंग में माखनलीला, वृन्दावन विहार, रासलीला आदि का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है, जहाँ प्रकृति के खुले मंच पर सब कुछ आयोजित होता है। प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों से कृष्ण भक्तिकाव्य ने स्वयं को लोकसमीपी बनाया है। अभिव्यक्ति की सहजता यहाँ विशेष आकर्षण उत्पन्न करती है। मध्यकाल में प्रचलित फारसी-अरबी शब्द भी यहाँ आए है, पर वे काव्यभाषा की मुख्यधारा में प्राय: अन्तर्मुक्त हो गए हैं, बाहरी प्रतीत नहीं होते। सूरदास जैसे सिद्ध कवियों ने काव्यभाषा को इस ऊँचाई पर पहुँचा दिया कि वह बिम्ब, रूपक-निर्माण में सफल हो सकी। जिसे सांगरूपक अथवा संपूर्ण चित्र कहा गया, उसका निर्माण इस अर्थगामी भाषा के सहारे ही संभव था। 'अद्‌भूत एक अनूपम बाग' जैसे पद में यमुना के माध्यम से वियोग का संपूर्ण चित्र विचारणीय है। यहाँ प्रकृति के साथ मानव भावों का तादात्म्य है और जो दृश्य उपस्थित किया गया है, वह सामान्यजन का समीपी है :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

''देखियत कालिंदी अति कारी।
अहै पथिक रहियो उन हरि सों, भई विरह जुरकारी।
गिरिप्रजंक तें गिरति धरनि धंस, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारु उपचार चूर, जल पूर प्रस्वेद पनारी।
बिगलित कच कुस कांस कूल पर, पंक जु काजल सारी
भौर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है भई मनौ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो यमुना गति, सो गति भई हमारी।''

7.6.2 कृषि-चरागारी संस्कृति - कृष्ण भक्तिकाव्य को कृषि-चरागाही संस्कृति के संदर्भ में रखकर देखना उपयोगी होगा क्योंकि इससे उसका लोक पक्ष सही ढंग से समझा जा सकता है। विश्व साहित्य में 'पैस्टोरल साहित्य' की चर्चा होती है, जिसका संबंध कई बार यायावरी घुमंतू जातियों से भी स्थापित किया जाता है। पर कृष्ण भक्तिकाव्य के मुख्य चरित्र-कृष्ण-राधा, नन्द-यशोदा, गोप-गोपी आदि ब्रजभूमि से संबद्ध हैं और गोकुल-वृन्दावन उसके प्रमुख लीला-स्थल हैं। कृष्ण के जीवन से जुड़ी मुख्य लीलाएँ कृषि-चरागाही संस्कृति का बोध कराती हैं, दूध, दधि, माखन, गो-चारण, वंशी-वादन, गायन-संगीत, उन्मुक्त लीलाएँ, रास आदि सब इसी के परिचायक हैं। तुलसी में कृषक-जीवन को प्रमुखता मिली है और कृष्ण भक्तिकाव्य में चरागाही जीवन की। गो-चारण को यहाँ विस्तार मिला है और उससे जुड़े अधिकांश प्रसंगों का उपयोग कवियों ने किया है। गोकुल-वृन्दावन यहाँ जैसे जीवित हो उठे हैं, अपने संस्कार और उत्सवों के साथ। कृष्ण के चले जाने पर गोपिकाएँ प्रश्न करती हैं : ''मधुबन तुम कत रहत हरे, बिरह वियोग स्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे।'' मेरा विचार है कि कृष्ण भक्तिकाव्य में उन्मुक्तता का एक कारण यह कृषि चरागाही संस्कृति भी है, जिसका उपयोग बहुलता से हुआ है। ग्राम का सरल, निश्छल जीवन यहाँ चरागाही संस्कृति के माध्यम से उभरता है। गोपियाँ कहती हैं कि 'हम अजान अति भोरी।' निर्गुण तो वहाँ खप सकता है जहाँ कुब्जा जैसी चतुर नागारिकाएँ हैं। कृष्ण भक्तिकाव्य में कृषि-चरागाही संस्कृति के माध्यम से उसका एक संपूर्ण लोक उभरा है, जो उसका वैशिष्ट्य है। माना कि यहां रागरंग की छवियाँ अधिक हैं, पर मध्यकालीन दैन्य के संकेत भी हैं, संक्षेप में ही सही। जैसे लंबा पद : ''प्रभूजू यो कीन्ही हम खेती, बंजर भूमि गाउं हर जोते, अरु जैती की तैती।'' इसमें संदेह नहीं कि कृष्ण भक्तिकाव्य के संवेदन-संसार में कृष्ण-चरागाही संस्कृति सक्रिय भूमिका का निर्वाह करती है, यद्यपि उसकी उत्सव-छवियाँ ही अधिक हैं।

7.6.3 ललित कलाएँ - कलाओं का अन्तरावलम्बन रचनाशीलता को गति देता है, इसे मध्यकाल, विशेषतया कृष्ण भक्तिकाव्य के संदर्भ में देखा-समझा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि जब विभिन्न कलाएँ एक-दूसरे से संवाद की स्थिति में होती हैं, तब संपूर्ण कला-संसार में एक नई उठान आती है। प्राचीनकाल में दृश्यकाव्य की प्रमुखता थी और साहित्य रंगमंच से जुड़कर अधिक प्रसार पाता था। मध्यकाल का यह विचारणीय पक्ष है कि कविता, संगीत, चित्र एक दूसरे के निकट हैं और इसका आधार कृष्ण का लीला-संसार है, जैसे फारस से प्रभावित मुगल कला में आभिजात्य की प्रमुखता है और उसके विषय उसी के अनुसार हैं। पर इसी के समानान्तर जो राजपूत, पहाड़ी शैलियाँ विकसित हुईं, उनका क्षेत्र राजस्थान से लेकर हिमाचल तथा उत्तराखंड तक है। पहले महाभारत फिर भागवत इसके प्रेरणास्त्रोत रहे हैं और कृष्ण भक्तिकाव्य इसे नई सक्रियता देता है। इसका वैशिष्ट्य यह है कि इसका मुख्य आधार कृष्ण की विभिन्न लीलाएं हैं- यमुना, कुंज, वृन्दावन आदि की प्राकृतिक भूमिका है। लोक की यह उपस्थिति कृष्ण भक्तिकाव्य को व्यापकता देती है और इसका स्वरूप मूलतः लोक कला का है। राधा कृष्ण, गोपी, गोकुल-वृन्दावन, रासलीला आदि में प्रकृति के खुले परिवेश में इन चित्रों का विन्यास इसे प्रमाणित करता है। कृष्ण भक्त कवियों ने रागमाला के अंतर्गत विभिन्न ऋतुओं का चित्रण किया जहाँ राधा-कृष्ण भी आए हैं। यहाँ चित्र और संगीत में संयोजन है क्योंकि राग-रागिनियों में भी ऋतुराज की भूमिका है। वर्षा, वसंत चित्र की भी प्रेरणा हैं, और संगीत की भी, लेकिन कृष्ण-भाव की उपस्थिति के साथ- इसे संगीत-चित्र कहकर संबोधित किया गया है। राजस्थान में इन कविताओं की भावभूमि पर चित्र बने, कविता-पंक्तियाँ संगीत का आधार बनीं और चित्रों को कविता-शीर्षक भी दिए गए, संगीत से संबद्ध होकर भक्तिकाव्य ने व्यापकत्व प्राप्त किया, वह लोकधुनों का उपयोग करसका और जनता के कंठ में समा गया, मंदिर-गायन में वह था ही।

7.7 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप कृष्ण के चरित्रगत अन्तर्विरोधों को समझ गए होंगे। वस्तुतः कृष्ण का व्यक्तित्व, कृष्ण भक्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साहित्य के माध्यम से कई रूपों में हमारे सामने आता है। लीला पुरुषोत्तम से लेकर लोकदेवता के रूप में उनका महत्त्व जनमानस से व्याप्त है। कृष्ण भक्तिकाव्य के संदर्भ में श्रीमद्‌भागवत का विशेष महत्त्व है। भागवत में भक्ति को सर्वजनसुलभ बताया गया है। कृष्ण भक्ति के संदर्भ में दार्शनिक वाद-विवादों की अपेक्षा उसका लोकरूप अधिक प्रभावशाली होकर उभरा है। सूरदास के काव्य को पशुचारण काव्य की संज्ञा दी गई है। पशुचारण काव्य में जिन आदिम मनोभावों की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार की अभिव्यक्ति हमें सूर के काव्य में मिलती है।

कृष्ण काव्य के भक्त कवियों में अनुभूति की तन्मयता थी। अनुभूति की तन्मयता ने कवियों में संगीतात्मक चेतना का प्रसार किया। अधिकतर कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में लयात्मक सौंदर्य मिलता है। इसी कारण कृष्ण भक्त कवि जनता में लोकप्रिय हुए। कृष्णभक्त कवियों के प्रभाव से ब्रजभाषा का विकास अखिल भारतीय स्तर पर हुआ। कृष्णभक्त कवियों ने सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में कृष्ण काव्य को प्रस्तावित किया था।

7.8 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय परम्परा में कृष्ण के विकास की चर्चा कीजिए।
2. कृष्ण गाथा के साथ-साथ विकसित होते भक्ति चिन्तन ने कृष्ण भक्तिकाव्य को किस रूप में प्रभावित किया? विवेचना कीजिए।
3. कृष्णभक्ति काव्य में वात्सल्य और श्रृंगार पर प्रकाश डालिए।
4. कृष्णभक्ति काव्य के शिल्प विधान की चर्चा कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-4 : रीतिकाल

इकाई-8

रीतिकालीन साहित्य

रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि और आधार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संरचना

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 रीतिकाल का नामकरण और सीमा-निर्धारण

8.3 रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि

- 8.3.1 दरबारी पृष्ठभूमि
- 8.3.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 8.3.3 सामाजिक पृष्ठभूमि
- 8.3.4 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
- 8.3.5 धार्मिक पृष्ठभूमि
- 8.3.6 साहित्यिक पृष्ठभूमि

8.4 रीतिकालीन काव्य का आधार

- 8.4.1 काव्यशास्त्रीय आधार
- 8.4.2 श्रृंगारिकता का आधार
- 8.4.3 अलंकरण का आधार
- 8.4.4 रीतिकाव्य में वीर और प्रशस्ति के भाव
- 8.4.5 भक्तिपरक वर्णन का आधार
- 8.4.6 नीति और वैराग्यपरक कविता का आधार
- 8.4.7 रीतिकालीन काव्य भाषा का आधार

8.5 सारांश

8.6 अभ्यास प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

रीतिकालीन कविता का विकास सौन्दर्य जीवन के प्रति ऐहित दृष्टिकोण के कारण हुआ है। इसमें प्रेम-सौन्दर्य का विवेचन इस काल के रचनाकारों के इसी दृष्टिकोण के आधार पर है। हम इस इकाई में रीतिकाव्य के साथ-साथ इस काल की विभिन्न प्रकार की उपलब्धियों के काव्य के बीच के आंतरिक तत्त्वों को भी इकाई में हम सामने लाने का प्रयास करेंगे।

ध्यातव्य है कि इस इकाई में रीतिकालीन परिवर्तित परिस्थितियों को संक्षिप्त परिचय दिया गया है, ताकि रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि और उस पर आधारित काव्य को सहज ढंग से समझा जा सके।

8.1 उद्देश्य

इकाई का अध्ययन–मनन करने के बाद हम

(1) रीतिकाव्य की पृष्ठभूमि से परिचित होने के साथ–साथ उसकी मनोभूमि के पीछे सक्रिय सामाजिक और ऐतिहासिक वास्तविकता को समझ सकेंगे।

(2) इस इकाई में रीतिकाव्य के अन्तर्गत उनके प्रकार की अंतवर्ती धाराओं के साहित्य की चर्चा करते हुए रीतिकाव्य की विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों की भी संक्षिप्त रूप में जानकारी दे सकेंगे।

8.2 रीतिकाल का नामकरण और सीमा–निर्धारण

सभी काल का साहित्य प्रवृत्तिगत आधार पर सम्बोधित किया जाता रहा है, जैसे आदिकाल में वीरगाथा की प्रवृत्ति प्रधान थी और पूर्व मध्यकाल में भक्ति की प्रवृत्ति प्रधान थी। इसलिए आदिकाल को वीरगाथाकाल और पूर्व–मध्यकाल को भक्ति की संज्ञा दी गई। इसी प्रकार उत्तर मध्यकाल में श्रृंगार की प्रवृत्ति प्रमुख थी। इसलिए उसे श्रृंगारकाल कहा गया।

उत्तर–मध्यकाल को मिश्र बंधुओं ने अलंकार को इस काल में व्यापक अर्थ में देखते हुए अलंकृतकाल कहा। आचार्य रामचन्द्र शुल्क ने रस या भाव की दृष्टि से श्रृंगारकाल कहने की छूट तो दी, लेकिन ग्रंथ रचना की व्यापक पद्धति रीतिबद्ध दिखाई पड़ी। अत: उन्होंने इस काल को रीतिकाल कहना समुचित समझा। इसी तरह आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. नगेन्द्र आदि ने इस काल को रीतिकाल ही कहना समुचित समझा।

सीमा निर्धारण– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल का विस्तार संवत् 1375–1900 वि. तक माना है। इसकाल को उन्होंने दो भागों में विभाजित किया है– पूर्व मध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल संवत् 1375 से 1700 वि. और उत्तर मध्यकाल अर्थात् रीतिकाल संवत् 1700 से 1900 वि. तक।

8.3 रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि

रीतिकाल को सं. 1700 से 1900 तक माना जाता है। इस काल में लिखे गए साहित्य की विशेषताओं को जानने के लिए इसकी परिस्थितियों को जान लेना अनिवार्य है। इस समय का भारत का इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मूमल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर धीरे–धीरे उसके अंत का कोरा चिट्ठा है। इस बात की पृष्ठभूमि को हम निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

8.3.1 दरबारी पृष्ठभूमि– रीतिकाल काव्यधारा के कवि दरबारी वातावरण से पूरी तरह प्रभावित थे। चूंकि यह काल मुगल शासन का काल था। इसमें मुगल दरबारी संस्कृति पूरी तरह प्रभावशाली थी। इस दरबार में संगीतज्ञ, शिल्पी, चित्रकार और विविधस भाषाओं के कवि रहते थे।

अब्दुल रहीम खानखाना आदि प्रतिभा सम्पन्न प्रशासक, कवि और गुणज्ञ व्यक्ति रहते थे। इनका संपर्क तुलसीदास, केशवदास आदि से था। नरहरि, तानसेन, गंग, बीरबल आदि अकबर के दरबारी कवि थे। जहाँगीर के दरबार, केशव मिश्र थे। शाहजहाँ के दरबारी कवि थे– सुन्दर, कुलपति मिश्र, चिन्तामणि, आचार्य पंडितराज जगन्नाथ आदि। इसके बाद औरंजेब की कट्टरता से दरबारी कवि गायब होकर स्वतन्त्रतापूर्वक काव्य रचना में लग गए।

8.3.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि– जब रीतिकाल का आरम्भ हुआ, तब सामंत और सम्राट अपने वैभव के प्रदर्शन और विलासिता के सामने अपने कर्त्तव्य की बलि दे चुके थे। शाहजहाँ की मृत्योपरान्त उसके बेटों में सत्ता के लिए संघर्ष हुआ। फलत: दारा शिकोह की हत्या कर औरंगजेब ने गद्दी संभाली। उसने अपनी कट्टर सन्नी दुढप्रवृत्ति के कारण साहित्य, संगीत और कला को बहिष्कृत तो किया ही, इसके साथ ही साथ उसने हिन्दुओं को खूब पीड़ित–दण्डित किया। इससे उसके विरोध में सिक्ख, मराठे जाट आदि उठ खड़े हुए। उनसे ही वह आजीवन जूझता–लड़ता रहा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

औरंगजेब के बाद मुगलवंश अपनी शासन–व्यवस्था को संभालने में अयोग्य सिद्ध हुआ। शासन–व्यवस्था की कमजोरी और आपसी फूट को देखकर विदेशी आक्रमण शुरू हो गए। नादिरशाह और अहमदशाह ने प्रजा को लूटा ही नहीं, अपितु उसका कत्ल भी किया। संगठन शक्ति की दुर्बलता के कारण ही बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों से शाहआलम हार गया, जिससे देश के पूर्वी भाग पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इस प्रकार देशी राजा–महाराजा और सामतगणों ने संयुक्त रूप से विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला किया होता, तो हिन्दी के कविगण भी शौर्य और पराक्रम की विरूदावली गाते।

8.3.3 सामाजिक पृष्ठभूमि– यथा राजा तथा प्रजा की उक्ति इस काल पर पूर्णतया ठीक बैठती है। जहाँगीर, शाहजहाँ तथा उनके लगभग सभी उत्तराधिकारी विलासिता में मग्न रहते थे। अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ की अनेक पत्नियाँ थी। इसका प्रभाव सामन्त वर्ग पर भी पड़ा। इस प्रकार संपूर्ण समाज में स्त्री के शारीरिक सौन्दर्य का सौदा होने लगा। स्त्री केवल मनोरंजन का साधन मात्र बनकर रह गई। समाज में द्यूत–क्रीड़ा तथा मद्यपान प्रमुखस हो गए और धर्म को घृणित दृष्टि से देखा जाने लगा। जनता प्राय: अशिक्षित थी। इसी कारण उनमें बाल–विवाह आदि कुप्रथाएं चल निकलीं। साधारण जनता में भी विलास की सामग्री जुटाने की क्रिया घर कर गयी और नागरिकता का पूर्णत: अभाव हो गया। किसान लोगों के पास खाने को कुछ नहीं था। वे भी अमीर लोगों की कृपादृष्टि पर निर्भर रहने लगे। सभी ओर दासियों की मांग बढ़ गई। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति का पतन होता रहा और भूखमरी बढ़ने लगी तथा किसानों की श्रम–शक्ति कम हो जाने के कारण इस काल को आर्थिक संकट का भी सामना करना पड़ा।

8.3.4 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि– रीतिकालीन कविता दरबारी संस्कृति की है। इस काल की विविध कलाओं और उन पर पड़े प्रभाव इस प्रकार है–

स्थापना कला– चूँकि जहाँगीर वास्तुकला का प्रेमी था, इसीलिए उसने वास्तुकला के विकास में विशेष योगदान दिया। इससे पहले अकबर के शासनकाल में लाल पत्थरों के प्रयोग से किले निर्मित किए गए। शाहजहाँ ने अपना सूक्ष्म कला प्रेम दर्शाते हुए जामा मस्जिद और ताजमहल, हुमाहूँ के मकबरे के आधार पर निर्मित करवाया। जिस प्रकार तत्कालीन स्थापत्य कला पर मौलिकता शून्य अभ्यासजन्य पच्चीकारी की अधिकता लक्षित की जा सकती है, उसी प्रकार तत्कालीन चित्रकला में परंपरागत शैली, विलास और ऐश्वर्य के साथ अलंकरण की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

संगीत कला– अबकर का समय ऐसा था, जिसमें संगीत का चरम उत्कर्ष साफ दिखाई देता है। अकबर के बाद जहाँगीर के समय में 'संगीत दर्पण' जैसे संगीत शास्त्र का सुव्यवस्थित ग्रन्थ तैयार हुआ। फिर शाहजहाँ के समय में गंभीरता और उदात्तता के स्थान पर कोमल रागों का अधिक प्रयोग हुआ, लेकिन औरंगजेब की कट्टरता ने मुगल दरबार की विलासिता और ऐश्वर्य प्रदर्शन के साथ कलात्मक अमोट–प्रमोद को बहिष्कृत कर दिया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मुगलकालीन संगीतकलाओं के विकास–ह्रास अपने आश्रयदाताओं की रूचियों के ही परिणाम है।

8.3.5 धार्मिक पृष्ठभूमि– इस काल में धर्म की बात करना कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता। बाह्याडम्बरों का बोलबाला और अन्धविश्वासों की मान्यता ही इस काल की दो विभूतियाँ रही गई। सूरदास की राधा एक साधारण रमणी हो गई।

इस प्रकार इस काल के कवियों ने पवित्रता के स्थान पर कामुकता को प्रमुखता दी। मंदिरों के पुजारी भी कामुक हो गए और मंदिरों से भी नूपुरों की झंकार और तबले की टंकार की ध्वनि आने लगी। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी यह युग पतन का युग था।

8.3.6 साहित्यिक पृष्ठभूमि– रीतिकाल में सभी कलाकार एवं साहित्यकार किसी–न–किसी आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए कविता लिखा करते थे। इसी कारण उनकी प्रसन्नता के लिए दोनों को ही श्रृंगारपरक प्रतिपाद्य और कला प्रधान चमत्कारवादियों को अपनाया पड़ा। इस युग में साहित्यकारों में भी होड़–सी लगी थी। राजा को प्रसन्न करने की चेष्ठा से सभी मनोहारी कविता रचने लगे। इतना ही नहीं, सामन्त लोग भी अपनी प्रशंसा सुनने के लिए किसी अच्छे कलाकार की खोज में रहते थे। इस प्रकार इस काल में जो भी कवि हुए, चाहे वह रीतिबद्ध–रीतिसिद्ध कवि, उन्होंने 'बख्त बुलन्द महाराज तेरे चाहिए' के नारे बुलन्द किए।

हिन्दी साहित्य के रीतिकालिन कवियों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि वे एक साँस में कवि और दूसरी साँस में आचार्य बनने का प्रयत्न कर रहे थे। इस प्रकार श्रृंगारिकता और आचार्यत्व इस काल के कवियों से जुड़े हुए हैं। इस काल के कवियों की श्रृंगारिकता का प्राय: वही स्वरूप रहा, जो कि वली के शब्दों में उर्दू कविता में था–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शुगल बेहतर है इश्कबाजी का,
क्या हकीकी क्या मजाजी का।

हिन्दी का कवि भी कहाँ पीछे था–

सेज है, सुराही है, सुरा और व्याला है।
सुबाला है, दुशाला है, विशाल चित्रशाला है।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि जिस काल में मंदिरों में नृत्य होते हों, प्रशंसामूलक गीतों की इनाम दिए जाते हों, सामन्तों के महलों में नृग्न नृत्य हो रहे हों और जनता के मनोबल का पतन हो चुका हो, ऐसे काल का अनुभव करके, अपने मन को मारकर यदि इस काल के कवि ने नग्न श्रृंगारिकता की रचना की, तो इसमें उसका इतना दोष नहीं, जितना की समाज का था।

8.4 रीतिकालीन काव्य का आधार–

रीतिकालीन कविता के विकास के निम्नलिखित आधार हैं–

8.4.1 काव्यशास्त्रीय आधार– रीतिकालीन कविता के प्रमुख आधारों में काव्यशास्त्रीय आधार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत में काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र की जो लम्बी परम्परा है, उसमें से रीतिकवियों ने केवल काव्यशास्त्र को ही स्वीकार किया। उन्होंने संस्कृत के शास्त्रीय विवेचन की प्रौढ़ता और गंभीरता को स्वीकार न करके रसिकता और अलंकारिता को ही स्वीकार किया।

रीतिकालीन कवियों को विद्वानों ने तीन श्रेणियों में विभाजित किया है–

(1) रीतिबद्ध कवि
(2) रीतिसिद्ध कवि और
(3) रीतिमुक्त कवि।

विद्वानों ने रीतिबद्ध कवियों को दो श्रेणियों में बांटा है– सर्वांगीण रूपक कवि और दूसरे विविधांग निरूपक या विशिष्टांग निरूपक। रीतिबद्ध सर्वांगीणरूपक कवियों ने काव्य के सभी अंगों काव्य–लक्षण, काव्य हेतु, काव्य–प्रयोजन, काव्य–गुण, काव्य–दोष, शब्द–शकित रीति, वृत्ति, रस, अलंकार, ध्वनि आदि का विवेचन किया। केशव दास, चिन्तामणि, देव, भिखारी दास, ग्वाल, प्रताप साहि, सोमनाथ आदि इसी वर्ग के कवि हैं।

दूसरी श्रेणी के कवियों ने काव्यशास्त्रीय उन अंगों का निरूपण किया, जिनमें उन्हें सरस उदाहरणों की रचना का अधिक अवकाश था। इस श्रेणी के कवियों में केशवदास, पद्माकर, देव, बेनी, 'प्रवीन' कालिदास त्रिवेदी, जयदेव, अधदीक्षित, कुललयानंद, चिंतामणि आदि उल्लेखनीय हैं।

8.4.2 श्रृंगारिकता का आधार– श्रृंगार का खुलकर प्रयोग रीतिकालीन कवियों में हुआ है। रीतिकालीन कवि श्रृंगार के दोनों पक्षों का वर्णन करने में अत्यंत निपुण थे। इन कवियों ने श्रृंगार को लेकर अलग–अलग ग्रंथों की रचना की तथा उनके देर लग जाने पर भी वहां वर्ण्य विषय संबंधी किसी प्रकार की शिथिलता के दर्शन नहीं होते हैं। अतः रस सभी दिशाओं में पूर्ण एवं समग्र हुआ है। इस काल के अधिकांश कवि दरबारी थे। उनकी कविता का मुख्य उद्देश्य अपने आश्रयदाताओं की कामुक मनोवृत्तियों को उभारता था। रीतिकालीन कवियों ने भक्तिकाल की राधा–कृष्ण विषयक श्रृंगारी कविता से प्रेरणा प्राप्त की तथा उनके अलौकिक प्रेम को घोर श्रृंगार में परिवर्तित कर दिया, जिससे इनका लौकिक रूप लुप्त हो गया तथा वे सामान्य नायक की कोअि में आ गए अर्थात् राधा–कृष्ण का नाम उनके लिए सामाजिक कवच बना हुआ था।

श्रृंगारिक वर्णनों के अवसर पर रीतिकालीन कविता में अश्लीलता यत्र–तत्र अपनी चरम सीमा पर दृष्टिगोचर होती है। ऐसे प्रसंग व चित्रण काव्यशास्त्र के आधार पर वासनात्मक रूप में रति आदि का नग्न और सीधा चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

श्रृंगार चित्रण में कहीं–कहीं अश्लीलता का समावेश हो जाने पर भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। श्रृंगार के संयोग पक्ष का वर्णन स्पुष्टतः स्वाभाविक रूप से स्वीकार किया जाता है। सभी प्रकार की नायिकाओं के सौंदर्य वर्णन पर संयोग पक्ष के कवियों ने विशेष

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तत्कालीन का भाव प्रकट किया है। उन्होंने नख-शिख सौंदर्य वर्णन का भाव, नायिकाओं के प्रेममय श्रृंगार के हाव-भाव तथा विशेष प्रकार की मुद्राओं का अंकन बड़े ही सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है। ऐसे वर्णनों में नव्यता एवं मौलिकता दृष्टिगत होती है। उन्होंने श्रृंगार एवं नख-शिख चित्रण के संबंध में कोई भी अंग अधूरा नहीं छोड़ा है। उनकी कुशल लेखनी से सौंदर्य का कोई भी हाव-भाव बच नहीं पाया। इससे भी अधिक विशेष बात यह है कि इस प्रकार के वर्णन पूर्ण एवं प्रभावी हैं। उनके इस प्रकार के वर्णन बहुत ही कोमल एवं अकृत्रिम हैं। रीतिकालीन कवि प्रेम की विविध एवं विभिन्न अवस्थाओं के चित्रण में सिद्धहस्त हैं।

नायक- नायिक्त के प्रथम दर्शन एवं आँखें चार होने के कंपन से लेकर मिलनाकांक्षा, मिलन की चेष्टाएं और अंत में एकान्त मिलन आदि के समस्त चित्रों का वर्णन कवियों ने अपने काव्यों में बड़ी ही कुशलता से किया है।

ऊहात्मक वर्णन भी रीतिकालीन कवियों में देखने को मिलते हैं। इस युग से कला वासनापूर्ति का साधन बन गई। 'नारी' ही इस कला का आलम्बन थी। कला का आदर्श नारी का सांगोपांग वर्णन था। कवि ने नारी प्रकृति का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से न करके केवल रीति एवं काम-वासना से संबंधित नारी के विविध रूपों का वर्णन किया है। रीतिकालीन कवियों ने अनेकों ग्रन्थों की रचना नारी (नायिका) भेद पर कर डाली। इन कवियों ने नख-शिख वर्णन में कमाल कर दिखाया। नायिका के एक-एक अंग पर स्वर्ग के सुख को भी न्यौछावर करने से ये कवि दृष्टिगोचर होते हैं।

रीतिकाव्य में षड़ऋतु ओर बारहमासा वर्णन को भी श्रृंगार रस और नायिका भेद के वर्णन के साथ प्रमुख स्थान मिला है। ऋतु-वर्णन भी रीति काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। श्रृंगार रस के उद्दीपन विभाव के रूप में यह वर्णन दृष्टिगत होता है। रीतिकाल के कवियों ने संयोग तथा वियोग दोनों प्रसंगों में ऋतुओं का वर्णन किया है।

श्रृंगारिक चेष्टाओं को व्यक्त करने की परिपाटी उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में नायिकाओं के सूक्ष्म वर्गीकरण पर आधारित थी। रीतिकालीन काव्य पर इसी का प्रभाव पड़ा। श्रृंगार वर्णन में फारसी प्रभाव के कारण चमत्कार का प्राधान्य था। श्रृंगार में वीभत्सता का समावेश भी रीतिकाल में फारसी प्रभाव का सूचक है। कवियों ने विभिन्न दृष्टियों से (स्वतन्त्र, आलम्बन, उद्दीपन) प्रकृति का सूक्ष्म अध्ययन किया है। प्राय: प्रकृति के स्वतन्त्र रूपों की ओर रीतिकालीन कवियों का ध्यान नहीं गया।

8.4.3 अलंकरण का आधार- रीतिकाल के सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में अलंकारों का सुंदर प्रयोग किया है। बहुत-से रीति कवियों ने अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त कवियों के काव्य में भी अलंकारों का सौंदर्य देखते ही बनता है। बिहारी के काव्य में अलंकारों का प्रयोग मुख्य रूप से भाव-सौंदर्य की वृद्धि के लिए किया गया है। यमक अलंकार का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
या खाये बौराय जग, वा पाये बौराय॥

इस युग में अलंकार की प्रवृत्ति इतनी प्रधान थी कि भूषण जैसे वीर रस के महाकवि ने भी काव्य में अलंकारों का भरपूर प्रयोग किया है। भूषण की रचना का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावण सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाथ पर
ज्यों सहस्र बाहु पर शम-द्विजराज है।
दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर,
भूषण वितुण्ड पर जैसे मुगराज है,
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कन्स पर
त्यों मलिच्छ वंश पर सेर सिवराज है।

रीतिकालीन काव्य में सौन्दर्भ को काव्य के एक अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। रीतिकालीन युग में नारी सौंदर्य को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खान माना जाता था। इस युग के कवियों ने नारी की रूप सुधा का छककर पान किया तथा नारी सौन्दर्य के विविध चित्र प्रस्तुत किए। आंखों का सौंदर्य वर्णन करते हुए बिहारीजी कहते हैं–

चमचमात चंचल नयन, बिच घूंघल पर छीन।
मानहु सुरसरिता विमल, उच्छरत जल जुग मीन।

रीतिमुक्त कवियों ने भी नारी–सौन्दर्य के अद्‌भुत चित्र अंकित किये हैं। घनानन्द ने नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा है–

अंग–अंग तरंग उठे दुति की।
परि है मनो रूप अबै धरि च्वै।
हैसि बोलन में छवि फूलन की,
वरषा उर ऊपर जाति है छवै॥

वस्तुतः सौंदर्य–चित्रण की दृष्टि से रीतिकाल को निश्चय ही अद्वितीय कहा जा सकता है।

8.4.4 रीतिकाल में वीर और प्रशस्ति के भाव :– रीतिकाल तथा विदेशी आक्रमणकारियों के आक्रमण होते रहे। इस काल तक स्वाभिमानी राजाओं की वीरता और असाधारण शक्ति आपसी वैर–भाव और फूट के कारण समाप्त–सी हो गई थी। महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्तसाल जैसे ही कुछ वीर पुरूष रह गए थे। शिवाजी और छतसाल की वीरता और प्रशस्ति का वर्णन भूषण आदि ने किया। आचार्य केशवदास ने 'रतन बावनी', 'वीर सिंह देवचरित' और 'जहाँगीर जसचन्द्रिका' में वीर–प्रशस्ति की काव्य–परम्परा का निर्वाह किया। मान के 'राजविलास' लाल कवि के 'छत्रप्रकाश' सूदन के 'सुजान चरित' पद्‌माकर के 'हिम्मत बहादुर विरूदावली' 'प्रताप विरूदावली', 'जोधराज के 'हम्मीर रासो' में अपने–अपने चरित नायकों की प्रशंसा की गई है।

8.4.5 भक्तिपरक वर्णन का आधार– जिस तरह से राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक पृष्ठभूमियों के दबाव से रीतिकालीन कवि एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति में पहुँच गए थे, वैसे ही उन्होंने भक्ति की भाव–दशा प्राप्त कर ली थी। परिणामस्वरूप इन कवियों ने भक्ति के छन्दों की रचनाएं की। उन्होंने अपनी भक्ति–भावना में भक्तिकालीन कवियों के इष्टदेव राम, कृष्ण आदि को तो प्रमुखता दी, लेकिन उनके प्रति वह निष्ठा और समर्पण भाव नहीं दिखलाया, जो भक्तिकालीन कवियों ने दिखलाया था। यह सर्वविदित है कि भक्त कवियों की जीवन–साधना आध्यात्मिक उन्नति के लिए समर्पित थी, लेकिन रीतिकालीन कवियों की भक्ति–भावना तो सामान्य आस्थावादी भारतीय की मानसिकता को ही प्रकट करती है।

8.4.6 नीति और वैराग्यपरक कविता का आधार– भक्ति की तरह रीतिकालीन कवियों में वैराग्य और रीति के भाव प्रदुर्भूत हुए थे। उन्होंने अपने काव्योदेश्य को मनोरंजन तो माना ही, इसके साथ ही साथ 'कान्तासम्मित उपदेश' देना भी आवश्यक समझा। उनकी नीति और वैराग्यपरक कवियाओं में उनके जीवन अनुभव ही हैं। उनके नीति के दोहे लोक–यात्रा की सहजता और सरलता के आधार हैं। उनके मुक्तक तीन प्रकार के हैं– पहले प्रकार के मुक्तकों ने अन्योक्तियों हैं। दूसरे प्रकार के मुक्तकों में सरल शैली द्वारा व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा दी गयी है। और तीसरे प्रकार के मुक्तमकों से संसार को माया का प्रसार मानकर विरक्ति की शिक्षा दी गई है।

8.4.7 रीतिकालीन काव्य भाषा का आधार– रीतिकालीन साहित्य मुख्य रूप में ब्रज भाषा में लिखा गया है। ब्रज भाषा अपने माधुर्य के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के कवियों की भाषा में चित्रात्मकता एवं लयात्मकता का अनूठा निर्वाह मिलता है। भाषा के चित्रात्मकता के सौन्दर्य का एक उदाहरण दृष्टव्य है–

फाग की भीर अमीरन में गहि, गोविन्द ले गई, ले गई भीतर गोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर ते सु विदा दई फिर आइयो खेलन होरी॥

इस युग के काव्य की भाषा में लक्षण एवं व्यंजना शब्द–शक्तियों का सुन्दर निर्वाह मिलता है। व्यंजना शक्ति का एक उदाहरण इस प्रकार है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पलन पीक अंजन अधर, दिए महावर भाल।
आजु मिले सो भली करी, भले बने हो लाल॥

इस युग के कवियों ने दोहा, सवैया तथा कवित्त छन्द का अधिक प्रयोग किया है।

डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार, 'शब्द को खोजना, उसको शोधकर, माँजकर प्रयोग करना, उसके भीतर नाद–सौंदर्य, अर्थ चमत्मार और उक्ति–वैचिग्य भरना, यह सब रीति–कवियों की सामाज्य विशेषताएँ है। वर्ण–मैत्री, शब्द–मैत्री वृत्ति, गुण के समावेश द्वारा उक्ति–वैचित्र्य और सहज रमणीयता का गुण अपने काव्य में भर देने में ही इन कवियों की सफलता, कुशलता और प्रभाव है ..... इनके एक–एक शब्द शब्द में मणि–माणिक्य के समान चमक और आभा है।'

अन्त में कहा जा सकता है कि रीतिकाल श्रृंगार चित्रण एवं कला–पक्ष की उत्कृष्टता की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। सौंदर्य वर्णन की दृष्टि से इस काव्य को बेजोड़ कहा जा सकता है।

8.5 सारांश

हमने इस इकाई में रीतिकालीन कविया के गठन की पृष्ठभूमि को समझने के साथ–साथ रीतिकालीन कविता की मानसिक दशा को भी समझा। हमने यह भी समझा की रीतिकालीन कविता सामंती समाज की देन है। इस काल की कविता का यह भी वैशिष्टय है कि यह सामंती और शास्त्रीयता की अद्‌भुत समन्वयपूर्ण कविता है। इसके प्रमुख बिंदु श्रृंगार, चमत्कार प्रदर्शन और सौन्दर्य है। इन्हें सामन्तों ने बढ़ावा दिया। इस प्रकार के बिन्दुओं के साथ–साथ भक्ति, नीति, वैराग्य, वीरता और प्रशस्ति के भी भाव प्राय: दिखाई देते हैं।

8.6 अभ्यास प्रश्न

1. उत्तर–मध्यकाल को 'रीतिकाल' कहना कितना समुचित है।
2. रीतिकालीन काव्य के आधार पर एक निबंध लिखिए।
3. रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्य में क्या अन्तर है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 9

रीतिकालीन कविता का स्वरूप

संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 रीतिबद्ध काव्य
9.3 रीतिसिद्ध काव्य
9.4 रीतिमुक्त काव्य
9.5 शृंगारेत्तर काव्य
 9.5.1 वीर काव्य
 9.5.2 भक्ति काव्य
 9.5.3 नीतिकाव्य
 9.5.4 वैराग्य-तत्त्वज्ञानपरक काव्य
9.6 रीतिकालीन कवियों का भाषा-शिल्प
9.7 सारांश
9.8 अभ्यास प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में रीति शब्द का उल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है। संस्कृत साहित्य में अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, वक्रोति आदि काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आधार हैं। लेकिन इस काल के कवियों का उद्देश्य काव्यांगो का शास्त्रीय विवेचन करना नहीं, अपितु कविता करना था। इसके लिए उन्होंने सामंतों को आधार बनाया। इसके माध्यम से उन्होंने प्रेम-क्रीड़ाओं से संबंधित कामशास्त्र, उक्ति वैचित्र्य से संबंधित अलंकार शास्त्र और नायक-नायिका के स्वभाव का वर्णन करने वाले रस शास्त्र को आधार बनाया।

रीतिकाल में प्राप्त कविता को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है-

1. रीतिबद्ध काव्य,
2. रीतिसिद्ध काव्य और
3. रीतिमुक्त काव्य

उपर्युक्त तीनों ही काव्यों का विवेचन हम इस इकाई में करेंगे।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई में हम

1. रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय देने के साथ-साथ इस काल के साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।
2. इसके साथ ही इस काल के श्रंगारेत्तर काव्य के अंतर्गत आने वाले भक्ति, नीति, वैराग्य, प्रशस्ति काव्य की चर्चा करते हुए इस काल के कवियों के भाषा-सौंदर्य और शिल्प को बता सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9.2 रीतिसिद्ध काव्य

रीतिकालीन कवियों को स्पष्ट रूप में दो प्रमुख धाराओं या भागों में रखा जा सकता है– एक है रीतिबद्ध और दूसरा रीतिमुक्त। इनके मध्य एक उपभाग किया जा सकता है, जिस धारा में आने वाले कवियों को हम रीतिसिद्ध कवि के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

रीतिबद्ध काव्य लेखक वे हैं, जिन्होंने शास्त्र–स्थित संपादन किया है। इन्होंने संस्कृत के काव्यशास्त्र के आधार पर काव्यांग के लक्षण देते हुए उनके सुन्दर उदाहरण जुटाये हैं। इन आचार्य कवियों ने अपने आपको 'कवि शिक्षक' के पद से अभिहित किया है। उन्होंने उस समय के राजश्रयों, कवि समाज तथा रसिक जनो के लिए काव्यांगों का निरूपण किया है। इनका उद्देश्य था संस्कृत साहित्य का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत कर देना, किसी काव्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना नहीं। इन पर संस्कृत साहित्य के रस, अलंकार तथा ध्वनि संप्रदायों का प्रभाव पड़ा है। ये एक बंधी–बंधाई परिपाटी पर चलते रहे, किसी नवीन मौलिक उद्‌भावना को जन्म नहीं दे सके। प्रायः ये नायक–नायिका भेद तथा अलंकार–निरूपण में लगे रहे।

रीतिबद्ध आचार्य कवियों में कवित्व और आचार्यत्व का एक उद्‌भुत एकीकरण मिलता है। एक ओर तो उन्होंने विशुद्ध लक्षण ग्रन्थ लिखे, जिनमें पद्यात्मक लक्षण के उपरान्त सरस उदाहरण जुटाये, पर दूसरी ओर उन्होंने लक्षणों के भार से मुक्त श्रृंगार–रस संबंधित काव्य ग्रंथ भी लिखे, परन्तु यहां भी उनकी कविता कामिनी रीति के भार से कुछ अभिभूत–सी हो गई है। ऐसे ग्रन्थों में भी कलापक्ष की प्रधानता है और पच्चीकारी की प्रचुरता है।

इस वर्ग में दो प्रकार के कलाकार हुए। एक तो वे जिन्होंने लक्षण ग्रंथ भी लिखे और साथ ही लक्ष्य ग्रंथ भी। इस कोटि में देव, मतिराम, चिन्तामणि, केशव, पद्‌माकर आदि आते हैं। इनके दोनों प्रकार के काव्यों में रूढ़िबद्धता लक्षित होती है। दूसरे वे हैं, जिन्होंने केवल लक्षण ग्रन्थ लिखे हैं। वे काव्यशास्त्रीय पण्डित थे, जैसे श्रीपति आदि।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार, 'रीतिबद्ध रचना' लक्षणों और उदाहरणों से युक्त होती है। परन्तु डॉ. नगेन्द्र इस प्रकार की रचनाओं को रीतिबद्ध नहीं मानते हैं। वे ऐसे कवियों को रीतिकार या आचार्य कवि मानते हैं। रीतिकार आचार्य उनके अनुसार वे हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए रीतिग्रन्थों का प्रणयन किया।

उनकी दृष्टि में रीतिबद्ध कवि वे हैं, जिन्होंने रीतिग्रन्थों की रचना न करके काव्य सिद्धान्तों या लक्षणों के अनुसार काव्य–रचना की है। अलंकार, रस, नायिका–भेद, ध्वनि आदि उनके ध्यान में तो रहे हैं, परन्तु उनका प्रत्यक्षतः निरूपण इन कवियों ने नहीं किया। वरन् उनके अनुसार उत्कृष्ट काव्य का सृजन किया है। ऐसी दशा में वे मूलतः कवि है, आचार्य नहीं। इसलिए उन्हें रीतिबद्ध कवि मानना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ मिश्र ऐसे कवियों को 'रीतिसिद्ध कवि' कहते हैं। मूलतः ये रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवि एक ही हैं। ऐसे कवियों में बिहारी, सेनापति आदि आते हैं।

आचार्य केशवदास (सन् 1560–1601 ई.) आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है– 'केशव की रचना में इनके तीन रूप दिखाई देते हैं– आचार्य का, महाकवि का और इतिहासकार का। ये परमार्थतः हिन्दी के प्रथम आचार्य है। .... इन्होंने ही हिन्दी में संस्कृत की परम्परा की व्यवस्थापूर्वक स्थापना की। डॉ. जगदीश ने भी कहा है कि 'सुबरन की खोज में तथा कवि रूढ़ियों के निर्वाह में तत्कालीन उनकी काव्य–चेतना कवि–सुलभ–रागात्मक तारतम्य और सहज सौंदर्य–बोध से प्रायः वंचित रह गई है। इन्होंने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही काव्य रूपों में अनेक काव्यों की रचना की। उदाहरण के रूप में, रस (रसिकप्रिया), अलंकार (कविप्रिय), छन्द और भक्ति (रामचन्द्रिका, छन्दमाला) वीर–प्रशस्ति काव्य (वीर सिंह, देवचरित, जहाँगीर, जसचन्द्रिका, रतनबावनी, वैराग्य विज्ञान–गीता) आदि से लिया जा सकता है। वे सभी काव्य रूढ़ियां जिनका परिपालन संस्कृत काव्य में हुआ करता था, केशव ने उन्हें भाषा–काव्य में कहने का साहस दिखाया, नायिका के रूप वर्णन में केशव की कला का उत्कर्ष देखा जा सकता है–

गारो गात पातरी न लोचन समात मुख,
उर उर जा तन की बात अवरोहिये।

हँसति कहति बात फूल से भरत जात,
ओठ अवदात राती रेखमन मोहिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्यामल कपूरधूरि की ओढ़नी ओढ़े उडि,
धूरि ऐसी लागी कैसी उपमा न टोहिये।

काम की दुल्ही सी काके कुल अलही,
सु लहलही ललित लता–सी लात सोहिये।

मतिराम–

मतिराम रीतिकालीन रस, अलंकार और छन्द अर्थात विशिष्टांग निरूपण आचार्यों में महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके विषय में लिखा है–

'मतिराम की–सी स्निग्ध और प्रसाद पूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करने वालों में बहुत ही कम मिलती है। भाषा के समान ही मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और उनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाएं।'

मतिराम ने भानुमिश्र के रस और नायिका भेद के लक्षणों के आधार लेकर 'रसराज' नामक प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ रचा। अलंकार निरूपण प्रसिद्ध ग्रंथ 'कुक्लयानंद' के आधार पर इन्होंने 'ललित ललाम' ग्रन्थ की रचना की। उनकी कविताओं में नायिका के रूप–वर्णन और कार्य–व्यापार के चित्र बड़े ही आकर्षण है। नीचे दो पद दिये जा रहे हैं। पहले पद में नवविवाहित नायिका के लज्जापूर्ण सौंदर्य की मोहक छवि इस प्रकार है–

गौने के घौस सिंगारन को मतिराम सहेलिन को गन आयो।

कंचन के बिछुआ पहिरावत सखी परिहास जनायो।

पीतम सौन समीप सदा बजै यों कहि कै पहिले पहिरायो।

कामनि कौल चलावन कांकर ऊँचों किया पै चल्यो न चलायो॥

दूसरे पद में नायिका की आँख में किस प्रकार की मादकता और हृदय में किस प्रकार की चचलता हैं, इसे देखिए–

कुंदन को रंग फीको लगै झलकै अति अंगन चारू गुराई।
आँखनि में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहै मुसुकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों बिहारिये नीरे ह्वै नैननि ज्यों ज्यों खरी निकरै सी निकाई॥

भूषण–

यह ऐतिहासिक सत्य है कि भूषण शिवाजी और छत्रसाल दोनों के ही समकालीन थे, क्योंकि उन दोनों की ही छत्रछाया ग्रहण की थी। शिवराज भूषण, शिवाबावनी और छत्रसाल दशक उनके प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ है। कुछ विद्वानों के मत है कि 'भूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा ' भी उनके काव्य–ग्रंथ हैं। लेकिन वे दोनों आज अनुपलब्ध हैं। भूषण की काव्यगत विशेषताओं के विषय में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठीक ही लिखा है–

'परम्परा के फेर में हिन्दी के कितने ही कवियों का सच्चा और उत्कृष्ट रूप निखरने नहीं पाया। अलंकारों के बोझ से वीर रस दब गया। भूषण के लक्षण कई स्थानों पर अस्पष्ट और भ्रामक है। ...... भूषण को काव्य रीति का अच्छा अभ्यास न था।''

'भूषण' नाम न होकर एक अपधि है, जिसे चित्रकूट के नरेश सोलंकी हृदयराम के पुत्र रूद्र ने प्रदान की थी। भूषण की कविता में ओज है, जो उन्हें सामाजिक जीवन से सहज रूप में मिला। इसलिए उनके छन्दों में आवेग और अनुभूति की एकता है। एक उदाहरण देखिए–

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन वारिवाह पर, संभु रतिनाथ पर,
ज्यों सहसाबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा, द्रुम दंड पर, चीता मृग झुण्ड पर,
'भूषण' वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
ज्यों म्लेच्छ बंस पर सेर सिवराज हैं।

देव–रीतिकालीन सर्वांगनिरूपक आचार्य में देव का अत्यधिक प्रतिष्ठित स्थान है। किसी बड़े आश्रयदाता के आश्रय में न रहकर ये छोटे–छोटे आश्रयदाताओं के ही आश्रय में इधर–उधर भटकते रहे। यद्यपि इनके ग्रन्थों की संख्या 72 कही जाती है, लेकिन अभी तक उनके केवल 18 ही ग्रंथ प्रकाश में आए है। 'रागर लाका', 'देवमाया प्रपंच', 'देवमाया प्रपंच, 'भाव विलास', 'शब्द रसायन', 'सुखसागर तरंग', 'अष्टयाम' आदि उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

कविवर देव एक साथ ही आचार्य और कवि दोनों ही हैं। उनके काव्य में मानव मनोभावों का अत्यधिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। मानव मनोभावों का संजीव और हृदयस्पर्शी चित्रण उनके काव्य में सर्वत्र दिखाई देता है। प्रेमभाव में मन: स्थिति की चंचलता का कितना बड़ा रमणीय चित्र कविवर देव ने अपने काव्य में प्रस्तुत किया है, उसका एक उदाहरण देखिए–

मूरति जो मनमोहन की मनमोहिनी के धिर ह्वै थिरकी–सी।

देव गोपाल को बोल सुने, छतिया सिय राति सुधा छिरकी–सी।

नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिं नैनहि लाज घटा, थिरकी–सी।

पूरन प्रीति हिये, हिरकी खिरफीन फिरै फिरकी–सी।

महाकवि देव की कविता में छंद की गति, शब्द की वर्ण मैत्री और सरसता नाद–सौन्दर्य को पुष्ट करते हुए दिखाई देते है। अपनी तकनीकी विशेषता और भाव की सरसता के कारण कविवर देव की कविता रीतिकालीन काणधारा की प्रभावशाली कविता सिद्ध होती है।

एक उदाहरण देखिए–

माखन सो मन दूध सों जीवन है दधि सो अधिकौ उरई ठी।
जा छवि आगे सुधाकर छांडि, समेरा सुधा बसुधा सब मीठी।
नैनन नेह दुवै कहि 'देव' बुझावत बैन बियोग अंगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै कहौ क्यों न लगै मनमोहन मीठी।

भिखारीदास–

भिखारीदास का सर्वांग निरूपक आचार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके 'रस सारांश', 'श्रृंगार–निर्णय', काव्य निर्णय आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। उन्होंने रस, अलंकार, गुण, दोष और घ्वनि का विवेचन बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक किया है। भाव पक्ष और कलापक्ष का सुन्दर सामंजस्य इनके कवि कर्म की उत्कृष्टता का प्रतीक है।

रीतिकाव्य में भिखारीदास का स्थान कवि और आचार्य दोनों ही रूपों में है। उन्होंने छंद रस, अलंकार रीति गुण दोष, शब्द–शक्ति आदि सभी विषयों पर गहराई से विश्लेषण किया है। भावों की स्वाभाविकता के साथ कलात्मकता का संयोग निम्नलिखित पद में है–

नैननि को तरसैये कहाँ लौ, कहाँ हियो विरधगि में तैये
एक धरी न कहूँ कल पैये कहाँ लगि प्रानन को कल पैये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आयै यही अब जी में विचार सखि चलि सौतिन के गृह जैये।

मान घटे ते कहा घटि है जु पै प्रान पियारे को देखने पैये **पदमाकर**– कविवर पद्माकर विशिष्टांग निरूपण आचार्य के रूप में विख्यात है। वे जयपुर नरेश जगतसिंह के आश्रय में रहे। 'जगद्विनोद' नामक ग्रंथ की रचना वहीं पर उन्होंने की। उन्होंने हिम्मत बहादुर विरूदावली नामक वीररस की एक बहुत ही ओजपूर्ण काव्य लिखा है। उन्होंने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही प्रकार के काव्यों को लिखा है। उनकी कविताएं भाव रूप और चेष्टा की अत्यधिक मार्मिकता से परिपूर्ण है। उनकी कविताओं में उल्लास और आनन्द की तरंगें हैं। श्रृंगार के भावों की व्यंजना में उन्मुक्तता और खुलापन है। फाग पर उनकी लोकप्रियता के शिखर पर आसीन एक कविता को देखिए–

भीग की भीर अभीरन में, गहि गोबिन्द लै गई भीतर गौरी
माई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाई अदीर की झोरी
छीन पीताम्बर कम्मर ते, सुबिदा करी मीड़ि कपोलन रोरी
नैन नचाई कही मुसकाइ, लला फिर आइयौ खेलन होरी

इसी प्रकार शीत ऋतु में सामन्ती दरबार का अत्यन्त उद्वीपनपरक चित्र उनके काव्य में इस प्रकार है–

गुलगुली गिल में गलीचा है, गुनीजन है,
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला है
कहै 'पद्माकर ज्यों गजक है, गिजा है
सजी सेज है, सुराही है, सुरा है और प्यालिही हैं।
सिसिर के पाला कोना व्यास कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला है।
तान तुक ताला है, विनोद के रसाला है
सुवाला है, दुसाला है, बिसाला, चित्रसाला है।

9.3 रीतिसिद्ध काव्य

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीति काल के सर्वप्रमुख कवि बिहारी की विशेषताओं की स्वतन्त्र चर्चा करने के लिए इस काव्य परम्परा को रीति काव्य की श्रेणी से अलग कर दिया। उन्होंने रीतिसिद्ध कवियों का एक स्वतन्त्र वर्ग बनाते हुए इस वर्ग के कवियों के लिए यह स्पष्टीकरण दिया–

जिन्होंने रीति की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थी अर्थात् जिन्होंने रीति की बंधी परीपाटी के अनुकूल ही की है, पर लक्षण ग्रंथ प्रस्तुत न करके स्वतन्त्र रूप से अपनी रचनाएं रची है। इस प्रकार के कवियों को जो रीतिसिद्ध नहीं, लक्षण ग्रन्थ से ऐसे भी नहीं बंधे है। तिलभर भी उससे हट न सके, भले ही वे रीति की परम्परा को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाते हों, रीति सिद्ध कवि कहना चाहिए।'

वास्तव में रीतिसिद्ध कवियों का काव्य विलास प्रधान है उसके केन्द्र में नारी रूपाकर्षण हैं। फिर भी उसका क्षेत्र रीतिबद्ध की अपेक्षा विस्तृत है। इस प्रकार रीति सिद्ध काव्य में श्रृंगार के साथ भक्ति, नीति, ज्ञान, वैराग्य और प्रकृति के आलंबन–उद्दीपक रूपों का भी चित्रण है।

बिहारी–कविवर बिहारी ने, 'सतसई' के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। यही ग्रन्थ उनकी कीर्ति का एकमात्र आधार है। इससे उनकी कीर्तिपताका रीतिकालीन कवियों की कीर्ति पताका से बढ़कर फहरी। उनका ग्रन्थ 'सतसई' मुक्तक काव्य परम्परा की एक बेजोड़ रचना है। आचार्य शुक्ल के अनुसार– इसका एक–एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक–एक रतन माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएं रची गई। इस प्रकार बिहारी सम्बन्धी एक अलग ही काव्य खड़ा हो गया है। शुक्लजी ने 'सतसई' का महत्वाकंन करते हुए आगे लिखा है–

'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहो में श्रृंगार, भक्ति, नीति, वैराग्य, प्रशस्ति हास्य–व्यंग्य का समावेश करते हुए उनमें श्रृंगार के विविध रूपों नायक–नायिका भेद, नख–शिख, षड ऋतु और बारह मासों का वर्णन अधिक रूपों में किया है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उन्होंने प्रकृति का चित्रण विविध रूपों में किया है। किरी बिहारी सतसई भरी अनेक स्वाद' बिहारी के इस कथन के आधार पर कुछ लोग इन्हें रसवादी मानते है।

भाषा दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पद्माकर और बिहारी की तुलना के सन्दर्भ में लिखा है–

''इनकी मधुर कल्पना जैसी स्वभाविक और हाव भाव पूर्ण मूर्ति–विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्ति विधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोड़कर और किसी कवि में नहीं पायी जाती।''

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बिहारी की भाषा के विषय में लिखा है–

''बिहारी की भाषा बहुत कुछ शुद्ध ब्रज है, पर है वह साहित्यिक। इनकी भाषा में पूर्वि प्रयोग भी मिलते है खड़ी बोली के कृदंत और क्रियापद अनुप्रास के आग्रह से रखे गये हैं।.......'' बिहारी की भाषा व्याकरण से गठी हुई है, मुहावरों के प्रयोग, सांकेतिक शब्दावली और सुष्ठु पदावली से संयुक्त है उसमें साहित्यिक दोषों को ढूंढ निकालना श्रमसाध्य है। विन्यास सम्मत, प्रयोग व्यवस्थित और शैली परिमार्जित है।''

अंततः डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बिहारी प्रतिभाशाली कवि थे, परन्तु उन्होंने काव्याभ्यास के बाद ही कविता रचने की ओर ध्यान दिया था। इसीलिए उनके काव्य में भक्ति और निपुणता का चरम विकास संभव हुआ।

9.4 रीतिमुक्त काव्य

इस युग में अनेक कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने लीक से हटकर काव्य रचना की। इन कवियों में प्रेम की पीर के गायक घनानन्द, वीररस के महाकवि भूषण तथा नीति सम्बन्धी काव्य रचना करने वाले गिरिधर कविराय आदि कवि प्रमुख हैं। इस युग में कुछ कवियों ने धार्मिक रचनाएं भी की है।

नागरीदास, अलबेली अली, भगवत रसिक, श्री हठी जी, ब्रजवासी दास आदि कवियों ने इस युग में धार्मिक ग्रन्थों की रचना की है। रीतिकालीन रीतिमुक्त कवियों में धनानन्द ने प्रेम की पीर का हृदय ग्राही चित्रण किया है इस युग के कवियों में भूषण का स्थान भी अप्रतिम है। वीर शिरोमणि शिवाजी जैसे आश्रयदाता को पाकर भूषण ने हिन्दू जाति के हृदय में वीरता एवं जातीय गौरव की भावनाओं को जगाने का प्रयास किया। भूषण ने शिवा–बावनी में शिवाजी की दानशीलता, वीरता तथा धर्मरक्षा की भावना का सुन्दर निरूपण किया है।

इस युग में गिरिधर कविराय ने नीति सम्बन्धी प्रसिद्ध कुण्डलियों की रचना की। गिरिधर कविराय की कविता का एक उदाहरण दृष्टव्य है–

सांई या संसार में मतलब का व्यौहार
जब लागि पैसा गांठ में तब लगि ताको यार
तब लगि ताको यार यार संग ही संग डोले
पैसा रहा न पास यार मुख से नहीं बोले
कह गिरिधर कविराय, जगत यही लेखा भाई
करत बेगरजी प्रीत, यार बिरला कोई सांई।

रीतिकाल में अधिकांश कवियों ने मुक्तक शैली में ही काव्य रचना की। जीवन के व्यापक रूप को उसकी विविध दशाओं के चित्रण को अपना लक्ष्य बनाकर दरबार के कृत्रिम वातावरण में रहने के कारण इन कवियों के लिए प्रबन्ध काव्य रचना की कोई गुजाइंश नहीं थी। वस्तुतः रीतिकाल मुक्तक काव्य शैली के लिए प्रसिद्ध है।

केशवदास द्वारा रचित रामचन्द्रिका रीतिकाल का प्रसिद्ध प्रबन्ध–काव्य है। कुछ अन्य कवियों ने भी इस युग में प्रबन्ध काव्यों की रचना की है, परन्तु मुख्य रूप से मुक्तक शैली के प्रति कवियों का झुकाव रहा। वास्तव में इस युग के कवि राजाओं के दरबार में कविता सुनाकर यश एवं धन प्राप्त करने के अभिलाषी थे। ऐसी स्थिति में मुक्तक काव्य–शैली की रचना की प्रधानता स्वाभाविक ही थी।

घनानन्द– आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने घनानन्द के विषय में लिखा है– 'रीतिकाल के अन्य कवियों की तरह श्रृंगार और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भक्ति की खिचड़ी पकाने के स्थान पर धनानन्द ने अपना प्रेम और भक्ति जीवन से अलग-अलग रखकर दोनों को पूर्णता तक पहुँचाया।'

इनके भाषा शिल्प की प्रशंसा आचार्य मिश्र डॉ. कृपाचन्द्र वर्मा, डॉ. मनोहर लाल गौड़ और डा. रामदेव शुक्ल आदि विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से की है। इनके काव्य में प्रेम के उच्छ्‌वासित निर्बाध भावों को अभिव्यक्ति बड़ी सहजता से हुई है।

आत्मानुभूति के कारण ही घनानन्द की भाषा में लाक्षणिक सौंदर्य है। हृदय की अनुभूति जब काव्य-भाषा को रचती है, तो भाषा में अनूठी भावभंगिमा का संचार होता है। घनानन्द के काव्य की भाषा बहुत कुछ छायावादी कवियों की तरह है। घनानंद की कविता की भाषा में स्वाभाविक प्रेम की स्निग्धता के साथ-साथ वाग्वैदग्ध की उक्ति वक्रता का परिचय भी मिलता है-

परकारज देह को धीरे फिरौ परजन्या जदारथ ह्वै दरसी।
निचि नीरसुधा के समान करौ सबही विधि सुन्दरता सरसौ।
घन आनंद जीवनदायक हो, कबौ मेरियौ पीरहिये परसौ।
कबहूँ या बिसासी सुजान के आंगन मो अँसुवन को लै बरसौ॥

घनानंद की कविता में विलास से परे शुद्ध अनुराग की अनुभूति है। उनके एक पद को यहां उद्धृत किया जा सकता है-

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सामानाप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलै ताजि अपुनयौ झिझके कपटी जो निसांक नहीं॥
धनानंद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक ते दूसरौ आंक नहीं।
तुम कौन-सी पाटी पेढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटांक नहीं॥

ठाकुर- हिन्दी साहित्य में कवि ठाकुर तीन हुए हैं। इनमें दो असनी के ब्रह्मभट्ट थे और एक बुंदेलखण्ड के कायस्थ थे। बुन्देलखण्ड के कायस्थ ही रीति मुक्त काव्यधारा के लोकप्रिय कवि के रूप में जाने जाते हैं। इन्होंने स्फुट छन्दों के दो संग्रह 'ठाकुर शतक' और 'ठाकुर ठसक' प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने काव्य की परिभाषा जो प्रस्तुत की है, वह तत्कालीन काव्य पर सटीक लागू होती है-

'मोतिन की-सी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर जोरि बनावे।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की उक्ति अनूठी बनाइ सुनावै।
ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो राज सभा में पड़घन पावै।
पंडित और प्रबीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित कहावै॥'

बोध- वे बुन्देलखण्ड के निवासी थे। उनका भी प्रेम घनानंद की तरह ही था। उनका प्रेम पन्ना दरबार की नर्तकी सुभान से था। उन्होंने माधव नाल कामकंदला चरित्र या 'विरहपारीश' नामक काव्य-ग्रन्थ लिखे। 'इश्कनामा' उनकी तीसरी रचना है। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रेम के महत्त्व और उसके विविध पक्षों पर प्रकाश डाला है।

9.5 शृंगारेत्तर काव्य

रीतिकाल में लक्षण-लक्ष्य परम्परा से मुक्त होकर बहुत-से काव्य ग्रंथ लिखे गए। डॉ. भगीरथ मिश्र ने तो श्रृंगारेतर रीतिकालीन काव्य में जीवन के बीच वास्तविक बातों के अनुभव और ज्ञान संग्रह के रूप में राजनीति कामशास्त्र, ज्योतिष, रमण, सामुद्रिक, भोजनशास्त्र, मैत्री, संगीतशास्त्र आदि की रचनाओं की गणना भी की है।

रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्यों में शृंगारेत्तर अनेक ग्रंथ रचे गए। उनमें से कुछ प्रबंध, कुछ निबन्ध और कुछ मुक्तक काव्य हैं। पहले प्रकार के काव्य प्रबन्ध काव्य हैं। उनमें सबल सिंह का महाभारत, गुरूगोविन्द सिंह का चंडी चरित्र, लाल कवि का 'इस प्रकाश' जोधराज का हम्मीर रासो, गुमान मिश्र का नैषध चरित्र, सूदन का सुजान चरित्र, देवीदत का बैताल पच्चीसी, चन्द्रशेखर का हम्मीर हठ, श्रीधर का जगनामा, पद्‌माकर का रामरसायन, मधुसूदन दास का रामाश्वमेध आदि उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। दूसरे प्रकार के प्रबन्ध काव्यों को वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य कहा गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उन्हें शुक्लजी ने काव्य न कहकर पद्य कहा है। तीसरे प्रकार के रचयिताओं को सूक्ति हार कहा गया है, जबकि चौथे प्रकार की रचनाओं में ज्ञानोपदेश और वैराग्यपरक पद्यों को रचा गया। पाँचवे वर्ग में भक्तकवियों को रखा गया है और छठे वर्ग में प्रशस्ति काव्य रचनाकारों को लिया गया है।

9.5.1 वीरकाव्य-

रीतिकालीन काव्य में और आदिकालीन काव्य के वीरकाव्य के बीच कोई मूलभूत वैचारिक अंतर नहीं है। ऐसा इसलिए कि दोनों ही कालों में सामंतों और आश्रयदाताओं की प्रशंसा के लिए ही वीरकाव्य लिखे-रचे गए। वीर काव्य के रचनाओं में क्रमश: भानकवि रचित 'राजविलास' सूदन का 'सुजानचरित', 'पद्माकर का 'जगद्विनोद' हिम्मत बहादुर की 'विरूदावली' और 'प्रताप विरूदावली', 'जोधराज का 'हम्मीररासो', भूषण का 'शिवबावनी और छत्रसालदशक आदि उल्लेखनीय वीरकाव्य ग्रन्थ हैं। इन सभी ग्रंथों की भाषा ब्रजभाषा है।

9.5.2 भक्तिकाव्य-

रीतिबद्ध कवियों ने समान भाव से राम, कृष्ण और नरसिंह का स्मरण किया है। कहीं निर्गुण की महिमा मुक्त कंठ से आई है। प्रतिबिम्बवाद और अद्वैतवाद के संबंध में कुछ न कुछ कहा है। नाम-स्मरण पर भी बल दिया है। यह सब होते हुए भी इन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता। इन कवियों ने अपने प्रिय विषय के अतिरिक्त भक्ति और नीति पर भी लिखा है, पर भक्त का हृदय उन्हें प्राप्त नहीं था। उनकी दृष्टि राधा की तनद्युति पर टिकी रही है, मन तक नहीं जा सकी। इन्होंने राधा और कृष्ण के जीवन के घोर श्रृंगारी और वासनात्मक चित्र उतारे हैं। भक्तों के हृदय की-सी पवित्रता, आर्द्रता, कोमलता, कातरता, दीनता और भावमग्नता इनमें सामान्यत: नहीं है। विलासोन्मुख राजनीति के पराजय के युग में जहाँ कवि जीवन के संघर्षों और घात-प्रतिघातों से सर्वथा अपरिचित था, उसकी लिखी हुई नीति की उक्तियाँ भी प्रदर्शन मात्र समझनी चाहिए। यथा-

''पतवारी माला पकरिई, औरू न कुछ उपाउ,
तरि संसार-पयोधि को, हरि नावै करिनाउ॥''
यथा-''दुसह दुराज प्रजानु को क्यों न बढ़े दु:ख द्वन्द्व,
अधिक अंधेरा जग करत मिलि माल रवि चन्द॥''

संतकाव्य- रामानंद की शिष्य परम्परा सगुण धारा और निर्गुण धारा में प्रवाहित हुई। निर्गुणोपासना रीतिकाल में अनेक मतों और पंथों के द्वारा आगे बढ़ी। पीर साहब या यार मुहम्मद ने हिन्दू-मुस्लिम एक्य पर बल देते हुए 1700 ई. को आस-पास योग, अध्यात्म को महत्त्व और प्रचार दिया। बिहारी के संत दरिया साहब ने 'दरिया सागर' नामक ग्रंथ का संग्रह किया। जगजीवनदास जो दादू दयाल की शिष्य परम्परा में रहे संत-मत का प्रचार-प्रसार किया। पलटू साहब ने चमत्कारपूर्ण शैली में जीव ब्रह्मा की व्याख्या विभिन्न छन्दों के द्वारा की। शिव नारायण और बाबा चरणदास, बूला साहब, दया बाई और सहजोबाई आदि संतमत और संतकाव्य के रचयिता है।

सूफी काव्य :- भक्तिकालीन सूफी काव्यधारा रीतिकाल में भी प्रवाहित होती रही। इस धारा के कवियों के संक्षिप्तोनलेख इस प्रकार हैं-

कासिम शाह :- कासिम शाह ने सन् 1736ई. में अपने काव्य ग्रन्थ 'हंस जवाहर' में शहजादा हंस और शहजादी की काल्पनिक प्रेम-कहानी का चित्रण अवधी और ब्रज दोनों ही भाषाओं में किया।

नूर मुहम्मद :- इनका समय अठारहवीं शताब्दी रहा है। इन्होंने सन् 1744ई. में 'इन्द्रावती' नामक प्रेमाख्यानक काव्य की रचना की। 'अनुराग-बांसुरी' इनका दूसरा काव्य-ग्रन्थ सन् 1764ई. में लिखा गया। इन दोनों ही काव्य ग्रन्थों की भाषा परिनिष्ठित अवधी भाषा तो है, लेकिन उसमें संस्कृत और ब्रज के भी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शुक्ल इन्हें सूफी काव्य - परम्परा की अंतिम कड़ी मानते हैं।

रामकाव्य :- रीतिकाल में रामकाव्य धुँधला गया। गुरु गोविन्द सिंह ने अपनी 'गोविन्द रामायण' में रामकथा का ओजपूर्ण चित्रण किया है। भगवन्तराय खींची ने सन् 1760ई. में 'हनुमत्पचौसी' हनुमानजी के संबंध में पच्चीस कवितों की रचना की। जनकराज किशोरी शरण ने 1800ई. में राम-भक्ति की रसिकोपासना से संबंधित काव्य-रचना की। नवलसिंह कायस्थ ने सन् 1816-67ई. में ब्रजभाषा में कई रामकाव्यों की रचनाएं की। रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह ने बत्तीस ग्रन्थों की रचना करके रामभक्ति का चित्र प्रस्तुत किया। ये ही रीतिकाल के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अंतिम रामकाव्य के रचियता है।

कृष्णकाव्य :- रीतिकाल का कृष्णकाव्य कृष्ण की लीलाओं पर आधारित है। ये काव्य प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य दोनों ही रूपों में हैं। निंबार्क और गौड़ीय सम्प्रदायों के प्रभाव से अनेक भक्त कवियों ने कृष्ण और राधा के युग लोकसत्तापरक काव्यों की रचनाएं की। गुमान मिश्र, ब्रजवासीदास, मंचित, आदि इस प्रभाव से प्रभावित कवि है।

9.5.3 नीतिकाव्य :-

रीतिमुक्त कवियों में वीररसावतार भूषण, भक्त शिरोमणि रसखान, नागरीदास, अलबेलि अली तथा नीति कवि गिरिधर कविराय तथा सम्मन आदि अधिक प्रसिद्ध है। भूषण ने हिन्दुत्व एवं राष्ट्रीयता की भावना को सशक्त रूप में अभिव्यक्त किया है। रसखान के सवैये हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। गिरिधर कविराय की कुण्डलियां तथा सम्मन के नीति-विषयक दोहे भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। सम्मन के नीति संबंधी कुछ दोहे दृष्टव्य हैं-

निकट रहे आदर घटे, दूरि रहे दुख होय। सम्मन या संसार में, प्रीति करो जनि कोय॥
सम्मन चहौ सुख देह को छांड़ौ ये यारि। चोरी, चुगली, जामिनी और पराई नारि॥
सम्मन मीठी बात सों होत सबै सुख पूर। जेहि नहीं सीखो बोलिबो, तेहि सीखी सब धूर॥

9.5.4 वैराग्य-तत्त्वज्ञानपरक काव्य :-

रीतिकाल में वैराग्य और तत्त्वज्ञान को भी महत्त्व दिया गया था। यह इसलिए कि यह अतिशय श्रृंगारिकता का मनोवैज्ञानिक परिणाम था। काव्यरूप की दृष्टि से रीतिकालीन कविता मुक्तक प्रधान है। मुक्तकों में जिस प्रकार भक्ति, वीर, नीति- वैराग्य आदि काव्यों की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है, उसकी अगली कड़ी रीतिकालीन मुक्तकों में भी दिखाई देती है।

9.6 रीतिकालीन कवियों का भाषा-शिल्प :-

रीतिमुक्त कवियों ने अन्य रीतिकालीन कवियों के समान श्रृंगार-वर्णन के लिए कवित-सवैयों का प्रयोग किया है। इनकी भाषा ब्रज है। अलंकारों का प्रयोग इन कवियों ने आग्रहपूर्वक नहीं किया है, अपितु अभिव्यक्ति की आवश्यकतानुसार वह स्वतः ही हो गया है। घनानन्द ने विरोधाभास, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि के सहज प्रयोग से भाषा समृद्ध किया है। विरोधाभास अलंकार का प्रयोग करने में घनानन्द को अत्यधिक सफलता मिली है। इन कवियों ने मुहावरों एवं कहावतों का भी सार्थक प्रयोग किया है। लक्षण एवं व्यंजना का सौंदर्य भी इनकी भाषा में देखते ही बनता है। अन्त में कहा जा सकता है कि इन कवियों की भाषा में व्यर्थ का शब्दाडम्बर नहीं है। भाव पक्ष के साथ-साथ कला-पक्ष की दृष्टि से भी रीतिमुक्त काव्य उत्कृष्ट कोटि का काव्य कहा जा सकता है।

9.7 सारांश :-

इस इकाई में इस तथ्य को प्रकाश में लाया गया है कि किस प्रकार रीतिकालीन कविका विकास विभिन्न परिस्थितियों में हुआ था। इसी प्रकार रीतिकाल की विभिन्न धाराओं का अंतर किस प्रकार रहा। रीतिबद्ध, रीतिसि औररीतिमुक्त कविता की आंतरिक विशेषता और रीतिकाल में श्रृंगारपरक रचनाओं के साथ-साथ श्रृंगारेतर साहित्य की भी रचना, जैसे वीरता, नीति, धर्म, वैराग्य आदि की भी कविताएं लिखी गयीं। इसी तथ्य पर भी इस इकाई में प्रकाश डाला गया है।

9.8 अभ्यास प्रश्न

1. रीतिकाल में भक्ति-परक रचनाएँ क्यों नहीं लिखी जा सकी ?
2. क्या बिहारी को भक्त-कवि कह सकते हैं ?
3. रीतिबद्ध काव्य परम्परा से आप क्या समझते हैं ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-5 : आधुनिक काल

इकाई-10

आधुनिक काल के साहित्य की पृष्ठभूमि

संरचना

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 हिन्दी साहित्य के संदर्भ में आधुनिक काल

10.2.1 प्रेस की स्थापना

10.2.2 नए उद्योगों की स्थापना

10.2.3 आधुनिक शिक्षा और बौद्धिक वर्ग

10.2.4 ब्रिटिश राजसत्ता से असंतोष

10.3 हिन्दी भाषा और गद्य का उदय

10.4 समाज-सुधार और स्त्री-स्वातंत्र्य

10.4.1 स्त्री शिक्षा का अभियान

10.4.2 स्वधर्म चेतना का भाव

10.4.3 समाज-सुधार आन्दोलन

10.5 देश-भक्ति और राष्ट्रवाद का विकास

10.6 पुनरुत्थानवाद, नवजागरण और आधुनिकता

10.7 सारांश

10.8 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10.0 प्रस्तावना :-

इस इकाई में हम आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने जा रहे हैं। आधुनिक साहित्य से संबंधित यह पहली इकाई है। इसी खंड में हम उन तीन और इकाईयों को पढ़ेंगे, जिनमें भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावादी युग का अध्ययन करेंगे। इन इकाईयों को इस बात को ध्यान में रखकर विभाजित किया गया है, जिससे हम आधुनिक साहित्य की पृष्ठभूमि को समझ सकें, जिसने इस काल के साहित्य के निर्माण की परिस्थितियों को उत्पन्न किया।

10.1 उद्देश्य

1. इस इकाई में आधुनिक काल की पृष्ठभूमि हिन्दी साहित्य के संदर्भ में जानने के साथ-साथ हिन्दी भाषा और गद्य के उदय से परिचित हो सकेंगे।
2. इस इकाई में आधुनिककालीन समाज-सुधार के आन्दोलन की चर्चा, स्त्री स्वातंत्र्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के आन्दोलनों, देशभक्ति और राष्ट्रवाद के विकास की जानकारी सहित हम नवजागरण और आधुनिकता के स्वरूपों की भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

10.2 हिन्दी साहित्य के संदर्भ में आधुनिक काल :-

डॉ. श्रीकृष्ण लाल ने आधुनिककालीन साहित्य के परिवर्तन के कारण अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' में तीन चरण माने हैं :- 1. भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना 2. पश्चिमी विचारों तथा भावों का आयात और

3. अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव।

1757ई. में प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की जीत से भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना की नींव पड़ गयी। 1857 ई. तक अंग्रेजों ने भारत के एक बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार कर लिया।

10.2.1 प्रेस की स्थापना :- प्रेस ने साहित्य के प्रचार-प्रसार में किस प्रकार योगदान दिया, इस विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी-साहित्य उसका उद्‌भव और विकास' नामक अपनी आलोचनात्मक पुस्तक में लिखा है-

''वस्तुत: साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस है और उसके प्रचार के सहायक हैं, यातायात के समुन्नत साधन। पुराने साहित्य से नये साहित्य का प्रधान अंतर यह है कि पुराने साहित्यकार की पुस्तकें प्रचारित होने के अवसर कम पाती थी। प्रेस स्थापित हो जाने के बाद पुस्तकों के प्रचारित होने का कार्य सहज हो गया और फिर प्रेस के पहले गद्य की बहुत उपयोगिता इत्यादि अनेक बातें उनके प्रचार की सफलता का निर्धारण करती थीं। प्रेस स्थापित हो जाने के बाद पुस्तकों के प्रचारित होने का कार्यसहज हो गया और फिर प्रेस के पहले गद्य की बहुत उपयोगिता नहीं थी। प्रेस होने से उनकी उपयोगिता बढ़ गई और विविध विषयों की जानकारी देने वाली पुस्तकें प्रकाशित होने लगी। वस्तुत: प्रेस ने साहित्य को प्रजातांत्रिक रूप दिया। समाचारपत्र, उपन्यास, आधुनिक ढंग के निबन्ध और कहानियां सब प्रेस के प्रचार के बाद ही लिखी जाने लगी। अब साहित्य के केन्द्र में कोई राजा या रईस नहीं रहा, बल्कि अपने घरों में बैठी हुई असंख्य अज्ञात जनता आ गई। इस प्रकार प्रेस में साहित्य को प्रसार और प्रचार में उसकी अभिवृद्धि में और उसकी नई-नई शाखाओं के उत्पन्न करने में ही सफलता नहीं दी, बल्कि उसकी दृष्टि के समूल परिवर्तन में भी योग दिया।''

10.2.2 नए उद्योगों की स्थापना :- यूरोप में जो परिवर्तन हुए, उसका मुख्य यही रहा कि उसके कारण भारत कच्चा माल बनाने और इंग्लैण्ड में बना माल बैचने का बड़ा बाजार बन गया। इस प्रकार इंग्लैण्ड ने भारत के परम्परागत उद्योगों को विनष्ट कर दिया। फिर धीरे-धीरे भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना होने लगी। इससे ब्रिटिश शासन काल में स्थापित आधुनिक उद्योगों और आवागमन के साधनों के कारण नए वर्गों का जन्म हुआ, जैसे पूंजीवादी वर्ग, उद्योग-धन्धों और यातायात में लगे हुए मजदूरों का वर्ग, खेतीहर मजदूर वर्ग, काश्तकार वर्ग या वर्ण आदि। फलस्वरूप भारत पर ब्रिटिश प्रभाव के कारण न केवल भारत की आर्थिक वरन् सामाजिक संरचना का भी रूपान्तरण हुआ।

10.2.3 आधुनिक शिक्षा और बौद्धिक वर्ग :- भारत में नए उद्योगों की स्थापना के समय में ही आधुनिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार तेजी से हुआ। इससे राष्ट्रव्यापी और सुधारवादी आन्दोलन व्यापक रूप से प्रभावित हुए। आधुनिक शिक्षा के प्रसार-प्रचार से भारतीय एक सीमा तक पश्चिमी सभ्यता के विकृत रूप में रंग गए। इस आधुनिक शिक्षा ने उस बुद्धिजीवी वर्ग को पैदा किया, जिसने राष्ट्रीय और समाज- सुधार आंदोलन मे न केवल महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, अपितु उसका नेतृत्व भी किया। इस बुद्धिजीवी वर्ग ने पुरानी रुढियों, मान्यताओं और आचरणों को समाप्त करने के लिए अथक प्रयास किया। स्त्री की हीन दशा से जुड़ी प्रथाओं को समाप्त कराने का संघर्ष किया, जिनमें सती-प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, बालिका-वध आदि को समाप्त कर इस वर्ग ने स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह आदि का समर्थन करते हुए इसके लिए संस्थाएं भी स्थापित की।

10.2.4 ब्रिटिश राजसत्ता से असंतोष :- यों तो सन् 1857 के विद्रोह की असफलता ने सामंती शासन को पुन: स्थापित करने के सारे द्वार बंद कर दिए। फिर भी समय में ही नयी-नयी परिस्थितियों के जन्म हुए। राजनीतिक उभार का जन्म सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना से हुआ। राष्ट्रीय असंतोष की व्यापक भावना का जन्म इसी समय हुआ। राष्ट्रीय असंतोष की जिस भावना को डब्लू.सी. बनर्जी, आर.सी.दत्त, दादा भाई नारौजी, जस्टिस रानाडे, गोपालकृष्ण गौखले आदि व्यक्त कर रहे थे, उसी असंतोष को अपने ढंग से भारतेन्दु और उनके युग के लेखक भी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे।

10.3 हिन्दी भाषा और गद्य का उदय :-

हिन्दी साहित्य में गद्य के विकास की एक लम्बी कहानी है। आरम्भ में अपने भावों को व्यक्त करने के लिए लोग पद्य का प्रयोग किया करते थे। आम बोल-चाल में हम सदैव गद्य का ही प्रयोग करते हैं किन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि सदैव सभी भाषाओं में गद्य का विकास पद्य के पश्चात् ही होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसका मूल कारण यह प्रतीत होता है कि पद्य को अधिक शीघ्रता से याद किया जा सकता है और यह पढ़े-लिखे और अनपढ़ सभी के हृदय में घर कर लेता है। दूसरी ओर गद्य तो मानव के बुद्धि पक्ष की देन है न कि इसके हृदय पक्ष की। जो भी विचार मानव के मन में आते हैं उनको ठीक प्रकार से अभिव्यक्त करनके लिए हमें गद्य का सहारा लेना पड़ता है।

हिन्दी साहित्य में गद्य का वास्तविक विकास आधुनिक युग में ही हुआ। वैसे तो छुट-पुट रूप में भक्तिकाल में भी गद्य की रचनाएं, लिखी गई, किन्तु इनका इतना महत्त्व नहीं है। यह वास्तव में गद्य साहित्य ब्रजभाषा में ही लिखा गया।

गुरु गोरखनाथ ने सन् 1407 के लगभग शिष्ट प्रमाण नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें हमें गद्य का रूप मिलता है उनकी अन्य पुस्तके 'गोरख-गणेश-गोष्ठी', 'महादेव-गोरख-संवाद' और 'गोरखनाथ की सत्रह कला' नामक तीन पुस्तकों में भी गद्य का रूप मिलता है, किन्तु इनकी प्रामाणिकता में संदेह किया जाता है।

भक्तिकाल में वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाई विट्ठलदास की श्रृंगाररस मंडल नामक पुस्तक ब्रजभाषा गद्य में पाई जाती है किन्तु इनकी भाषा में व्यवस्था का अभाव है। ब्रजभाषा गद्य गोकुलनाथ द्वारा रचित 'दौ सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का महत्त्व अधिक है। इन दोनों ग्रन्थों की भाषा में प्रवाह है। सरल एवं सरस भाषा पत्र प्रयोग किया गया है। इनमें मुहावरों के प्रयोग के साथ-साथ फारसी, अरबी, गुजराती और पंजाबी भाषा के शब्दों का प्रयोग किया गया है।

इतना होने पर भी इस गद्य में शैथिल्य है और कुछ वाक्यों का बार-बार भी प्रयोग किया गया है। फिर भी इसमें रोचकता एवं सजीवता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। भगवान् राम की दिनचर्या का वर्णन करने के लिए 'अष्टयाम' नामक ग्रन्थ भी लिखा गया। इसका रचना काल स.1960 के आस-पास माना जाता है इसमें पण्डितों को शैली को अपनाया गया है इसके पश्चात अगहन महात्म्य में और वैशाख महात्म्य में भी हिन्दी के गद्य का नमूना मिलता है। इस प्रकार इन पुस्तकों को पढ़ने के बाद अनेक साहित्यकारों एवं साधारण जनता में गद्य के प्रति रुचि जागृत हुई। इसलिए विद्वानों ने गद्य में टीकाएं लिखनी आरम्भ की। किशोरदास ने स. 1948 के लगभग 'श्रृंगार शतक की टीका लिखी, उसके पश्चात् टीकाओं का युग चला। हरिचरण द्वारा रचित रामचरित मानस की टीका जानकी प्रसाद की रामचन्द्रिका की टीका आदि प्रसिद्ध है, किन्तु इन टीकाकारों की भाषा में अस्पष्टता एवं शिथिलता परिलक्षित होती है।' रीतिकाल में जहां एक ओर परिष्कृत श्रृंगारिक रचनाओं की बहुलता है, वहीं दूसरी ओर इन टीकाकारों का ध्यान गद्य की ओर भी गया। इस काल में भी गद्य में रचित अनेक टीकाएं पाई जाती है। जितने भी लक्षण-ग्रन्थ लिखे गए, उन सभी की व्याख्या के लिए गद्य का प्रयोग किया गया। किन्तु इस काल के गद्य की भाषा परिमार्जित नहीं है। इस काल का अव्यवस्थित ब्रजभाषा का गद्य है।

रीतिकाल के अन्तिम दिनों में खड़ी बोली का प्रयोग कुछ-कुछ आरम्भ होने लगा था। आधुनिक काल में इसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई और ब्रजभाषा का स्थान साहित्य के क्षेत्र में लगभग मिट सा गया।

गद्य साहित्य का परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप हमें आधुनिक काल में ही मिलता है। वैसे तो खड़ी बोली का विकास रीतिकाल में ब्रजभाषा के साथ-साथ होता रहा था, किन्तु इसका सही रूप आधुनिक काल में ही हमारे सामने आता है। वैसे तो 'चन्दछन्द बरनन की महिमा' नामक ग्रन्थ ही हिन्दी साहित्य में खड़ी बोली गद्य का परिष्कृत रूप हमारे सामने रामप्रसाद निरंजन रचित 'योगवशिष्ठ' नामक पुस्तक ही रखती है इसकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली के अधिक निकट है, जैसे-

'हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है, वह शरीर के इष्टानिष्ट में रागद्वेष नहीं करता, क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है।'

इसी परम्परा को 'मण्डोवर का वर्णन', 'पद्मपुराण का भाषानुवाद' आदि पुस्तकों में आगे बढ़ाया और खड़ी बोली को परिष्कृत रूप देने का प्रयत्न किया। खड़ी बोली के वास्तविक विकास में मुंशी सदासुखलाल, इन्सा अल्ला खाँ और सदल मिश्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हीं चार लेखकों को हम आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्मदाता मान सकते हैं। इन सभी में से मुंशी सदासुखलाल की भाषा पण्डितों की सी है।

इन्शा अल्ला खाँ की भाषा पर पूर्वी प्रान्त का प्रभाव है और इनके गद्य में भी अनुप्रासों की अधिकता पाई जाती है। इन्शा अल्ला खाँ की भाषा में शब्दों का चमत्कार है और बौद्धिकता की कमी है। लल्लूलाल की भाषा में कृत्रिमता पाई जाती है। इसी कारण इनकी भाषा कथा-कहानियों के लिए उपयुक्त नहीं हैं। सदल मिश्र ने व्यवहारिक भाषा का प्रयोग किया। इस प्रकार हम देखते हैं सदलमिश्र और मुन्शी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सदासुखलाल के गद्य में व्यवहारिकता अधिक है। किन्तु इसके पश्चात् एक युग तक हिन्दी के गद्य में कोई महत्त्वपूर्ण पुस्तक नहीं लिखी गई। भारतेन्दु काल में ईसाई पादरियों ने अपने धर्म प्रचार के लिए हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जब हिन्दू समाज ने देखा कि ईसाई लोग तो हिन्दू समाज की नींव कमजोर कर रहें है तो उन्होंने भी हिन्दू धर्म की रक्षा करने की ठान ली। फलत: आर्य समाज और ब्रह्म समाज की स्थापना हुई और अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए भी हिन्दी की खड़ी बोली को अपनाया। स्वामी दयानन्द की भाषा संस्कृतमय है। इसमें ओज है और हास्य तथा व्यंग्य भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने भी हिन्दी के गद्य के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण काम किया।

इनके युग में उर्दू की अधिकता थी। इन्होंने उर्दू-मिश्रित हिन्दी में गद्य-रचना आरम्भ की। इन्होंने 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह वृतान्त' और 'रानी भवानी' आदि पुस्तकों की रचना की। राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत-मिश्रित हिन्दी को अपनाया। इन्होंने 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' का हिन्दी में अनुवाद किया। इनकी संस्कृत-निष्ठ भाषा के विषय में डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का मत है, 'जितना पुष्ट और व्यवस्थित गद्य उनकी रचना में मिला उतना पूर्व के किसी भी लेख की रचना में उपलब्ध नहीं हुआ था।' गद्य के इतिहास में इतनी स्वाभाविक विशुद्धता का प्रयोग इस समय तक किसी ने नहीं किया था।

10.4 समाज सुधार और स्त्री प्रशंसकों स्वातंत्र्य :-

भारतेन्दु और उनके युग के एक महान् लेखक राधाचरण गोस्वामी सहित अन्य लेखकों ने उन्नसवीं सदी में समाजोन्नती के प्रशंसकों, स्त्री और दलित के सन्दर्भ में अपने विचार बहुत ही सटीक रूप में व्यक्त किए हैं। वे सामाजिक बुराईयों को मिटाने की बात सोचकर इसी में देश की उन्नति देख रहे थे।

वे स्त्री की दशा को देश की दशा के साथ मिलाकर देखना चाहते थे वे इस बात को समझ रहे थे कि यह भावना तभी लाई जा सकती है जब वे इस बात को समझे कि उनकी सामाजिक संरचना में बहुत कुछ ऐसा है जो दोषपूर्ण है। और जिसे मिटाने की जरूरत है। इसी तरह से वे अपने संकीर्ण जातिवादी दायरे में कैद रहकर देश के हित के लिए प्रयत्नशील नहीं हो सकते थे। इसके लिए शिक्षा के प्रचार की आवश्यकता के साथ-साथ स्त्रियों को भी शिक्षित बनाने की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

10.4.1 स्त्री-शिक्षा का अभियान :- आधुनिक काल में राजा राममोहनराय से लेकर सरसैयद अहमद खां और भारतेन्दु तक उस समय के सभी भारतीय बुद्धिजीवियों ने शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर बहुत अधिक ध्यान दिया। भारतेन्दु हरिशचन्द्र ने इसी सन्दर्भ में यह कहा है-

''अपने देशवासियों के शैक्षिक स्तर को ऊंचा उठाना, इस प्रान्त की भाषा में सुधार करना तथा इस भाषा में साहित्य वृद्धि करना सदैव से मेरा ध्येय रहा है।''

शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधारकों का बहुत बड़ा योगदान रहा। उस समय की गद्य रचनाएं अधिक उल्लेखनीय है।

सन् 1826 ई. में स्त्री-शिक्षा के समर्थन और प्रचार-प्रसार में 'उदंत मार्तण्ड' का प्रकाशन अधिक महत्त्वपूर्ण रहा। स्त्री-शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए सन् 1822 ई. में श्री गौरमोहन विद्यालंकार की पुस्तक 'स्त्री शिक्षा विद्यायक' की कहानी 'देवरानी जेठानी', सन् 1877 ई. में प्रकाशित पंडित श्रद्धाराम गिल्लौरी का उपन्यास 'भाग्यवती' और 1822 ई. में एक पंजाबी शिक्षित महिला की पुस्तक 'सीमतंनी उपदेश' उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

सीमतंनी उपदेश एक ऐसी महत्त्वपूर्ण रचना है जो उन महानपुरुषों का आदरपूर्वक उल्लेख करती हैं जिन्होंने स्त्री शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए पूरा-पूरा प्रयास किया। यह भी कि जिन्होंने स्त्री की शताब्दी की गुलामी को दूर करने के लिए अथक प्रयास किया इनमें राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु भी शामिल है। इस पुस्तक के अध्ययन मनन से यह ज्ञात हो जाता है कि इसमें व्यक्त विचार एक स्त्री ही पेश कर सकती है। एक अर्थ में इसे हिन्दी की पहली नारीवादी रचना भी कहा जा सकता है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि यह रचना एक लम्बे अरसे अर्थात् सौ साल के बाद एक दलित लेखक द्वारा प्रकाश में लाई गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10.4.2 स्वधर्म चेतना का भाव :- आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार में ईसाई मिशनरियों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। इसके लिए ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं में ईसाई धर्म से सम्बन्धित पुस्तकों को प्रकाशित किया गया। आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए इन मिशनरियों ने स्कूल और कॉलेज खोले। उनके इस प्रयास पर टिप्पणी करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि- ''कहने की आवश्यकता नहीं कि ईसाईयों के प्रचार कार्य का प्रभाव हिन्दुओं की जनसंख्या पर भी पड़ रहा था।''

अत: हिन्दुओं शिक्षितों के बीच स्वधर्म रक्षा की आकुलता दिखाई पड़ने लगी थी। ईसाई उपदेशक हिन्दू धर्म की स्थूल और बाहरी बातों को लेकर ही अपना खंडन-मंडन चलाते आ रहे थे। यह देखकर बंगाल में राजा राम मोहन राय उपनिषद् और वेदान्त का ब्रह्मज्ञान लेकर उसका प्रचार लेकर खड़े हो गए। नूतन शिक्षा के प्रसार से पढ़े-लिखे लोगों में से बहुतों के मन में मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, जाति-पाति, छूआछूत आदि के प्रति अश्रद्धा हो रही थी। अत: इन बातों को अलग करके शुद्ध ब्रह्मोपासना का प्रवर्तन करने के लिए ब्रह्म समाज की नींव डाली।

10.4.3 समाज सुधार आन्दोलन :- समाज सुधार आन्दोलन के विभिन्न प्रान्त बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु केरल आदि थे। इन आन्दोलनों का तृत्व प्रदान करने वाले महापुरुषों ने लोगों को इस कार्य के लिए एकजूट किया। हिन्दी समाज में सुधार का यह कार्य प्राय: लेखकों ने ही किया। उनमें भारतेन्दु हरिशचन्द्र का स्थान सर्वोपरि है। हिन्दी लेखकों ने एक ओर पाठ्यपुस्तकों को तैयार करने की जरूरत समझी और दूसरी ओर उन्होंने देशी-विदेशी साहित्य को भी हिन्दी में अनूदित करके लोगों को ताजे और अपेक्षित तथ्यों से अवगत कराने का दायित्व निभाया। समाज सुधार सम्बन्धी प्रेरणा उत्तर भारत में आर्य समाज से ही ग्रहण की।

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती बाल-विवाह और जाति पाँति के विरोधी और स्त्री शिक्षा के समर्थक थे। हिन्दी लेखकों में पंडित श्रद्धाराम गिल्लौरी एक ऐसे लेखक रहे जिन्होंने अपनी रचना 'भाग्यवती' में स्त्री शिक्षा का समर्थन करते हुए संकटकालीन स्थिति में स्त्री को अपने पति से अलग अकेली स्वावलम्बी बनकर जीवन-यापन करने का सुझाव दिया है। राधाचरण गोस्वामी के अनुसार ''देशोन्नती के साधन, बिना किसी धर्म के विचार के होने चाहिए।''

इसी प्रकार भारतेन्दु हरिशचन्द्र अपने बालिया वाले व्याख्यान में देश की उन्नति की भावना से प्रेरित होकर हिन्दू और मुसलमान की एकता का समर्थन करते हैं। प्रताप नारायण मिश्र भी हिन्दू-हिन्दी और हिन्दुस्तान। निसि दिन रहे यही जबान का मूल मंत्र देते हुए हिन्दू और मुसलमान दोनों को देश की दो भुजाओं के रूप में देखते हैं। बालकृष्ण भट्ट ब्रह्मसमाज और आर्य समाज के प्रभाव के दौर में वेदों को ईश्वर निर्मित मानने से अस्वीकारते हुए उसे मनुष्य रचित ही स्वीकारते हैं।

10.5 देशभक्ति और राष्ट्रवादी का विकास :-

देशभक्ति और राष्ट्रवाद के विकास के सम्बन्ध में भारतेन्दु हरिशचन्द्र की सुप्रसिद्ध कविता है-

''अंग्रेज राज सुख साज, सजे सब भारी।

पै धन विदेश चलि जात, इहै अति खारी॥''

इसके द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेजी राज से मुस्लिम राज अच्छा ही था, क्योंकि उसमें देश का धन तो देश में ही रहता था। इस तरह उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेज मुसलमानों की अपेक्षा अधिक लूटपाट कर देश को बरबाद कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने आगे भी कहा है।

''भीतर-भीतर सब रस चूसै, हंसि-हंसि के तन मन धन मूसे।''

जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन ? नहिं अंग्रेज।''

इस प्रकार के भावो वाले हिन्दी लेखक उन्नसवीं सदी के आखिरी दशकों में अंग्रेजी राज से अपना मोहभंग करने लगे थे। फिर धीरे-धीरे- राजभक्ति की भावना को हटाने लगे। उन्होंने यह अनुभव करना शुरु कर दिया कि भारत अपने ही बलबूते पर उन्नती कर सकेगा। जीवन के हर क्षेत्र से भारतीय माल बाजारों से निकाला और नकारा जाने लगा। उसकी जगह पर विदेशी माल को अपनाया जाने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लगा। फलस्वरूप भारतीय उद्योग भी नष्ट होने लगे। इससे भारतीय कारीगर बेकार होने लगे। भारतेन्दु युगीन लेखकों ने देशवासियों को आत्मनिर्भर होने के लिए आधुनिक मशीनी ज्ञान हासिल करने के लिए प्रेरित किया था।

इसी उद्देश्य से सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना की गयी थी। कांग्रेस की स्थापना के साथ ही उस समय के हिन्दी लेखक इस संगठन की ओर आकर्षित हुए और कांग्रेस में शामिल हुए। राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र उनमें से मुख्य थे वे लेखक के साथ-साथ कांग्रेस की गतिविधियों में सक्रिय होते हुए कांग्रेस के अग्रणी नेता बने रहे।

10.6 पुनरुत्थानवाद, नवजागरण और आधुनिकता :-

अंग्रेजी शासन की स्थापना ने भारत को ब्रिटिश सत्ता का उपनिवेश बना दिया। यों सन् 1857 के संग्राम के बाद सामंती चुनौती अंग्रेजी सत्ता के लिए हमेशा के लिए समाप्त हो गयी। फिर भी कुछ ऐसी रियासतें बनी रही, जो सन् 1857 के संग्राम के समय अंग्रेजी सत्ता के साथ थी या तटस्थ भाव से इस संग्राम को देखती रहीं। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए अंग्रेजों ने अपना शासन मजबूत करने के लिए नये-नये प्रकार के उद्योगों की स्थापना की। नयी प्रकार की शिक्षा-प्रणाली को लागू किया। फलस्वरूप सरकारी कामकाज में योरोपीय ढांचा आ गया। एक ओर अंग्रेजी राजसत्ता ने परम्परागत सामंतवाद और उद्योगों को नष्ट कर दिया, तो दूसरी ओर उसने एक नये प्रकार के सामंतवाद और पूंजीवादी को जन्म दिया। इससे एक नए वर्ग मजदूर वर्ग का भी जन्म हुआ। ये दोनों ही वर्गअपने-अपने हितो के लिए राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को प्रभावित कर रहे थे।

आधुनिक शिक्षा के प्रसार ने भारतीय बुद्धिजीवियों को दो तरह से प्रभावित किया। एक ओर यदि वे ज्ञानोदय के आधुनिक मानवतावादी विचारों में आए, तो दूसरी ओर वे यह सोचने के लिए भी मजबूर हुए कि क्या भारत हमेशा से ही ऐसा पिछड़ा और गुलाम देश रहा है। भारत के लिए उन्होंने अत्याचारी मुस्लिम शासकों को जिम्मेदार ठहराया। इस तरह इस पुनरुत्थानवाद ने यदि एक गौरवशाली अतीत की संकल्पना प्रस्तुत की, तो एक ऐसा शत्रु भी दिया, जिसको वे अपने पतन के लिए जिम्मेदार ठहरा सकते थे। इस पुनरुत्थानवाद ने तीसरा काम यह किया कि इसने एक ऐसा समूह पैदा किया, जो यह मानता था कि यदि हम उस अतीत को वापस ले आते हैं, तो हम अपने गौरव को पुन: पा सकते हैं। इस सोच का नेतृत्व आर्य समाज जैसे संगठन कर रहे थे, जो बाद में और अधिक उग्र और साम्प्रदायिक रूप में उन हिन्दू संगठनों द्वारा सामने आया, जो भारत को हिन्दू राष्ट्र के रूप में उभरता हुए देखना चाहते थे। ठीक ऐसे ही अतीतवादी इस्लामी गौरव को हम मुस्लिम पुनरुत्थानवाद के रूप में देख सकते हैं।

पुनरुत्थान के विपरीत महात्मा गाँधी और पंडित जवाहरलाल नेहरू एक ऐसा आधुनिक समाज बनाने की प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जिसमें सभी मनुष्य बराबर हों और जाति, धर्म, लिंग, भाषा और क्षेत्र के अनुसार किसी प्रकार का भेदभाव न हों। हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल पुनरुत्थानवाद, नवजागरण और आधुनिकता के द्वन्द्व से उपजा है। पंडित श्रद्धाराम गिलौरी और भारतेन्दु से लेकर प्रसाद, निराला और प्रेमचंद और बाद में प्रगतिशील आन्दोलन को इन्हीं विचारात्मक संघर्ष को प्रकाश में देखा और समझा जा सकता है।

10.7 सांराश :-

इस इकाई के अंतगर्त हमने यह अध्ययन किया कि किन-किन परिस्थितियों में आधुनिक हिन्दी साहित्य का उदय हुआ। सन् 1857 की असफल क्रान्ति के बाद हमारे देश पर ब्रिटिश सत्ता का प्रभाव बढ़ता गया था। आधुनिक काल के साहित्य पर समाज-सुधार आन्दोलनों का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। आर्य समाज और बंगाल के नवजागरण का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। बाल-विवाह, कन्या-वध, सती प्रथा का विरोध समाज-सुधार आन्दोलनों के द्वारा अधिक किया गया। इन आन्दोलनों पर हिन्दू पुनरुत्थानवाद का भी असर था। ईसाई धर्म प्रचारकों की प्रतिक्रिया में अतीत के गौरवगान, गौ-रक्षा, प्राचीन धर्म ग्रंथों के महिमा-मंडन जैसे महान् कार्य हुए। स्त्री-शिक्षा के असाधारण प्रभाव से इस सदी के अंत तक हिन्दी में स्त्री लेखिकाएं सामने आ गई। भारत के राष्ट्रवाद से प्रेरित हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल पर उस दौर के पुनरुत्थानवाद, नवजागरण और आधुनिकता के द्वन्द्वात्मक प्रभाव से ही हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल ने अपना आकार ग्रहण किया।

10.8 अभ्यास प्रश्न

1. हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की पृष्ठभूमि में इतना अधिक नवजागरण क्यों हुआ।
2. आधुनिक काल के नवजागरण और भक्ति काल के सांस्कृतिक जागरण में क्या अन्तर है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 11

भारतेन्दु युग

संरचना

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 नवजागरण और आधुनिक बोध

11.3 खड़ी बोली और साहित्यिक भाषा के रूप में उसका विकास

11.4 साहित्यिक भाषा के रूप में उपयोग का प्रारंभ और विकास

11.5 खड़ी बोली गद्य का विकास

11.5.1 फोर्ट विलियम कॉलेज और खड़ी बोली का गद्य

11.5.2 दो स्वाधीन गद्य-लेखक

11.5.3 खड़ी बोली गद्य के विकास में ईसाई मिशनरियों का योगदान

11.5.4 आर्य समाज की खड़ी बोली की गद्य को देन

11.6 भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता और साहित्य

11.7 भारतेन्दु युगीन गद्य-साहित्य

11.7.1 नाटक

11.7.2 निबंध-साहित्य

11.7.3 अन्यास साहित्य

11.7.4 अन्य गद्य विधाएं

11.8 भारतेन्दु युगीन कविता

11.9 सारांश

11.10 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.0 प्रस्तावना-

भारतेन्दु युग आधुनिक हिन्दी साहित्य का ऐसा पहला भाग है, जिस पर भारतेन्दु हरिशचन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व की पूरी छाप है। यह ध्यातव्य है कि भारतेन्दु हरिशचन्द्र का जन्म सन् 1850 और मृत्यु सन् 1885 में हुई थी। इस पूरे कालखण्ड को अनेक विद्वानों ने भारतेन्दु युग के नाम से संबोधित किया है, लेकिन यह कोई प्रबल आधार नहीं बनता कि भारतेन्दु हरिशचन्द्र के जन्म लेते ही आधुनिक हिन्दी साहित्य प्रभावित होने लगा और उनके निधन से इस युग का अंत भी हो गया। इसलिए हमें डॉ. बच्चन सिंह के इस मंतव्य से सहमत होना पड़ेगा- ''सन् 1857 को आधुनिक काल का प्रारंभिक बिन्दु मानना चाहिए, क्योंकि हिन्दी भाषी क्षेत्र में ही नहीं, पूरे भारतवर्ष के इतिहास में यह वर्ष एक निर्णायक मोड़ उपस्थित करता है। यह भारत के स्वाधीनता संग्राम की शुरूआत का वर्ष है। भारतेन्दु युग की अन्तिम सीमा 1900 ई. स्वीकार करना उचित होगा, क्योंकि इस वर्ष 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के तत्त्वाधान में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इस पत्रिका ने द्विवेदी युगीन हिन्दी के दिशा-निर्देशन में उसके व्यक्तित्व-निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाई।''

11.1 उद्देश्य

(1) इस इकाई में हम नवजागरण और आधुनिक बोध की संकल्पना के साथ-साथ साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली के उपयोग के आरम्भ और विकास की भी चर्चा करेंगे।

(2) इस इकाई में भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता, गद्य-साहित्य, निबन्ध, उपन्यास और गद्य की अन्य विधाओं से परिचित होने के साथ ही भारतेन्दु युगीन कविता की विशेषता की भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

11.2 नवजागरण और आधुनिक बोध

यह शत-प्रतिशत सत्य है कि देश के जिस भू-भाग पर अंग्रेजों का आधिपत्य हुआ, उसी भू-भाग पर अंग्रेजी प्रशासन, शिक्षा-संस्थाएं, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, समाज-सुधार के आंदोलन आरम्भ हुए। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि ये सभी संस्थाएं हिन्दी के भाषा क्षेत्र और अहिन्दी भाषा के द्वारा ही स्थापित की गई। अंग्रेजों अथवा ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित शिक्षा-संस्थाओं का उद्देश्य ईसाइयत फैलाना ही था। इस तथ्य को लार्ड मैकाले ने स्पष्ट किया था-

''हम भारत में पश्चिमी संस्कृति का प्रभुत्व तब तक स्थापित नहीं कर पाएंगे, जब तक भारतीय शिक्षा पद्धति से संस्कृत भाषा को पूरी तरह निष्काशित नहीं कर देते।''

इससे दो दिशाओं में जागरण हुआ- मानसिक स्वाधीनता और अंग्रेजी राजभक्ति का। मानसिक स्वाधीनता के द्वारा भारतीयों को नए वातावरण ने परम्परागत जड़ता, तरह-तरह के अंधविश्वासों और रूढ़ियों से मुक्त किया। इससे वे लौकिक जीवन और उसकी समस्याओं को महत्त्व देने लगे। वे अपने स्वर्णिम अतीत पर गर्व करते हुए, अपनी पराधीनता का अहसास करते हुए राष्ट्रीय भावों से भर उठे। अखिल भारतीयता का यह बोध हिन्दी क्षेत्र में सर्वाधिक हुआ। भारतेन्दु के बलिया वाले भाषण से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है-

''भाई हिन्दुओं। तुम भी मतमतांतर का आग्रह छोड़ों। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जाप करो- जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक जैन, ब्राह्मणों, मुसलमान, सभी एक दूसरे का हाथ पकड़ो। कारीगरी, जिसमें तुम्हारे यहाँ बढ़े, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश रहे, वह करो। देखो, जैसे एक हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी बाजार से इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका को जाती है।'' (भारतेन्दु समग्र, पृष्ठ 103)

11.3 खड़ी बोली और साहित्यिक भाषा के रूप में उसका विकास-

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य से आधुनिक काल नवजागरण और आधुनिकता के बोध विकास के साथ ही साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम से अलग बनकर सामने आया। इस प्रकार आधुनिक काल में खड़ी बोली राजस्थानी मैथिली, अवधी और ब्रजभाषा से होकर आयी। यह पहले गद्य, फिर काव्य की भाषा के रूप में स्वीकृत हुई।

यह ध्यातव्य है कि भारतेन्दु युग में साहित्यिक गद्य की भाषा के रूप में स्वीकृति प्राप्त करने से पहले ही खड़ी बोली अखिल भारतीय स्तर पर स्थापित हो चुकी थी। उदाहरणार्थ, नाथ पंथी योगियों के द्वारा राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में पल्लवित हुई। दक्षिण में वह प्रसारित संतो के द्वारा हुई। इस प्रकार दक्षिण में संतों और मुसलमानों के सम्मिलित प्रभाव से इसका विकसित स्वरूप 'दक्खिनी हिन्दी' के नाम से जाना-समझा गया। दिल्ली के आस-पास के व्यापारी भी इसे बाजार की भाषा के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले गए। इसलिए खड़ी बोली का प्रचार-प्रसार हिन्दी की सभी बोलियों और विभाषाओं से अधिक हुआ।

11.4 साहित्यिक भाषा के रूप में बोली के उपयोग का आरंभ एवं विकास-

धर्म को प्रधानता देने के ही प्रयास में नाथों, महानुभावपंथियों, वारकरियों, कबीरपंथियों आदि ने अपनी रचनाओं में खड़ी बोली का खूब उपयोग किया। संत कवियों की साखियों के अलावा मीरा, माधोदास, रहीम, नरहरि, गंग, सूदन, कुलपति, आलम, शेख, भूषण, नागरीदास, ग्वाल, घनानंद, बेनीप्रसाद आदि की रचनाओं में जहाँ-तहाँ बोली के साहित्यक भाषा के प्रयोग मिलते है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.5 खड़ी बोली गद्य का विकास-

हिन्दी साहित्य में गद्य का वास्तविक विकास आधुनिक युग में ही हुआ। वैसे तो छुटपुट रूप से भक्तिकाल में ही गद्य की रचनाएं लिखी गई, किन्तु इतना महत्त्व इनका नहीं है। यह वास्तव में गद्य-साहित्य ब्रजभाषा में ही लिखा गया। गुरु गोरखनाथ ने संवत् 1407 के लगभग 'शिष्ट प्रमाण' नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें हमें गद्य का रूप मिलता है। उनकी अन्य 'गोरख गणेश गोष्ठी', महादेव-गोरख संवाद', और 'गोरखनाथ की कला' नामक तीन पुस्तकों में भी गद्य का रूप मिलता है। किन्तु इसकी प्रमाणिकता पर संदेह किया जाता है।

भक्ति काल में वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाई विट्ठलदास की 'श्रृंगार रस मण्डल' नामक पुस्तक ब्रजभाषा-गद्य में पाई जाती है। किन्तु इनकी भाषाओं में व्यवस्था का अभाव है। ब्रजभाषा गद्य गोकुलनाथ द्वारा रचित, 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का महत्त्व अधिक है। इन दोनों गन्थों की भाषा में प्रवाह है। सरल एवं सरस भाषा का प्रयोग किया गया है। इनमें मुहावरों के प्रयोग के साथ-साथ फारसी, अरबी, गुजराती और पंजाबी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इतना होने पर भी इस गद्य में शैथिल्य है, और कुछ वाक्यों का बार-बार प्रयोग भी किया गया है। फिर में इसमें रोचकता एवं सजीवता पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है।

भगवान् राम की दिनचर्या का वर्णन करने के लिए 'अष्टयाम्' नामक ग्रन्थ भी लिखा गया। इसका रचना काल सं. 1860 के आसपास माना जाता है। इसमें पंडितों की शैली को अपनाया गया है। इसके पश्चात अगहन महात्म्य में और वैसारव महात्म्य में भी हिन्दी के गद्य का नमूना मिलता है। इस प्रकार इन पुस्तकों को पढ़ने के पश्चात् अनेक साहित्यकारों एवं साधारण जनता में गद्य के प्रति रूचि जागृत हुई, इसलिए विद्वानों ने पद्य में टीकाएं लिखनी आरम्भ कीं। किशोरदास ने सं. 1948 के लगभग 'श्रृंगार शतक' की टीका लिखी और उसके पश्चात् टीकाओं का युग चला। हरिचरण दास रचित बिहारी सतसई की टीका, महेन्द्र रामचरण द्वारा रचित रामचरितमानस की टीका, जानकीप्रसाद की रामचन्द्रिका की टीका आदि प्रसिद्ध है, किन्तु इन टीकाकारों की भाषा में अस्पष्टता एवं शिथिलता अधिक परिलक्षित होती है।

रीतिकाल में जहां एक ओर परिष्कृत रचनाओं की बहुलता है, वहीं दूसरी और इन टीकाकारों का ध्यान गद्य की ओर भी गया। इस काल में भी गद्य में रचित अनेक टीकाएं पायी जाती है। जितने भी लक्षण-ग्रन्थ लिखे गए, उन सभी की व्यवस्था के लिए गद्य का प्रयोग किया गया। किन्तु इस काल के गद्य की भाषा परिमार्जित नहीं है। इस काल का गद्य अव्यवस्थित ब्रजभाषा का गद्य है। रीतिकाल के अंतिम दिनों में खड़ी बोली का कुछ-कुछ आरंभ होने लगा था। आधुनिक काल में इसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई और ब्रज भाषा का स्थान साहित्य के क्षेत्र से लगभग छिन सा गया।

गद्य साहित्य का परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप हमें आधुनिक काल में ही मिलता है। वैसे तो खड़ी बोली का विकास रीतिकाल में ब्रजभाषा के साथ-साथ होता रहा था, किन्तु इसका सही रूप आधुनिक काल में ही सामने आता है। वैसे तो 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक ग्रन्थ ही हिन्दी-साहित्य में खड़ी बोली का सर्वप्रथम गद्य-ग्रन्थ माना जाता है। इनके रचियता गंग भट्ट थे, किन्तु खड़ी बोली गद्य का परिष्कृत रूप हमारे सामने रामप्रसाद निरंजनी रचित 'भोगवशिष्ठ' नायक पुस्तक ही रखती है। इसकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली के अधिक निकट है, जैसे-

'हे रामजी! जो पुरुष अभिमान नहीं है, वह शरीर के इष्टानिष्ट में रागद्वेष नहीं करता, क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है।

इसी परम्परा को 'मण्डोवर का वर्णन' पद्मपुराण का भाषानुवाद' आदि पुस्तकों में आगे बढ़ाया और खड़ी बोली को परिष्कृत रूप देने का प्रयत्न किया। खड़ी बोली के वास्तविक विकास में मुंशी सदासुखलाल, इन्शा अल्ला खाँ, सदल मिश्र लल्लूलाल का महत्तवपूर्ण स्थान है। इन्हीं चार लेखकों को हम आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्मदाता मान सकते हैं।

इन सभी में मुंशी सदासुख लाल की भाषा पण्डितों की सी है। इन्शा अल्ला खाँ की भाषा पर पूर्वी प्रान्त का प्रभाव है और इनके गद्य में भी अनुप्रास की अधिकता पायी जाती है। इन्शा अल्ला खाँ की भाषा में शब्दों का चमत्कार है और बौद्धिकता की कमी है। लल्लूलाल की भाषा में कृत्रिमता पायी जाती है। इसी कारण इनकी भाषा कथा कहानियों के लिए उपयुक्त नहीं है। सदल मिश्र ने व्यवहारिक भाषा का प्रयोग किया। इस प्रकार हम देखते है कि सदल मिश्र और मुन्शी सदासुखलाल के गद्य में व्यवहारिकता अधिक है। किन्तु इसके पश्चात् एक युग तक हिन्दी के गद्य में कोई महत्त्वपूर्ण पुस्तक नहीं लिखी गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भारतेन्दु काल में ईसाई पादरियो ने अपने धर्म प्रचार के लिए हिन्दी गद्य साहित्य के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जब हिन्दु समाज ने देखा कि ईसाई लोग तो हिन्दू समाज की नींव कमजोर कर रहे है, तो उन्होंने भी हिन्दू धर्म की रक्षा करने की ठान ली। फलत: आर्य समाज और ब्रह्म समाज की स्थापना हुई। इन्होंने वेदो का हिन्दी में अनुवाद किया। और अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए भी हिन्दी की खड़ी बोली को अपनाया स्वामी दयानन्द की भाषा सस्कृतमय है इसमें ओज है और हास्य तथा व्यंग्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

शिव प्रसाद सितारे हिन्द ने भी गद्य के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण काम किया। इनके युग में उर्दू की अधिकता थी इन्होंने उर्दू-मिश्रित हिन्द में गद्य-रचना प्रारम्भ की इन्होंने 'राजा भोज का सपना' वीरसिंह वृतानृ, रानी भवानी आदि पुस्तकों की रचना की। राजा लक्ष्मण सिंह ने संस्कृत मिश्रित हिन्दी को अपनाया। इन्होंने अभिज्ञान शांकुतलम का हिन्दी में अनुवाद किया। इनकी संस्कृतनिष्ठ भाषा के विषय में डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का मत है ''जितना पुष्ट और अव्यवस्थित गद्य उनकी रचना में मिला इतना पूर्व के किसी भी लेखक की रचना में उपलब्ध नहीं हुआ था। गद्य के इतिहास में इतनी स्वाभाविक विशुद्वता का प्रयोग इस समय तक किसी ने नहीं किया था।''

11.5.1 फोर्ट मिलियम कॉलेज और खड़ी बोली का गद्य- फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों को शिक्षित करने भाषा ज्ञान और सदाचरण सिखाने के उद्देश्य से की गयी। इसके लिए गिलक्राइस्ट हिन्दूस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किए गए। उनकी दृष्टि में रोमन और फारसी लिपि, अरबी फारसी आक्रान्त खड़ी बोली ही शिष्टजनों की भाषा थी। उनकी देखरेख में उर्दू और हिन्दी दोनों के ही गद्य का निर्माण हुआ। इसके लिए दो भाषा मुशी आगरा निवासी गुजराती ब्राह्मण लल्लूलाल जी और आरा निवासी सदल मिश्र नियुक्त किए गए। सन् 1803 में लल्लूलाल जी ने श्री मद्‌भागवत के दशम् स्कन्ध के आधार पर खड़ी बोली गद्य में 'प्रेमसागर' नामक ग्रन्थ लिखा, जो ब्रजभाषा में पूर्वापन लिए हुए है।

11.5.2 दो स्वाधीन गद्य लेखक- सदल मिश्र और लल्लूलाल के समकालीन गद्य लेखकों में दो प्रमुख हैं। मुंशी सदासुखलाल नियाज, जिन्होंने विष्णुपुराण के नैतिक प्रसंगों को आधार बनाकर 'सुख सागर' की रचना खड़ी बोली में की।' दूसरे लेख इंशा अल्ला खाँ ने शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी 'उदयमान चरित या रानी केतनी की कहानी' लिखी।

11.5.3 खड़ी बोली गद्य के विकास में ईसाई मिशनरियों का योगदान- ईसाई मिशनरियों ने शिक्षा के क्षेत्र में यह सोचकर कार्य किया कि इससे भारतीय ईसाई धर्म की ओर आकर्षित होकर उसे अपनायेंगे। इसलिए उन्होंने जगह-जगह स्कूल और कॉलेज खोले उन्होंने स्कूल पर शिक्षा का माध्यम अधिकांशत: खड़ी बोली हिन्दी को अपनाया। इसके द्वारा उन्होंने विभिन्न विषयों की पाठ्‌यपुस्तकें तैयार की। अपने प्रवचनों के लिए खड़ी बोली को अपनाया। फलस्वरूप खड़ी बोली गद्य के विकास में उन्होंने बहुत बड़ा योगदान दिया।

11.5.4 आर्य समाज की खड़ी बोली गद्य को देन- यों तो स्वामी दयानन्द सरस्वती गुजराती भाषी विद्वान थे और आर्य समाज की स्थापना भी उन्होंने मुम्बई में की थी। लेकिन उन्होंने यह अनुभव किया कि उनका संदेश देश के विभिन्न भागों में व्यापक रूप से खड़ी बोली हिन्दी के माध्यम से ही हो सकता है। यही कारण है कि उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, ऋगवेद भाषा भूमिका आदि हिन्दी भाषा में प्रस्तुत किए। यही नहीं अपने प्रवचन भी संस्कृत के बाद हिन्दी में ही देने लगे। इससे आर्य समाजियों द्वारा व्यापक रूप से खड़ी बोली हिन्दी में लिखा जाने लगा। सन् 1863 ई. लगभग पंजाब के आर्य समाजी प्रतिभाशाली पंडित श्रद्धाराम गिल्लांरी, 'भाग्यवती' और 'सत्यामृत-प्रवाह' जैसी रचनाओं से खड़ी बोली गद्य के क्षेत्र में धूम मचाते हुए अपना अविस्मरणीय योगदान दिया।

11.6 भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता और साहित्य-

भारतेन्दु युगीन साहित्य और खड़ी बोली साहित्य के विकास में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं का बहुत बड़ा योगदान है। हिन्दी का सबसे पहला साप्ताहिक पत्र 'उदंत मार्तण्ड' कलकत्ता से 30 मई, सन् 1826 ई. को निकला, लेकिन बिक्री के अभाव में 4 दिसम्बर 1827 को ही बंद हो गया। इससे पहले राजाराम मोहन ने कलकत्ता से ही 'बंगदूत' का हिन्दी संस्करण और श्याम सुन्दर सेन ने जून 1854 में 'सुधावर्षण अखबार निकाला बनारस से राजा शिवप्रसाद ने 'बनारस अखबार' सन् 1845 में गोविन्द रघुनाथ धते के सम्पादन में निकाला। इसके बाद उस समय के विभिन्न भागों से विभिन्न प्रकार की पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कविवचन-सुधा (1868 ई.) और हरिश्चन्द्र मैग्जीन (1873) प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण', लाला श्रीनिवास दास ने 'मदादर्श', तोताराम ने 'भारतबंधु', कन्हैयालाल ने 'मित्रविलास', देवकीनंदन तिवारी ने 'प्रयाग समाचार', राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेन्दु' चौधरी बद्रीनारायण 'प्रेमधन' ने 'आनन्दकादिमिनि'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अम्बिका दत्त व्यास ने 'पीयूष प्रवाह' बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप', किशोरीलाल गोस्वामी ने 'उपन्यास', गोपालराम गहमरी ने, 'जासूस और गुप्त कथा' आदि पत्र निकाले। इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भारतेन्दुयुग का अधिक से अधिक साहित्य सामने आया और इनसे हिन्दी भाषा का परिमार्जन हुआ।

11.7 भारतेन्दु युगीन गद्य साहित्य-

इस युग में उत्पन्न होकर विकसित होने वाली मुख्य तीन साहित्यिक विधाएं है- 1. नाटक, 2. निबन्ध, 3. उपन्यास।

11.7.1 नाटक- हिन्दी नाटक संस्कृत नाटकों की परम्परा से उद्‌भूत हुआ है। संस्कृत नाटक साहित्य की अत्यन्त पुष्ट परम्परा रही है। हिन्दी में प्राचीन काल में अनेक नाटक लिखे गये हैं किन्तु आधुनिक नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से ही हुआ है। 1700 विक्रम संवत् के आसपास ब्रजभाषा में 'गोविन्द हुलास' नाटक की रचना हुई। यह संस्कृत में रूप गोस्वामी द्वारा रचित विदग्ध माधव' नामक नाटक के आधार पर लिखा गया है। संस्कृत के सुप्रसिद्ध 'हनुमन्नाष्टक' का हिन्दी में हृदयराम ने सत्तहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा में अनुवाद किया। इसी शताब्दी में महाराजा जसवन्तसिंह ने संस्कृत के सुप्रसिद्ध प्रतीकात्मक प्रबोध चन्द्रोदय' का ब्रजभाषा में अनुवाद किया। महाकवि केशवदास ने 18 वीं शताब्दी में 'प्रबोध चन्द्रोदय' के अनुकरण पर विज्ञानगीता' नामक पद्यात्मक नाटक की रचना की। महाकवि देव ने भी इसके आधार पर 'देवमाया प्रभाव' नाटक की रचना की।

इसी प्रकार 'प्रबोध चन्द्रोदय' के कुछ और अनुवाद हुए। महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक के हिन्दी में कई अनुवाद हुए। इन अनुवादों में पहला नेवाज कवि का है और दूसरा राजा लक्ष्मणसिंह का। इस प्रकार संस्कृत के अनुदित नाटकों की परम्परा भारतेन्दु युग के पूर्व से ही चली आ रही थी। ये नाटक प्राय: पद्यात्मक थे।

भारतेन्दु हरिशचन्द्र के पिता श्री गोपालचन्द्र (उपनाम गिरधरदास) का 'नहुष' नाटक ब्रजभाषा में रचित हिन्दी का पहला मौलिक नाटक है, किन्तु यह पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं है। इस युग में कुछ सामाजिक नाटक स्वांग के रूप में खेलने के लिए रचे गए, किन्तु वे अब प्राप्त नहीं है। इस युग के नाटक पद्यबद्ध थे और उनमें साहित्यिकता का अभाव था।

भारतेन्दु को आधुनिक नाटक का जन्मदाता माना जाता है। भारतेन्दु युग में हिन्दी नाटक का विशेष उत्कर्ष एवं विकास दिखाई पड़ता है। भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में युग की समस्याओं को प्रस्तुत किया। उन्होंने 'विद्यासंदर' (सन् 1888) तथा 'वैदिकी हिसा हिंसा न भवति' (सन् 1873) शीर्षक नाटकों की रचना की। इनमें सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावनाओं का समावेश मिलता है। 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारतेन्दुजी ने विदेशी शासन से पीड़ित एवं कुचली हुई राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अवस्था के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने पुरानी सामाजिक गली-सड़ी रूढ़ियों एवं परम्पराओं पर कठोर आघात किया और नाटकों में व्यंग्य-विनोद को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

भारतेन्दु ने जब नाटक-रचना के क्षेत्र में एक सबल प्रेरणा उपस्थित की, तब उनके समय में अनेक अन्य लेखक भी नाटक-रचना के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए। इन लेखकों ने विभिन्न विषयों पर नाटक लिखे। इनमें सर्वप्रथम लाला श्रीनिवास दास थे। भारतेन्दु युग के अन्य प्रतिनिधि नाटककारों में प्रमुख हैं- पं. प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण भट्ट तथा रामचरणदास गोस्वामी। इन्होंने अपने नाटकों में पौराणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनैतिक कथा-वस्तु का चयन करके समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में व्याप्त कुरीतियों और समस्याओं पर भी सुधारवादी दृष्टिकोण से विचार किया। इनके अतिरिक्त अन्य नाटककारों ने भी इस युग में सामाजिक और धार्मिक विषयों पर अनेक नाटक लिखे। इस युग में हास्य और व्यंग्य प्रधान नाटक भी लिखे गये। भारतेन्दु युग में मौलिक नाटकों के साथ ही संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी भाषाओं से नाटकों के अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किए गए।

11.7.2 निबन्ध साहित्य- हिन्दी गद्य साहित्य के विकास के साथ हिन्दी निबन्ध साहित्य का उद्‌भव और विकास हुआ है। हिन्दी गद्य साहित्य के प्रारम्भिक काल में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इन पत्रिकाओं के लिए निबन्ध-सामग्री की आवश्यकता अनुभव हुई। फलत: हिन्दी गद्य-साहित्य के प्रारम्भ में ही हिन्दी साहित्यकारों द्वारा सुन्दर निबंध साहित्य की रचना की गई।

भारतेन्दु युग में सामाजिक, धार्मिक आदि विषयों को लेकर निबन्ध लिखे गये। यद्यपि इन निबन्धों में चिन्तन की गइराई और विषय का तात्त्विक विवेचन नहीं है, फिर भी लेखकों के हृदय का सहज भावोल्लास उनमें देखने योग्य है। हास्य और व्यंग्य की सजीवता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से शैली में प्रभाव उत्पन्न करने की अपूर्ण क्षमता इनमें पाई जाती है। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु युग के प्रतिनिधि गद्य लेखक हैं। स्वयं भारतेन्दु हरिशचन्द्र ने सुन्दर निबन्धों की रचना की। इसके अतिरिक्त बदरीनारायण चौधरी, प्रेमधन, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी और तोताराम आदि निबन्ध लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं।

11.7.3 उपन्यास साहित्य- प्राचीन भारतीय साहित्य में 'वृहत्कथा' नामक कथा- साहित्य का ग्रन्थ मिलता है। संस्कृत में पौराणिक आख्यान तथा उपन्यास-जातीय काव्य भी मिलते हैं, जैसे बाणभट्ट की 'कादम्बरी'। उपन्यास नामक हिन्दी गद्य की विधा का विकास पाश्चात्य प्रभाव से पहले बंगला भाषा में हुआ और फिर हिन्दी में बंगला के बहुत-से उपन्यासों के अनुवाद हुए। आगे चलकर मौलिक हिन्दी उपन्यासों की रचना भी हुई।

हिन्दी उपन्यास के विकास का अध्ययन करने के लिए हम उसको पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं-

प्रथम उत्थान काल - (1850 ई. से 1900 ई.)
द्वितीय उत्थान काल - (1900 ई. से 1915 ई.)
तृतीय उत्थान काल - (1916 ई. से 1935 ई.)
चतुर्थ उत्थान काल - (1936 ई. से 1950 ई.)
पंचम उत्थान काल - (1950 ई. से आज तक)

प्रथम उत्थान काल-

इस काल को हम भारतेन्दु युग कह सकते हैं। इस काल में दो प्रकार के हिन्दी उपन्यास प्राप्त होते हैं- एक तो बंगला और अंग्रेजी से अनुदित और दूसरे मौलिक। श्रीनिवास दास ने इस युग में 'परीक्षा गुरू' नामक प्रथम मौलिक उपन्यास लिखा। इसमें नैतिक उपदेश की प्रधानता है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतेन्दु हरिशचन्द्र के 'पूर्ण प्रकाश' और 'चन्द्रप्रभा' को हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माना है। यह भी उपदेशात्मक उपन्यास है। इस युग के अन्य उपन्यासकारों में 'निःसहाय हिन्दू' के रचयिता राधा कृष्णदास और 'नूतन ब्रह्मचारी' के रचयिता पं. बालकृष्ण भट्ट प्रमुख हैं।

11.7.4 अन्य गद्य विधाएं- नाटक, निबन्ध और उपन्यास के अतिरिक्त भारतेन्दु युग में गद्य की अन्य विधाओं की कोई उपलब्धि नहीं कही जा सकती है। हाँ यह बात इस युग में अवश्य हुई कि पंडित बालकृष्ण भट्ट और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने आलोचना साहित्य को जन्म दे दिया, जिसका विकास आगे हुआ।

11.8 भारतेन्दु युगीन कविता-

भारतेन्दु युग में भक्ति, श्रृंगार और नीति की अधिकाधिक कविताओं का लेखन ब्रजभाषा में हुआ। इस काल के कवियों में स्वयं भारतेन्दु हरिशचन्द्र, द्विजदेव, सरदार कवि, लाल कवि, शाह कुन्दनलाल 'ललित किशोरी', लछीराम, जगन्नाथ 'रत्नाकर' आदि ऐसी परम्परागत कविता लिखे रहे थे, जिससे अनुभव की सजीवता और ओजस्विता पूरी थी। भारतेन्दु का निम्नांकित सवैया भावों की मधुरता और ब्रजभाषा की स्वाभाविकता के कारण परम्परागत होते हुए भी श्रेष्ठ काव्य कहा जायेगा-

एक ही गाँव में बास सदा, घर पास रहौ नहिं जानती हैं।
पुनि पाचएँ-सातएं आवत-जात, की आस न चित्त में आनती हैं।
हम कौन उपाय करै इनको 'हरिश्चन्द्र', महा हठ ठानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारै बिना, आँखियाँ दुखिया नहिं मानती हैं॥

इस युग के कवियों ने समकालीन जीवन के सभी पक्षों, जैसे निर्धनता, महँगाई, भूख, अकाल, रोग बैर, कलह, आलस्य, संतोष, सुतोष, खुशामद, कायरता, टैक्स, अनैक्य, देश की दुर्दशा, धार्मिक मतमतान्तर, छुआछूत, बाल-विवाह, व्यभिचार, अशिक्षा, अंग्रेजी भाषा एवं शिक्षा, अज्ञान, रूढ़िवादिता, कूपमण्डूकता, ईश्वर, देवी-देवता, भूत-प्रेत, अपव्यय, न्याय-व्यवस्था, पुलिस-प्रशासन, फैशन, सिफारिश, रिश्वतखोरी, बेकारी, सुरा-सेवन इत्यादि को साहित्य का विषय बनाया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सन् 1857 ई. के असफल विद्रोह के पश्चात् उत्पन्न हुई अंग्रेजी सत्ता के दमन के विरोध में भारतेन्दु हरिशचन्द्र ने सन् 1873 ने 'स्वदेशी' का आन्दोलन चलाया। 'अंधेर नगरी' में चूरन बेचने वाले के इन कथनों में इसी आलोचना का रूप है-

चूरन अमले सब जो खावै। दूनी रूशवत तुरत पचावै॥
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता॥
चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥

इस युग के प्राय: सभी कवि प्रगतिशील विचारधारा के कवि थे। उनमें राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे भारत की दुर्दशा से क्षुब्ध होकर अंग्रेजों के विरूद्ध भारतीयों की एकता चाहते थे। भारतेन्दु हरिशचन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, चौधरी बदरी नारायण, 'प्रेमधन', राधाचरण गोस्वामी इस युग के ऐसे ही प्रगतिशाली और राष्ट्रवादी कवि थे। 'प्रेमधन' ने भारतीयों की एकता का आह्वान करते हुए लिखा-

हिन्दू, मुस्लिम, जैन, फारसी, ईसाई सब जात।
सुखी होय हियभरे, 'प्रेमधन' एकल भारती भ्रात॥

लेकिन सबसे बड़ा उपाय था पराधीनता से मुक्ति और स्वतन्त्रता की प्राप्ति। प्रताप नारायण मिश्र ने स्वतन्त्रता के विषय में यह लिखा-

सब तजि गहौ स्वतन्त्रता, नहिं चून लातैं खाब।
सजा करै सो न्याय है, पाँसा करै सो दाव॥

11.9 सारांश-

इस इकाई में हमने देखा कि भारतेन्दु युग संक्रमण का युग रहा। ऐसा इसलिए कि उसमें नए और पुराने का द्वन्द्व विधान रहा। यह भी पुराना पिछड़ गया और नया आगे निकल गया। इस युग की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि इसने राष्ट्रीयता के भावों को जगाने वाली खड़ी बोली के गद्य और उसके विविध साहित्यकारों को विकसित और प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार यह युग का हिन्दी साहित्य एक नव जागृत जाति का साहित्य है।

11.10 अभ्यास प्रश्न

1. भारतेन्दु युग का प्रारम्भ सन् 1857 से क्यों माना जाता है। स्पष्ट कीजिए।
2. भारतेन्दु युग की प्रमुख उपलब्धियों पर एक निबन्ध लिखिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई –12

द्विवेदी युग

संरचना

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 स्वाधीनता आन्दोलन और द्विवेदी युग का मूल चरित्र

12.3 'सरस्वती' और महावीर प्रसाद द्विवेदी की भूमिका

  12.3.1 द्विवेदी जी का साहित्यिक आदर्श

12.4 द्विवेदी युगीन गद्य साहित्य

  12.4.1 नाटक

  12.4.2 उपन्यास

  12.4.3 कहानी

  12.4.4 निबन्ध

  12.4.5 आलोचना

12.5 द्विवेदी युगीन कविता

  12.5.1 ब्रजभाषा की कविता

  12.5.2 खड़ी बोली की कविता

12.6 सारांश

12.7 अभ्यास प्रश्न

12.0 प्रस्तावना–

इस इकाई में हम इस तथ्य पर प्रकाश डालेगें कि किस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य में सबसे पहले क्रमश: कदम रखा और उनमें क्या भेद रहा। यह भी भारतेन्दु की तरह द्विवेदी जी का स्वच्छंद रूप नहीं था। तीसरी बात यह कि द्विवेदी युग ने भारतेन्द युग की संक्रमण की स्थिति को समाप्त कर दिया, क्योंकि भारतेन्दु युगीन उलझे हुए प्रश्नों का समाधान द्विवेदी युग में हुआ। इसी प्रकार भारतेन्दु युगीन खड़ी बोली गद्य की भाषा द्विवेदी युग में आकर गद्य के साथ–साथ पद्य या कविता की भी भाषा बन गई। यह भी कि भारतेन्दु युग के मध्यवर्ग की अपेक्षा द्विवेदी के मध्यवर्ग में आभिजात्य वर्ग की भावना बहुत बढ़ गई। वह स्वयं को जन सामान्य से कहीं अधिक श्रेष्ठ समझ लेकर यह अनुभव करने लगी कि वह जनसामान्य को शिक्षित कर सकती है।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई में हम

. भारतेन्दु हरिशचन्द्र और उनके युग द्वारा भाषा–साहित्य के क्षेत्र में उत्पन्न हुई अराजकता के वातावरण में महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक आदर्शों को जान सकेंगे।

. द्विवेदी युगीन गद्य एवं पद्य साहित्य से परिचित हो सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

12.2 स्वाधीनता आन्दोलन और द्विवेदी युग का मूल चरित्र-

यद्यपि सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम को अंग्रेजों ने कुचल तो दिया, लेकिन वे स्वतन्त्रता की भावना को नहीं कुचल पाए। भारतेन्दु युगीन कवि पंडित प्रताप नारायण मिश्र की स्पष्टोक्ति रही-

''सब तजि गहौ स्वतन्त्रता, नहिं चुप लाते खाय।''

अंग्रेजों के प्रति कांग्रेज का व्यापक असंतोष बढ़ते-बढ़ते सन् 1905 ई. में बंग-भंग के समय उभर कर सामने आ गया। राष्ट्रवादियों का विरोध अंग्रेजों के प्रति सीधा और तेज हो गया था। इससे अंग्रेजी सत्ता ने आवेश में आकर लाला लाजपतराय को बिना मुकदमा चलाए देश से निर्वासित करके माण्डले जेल भेज दिया गया। फिर दूसरे लोकमान्य तिलक को केसरी के लेखों का बहाना बनाकर छ: वर्षों की कड़ी सजा सुनाकर माण्डले जेल भेज दिया गया। सन् 1915 ई. में तिलक और एनीबेसेन्ट द्वारा चलाया गया होमरूल (स्वशासन) आन्दोलन, सन् 1916 में क्रान्तिकारियों का कांग्रेस में पुन: प्रवेश, प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों की शासन में भागीदारी के आश्वासन से कांग्रेस का अंग्रेजों की सहायता और फिर युद्धोपरान्त अंग्रेजों का 'रौलट-बिल' और 13 अप्रैल 1919 को जलियांवाला बाग का हत्याकांड जैसी दमनचक्र घटनाएं भी द्विवेदी युग के साहित्य में प्रतिबिम्बित नहीं हुई। यह इसलिए कि द्विवेदी जी ने अपने असाधारण साहित्यिक व्यक्तित्व से इसे नियन्त्रित किया था।

इस प्रकार द्विवेदी जी का यह व्यक्तित्व ही उनके युग के साहित्य के मूल चरित्र को प्रभावित करता है।

12.3 'सरस्वती' और महावीर प्रसाद द्विवेदी की भूमिका-

आचार्य द्विवेदी ने एक सच्चे अर्थों में 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन से युग निर्माता का कवि आरंभ किया। जब इसका प्रकाशन सन् 1900 ई. में हुआ, तक इसके सम्पादक थे- श्यामसुन्दर दास, कार्तिक प्रसाद खन्नी, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथ दास, 'रत्नाकर' और 'किशोरीलाल गोस्वामी सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1903 से लेकर सन् 1920 ई. तक किया। इस कालखंड में इस पत्रिका में प्रकाशित सामग्रियों की भाषा भाव और विचारों को द्विवेदी जी ने सुधारकर और नियंत्रित करके प्रकाशित किया। उन्होंने शब्दाडम्बर के साथ अश्लील और ग्राम्य शब्दों के प्रयोगों से बचने का भी सुझाव दिया। उन्होंने देशज शब्द प्रयोग पर बल दिया। मुहावरो और स्वाभाविक अलंकारों के लिए प्रेरित किया।

सरस्वती में प्रकशित होने अथवा प्रकाशित न होने वाले इस युग के सभी रचनाकार समान रूप से प्रभावित नहीं थे। कुछ तो प्रत्यक्ष रूप से और कुछ अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित थे।

12.3.1 द्विवेदी जी का साहित्यिक आदर्श- द्विवेदी का साहित्यिक आदर्श बहुत ही ऊँचा और युगानुकूल था। वे साहित्य के माध्यम से लोगों की रूचि का परिष्कार करना चाहते थे।

''वह लोगों की रूचि का विचार रखकर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े-लिखे लोगों में भी पुरानी कविता के साथ-साथ नयी कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाए। पढ़ने वालों के मन में नयी-नयी उपमाओं को, नये-नये शब्दों को, और नये-नये विचारों को समझने की योग्यता उत्पन्न करना कवि ही का कर्त्तव्य है। जब लोगों का झुकाव इस ओर होने लगे, तब समय-समय पर कल्पित अथवा सत्य आख्यानों के द्वारा सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विषयों की मनोहर शिक्षादे''

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के विषय में लिखा है-

''निबन्धों और समालोचनाओं द्वारा ये साहित्यिकों को निरन्तर प्रेरणा देते रहे। द्विवेदी जी की समालोचनाओं ने जहां एक ओर तरूण साहित्यकारों को रूढिमुक्त होकर लिखने की प्रेरणा दी, दूसरी ओर कई कृति-साहित्यकारों को वाद-विवाद के क्षेत्र में उतरने और विचारोत्तेजक लेख लिखने का प्रोत्साहन दिया।''

12.4 द्विवेदी युगीन गद्य साहित्य-

भारतेन्दु युगीन गद्य की विधाओं और कुछ और नई गद्य-विधाओं का जन्म और विकास द्विवेदी युग में हुआ। द्विवेदी युगीन गद्य-साहित्य पर हम इस प्रकार विचार कर रहे है-

12.4.1 नाटक- हिन्दी नाटक का विकास भारतेन्दु युग की अपेक्षा अधिक और अपेक्षित रूप में हुआ। इस युग के हिन्दी नाटक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के विकास में जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव एक महत्त्वपूर्ण घटना है। प्रसाद ने हिन्दी नाटक को एक-स्तर एवं साहित्यिक सौष्ठव प्रदान किया। अपने रचनाकाल के प्रारम्भिक वर्षों में प्रसाद जी ने 'कल्याणी परिणय' तथा 'प्रायश्चित' नामक एकांकियों की रचना की। उनके 'सज्जन' तथा 'करूणालय' नामक गीति-नाट्य भी इसी काल की रचनाएं है। इनमें इतिहास, प्रेम तथा गीति का सफल समन्वय हुआ है। प्रसाद जी का पहला ऐतिहासिक नाटक 'राज्यश्री' है। इसके बाद 'विशाख' की रचना हुई। प्रसाद जी का इतिहास संबंधी दृष्टिकोण 'विशाख' भूमिका में प्रस्तुत हुआ। उन्होंने लिखा है 'मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया।'

'अजातशत्रु' में प्रसाद जी का ऐतिहासिक नाटककार रूप अपने पूर्ण निखार में है। इसके अनन्तर उन्होंने 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' शीर्षक ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। उनका 'जन्मेजय का नागयज्ञ' उत्तर महाभारत काल की घटनाओं के आधार पर निर्मित नाटक है। 'ध्रुवस्वामिनी' ऐतिहासिक नाटक के साथ ही एक समस्याप्रधान नाटक भी है। प्रसाद जी के नाटकों में पौर्वात्य और पाश्चात्य नाट्य-शिल्प नाटक भी है। प्रसाद जी के नाटकों में पौर्वात्य और पाश्चात्य नाट्य-शिल्प का अतिसुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। उनके नाटक न सुखातं है न दुखांत वरन् प्रसादांत है, जिनमें सुख दुख का अनूठा सामजस्य दिखाया गया है।

प्रसादजी मुखखत: ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रसिद्ध है किन्तु उन्होंने पौराणिक, सांस्कृतिक, समस्या-प्रधान एंकाकी तथा गीति-नाट्यों की रचना करके विविध विषयात्मक तथा शैली-विधानात्मक नाटकों का सृजन किया। उन्होंने जहां एक ओर भारतीय इतिहास की गौरव-गाथाओं को उपस्थित किया है, वहीं दूसरी ओर उन्हीं के समानान्तर चलने वाले षड्यंत्रों और स्वार्थपूर्ण दुष्कृत्यों का भी चित्रण किया है।

ऐतिहासिक साम्राज्य के उत्थान-पतन के साथ-साथ धार्मिक इतिहास के सूत्र भी उनकी रचनाओं में मिलते है। देश प्रेम एवं राष्ट्र के लिए आत्मोसर्ग की जो उदान्त भावनाएं प्रसाद जी के भिन्न-भिन्न नाटकों में मिलती है, वे उनके आदर्शवादी एवं राष्ट्रीय व्यक्तित्व की परिचायक है।

द्विवेदी युग के अन्य नाटककारों में प्रहसनकार जी.पी. श्रीवास्तव का भी विशेष महत्त्व है। इन्होंने कुछ मौलिक एवं अनुदित प्रध्सन प्रस्तुत किये। प्रसाद युग के अंतिम चरण में हमें कुछ उच्च कोटि के नाटककारों का उदय दिखाई पड़ता है। इनमें प्रमुख है- हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्द दास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद मिलिदं आदि।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अंग्रेजी नाटककार 'इब्सन' और 'शॉ' से प्रभावित होकर समस्यामूलक नाटकों की रचना की है। ये चरित्र-चित्रण प्रधान यर्थाथवादी नाटक है, जिनमें आज की बुद्धिवादी मान्यताओं के आधार पर सामाजिक जीवन की समस्याओं का विश्लेषण किया गया है।

12.4.2 उपन्यास- भारतेन्दु युग के बाद के काल को द्विवेदी युग कहते है। इसमें ऐय्यारी और तिलस्मी उपन्यासो में अदभुत और असाधारण घटनाओं की रेल-पेल है। पात्रों के चरित्र के विकास का नितान्त अभाव है। इस प्रकार के उपन्यासकारों में देवकीनन्दन खत्री प्रमुख है। इनकी 'चन्द्रकान्ता संतति' बहुत ही लोकप्रिय उपन्यास सिरीज थी। रामचन्द्र शुक्ल ने इन उपन्यासों में साहित्यिकता का अभाव माना है। इस युग मे बंगला के उच्चकोटि के साहित्यिक उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद हुआ। अनुवादकों में प्रमुख है- रूपनारायण पाण्डेय, बाबू गोपालराम गहमरी और पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा। इस युग में अनूदित उपन्यासों के अतिरिक्त तिलस्मी, साहसिक, जासूसी और रोमानी उपन्यासो की भी रचना हुई।

12.4.3 कहानी- द्विवेदी युग की कहानी को हम कहानी विधा का शैशवकाल कह सकते है। इस काल में मुख्यत: तीन प्रकार की कहानिया सामने आई-

1. सामाजिक कहानियाँ यथा 'प्लेग की चुड़ैल'
2. चरित्र प्रधान कहानियाँ, जैसे 'इन्दुमति'।
3. जासूसी कहानियाँ, जैसे 'सात खूनी' या 'गुलबहार'।

इस युग की कहानियों में सुधारवादी प्रवृति की प्रधानता है। इस युग के कहानीकारों ने अपनी रचनाओं में किसी न किसी सुधारवादी भावना का ही चित्रण किया है। इस युग के कहानीकारों की दृष्टि मानवतावादी थी। अत: उनमें भारतीय संस्कृति की गौरवमयी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परम्परा के प्रति आसक्ति भाव देखा जा सकता है। वह हर मूल्य पर जीवनगत मूल्य-मर्यादा तथा नैतिक उत्थान के पक्षधर थे। आरम्भ में तो कहानीकार कहानी के लिए उपयुक्त वातावरण बनाने में लगे रहे और ऐसी कहानियाँ लिखते रहे, जिनमें लोगों को रोमांचित कर देने वाले स्थलों की ही अधिकता थी। लेकिन इस प्रकार का लेखक तो कहानी को आधार प्रदान करने का साधन मात्र ही था। इस युग के लेखकों में यथार्थ के प्रति आग्रह की भावना नहीं है। इसका कारण यह नहीं है कि उसमें सामाजिक यथार्थ को अपनाने की क्षमता नहीं थी, वरन् इसका कारण यह है कि वे सामाजिक आदर्श के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित थे।

पूर्व-प्रेमचन्द हिन्दी कहानी का युग राजनैतिक, पारिवारिक तथा सामाजिक दृष्टि से कोई विशेष अच्छा नहीं था। परिवारों का विघटन हो रहा था, नारियों की दशा शोचनीय थी। राजनीतिक स्वतन्त्रता तो दूर की बात थी, नैतिकता का पतन हो गया था। ऐसे वातावरण में इस युग में सुधारवादी एवं राष्ट्रीय प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही था। किशोरीलाल गोस्वामी केशवप्रसाद मिश्र, रामचन्द्र शुक्ल, बंग महिला, मास्टर भगवानदास आदि ऐसे कहानीकार थे। जिनमें युगीन समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने की आतुरता थी। 'प्लेग की चुड़ैल', 'आपत्तियों का पहाड़', 'दुलाई वाली' तथा 'इन्दुमती' आदि कहानियाँ इसी प्रवृत्ति को सामने लाती है।

12.4.4 निबन्ध- द्विवेदी युग में जिस निबन्ध साहित्य की रचना हुई, उसमें लेखक के हृदय की सहज स्वच्छन्दता के स्थान पर मनन और चिन्तन का अधिक, समावेश हुआ। निबन्ध के रूप, भाव और शैली सभी में परिवर्तन हुआ और भारतेन्दु काल की हल्की-फुल्की शैली ने प्रौढ़ता प्राप्त की। शिक्षित वर्ग को आकर्षित करने वाले ज्ञान विज्ञान, साहित्य और अन्य विषयों पर सुन्दर निबन्ध लिखे गये।

हिन्दी गद्य साहित्य में 'द्विवेदी-युग' भाषा के परिमार्जन का युग था। द्विवेदी युग से पूर्व जिस गद्य साहित्य के हमें दर्शन होते है, उसमें भाषा की दृष्टि से बड़ी अव्यवस्था थी। हिन्दी के प्रमुख निबन्धकार भी अपनी रचनाओं में व्याकरण के नियमों की अवहेलना करते थे। विराम चिन्हों का ध्यान नहीं रखते थे तथा अशुद्ध शब्दों का व्यवहार करते थे। उनका वाक्य-विन्यास भी ठीक नहीं था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा हिन्दी गद्य साहित्य की यह अव्यवस्था दूर हुई। फलतः द्विवेदी युग में हमें भाषा और शैली के प्रौढ़ एवं परिमार्जित रूप के दर्शन होते हैं। शैली की दृष्टि से वर्णनात्मक, विवेचनात्मक एवं भावात्मक आदि निबन्ध इस युग में लिखे गये।

विषय-सामग्री की दृष्टि से भी द्विवेदी युग का निबन्ध-साहित्य बड़ा व्यापक रूप लेकर सामने आया। इतिहास, राजनीति, धर्म, साहित्य, मनोविज्ञान आदि विविध विषयों को लेकर वर्णनात्मक, व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक निबन्धों की रचना हुई। इसके साथ-ही-साथ भावात्मक शैली में बड़े सुन्दर कलात्मक निबन्ध लिखे गए। इस दृष्टि से पं. माधवप्रसाद मिश्र, पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक पूर्णसिंह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकार सम्बन्धी विवेचनात्मक निबन्धों और महावीर प्रसार द्विवेदी तथा श्यामसुन्दर दास और पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी के साहित्य सम्बन्धी निबन्धों का भी बड़ा महत्त्व है।

12.4.5 आलोचना- महावीर प्रसाद द्विवेदी के हाथों में 'सरस्वती' नामक पत्रिका की बागडोर जैसे ही 1900 में सम्पादक के रूप में आई, तभी से पट-परिवर्तन होने लगा। हिन्दी आलोचना ने लोकप्रियता तथा विकास भी किया, साथ ही उसे गति एवं दशा भी मिली। आचार्य द्विवेदी भी सन् 1900 में 'विक्रमांक का चरित्र' तथा 'नैषधचरित चर्चा' नामक ग्रन्थ लिखे। सन् 1907 में, 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ होने से भी हिन्दी आलोचना को गति एवं शक्ति मिली। गवेषणा-प्रधान आलोचना को इसी काल में बल 'नागरी प्रचारिणी सभा' से मिला। सभा ने कई रिपोर्ट डॉ. श्यामसुन्दर दास और मिश्रबन्धुओं की प्रकाशित की। कई लेख राधाकृष्ण दास, एडविन ग्रीब्ज और मुंशी देवी प्रसाद की खोजपूर्ण पत्रिका में प्रकाशित हुए। मिश्रबन्ध विनोद सन् 1913 से 1915 के मध्य प्रकाश में आए।

कन्हैयालाल पोद्दार (अलंकार प्रकाश तथा काव्य कल्पद्रुम), लाला भगवानदीन (अलंकार मंजूषा), जगन्नाथप्रसाद भानु (छन्द प्रभाकर) आदि अनेक सैद्धान्तिक आलोचना से सैद्धान्तिक ग्रन्थ प्रकाश में आए। तुलनात्मक आलोचना की द्विवेदी युग में धूम रही। तुलना के विषय देव और बिहारी बने। उसी वाद की देन कृष्ण बिहारी मिश्र का 'देव और बिहारी' तथा लाल भगवानदीन का 'बिहारी और देव' थे। परन्तु पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक-पद्धति में विशेष रूचि प्रदर्शित की। इस पद्धति में 'बिहारी सतसई की भूमिका' नामक ग्रन्थ को विशेष ख्याति मिली। पं. पद्मसिंह की शैली का चटपटापन इस उदाहरण से दृष्टव्य है- ''यहाँ भी बिहारी की नकल उतारी गई है। बिहारी ने जीव को हंस का फड़कता हुआ और मृत्यु को श्येन का उड़ता हुआ रूपक देकर तथा हेतूप्रेत्प्रेक्षा के परों पर चढ़कर दोहो के मजमून को आसमान पर पहुंचा दिया है। श्रृंगार सतसई का दोहा, इसके नजदीक नहीं पहुंच सका, मंजिल नीचे पर कटे कबूतर की तरह खाक पर पड़ा लेट रहा था।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.5 द्विवेदी-युगीन कविता-

गुप्त जी ने प्रबन्ध, मुक्तक और चम्पू काव्य लिखे। उन्होंने हिन्दी साहित्य को मात्रा और नवीनता दोनों ही दृष्टि से धनी बनाया। उनकी प्रमुख रचनाओं के नाम इस प्रकार है- 'रंग-भंग', 'भारत भारती', 'किसान', 'अनघ', 'पंचवटी', 'हिन्दू', 'झंकार', 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'सिद्धराज', 'नहुष', 'विकट भट', 'मंगल घट', 'कुणाल', आदि। गुप्त जी का साहित्य स्वदेश-प्रेम, नारी उत्थान आदि भावनाओं से परिपूर्ण है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' भी इस युग के महान कवि है। उन्होंने महाकाव्य और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाओं की। उनकी प्रमुख कृतियाँ 'प्रिय प्रवास' 'वैदेही वनवास', 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे', 'पारिजात', 'रस कलश', 'कर्मवीर', 'काव्य-पवन', 'प्रेम-प्रपंच' आदि है। 'प्रिय प्रवास' आपकी अनुपम कृति है। आपने इस महाकाव्य में भाषा-शैली, कथा आदि दृष्टियों से अपनी मौलिकता का परिचय दिया। इस युग के रामनरेश त्रिपाठी भी विख्यात कवि है। आपने 'भिन्न', 'पथिक', और स्वप्न खण्डकाव्यों की रचना की है। आपकी कविता में स्वदेश-प्रेम तथा स्वच्छन्दतावाद की प्रधानता है।

इन कवियों के अतिरिक्त इस युग में श्रीधरपाठक, रामचरित उपाध्याय रामदेवीप्रसाद 'पूर्ण' नाथूराम शंकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही', सत्यनारायण 'कविरत्न', माखनलाल चतुर्वेदी सियारामशरण गुप्त आदि कवि हुए। द्विवेदी काल आधुनिक कविता का द्वितीय चरण है। इस युग का आरम्भ सन् 1903 से माना जाता है। इस काल के प्रवर्त्तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। इसी कारण इस काल को 'द्विवेदी काल' कहते है। जब द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन का भार सभाला, तब हिन्दी के गद्य और पद्य साहित्य की दिशा में विशेष परिवर्तन आया। कविता के वर्ण्य-विषय में तो कोई अन्तर नहीं आया, परन्तु उनकी भाषा में बड़ा आन्दोलन हुआ। खड़ी बोली को इस काल में पूर्णरूप से साहित्य को भाषा बना लिया गया। इस प्रकार इसमें भाषा का विवाद समाप्त हो गया।

इस युग में अश्लील श्रृंगार का पूरी तरह से बहिष्कार कर दिया गया। इस युग की कविता में राजनीतिक चेतना का गहरा प्रभाव है और कविता का स्वतन्त्रता आन्दोलन से पूर्ण सम्बन्ध है। उसी का परिणाम है कि द्विवेदी युग की कविता में कांग्रेस की प्रशंसा ही नहीं वरन् उसके सामाजिक आदर्श की भी सुन्दर व्यजनां है। विधवा-विवाह, बाल-विवाह दहेज प्रथा, छुआछूत आदि सामाजिक कुरीतियों को दूर करना इस समय की कविता का मुख्य उद्देश्य रहा है।

इस युग के प्रतिनिधि मैथिलिशरण गुप्त है। उन्होंने स्वयं द्विवेदी जी का आधार स्वीकार किया-

'तुलसी भी करते कैसे मानसवाद।
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद॥'

12.5.1 ब्रजभाषा की कविता- द्विवेदी युग के श्रीधर पाठक, राम देवी प्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' लाला भगवान दीन, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', अयोध्याप्रसाद उपाध्याय, हरदयाल सिंह, सत्यनारायण कविरत्न आदि ब्रजभाषा के प्रमुख कवि है। इनमें से 'रत्नाकर', 'कविरत्न' और हरदयालसिंह को छोड़कर सभी कवि दोरंगी कवि थे, जो ब्रजभाषा में तो श्रृंगार, वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कवित्त सवैया या गेय पदों में करते, और खड़ी बोली में नूतन विषयों को रचते थे। (रामचन्द्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ 572)

रत्नाकर के उद्धत शतक में ऐसे अनेक छंद है, जिनमें भोजियों के हास्य-व्यंग्य, तर्कशीलता, बौद्धिक प्रखरता, गंभीरता, चुलबुलेपन, तटस्थता, संतुलन इत्यादि की प्रवृत्तियाँ एक साथ ही है। जैसे उद्धव के द्वारा उपदेशित प्राणायाम के विरोध में गोपियाँ कहती है-

-और हूँ उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ, साँस रोकिबो को कहा जोग की कुढंग है।
कुटिल कटारी है, अटारी उतंग अति, जमुना तरंग है, तिहारी सतसंग है॥

सत्यनारायण 'कविरत्न' ने तो अपनी सारी कविता ब्रजभाषा में ही लिखी है। उनकी सरलता का एक उदाहरण देखिए-

सदा दारू-पोषित सम बेबस आज्ञा मुदित प्रमानै।
कोरो सत्य ग्राम की बासी कटा तकल्लुफ जानै॥

12.5.2 खड़ी बोली की कविता– द्विवेदी युग की कविता की सबसे बड़ी देन खड़ी बोली की कविता को माध्यम भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना रहा।

देश भक्ति द्विवेदी युगीन काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। भारतेन्दु युग में तो देश भक्ति केवल भाषा, भोजन तथा वेश तक ही सीमित थी, लेकिन द्विवेदी युग में देश भक्ति को एक व्यापक आधार मिला। डॉ. केसरी नारायण शुक्ल ने द्विवेदी युग को राष्ट्रीय जागरण काल की संज्ञा दी है। वे कहते हैं– ''इससे इस समय जो राष्ट्रीय जागरण हुआ, वह एक प्रकार से हिन्दु जागरण था, क्योंकि उस जागरण में हिन्दू इतिहास और पम्परा का अवलम्ब या आश्रय प्रधान था। इस युग में देश भक्ति विषयक अनेक लघु कविताएँ लिखी गई। इस काल के प्रबन्ध–काव्यों में देश भक्ति को सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है।''

द्विवेदी युगीन कविता में सामाजिक का भाव प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। इस काल की कविता समाज–सापेक्ष है। उसमें अनेक सामाजिक रूढ़ियों और कुरीतियों पर तीखे प्रहार किए गए हैं। इस युग की कविताओं में एक ओर तो अतीत का गौरव है, तो दूसरी ओर मुखद और सुन्दर भविष्य की कामना। प्राचीन और नवीन का सुन्दर समन्वय द्विवेदी युगीन काव्य की प्रमुख विशेषता है।

द्विवेदी युग की कविता रीतिकालीन श्रृंगार रस को कोई स्थान नहीं था। द्विवेदी जी एक आदर्शवादी व्यक्ति थे। इसी कारण इस काल की कविता में भी श्रृंगारिकता को आत्मसात् न कर सकी। इस काल में श्रृंगार की कमी का कारण, इस पर आर्य–समाज का प्रभाव भी है। इस काल की कविता वर्णन प्रधान है, इसी कारण इसमें लाक्षणिकता नहीं आ पाई। द्विवेदी जी मराठी की वर्णन प्रधान शैली से प्रभावित थे। उसी प्रकार की शैली को उन्होंने हिन्दी में भी स्थान दिया।

इस काल के कवियों की धार्मिक भावना भारतेन्दु युग से अधिक व्यापक हो चुकी थी। मानवतावाद की भावना के कारण इन्होंने शोषण के विरूद्ध आवाज उठाई और शोषित और दलित के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। इन कवियों को दु:खियों के करूणा भरे आँसू सिक्त चेहरों में भगवान के दर्शन होने लगे। इस प्रकार कवि का अलौकिक प्रेम मानव प्रेम में परिवर्तित हो गया और वह कह उठा–

जग की सेवा करना ही बस है सब सारों का सार।
विश्व प्रेम के बन्धन में ही मुझको मिला मुक्ति का द्वार॥

इस काल में इस प्रकार समान्तवादी दृष्टिकोण की कटु निन्दा करने वाले कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। इनकी कविता में बुद्धि का तत्त्व बहुत अधिक मात्रा में था, इसी कारण राम और कृष्ण एक साधारण मानव के रूप में हमारे सामने आए। ईश्वर इस संसार एवं प्रकृत्ति में वर्तमान है, इसी बात को स्पष्ट करते समय इस काल के कवि में रहस्य भावना आ गई। इसी रहस्य–भावनायुक्त कविता का एक रूप देखिए–

तेरे घर के द्वार बहुत है किससे होकर आऊँ मैं।
सब द्वारो पर भीड़ बहुत है, कैसे भीतर जाऊँ मैं॥

डॉ. केसरीनारायण शुक्ल का इस काल की धार्मिक कविता के विषय में विश्वास है, 'भारतेन्दु युग की कविता से यह निस्संदेह अधिक उन्नत है। उपदेशात्मक प्रवृत्ति को छोड़कर कवियों ने मानवतावाद को ग्रहण किया। उदारता और व्यापक मनोदृष्टि उस समय की धार्मिक कविता के विशेष लक्षण है, अन्योक्ति सौन्दर्य गूर्ण है और उसमें काव्यत्व है। इन कवियों की यह सफलता साधारण नहीं है। विश्व–प्रेम और जन–सेवा की भावना के द्वार तृतीय उत्थान के कवियों ने धार्मिक कविता को अधिक उन्नतशील बनाया।' इस प्रकार इस युग की कविता में धार्मिक सहिष्णुता थी और सभी धर्मों के प्रति प्यार के साथ–साथ मानव मात्र की भलाई भी।

इन कवियों ने प्रकृत्ति का रमणीय वर्णन किया है। भारतेन्दु युग में प्रकृति का वर्णन बंधी–बंधाई परिपाटी पर हुआ था, किन्तु द्विवेदी युगीन कवियों ने प्रकृत्ति का ज्यों–का–त्यों चित्रण करके एक नई परिपाटी को आरम्भ किया। इसमें प्रकृत्ति के लिए निम्नलिखित पंक्तियां देखिए–

प्रकृति जहाँ एकांत बैठी निज रूप संवारति।
पल पल भेष छनिक छवि छिन छिन धारति॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रामनेश त्रिपाठी ने अपने खण्ड काव्य 'पथिक' और 'स्वप्न' में इसी प्रकार की प्रकृति की प्रतिष्ठा करते हुए देश-भक्ति के गीत गए है। उन्होंने प्रकृति का सुन्दर रूप से मानवीकरण किया है-

अतुलनीय जिनके प्रताप का साक्षी है प्रत्यक्ष दिवाकर
घूम-घूमकर देख चुका है जिनकी निर्मल कीर्ति निशाकर।
जिनका वैभव देख चुके है नभ के यह अनन्त तारागण।
अगणित बार सुन चुका है नभ जिनका विजय घोषरण गर्जन॥

इसमें प्रकृति के मानवीकरण के साथ-साथ अतीत के गौरव की सुन्दर झांकी प्रस्तुत की गई है। दूसरी ओर 'पंचवटी' के माध्यम से मैथिलीशरण गुप्त ने भी प्रकृति का सुन्दर एवं मनोरम रूप हमारे सामने रखा है-

'चारू चन्द्र की चंचल किरणे खेल रही थी जल थल में।'

इन पंक्तियों में कवि ने प्रकृति का ज्यो-का-त्यों सुन्दर चित्र प्रस्तुत कर दिया है।

द्विवेदी युग से पहले राजा, महाराजा, ईश्वर, ईश्वरावतार, वीर योद्धा आदि ही काव्य के नायक-पद को सुशोभित करते थे, लेकिन द्विवेदी युग में हजारों वर्षों के बाद मनुष्य की सच्ची प्रतिष्ठा पहली बार इस देश में आंकी गई। मानव ने मानव को समझा। इन्सान-इन्सान के बीच की बनावटी दीवारे ढहने लगी। दीन-हीन कृषकों तथा जन्म लेने से पूर्व ही विधवा हो जाने वाली युवतियों के कष्टमय जीवन की जैसी मार्मिक झांकी इस युग के काव्य में मिलती है, वह रोगंटे खड़े कर देने वाली है। इस प्रकार द्विवेदी युग में जनसाधारण को काव्य-विषय के रूप में पर्याप्त प्रतिष्ठा मिली है। द्विवेदी युग के हास्य-व्यग्यं काव्य के विषय राजनीतिक शोषण, सामाजिक कुरीतियाँ, विदेशीयता का अन्धानुकरण, फैशनपरस्ती तथा व्याभिचार आदि है। बालमुकुन्द गुप्त द्विवेदी युग के सशक्त व्यंग्य लेखक है। लार्ड कर्जन पर उन्होंने अत्यन्त तीखे और चुभते हुए व्यंग्य किये है। द्विवेदी युग में काव्य के क्षेत्र में प्रचलित प्रबन्ध, मुक्तक तथा गीत आदि सभी काव्य रूपों में रचनाएँ लिखी गई है। 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत' तथा 'रामचरित चिन्तामणि' द्विवेदी युग के प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य है। खण्ड-काव्य की दृष्टि से मैथिलिशरण गुप्त कृत 'जयद्रव्यवध', प्रसादकृत 'प्रेम पथिक', सियारामशरण गुप्त कृत 'मौर्य-विजय' उल्लेखनीय है। जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा रचित 'उद्धतशतक' इसी युग के प्रबन्ध-मुक्तक है। द्विवेदी युग में प्रगीतों की भी रचना हुई।

द्विवेदी युग के काव्य की मुख्य भाषा खड़ी बोली है। द्विवेदी युगीन खड़ी बोली सरल, सुबोध, शुद्ध और रसानुरूप है। जगन्नाथदास रत्नाकर जैसे कवियों को भी खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता पर संदेश था, लेकिन 'जयद्रथवध' तथा 'भारत-भारती' ने इन सभी संदेहों को समाप्त कर डाला। द्विवेदी युगीन काव्य में विविध छंदों का प्रयोग किया गया। इस युग के कवि दोहा, चौपाई या पद के प्रयोग तक ही सीमित नहीं रहे। उन्होंने रोला, छप्पय, गीतिका, हरिगीतिका, नाटक आदि छंदो का भी सुन्दर प्रयोग किया है। इस प्रकार हम देखते है कि 'द्विवेदी युगीन काव्य सांस्कृतिक पुनरूत्थान, उदार राष्ट्रीय, सामाजिक सुधार एवं उच्चादर्शो का काव्य है।' इसमें विषयों की विविधता तथा प्रचलित काव्य रूपों का सफल प्रयोग है। खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने का श्रेय द्विवेदी युग को ही जाता है।

12.6 सारांश-

हमने देखा कि द्विवेदी युग अपने पूर्व युग अर्थात् भारतेन्दु युग की सभी प्रवृत्तियों से विकसित होने के साथ-साथ कुछ और नयी और अपेक्षित प्रवृत्तियों का एक प्रेरक चित्र है। दूसरी बात यह कि इसने हिन्दी साहित्य को लगभग दो दशकों तक बड़े ही अद्‌भुत और प्रेरक रूप में प्रभावित किया है। ये सारी विशेषताएं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के असाधारण सम्पाद कत्व के फलस्वरूप सामने आयी। इस प्रकार एक पत्रिका और एक व्यक्ति ने पूरे युग को किस प्रकार प्रभावित किया, इसका उदाहरण और कही नहीं दिखाई देता है। इस युग के विषय में निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी का रूझान गद्य की अपेक्षा कविता की ओर अधिक था। इस पूरे कालखंड में कविता ही केन्द्रित रही। कविता भी ब्रजभाषा की नहीं, अपितु खड़ी बोली की ही प्रतिष्ठित हुई।

12.7 अभ्यास प्रश्न

1. द्विवेदी युगीन इतिवृत्तामकता से आप क्या समझते हैं ?
2. द्विवेदी युग में सरस्वती पत्रिका का क्या योगदान रहा ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई -13

छायावाद

संरचना

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 स्वच्छदंतावाद और छायावाद

13.3 प्रवर्तन का प्रश्न

13.4 परिभाषा की समस्या

13.4.1 छायावाद और रहस्यवाद

13.4.2 स्थूल के विरूद्ध सूक्ष्म का विद्रोह

13.5 छायावाद की मूल प्रवृत्तियाँ

13.6 सारांश

13.7 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.0 प्रस्तावना

'छायावाद' हिन्दी की रोमांटिक काव्यधारा की विकसित अवस्था है। आचार्य रामचन्द्र ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक अपने शोध ग्रन्थ में लिखा है-

''उसी समय पिछले संस्कृत काव्य के संस्कारों के साथ पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में आए। जिससे इतिवृत्तात्मक (मैटर ऑफ फैक्ट) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लगने लगा।''

कहने का भाव यह है कि काव्य भाषा तो खड़ी बोली हो गई, पर काव्य-शैली रीतिकालीन चमत्कारियों सरसता, विदग्धता आदि का स्थान इतिवृन्तात्मकता ने ले लिया। इस तथ्य को श्रीधर पाठक ने अनुभव कर रीतिकालीन रूढ़ियों को तोड़ कर स्वच्छंदता (रोमांटिसिज्म) का मार्ग अपनाया। जिसका स्पष्टोल्लेख करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है-

''और सब बातों का विचार करने पर पंडित श्रीधर पाठक ही सच्चे स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) के प्रवर्त्तक ठहराते है।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास)

आचार्य शुक्ल के अनुसार श्रीधर पाठक की तरह अन्य कवियों में रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' सुभद्रा कुमारी चौहान, गुरूभक्त सिंह 'भक्त', उदय-शंकर भट्ट आदि उल्लेखनीय है। उन्होंने 'प्रसाद' 'निराला', 'पंत' और महादेवी वर्मा सरीखे कवियो को, जिन्हे बाद में छायावादी कवियों के रूप में जाना गया, अलग करके देखा।

13.1 उद्देश्य

. इस इकाई में हम स्वच्छंदतावाद और छायावाद के पारस्परिक सम्बन्धों के साथ-साथ छायावाद के अर्थ और स्वरूप से परिचित हो सकेगें।

. इसके साथ ही इस इकाई में छायावाद और संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए छायावाद की मूल प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

13.2 स्वच्छन्दतावाद और छायावाद

हिन्दी में 'छायावाद' के नाम से जाने वाली कविता को आरम्भ में स्वच्छन्द काव्यधारा के नाम से जाना गया। यहां यह ध्यान देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि आचार्य रामचन्द्र ने सच्ची स्वच्छतावादी कविताओं में रहस्यात्मकता की झलक देखी थी। इसलिए केवल रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रभाव का अनुमान करके छायावाद को स्वच्दछन्दतावादी काव्यधारा से पृथक नहीं किया जा सकता। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि 'छायावाद' हिन्दी की अपनी रोमेन्टिक अथवा स्वच्छदंतावादी काव्यधारा की विकसित अवस्था है। इसलिए इसके आरंभिक दौर के कवि श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय आदि है, तो इसके विकसित दौर के कवि प्रसाद, 'निराला', पंत और महादेवी वर्मा हैं।

13.3 प्रवर्तन का प्रश्न

'छायावाद' के आरम्भ किस रचना से माना जाए, यह एक विवाद पूर्ण विषय है। दूसरे शब्दों में, छायावाद का प्रवर्तक कौन कवि है, इस विषय में समालोचकों की राय एक नहीं है। यो तो कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने अपनी पुस्तक 'छायावाद: पुनर्मूल्याकंन' में छायावाद के प्रवर्तक के रूप में प्रसाद को भावात्मक स्तर पर माना तो है, लेकिन तथ्यगत स्तर पर स्वयं को माना है।

यदि प्रकृति की ओर आकर्षित होने वाला, उसके खुले और चिरंतन रूपों के बीच खुलने वाला हृदय छायावादी हो सकता है, तो इस काव्य-धारा के सर्वप्रमुख कवि श्रीधर पाठक ही हो सकते है। यह इसलिए भी कि रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' की पहली प्रतिध्वनि मुकुटधर पाण्डेय की कविताओं में सुनी जा सकती है। लेकिन यह सच है कि छायावादी काव्य की प्रवृत्ति प्रकृति-प्रेम और रहस्यात्मकता ही न होकर एक विशेष सौन्दर्य-दृष्टि है। रहस्योन्मुखता, प्रकृति-प्रेम आदि इसी की अभिव्यक्ति की विविधताएं है। इस सम्पूर्ण सौन्दर्य-दृष्टि की झलक कविवर प्रसाद की आरम्भिक रचनाओं में ही मिलने लगी थी।

संक्षेप में हम कविवर सुमित्रानन्दन पंत के इस मन्तव्य से सहमत होते हुए यह कह सकते हैं-

मेरे विचार से छायावाद की प्रेरणा छायावाद के प्रमुख कवियों को उस युग की चेतना से स्वतन्त्र रूप से मिली है। ऐसा नहीं हुआ कि किसी एक कवि ने पहले उस धारा का प्रवर्तन किया हो और दूसरों ने उसका अनुगमन कर उसके विकास में सहायता दी हो।''

13.4 परिभाषा की समस्या-

छायावादी काव्यधारा का प्रादुर्भाव हिन्दी साहित्य में 1920 के लगभग माना जाता है। शुक्ल जी ने इस काव्य धारा के प्रवर्तक मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को माना है। डॉ. विनयमोहन शर्मा और प्रभाकर माचवे छायावादी कविता के प्रवर्तक का श्रेय माखनलाल चतुर्वेदी को देते है, परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि छायावादी कविता के जनक श्री जयशंकर प्रसाद है।

छायावादी कवियों का विवरण देते हुए शर्मा ने लिखा है- 'जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' जी उसके शिवशंकर है। महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा एवं माखनलाल चतुर्वेदी छायावाद की लघुत्रयी के अन्तर्गत आते है। छायावाद के महासागर में और भी अनेक मतो ने योगदान दिया जिनमें मिलिन्द, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान एवं रामनरेश त्रिपाठी आदि का नाम उल्लेखनीय है। छायावादी युग की काव्य-धारा के समकालीन हरिवंशराय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर, अंचल आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।'

प्रसार जी के 'झरना' 'आँसू' और 'कामायनी' आदि ग्रंथों में छायावादी वृत्तियाँ स्पष्टत: परिलक्षित होती हैं। 'कामायनी' तो छायावादी कविता का एकमात्र महाकाव्य है। 'वीणा', 'पल्लव', 'ग्रन्थि', और 'गुजंन' पंत जी की छायावादी काव्य वृत्तियाँ है। निराला जी की छायावादी प्रवृत्ति के दर्शन 'परिमल', 'गीतिका', 'अनामिका', और तुलसीदास में होते हैं। महादेवी की 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्यगीत', और 'दीपशिखा' छायावादी काव्य संग्रह है। डॉ. रामकुमार वर्मा कृत 'अंजलि', 'रूप-राशि', 'चित्ररेखा', 'चन्द्र-किरण' एवं भगवतीचरण वर्मा कृत 'मधुकरण', 'प्रेम-संगीत', 'मानव' और अंचल के 'अपराजिता', 'मधूलिका' आदि में छायावादी कविता के दर्शन होते है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

छायावादी कविता हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। डॉ. गोविन्द राय शर्मा के शब्दों में- 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य में छायावाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य की यह एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। मानव हृदय की अनुभूतियाँ कविता में नवचेतना से अनुप्राणित होकर विविध रूपों में व्यक्त होती हैं, तब कवि अन्तर्मुखी भावात्मक दृष्टिकोण को अपनाता हुआ दृश्यमान जगत की वस्तुओं में अलौकिक सत्ता का आभास पाकर अपनी अनुभूतियों की विवृत्ति लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक मनोरम शैली में करता है, तब उसकी कविता छायावाद के रूप में हमारे सामने आती है। छायावाद में कवि भावानुभूति और उसकी अभिव्यजंना की एक विशिष्ट पद्धति का अनुसरण करता है।'

इस काव्यधारा को यह नाम सर्वप्रथम काव्य के रूप में दिया गया, जैसाकि कि छायावादी कवि पंत की अरूचि से स्पष्ट व्यक्त होता है कि 'छायावाद नाम से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ। यह तो द्विवेदी युग के आलोचकों द्वारा नयी कविता के उपहास का सूचक है।'

कालान्तर में 'छायावाद' शब्द-साहित्य में विशेष स्थान पा गया। अतएव इसका अर्थ भी विशेष अर्थ में होने लगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि 'बंगला में प्रतीकात्मक अध्यात्मवादी रचनाओं को छायावादी कहा जाता था। अत: उनके अनुकरण पर हिन्दी-साहित्य में ऐसी रचनाओं के लिए छायावाद नाम चल पड़ा।'

महादेवी वर्मा ने इस कविता के नामकरण के विषय में कहा है-'सृष्टि के बाह्यकार पर इतना लिखा जा चुका है मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त लगता है।' वास्तविकता यह है कि छायावाद नाम एक काव्यधारा विशेष के लिये रूढ़ हो गया है। अत: छायावाद नाम को लेकर अधिक ऊहापोह करना अनावश्यक है।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने कहा है- 'परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की परमात्मा में, यही छायावाद है।' डॉ. नगेन्द्र का विचार है- 'छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।' डॉ. नगेन्द्र छायावाद को सूक्ष्म का स्थूल के प्रति विद्रोह भी मानते है।

'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित कुछ कार्टूनो और लेखों में 'छायावाद' शब्द का प्रयोग इस काव्य की अस्पष्टता, धूमिलता आदि का बोध कराने के लिये किया गया। इसके बाद आचार्य रामचन्द शुक्ल ने इस शब्द का सम्बन्ध पुराने ईसाई संतों के छायाभ्यास से जोड़कर इसे ऐतिहासिक व्युत्पत्ति का आधार दिया। इस सम्बन्ध में उनका कहना है-

''पुराने ईसाई संतो के छायाभ्यास तथा यूरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थी।''

13.4.1 छायावाद और रहस्यवाद- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'छायावाद' शब्द का सम्बन्ध वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद से जोड़कर उसे दार्शनिकता प्रदान की, लेकिन इसके साथ ही रहस्योन्मुखता को इस काव्यधारा की निजि विशेषता न मानकर बाहरी प्रभाव कहा। उन्होंने छायावाद की पहली सुसम्बद्ध व्याख्या करते हुए 'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में माना। उसका एक अर्थ उन्होंने रहस्यवाद लिया। ''जिसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है। अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है।''

मानव स्वाभाव से ही जिज्ञासु प्राणी है। जितने भी पदार्थों को देखता है, उन सबके विषय में जान लेना चाहता है। परन्तु वह विश्व के सबसे महान् रहस्य, परम तत्त्व परमेश्वर को जिसने इस जगत का निर्माण किया है, जानने और समझने में असफल रहा है। वह आज तक नहीं समझ पाया है कि वह कौन है, जो तारों के द्वीप में जाकर नित्य ही दीपावली मनाया करता है अथवा वह कौन सी शक्ति है जिसकी सूर्य और चन्द्रमा घूमकर आरती उतारा करते हैं। जब मानव अज्ञेय, अदृश्य और अगण्य शक्ति से साक्षात्कार करने का प्रयास करता हुआ विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त करता है तथा उन्हें शब्दों के माध्यम से व्यक्त कर देते है, तक एक ऐसे भाव समूह का संचमय हो जाता है, जिसे साहित्यिक शब्दावली में 'रहस्यवाद' कहते हैं।

रहस्यवाद सम्बन्धी अनेक पारिभाषित स्पष्टीकरण किए गए हैं। रहस्यवाद की कुछ विशिष्ट परिभाषाएँ इस प्रकार हैं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार-''काव्य की एक धारा-विशेष को रहस्यवाद शब्द सूचित करता है। वह उसमें लक्षित होने वाली उस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है, जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है।'' चतुर्वेदी की यह व्याख्या अत्यधिक गम्भीर एवं क्लिष्ट होने का कारण स्वयं व्याख्या की अपेक्षा रखती है।

डॉ. रामकुमार वर्मा के शब्दों में–''रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें उस दिव्य और लौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।'' डॉ. रामकुमार वर्मा ने यह स्पष्ट नहीं किया कि वह ''अन्तर्निहित प्रवृत्ति'' आखिर है क्या। वैसे वर्मा जी की परिभाषा पूर्णत: स्पष्ट है।

डॉ. सरनामसिंह शर्मा 'अरूण' लिखते है–''रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा की अभेदानुभूति (जिसमें समस्त सृष्टि समाहित है) की अभिव्यक्ति है।'' उन्होंने साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि अनुभूति विशेष होने के बाबजूद भी जब तक वह एक विशेष रूप में काव्य में नहीं उतरती, जब तक उसे रहस्यवाद की संज्ञा नहीं मिल सकती। रहस्यवाद का पर्याप्त स्पष्ट स्वरूप यह संज्ञा सामने लाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार– ''चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है।'' इस परिभाषा से यह भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है कि रहस्यवाद में सिर्फ भावना ही भावना होती है, चिन्तन पक्ष बिल्कुल नहीं होता। वस्तुत: चिन्तन एवं भावना परस्पर विरोधी है। यदि इस भ्रान्ति से बचा जाए तो इस परिभाषा को स्वीकार किया जा सकता है।

डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत द्वारा दी गई व्याख्या इस प्रकार है, जो सर्वाधिक तर्क संगत है।''रहस्यवाद ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से आत्मा की भावनात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन है। जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रो में सजाकर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है।''

रहस्यवाद का पर्याप्त विवेचन पाश्चात्य विद्वानों में अण्डरहिल (एवलिन) ने प्रस्तुत किया है–''भगवत्सत्ता के साथ एकता स्थापित करने की कला ही रहस्यवाद है।'' उन्होंने आगे लिखा है कि जो उस एकता में विश्वास रखता है और एकतासिद्धि ही जिसका चरम लक्ष्य है, वही रहस्यवादी है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि आत्मा के परमात्मा में लीन होने की लालसा एवं काव्य में आत्मा व परमात्मा के प्रेम की व्यंजना का चित्रण ही रहस्यवाद है। काव्य में प्रयुक्त होने वाली साधारण भाषा अर्थात् लौकिक शब्दावली, रहस्यवादी अनुभूति अर्थात् अलौकिक अनुभूति का भार वहन नहीं कर पाती। अत: प्रतीकों एवं रूपकों का समावेश भाषा में करना पड़ता है। इस प्रकार साहित्य में विशेष अनुभूति की प्रतीकाश्रित अभिव्यक्ति 'रहस्यवाद' का नाम पाती है।

रहस्य साधन एवं रहस्यानुभूति की अण्डरहिल ने पाँच अवस्थाएँ मानी है–

1. यह स्थिति ब्रह्म जिज्ञासा की स्थिति है। साधक ईश्वर दर्शन हेतु इस अवस्था में व्याकुल हो उठता है। इसी अवस्था को 'वेदान्त' में आत्म–अनात्म कहा गया है। 'कबीर' और 'जायसी' में इस अवस्था के चित्र प्रचुर मात्रा में प्राप्त है।
2. अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए रहस्यवादी इस अवस्था में नाना प्रकार की साधनाओं में प्रवृत्त होता है। उसे विरह की अनुभूति इसी अवस्था में होती है। प्रेम कंचन का रूप विरह अनल में तपकर और भी निखर आता है।
3. साधक के मन का 'स्व' इस अवस्था में तिरोहित होने लगता है तथा वह ब्रह्म के सानिध्य का अनुभव करने लगता है, 'अण्डरहिल' के मतानुसार साधक को इस स्थिति में अनेक ध्वनियों का श्रवण एवं आंशिक दृश्यों का अनुभव होने लगता है।
4. आंशिक रहस्यानुभूति क्षणिक होती है, क्योंकि विध्न आ जाते है। अत: इस अवस्था में साधक साधना में बाधक शिकारों का वर्णन करते है। कबीर कृत 'माया' वर्णन तथा जायसी कृत 'शैतान' वर्णन इस कोटि में आता है।
5. परमात्मा के ऐक्य एवं भावात्मक साक्षात्कार की स्थिति इस अवस्था में होती है। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने रहस्यवाद के तीन प्रमुख लक्षणों की ओर संकेत किया है–

(क) अद्वैतवादी विचारधारा की स्वीकृति।
(ख) परमसत्ता से रागात्मक सम्बन्ध की अनुभूति।
(ग) भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उपर्युक्त लक्षण एक रहस्यवादी काव्य में अवश्य होने चाहिए, परन्तु किसी एक के अभाव में भी उसे रहस्यवादी नहीं माना जा सकता। विभिन्न विद्वानों ने अध्ययन की सुविधा के लिए रहस्यवाद को कई प्रकार से विभाजित किया है-

1. साधनात्मक रहस्य।
2. भावनात्मक रहस्य।

पाश्चात्य विद्वान् 'सर्जन' ने रहस्यवाद के चार भेद किए है-

1. प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद
2. दर्शन सम्बन्धी रहस्यवाद
3. धर्म और उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद
4. प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद

ऐतिहासिक आधार ग्रहण करते हुए विद्वानों ने रहस्यवाद के 'पुरातन' और 'आधुनिक' नाम से दो भेद किए हैं। इन सभी को निरर्थक बताते हुए डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत और डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने रहस्यवादी कवियों के कृतित्व के आधार पर दो भेद किए हैं-

(क) समष्टिमूलक रहस्यवादी कवि।
(ख) व्यष्टिमूलक रहस्यवादी कवि।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार इन कवियों को यथार्थ रहस्यवादी एवं काल्पनिक रहस्यवादी दो वर्गों में रख सकते हैं। यहाँ कबीर, दादू को प्रथम वर्ग में तथा प्रसाद, पन्त, निराला आदि को दूसरे वर्ग में स्थान दिया गया है।

रहस्यवाद को अनेक खण्डों में विभक्त करना मेरी दृष्टि में उचित नहीं है। शुक्ल जी के भेदों के विषय में सिर्फ यह कहा जा सकता है कि भावना के अभाव में रहस्यवाद की कल्पना निरर्थक है। भावना से अलग होने पर रहस्य मात्र 'अद्वैतवाद' बनकर रह जाएगा।

उपर्युक्त रहस्यवाद के स्वरूप पर दृष्टिपात करने के उपरान्त रहस्यवाद की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों की ओर भी संकेत कर सकते है-

1. आध्यात्मिक तत्त्वों का समावेश भारतीय रहस्यवादी काव्यधारा की सर्वप्रमुख विशेषता है। रहस्यवादी काव्य में अभिव्यक्ति का माध्यम लौकिक होते हुए भी संकेत अलौकिक की ओर होता है। लौकिकता का आवरण किन्ही-किन्ही रहस्यवादी रचनाओं में नहीं होता तथा अध्यात्म तत्त्व के दर्शन स्पष्ट रूप से किए जा सकते हैं।

2. रहस्यवाद का प्राण प्रेम को माना गया है, क्योंकि प्रेम के द्वारा ही लौकिक एवं अलौकिक जीवन में सामन्जस्य उपस्थित होता हैं। परन्तु रहस्यवादी प्रेम को हृदय की साधारण भावुक स्थिति मानना भूल होगी। प्रेम अथवा इश्क ही रहस्यवादी के लिए सब-कुछ है। अबुल उल्लाह ने भी प्रेम को ही अपना सर्वोपरि धर्म स्वीकार किया है।

रहस्यवादियों ने प्रेयसी-प्रियतम, सखी-सखा, पिता-पुत्र, गुरू-शिष्य आदि विभिन्न रूपक प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए अपनाए है, परन्तु इन सब में सर्वाधिक प्रधानता प्रेयसी एवं प्रियतम की है। कबीर आदि रहस्यवादियों ने ब्रह्म को पुरूष (प्रियतम) माना है, किन्तु जायसी भिन्नता प्रदर्शित करते हुए (प्रेयसी) स्त्री में ब्रह्म का स्वरूप निहारते हैं। हिन्दी कवियों में स्थूल मिलन के अश्लील दृश्यों एवं जुगुप्सोत्पादक क्रिया-कलापों का अभाव दाम्पत्य का रूपक अपनाने पर भी दृष्टिगत होता है। यह स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है।

3. रहस्यवादी की अनुभूति दिव्य एवं अलौकिक होती है। अत: इस अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए एक विशेष भाषा अथवा एक विशेष प्रकार की शब्दावली की आवश्यकता होती है। इसी कारण रूपकों और प्रतीकों की भाषा में रहस्यवादी बोलता है। तथा अपने मनोभाव उलटबाँसियों से व्यक्त करता है।

4. प्राय: मुक्तक गीति शैली को ही रहस्यवादी कवियों ने अपनाया है। आत्मा अभिव्यक्ति के लिए प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक अधिक उपयुक्त होता है। इसी कारण जायसी आदि कवियों ने अपने ग्रन्थों में आदि से अन्त तक न तो रूपकों का ही पूर्णरूपेण निर्वाह किया है और न पूरे ग्रन्थ में वे रहस्यवादी ही रह पाए है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5. रहस्यवादियों के लिए परोक्ष सत्ता रहस्य एवं आकर्षण की रही है । जहाँ एक ओर कबीर 'कहिवे को शोभा नहीं देख्या ही परिमाण' कहकर उस सत्ता की रहस्यात्मकता की घोषणा करते है, वही प्रसाद भी 'हे अनन्त रमणीय कौन तुम ?' कहकर उसी के प्रति आकर्षण व्यक्त करते हैं ।

हिन्दी रहस्यवादियों में ब्रह्म के प्रति आत्म–समर्पण भावना के साथ दीनता और लघुता की भावना भी पाई जाती है । रहस्यवादी सभी विद्वान एकमत नहीं हैं । रहस्यवाद का उद्गम कुछ विद्वानों ने सैमोटिक धर्म भावना से माना है । प्रसाद जी ने इस धारणा को निर्मूल सिद्ध करते हुए लिखा है– ''रहस्यवाद सैमेटिक धर्म भावना के विरूद्ध है एवं ईसा मंसूर और सरमद आर्य अद्वैत भावना से प्रभावित है ।'' अत: रहस्यवाद भारतीय उपज है । पाश्चात्य विद्वान् 'बाँगन' इस सम्बन्ध में लिखते है– ''रहस्यवाद की सबसे पहली झाँकी भारत ने ही विश्व को दी ।''

क्रमश: उपनिषदोत्तर धार्मिक साहित्य भावनात्मक होता गया, जिसके परिणामस्वरूप ज्ञान का स्थान भक्ति ने ले लिया । भक्ति सूत्रों में प्रेम भावना का वर्णन तो अलौकिक सत्ता के प्रति हुआ, किन्तु अद्वैतवाद सर्वथा लुप्त हो गया । शंकरचार्य द्वारा अद्वैतवाद को पुनर्जीवन प्रदान करने पर पुन: रूकी हुई रहस्यवादी काव्यधारा आठवीं–नवीं शती में आगे बढ़ी । वैसे इसके लिए शुद्धाद्वैत, विशिष्टद्वैत आदि मतों का प्रतिपादन बाधक सिद्ध होता रहा ।

सर्वप्रथम सिद्धों और नाथों के काव्य में हिन्दी साहित्य की रहस्य भावना देखने को मिलती है । यद्यपि इन सिद्धों और नाथों की अद्वैत साधना में भावात्मक अनुभूति अत्यन्त न्यून मात्रा में पाई जाती है, तथापि उसे रहस्यवाद के अन्तर्गत रखा जा सकता है । रहस्यवाद के सच्चे स्वरूप का सर्वोत्तम दर्शन अल्पकालीन सन्तकाव्य में मिलता है ।

कबीर, दादू आदि के नाम प्रमुख रहस्यवादी सन्त–कविता में लिए जा सकते हैं । दो धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव सन्त कवियों पर पड़ा–पहला नाथपंथी सम्प्रदाय तथा दूसरा वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय । इन कवियों की रचनाओं में भक्ति का पुट आ जाने के कारण एक विशेष प्रकार की मधुरता आ गई है ।

सूफी कवियों का रहस्यवादी भावना के प्रसार में अविस्मरणीय योगदान है । कुछ लोग संतों का रहस्यवाद सूफीमत से प्रभावित मानते हैं । किन्तु सबल तर्को के द्वारा यह कथन, कथन मात्र ही सिद्ध होता है । प्रथम तो संतो और सूफियों की प्रणय भावना के स्वरूप में अन्तर देखने को मिलता है । सूफी परमात्मा को ऐयसी और संत पति के रूप में स्वीकार करते हैं । दार्शनिक दृष्टिकोण से भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है । सूफी मत के मूल में सर्वात्मवाद है, जबकि सन्तों की रहस्य भावना अद्वैतवाद पर आधारित है ।

रहस्यवादी काव्यधारा भक्तिकाल के उपरान्त रीतिकाल में अन्तर्निहित दीख पड़ती है । ''भक्ति काल की 'पूत' और अलौकिक भावनाओं को रीतिकाल के कवियों ने लौकिक धरातल पर पटककर उन्हे केवल श्रृंगार और वासना से ढ़क दिया ।''

रहस्यवाद का सूर्य आधुनिक काल में आकर पुन: उठा । रहस्यवाद का दर्शन प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा में पुन: हुआ । सन्तों की रहस्य भावना के समकक्ष इस काल के कवियों की रहस्य साधना को रखा जा सकता है । किन्तु इन दोनों में कुछ भिन्नता भी दिखाई देती है । इस युग के कविगण कवि पहले है, दार्शनिक बाद में । सन्त कवि संत पहले है, कवि बाद में । रहस्यवाद के साधना पक्ष का आधुनिक कवियों ने लगभग परित्याग कर दिया है । अत: उनके रहस्यवाद में भावुकता का बोलबाला है । इसके विपरित सन्तों और सूफियों का रहस्यवाद साधना प्रधान रहस्यवाद है ।

कुछ विदेशी प्रभाव भी आधुनिक रहस्यवाद पर दृष्टिगोचर होता है । ईट्स और ब्लॉक प्रभृति कवियों ने 'रवीन्द्रनाथ टैगोर' को पर्याप्त प्रभावित किया था और टैगोर की 'गीतान्जलि' हिन्दी कवियों के लिए प्रेरणा स्त्रोत बनी । वस्तुत: आज के रहस्यवाद में धार्मिक अनुभूति का अभाव तथा कल्पना की प्रचुरता पाई जाती है । वास्तविक अनुभूति एवं गहन चिन्तन का नितान्त अभाव परिलक्षित होता है । रहस्यवाद की सीमाएँ आज के बौद्धिक परिवेश में बहुत स्पष्ट हो चुकी है । एक तो किसी अलौकिक सत्ता में विश्वास कर पाना कठिन हो रहा है । दूसरे काव्य की वस्तु को किसी अलौकिक सत्ता से सम्बन्ध जोड़ने तक सीमित करना भी उचित नहीं है । इसके अलावा डॉ. नामवर सिंह ने जैसा कि लिखा है– ''रहस्यवादी दृष्टिकोण से जीवन और जगत् की समस्याओं को हल करना तो दूर, उन्हें ठीक से समझना भी असम्भव है । रहस्यवाद ने सामाजिक समस्याओं को रहस्य बना दिया और फिर उन्हें रहस्यवाद कहा । उनकी रहस्यमयता में ही आनन्द लेने का पाठ पढ़ाया ।'' इस प्रकार रहस्यवाद आधुनिक युग में प्रासंगिक नहीं रहा ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जो प्रवृत्ति सन्तों के बौद्धिकता प्रधान हृदय को भावविह्वल बना सकी थी, वह क्या एकदम निरर्थक हो सकती है ? तर्क एवं बौद्धिकता की धूप से तपते मनुष्य को छाँह की जरूरत तो पड़ेगी ही। रहस्यवादी रचनाओं की अभिव्यक्ति हृदय को निश्छल अनुभूति के द्वारा हो सकती है। इसके अतिरिक्त ''मानवजाति के छोटे-छोटे समूहों को रहस्यवादी काव्य भले ही कोई बड़ा सन्देश न दे पाए, किन्तु जहाँ तक अखिल मानव समाज का प्रश्न है, वह सभी आत्माओं को एक ही सत्ता से सम्बन्धित करके अखण्ड एकता का सन्देश देता है।''

13.4.2 स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह- छायावाद की विषय-वस्तु, विचार-सरणी अथवा अभिव्यंजना शैली की एक या अधिक प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके दी जाने वाली परिभाषाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रचलित परिभाषा स्थूल के विरूद्ध सूक्ष्म का विद्रोह की है। इसी परिभाषा को डॉ. नगेन्द्र ने 'सुमित्रानन्दन पंत' शीर्षक अपनी पुस्तक में सन् 1939 में लिखा था-

''स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है। इसकी परिधि में सभी प्रकार के बाह्य रूप-रंग, रूढि आदि सन्निहित हैं और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातन्त्रय का विद्रोह और काव्य में बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना का विद्रोह।''

महादेवी वर्मा ने कहा- ''स्थूल सौन्दर्य की आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परम्परागत नियम-श्रृंखलाओं से उबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं में बंधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रूचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श आया। उन्हें नवीन रेखाओं में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।''

प्रगतिवाद के मूर्धन्य आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने एक ओर 'निराला' की प्रसिद्ध कविता 'नयनों में डोरे लाल गुलाल भरे खेली होली' की मांसलता को सूक्ष्मता के विरूद्ध प्रस्तुत किया और दूसरी ओर कहा कि-

''छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा, वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामंती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है।''

वास्तव में छायावाद की सभी प्रचलित परिभाषाएँ यथा सम्भव एक न एक पक्ष पर बल देते हुए भी समग्र छायावादी काव्य को बाँधने में असमर्थ है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि छायावाद प्रस्तुत परिभाषाओं से कही अधिक व्यापक काव्य-प्रवृत्ति है।

13.5 छायावाद की मूल प्रवृत्तियाँ-

छायावाद की मूल प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित है-

मूल्य केन्द्रिकता- वैयक्तिकता छायावादी काव्यधारा की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। छायावादी कवि अपने में (अहं) के प्रति अधिक सजग है। डॉ. शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में - 'कवि का मै' प्रत्येक भारतवासी का 'मैं' था। इस कारण कवि की विषयगत दृष्टि ने अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए जो लाक्षणिक भाषा और अप्रस्तुत योजना शैली अपनाई, उसके संकेत तथा प्रतीक हर व्यक्ति के लिए सहज प्रेषणीय बन गए। इसलिए तो निराला जी ने लिखा है-

'मैने 'मै' शैली अपनाई, देखा एक दुखी निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में, झट उमड़ वेदना आई।'

विषयनिष्ठता- छायावाद की विषयनिष्ठता का अंकन करते हुए डॉ. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने 'पुष्करिणी' की भूमिका में लिखा है- ''विषयी प्रधान दृष्टि ही छायावादी काव्य की प्राणशक्ति है।''

इस विषयनिष्ठता की झलक स्पष्ट रूप से छायावाद के सभी रूपों में देखी जा सकती है।

अनुभूति की प्रतिष्ठा- कविवर पंत ने काव्य-सृजन के विषय में अनुभूति की प्रधानता देते हुए कहा है-

''वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
निकलकर नयनों से चुपचाप, बहि होगी कविता अनजान॥''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसी प्रकार महादेवी वर्मा सहित छायावाद के प्राय: सभी कवियों ने कोरे वस्तु वर्णन के स्थान पर अनुभूति को महत्व प्रदान किया है।

कल्पनाशीलता– छायावादी कविता में यह भी एक प्रवृत्ति है कि उसमें कवियों ने मूर्त को अमूर्त रूप में अंकित किया है और अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान किया है। पंत और प्रसाद के काव्य में यह विशेषता दृष्टिगोचर होती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें कवि ने 'मादकता' और 'संज्ञा' अमूर्त उपमानों का 'प्रेयसी' के रूप में मूर्त रूप प्रदान किया है–

'मादकता से आये तुम, संज्ञा से चले गये थे।
हम व्याकुल पड़े बिलखते, थे उतरे हुये नशे से।'

वेदना की विकृति– छायावादी कविता में वेदना और निराशा का स्वर प्रमुख रूप से सुनाई देता है। छायावादी कवि की वेदना में करूणा और निराशा के दर्शन होते है। वह जीवन के संघर्षों से निराश कल्पनालोक में विचरण करता है। उसके गीतों में पीड़ा, टीस और व्यथा का साम्राज्य रहता है। महादेवी वर्मा की वेदनानुभूति का एक उदाहरण प्रस्तुत है। वे दु:ख से ही अपना श्रृंगार करना चाहती है,

'प्रिय! जिसने दु:ख पाला हो, वर दो यह मेरा आँसू।
उसके उर की माला हो, मैं दु:ख से श्रृंगार करूंगी।'

प्रेमानुभूति– छायावादी कविता में सौन्दर्य–भावना की भाँति प्रेम–भावना का विकास भी प्रकृति नारी, मानव, शिशु आदि के रूप में हुआ है। प्रकृति से कवि को अनेक पारिभाषिक स्पष्टीकरण अनन्य प्रेम है। वह उसे किसी भी मूल्य पर त्यागना नहीं चाहता है। इस भावना के दर्शन पंतजी की निम्नलिखित पंक्तियों में होते हैं,

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले! तेरे बाल जाल में, कैसे उंलझा दूं लोचन?
भूल अभी से इस जग को।'

सौन्दर्य बोध–

छायावादी काव्य में सौन्दर्य भावना मुख्यत: नारी सौन्दर्य, प्रकृति–सौन्दर्य तथा अलौकिक प्रेम के रूप में उभरी है। इस सौन्दर्य चित्रण में मांसलता तथा अश्लीलता का सर्वथा अभाव है। यदि सौन्दर्य में कही मांसलता की गंध आती है तो कवि अलौकिक उपनामों के द्वारा उस सौन्दर्य को अस्पृश्य बना देते है। यथा–

'नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ–वन बीच गुलाबी रंग॥'

प्रकृति की ओर वापसी–छायावादी काव्य अपने प्रकृति–चित्रण के लिए प्रसिद्ध है। इस धारा के कवियों ने प्रकृति के माध्यम से अपने मनोभावों की अत्यन्त सजीव अभिव्यक्ति प्रदान की है। प्रकृति छायावादी कवियों की सहचरी है। उसके सौन्दर्य के सम्मुख इन कवियों को किशोरी का रूप–सौन्दर्य भी फीका–सा लगता है।

छायावादी कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण शैली में अत्यन्त हृदयग्राही चित्रण किया है। प्रकृति–चित्रण का एक उदाहरण दृष्टिव्यय है–

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान सें उतर रही
वह सन्ध्या सुन्दरी, परी–सी
धीरे, धीरे, धीरे।

छायावादी कवियों ने प्रकृति के कोमल और कठोर रूपों के अन्तन्त प्रभावी और संजीव चित्र उतारे हैं।

राष्ट्रीय चेतना, लोकमंगल और मानव करूणा– इन कवियों में अपने देश के गौरव की बड़ी तीव्र भावना है, विशेषत: प्रसाद में। उन्होंने देश के प्राचीन गौरव का बड़ी ओजस्वी एवं प्रेरणा वाणी में गायन किया है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अरूण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा॥

इसी तरह इन कवियों ने लोकमंगल और मानव करूणा की भावना को अंकित व चित्रित किया है।

विश्व मानवतावाद-

छायावादी कविता में मानवतावादी भावना को प्रधानता दी गई है। छायावादी कवियों के मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास विवेकानन्द, अरविन्द, गांधी, टैगोर आदि के विचारों से अधिक व्यापक रूप में हुआ। इस कविता में मानव को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। इसीलिए प्रकृति-प्रेम कवि पंत का हृदय मानव के प्रति आस्था प्रकट होते हुए पुकार उठा।

'सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर'
मानव तुम सबसे सुन्दरतम॥'

सांस्कृतिक गरिमा-

यो तो छायावादी काव्य धारा ने प्राचीन रूढियों के विरुद्ध अपना बिगुल बजाया फिर भी इसने अपनी सांस्कृतिक उत्थान गरिमा को न केवल अक्षुण्ण रखने की दृढ़ता दिखायी, अपितु उसके अत्थान के लिए भी अपनी आवाज बुलन्द की। निराला की 'यमुना के प्रति, 'तुलसीदास और 'राम की शक्ति-पूजा एवं प्रसाद की 'कामायनी' इस तथ्य के प्रबल प्रमाण है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य भावना से प्रेरित होकर छायावादी काव्यधारा ने परम्परागत रूढ़ियों से स्वयं को न केवल मुक्त ही किया, अपितु नए ढंग से उसका फिर से आविष्कार भी किया। फिर आधुनिक सन्दर्य में उसका फिर से सृजन करके उसे नई अर्थच्छायाओं से संवलित कर प्रस्तुत किया। इससे इस काव्यधारा के आधुनिक बोध को एक नया सांस्कृतिक आवास मिल गया।

भाव अभिव्यजंना-

छायावादी काव्यधारा की उच्चतम उपलब्धियों में भाव अभिव्यंजना नामक उपलब्धि को नकारा नहीं जा सकता है। यह सच है कि द्विवेदी युगीन खड़ी बोली की काव्य भाषा के परिमार्जन के बाद उसकी काव्यात्मक संभावनाओं को पहचान कर उपयोग करने के शेष कोर्य को छायावादी काव्यधारा ने ही सम्पन्न किया। मुकुटधर पाण्डेय ने छायावादी काव्यगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है- ''उसका एक मोटा यह लक्ष्य है कि उसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य बहुत कम रहता है। कही-कहीं तो इस दोनों का परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। लिखा कुछ और ही गया है, पर मतलब कुछ और ही निकलता है। इसमें ऐसा कुछ जादू भरा है। अतएव यदि यह कहा जाए कि ऐसी रचनाओं में शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर सांकेतिक चिन्ह मात्र हुआ करते है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि छायावाद के शब्द प्रतीक होते है और वे जादू का-सा असर पैदा करते हैं। इसके लिए शब्द को उसके प्रचलित अर्थ से अलग करके नए अर्थ से युक्त करता है।''

13.6 सारांश-

इस इकाई का अध्ययन-मनन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि छायावादी काव्य धारा की प्रेरणा छायावादी कवियों को तत्कालीन युगीन स्वतन्त्रता के ही फलस्वरूप प्राप्त हुई थी। दूसरी बात यह है कि छायावादी परिभाषाओं की विविधता उसकी एकागता को ही रेखांकित करती है तीसरी बात यह है कि इसमें रचनाकारों ने वस्तु वर्णन को महत्त्व न देकर अनुभूति को ही महत्त्व दिया। यही इसकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें मध्यकालीन प्रेम अनुषगों को रागात्मक और अशरीरी पावनता से युक्त करने का प्रयास किया इस तरह इससे प्रकृति को एक विराट् सत्ता के रूप में चित्रित किया। चौथी बात यह है कि इससे मुक्त छंदों का चुनाव करके उन्हें विकसित कर अपनी अद्भुत पहचान प्रस्तुत की।

13.7 अभ्यास प्रश्न

1. मीरां और कबीर के रहस्यवाद में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. छायावाद के चार स्तम्भों में कौन-कौन गिने जाते हैं। उनका नाम उल्लेख कीजिए।
3. स्वच्छंदतावाद और छायावाद में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई –14

उत्तर-छायावादी कविता

संरचना

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 पृष्ठभूमि

14.3 उत्तर-छायावादी काव्य की अंतर्वस्तु

14.3.1 यथार्थ का बढ़ता दबाव

14.3.2 संघर्ष की अभिव्यक्ति

14.3.3 हृदय और बुद्धि का द्वंद्व

14.3.4 आवेग, मस्ती और फक्कड़पन

14.4 प्रमुख धाराएँ

14.5 राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता

14.6 प्रेम और मस्ती का काव्य

14.7 उत्तर-छायावादी काव्यभाषा व शिल्प

14.7.1 काव्यभाषा

14.7.2 लय और छंद

14.7.3 प्रबन्ध-विधान

14.8 प्रमुख कवि

14.8.1 रामधारीसिंह 'दिनकर'

14.8.2 हरिवंशराय 'बच्चन'

14.8.3 माखनलाल चतुर्वेदी व बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

14.8.4 नरेन्द्र शर्मा

14.8.5 भगवती चरण वर्मा

14.9 सारांश

14.10 अभ्यास प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

सामान्य अर्थों में छायावादोत्तर को छायावाद के बाद प्रवाहित होने वाली, काव्य धारा कहा जा सकता है। इस धारा के पक्षधर कवियों में 'निराला' 'पंत' महादेवी वर्मा, जानकी वल्लभ शास्त्री, हरिवंशराय 'बच्चन', रामधारी सिंह 'दिनकर', रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' माखनलाल चतुर्वेदी, नरेन्द्र शर्मा, सोहनलाल द्विवेदी, भगवती चरण वर्मा 'अज्ञेय' मुक्तिबोध आदि के नाम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उल्लेखनीय है। इस काव्यधारा में प्रगतिवादी और प्रयोगवादी जैसी आकर्षण और अपूर्ण काव्यधाराओं का भी सन्निवेश दिखाई देता है। यो तो 'छायावादोत्तर' से छायावाद के बाद का अवश्य बोध होता है, लेकिन इसका अभिप्राय 'जवानी व मस्ती' के काव्य से लेकर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य स्वरूप से भी है।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरांत हम

- उत्तर-छायावादी कविता का तात्पर्य, उसकी धाराएँ और विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- उत्तर-छायावादी कविता धारा के प्रमुख रचनाओं, उनकी कृतियों काव्य और शिल्प को जान सकेंगे।

14.2 पृष्ठभूमि-

उत्तर छायावादी कविताओं के अध्ययन मनन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहँचते है कि इस कविता की अनेक धाराएँ है। इस तरह इसमें विभिन्न प्रकार के वाद, अनेक प्रकार की जीवन-दृष्टियाँ और अलग-अलग काव्य-वस्तु और काव्य तत्व और काव्य-शिल्प संबंधित मान्यताएँ है। इस प्रकार किसी काव्यधारा में व्यक्तिगत अनुभव का प्रसार अधिक है, तो किसी में सामाजिक और राष्ट्रीय अनुभूति प्रबल रूप में है। इसी तरह किसी काव्यधारा में मुख्य रूप से रोमानी दृष्टिकोण है। तो किसी में बौद्धिक यथार्थवादी विचारधारा की प्रधानता दिखाई देती है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि विभिन्न रचनाओं को दृष्टि में रखते हुए अगर हम इन रचनाओं को वर्गीकृत करना चाहे, तो हम इस काल की रचनाओं को कम से कम पाँच-छह भागों में रख सकते हैं।

दूसरे शब्दों में, इस काल की रचनाओं को राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा, क्रमागत छायावादी काव्यधारा प्रयोगवादी काव्यधारा और नयी काव्यधारा के रूप में विभाजित किया जा सकता है। इन काव्यधाराओं को ध्यान से देखने पर यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा भारतेन्दु युग की देन है। जो द्विवेदी काल, छायावाद काल से होती हुई आज भी प्रवहमान है। इसी प्रकार छायावादी काव्यधारा काल से हृष्ट-पुष्ट होती हुई अब भी अपना अस्तित्व बनाये हुए है।

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उत्तर-छायावादी कविता का इतिहास मुख्य रूप से कविवर 'निराला' और कविवर 'पंत' के काव्य के विकास का इतिहास है। जहाँ तक महादेवी वर्मा के काव्य 'दीपशिखा' को इस काव्यधारा से जोड़ने का प्रश्न है, वह उनकी काव्यधारा के क्रमबद्ध प्रवाह से है। इसलिए उन्हें पहली काव्यधारा के प्रभाव से अलग नहीं किया जा सकता है।

14.3 उत्तर-छायावादी काव्य की 'अंतर्वस्तु'

उत्तर छायावादी काव्य की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा, वैयक्ति प्रगीतों की धारा में अन्तर्वस्तु के तौर पर निम्नलिखित परस्पर सम्बन्ध सामान्य विशेषताएँ दिखाई देती है-

14.3.1 यथार्थ का बढ़ता दबाव- कविवर 'निराला' का जो सम्पूर्ण काव्य है- उसमें छायावादी गीत के अतिरिक्त लोकोन्मुखता नामक एक बड़ी ही अद्भुत और अनुपम शक्ति की विकासशीलता भी है। यह सर्वविदित है कि 'निराला' ने अपने संघर्षमय और लोक सम्पृकत्व को स्वाभाविक रूप से प्रेम-सौन्दर्य के बीच-बीच में निरन्तर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उन्होंने स्वभावत: प्रेम के ही गीत न गाकर लोक-जीवन के अन्य अनुभवों को अपने में समेट लिया है। इस तरह उन्होंने लोक-जीवन के सुख-दु:ख, यातना और संघर्ष को बड़ी गहराई से चित्रित किया है। उनकी यह विशेषता प्रस्तुत अवधि में अधिक विकसित होती गयी है। उनकी लोकोन्मुखता को हम इस प्रकार दो भागों में बांट सकते हैं-

1. छायावाद से एकदम अलग हटकर लिखी गयी प्रगतिशील कविताएँ।

2. छायावादी काव्यधारा से बढ़कर स्वरयुक्त लोकोन्मुखी कविताएँ।

यह ध्यातव्य है कि कविवर 'निराला' की प्रगतिवादी कविताओं में छन्द, भाषा, और भावभूमि सभी कुछ छायावादी प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। 'कुकुरमुत्ता' 'गर्म पकौड़ी' 'प्रेम-संगीत' 'रानी और कानी' 'खजोहरा' 'मास्को डायलाग्स' 'स्फटिक शिला' और बैल और नये पत्ते की अधिकतर कविताएँ इसी प्रकार की कविताएँ है। 'कुकुरमुत्ता' से एक उदाहरण इस प्रकार है-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

''अबे, सुन वे गुलाब, भूल मत गर पाई खुशबू, रंगोआब,

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट, डाल पर इतरा रहा कैप्टिलिस्ट
''रोज पड़ता रहा पानी, तू हराम खानदानी।''

इस प्रकार की कविताओं में प्रगतिशीलता दार्शनिक रूप में नहीं, अपितु लोकानुभूतियों के रूप में है।

''विजयिनी नग्न बाहुओं से उछालती नीर
तरंगों में डूबी दो कुमुदों पर
हँसता था एक कलाधर
ऋतुराज दूर से देख उसे होता अधिक अधीर
वियोग से नदी हृदय कंपित कर,
तट पर सजल चरण-रेखाएँ निज अंकित कर
केशभार जलसिक्त, चले वह धीरे-धीरे
शिलाखण्ड की ओर
नव बसंत काँपा पत्रों में
देख दृगों की कोर

14.3.2 संघर्ष की अभिव्यक्ति-

संघर्ष की अभिव्यक्ति उत्तर छायावादी काव्यधारा में बड़े ही व्यापक और प्रभावशाली रूप से दिखाई देती है। इसी प्रकार के मुहावरे और शैली भी है। 'बेला' और 'नए पत्ते' के एक उदाहरण से इस वैशिष्ट्य को देखिए-

गली-गली हाथ पसारे, फिरते है मारे-मारे।
रहे चुपचाप मनमारकर, हाथ पर रखकर गई अपनी सही नाप।
किसकी तलाश में हो उतावले से
दुनिया ने मुँह चुराया सभ्यास बाबले से।
न कोई जब कि दिल की गाँठ खोले।
साहस कभी न छोड़ा, आगे कदम बढ़ाये।
पट्टी पढ़ी कब उनकी, झाँके में हम कब आए?

कविवर 'निराला' विरचित अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य-रचना 'तुलसीदास' इस समय की एक विशिष्ट उपलब्धि है। इसमें कवि भारत को सांस्कृतिक और सामाजिक गर्त से बाहर लाने के लिए कटिबद्ध दिखाई देता है। जातीय जीवन का जागरण-मंत्र फूकंता हुआ कवि कहता है-

योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं-
गीता है- गीता है-
स्मरण करो बार-बार-
जागो फिर एक बार।

14.3.3 हृदय और बुद्धि का द्वन्द्व-

'अणिमा' 'वर्चना' 'आराधना' आदि में संकलित इधर की कविताओं में 'निराला' ने एक ओर तो स्वानुभूतिपरक गीत लिखे है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दूसरी ओर 'विजयलक्ष्मी पंडित' 'प्रेमचन्द जी' 'सन्त रविदास' 'प्रसाद जी' 'महात्मा बुद्ध' आदि विविध क्षेत्रों के व्यक्तियों पर कविताएँ लिखी है। इन गीतो को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें प्रेम की संवेदना है और प्रार्थनापरकता भी इसके साथ ही विभिन्न प्रकार की मानवीय संवेदनाएँ भी इस प्रकार की गीतों में है, जैसे–

उन चरणों में मुझे दो शरण
इस जीवन को करो हे मरण
बोलूँ अल्प न करूँ जल्पना,
सत्य रहे मिट जाय कल्पना
दलित जन पर करो करूणा
दीनता पर उतर आए
प्रभु तुम्हारी शक्ति अरूणा। (अणिमा)

इस दौर की कविताओं में कवि के करूणा हृदय का उद्गार है। उसका कोई मित्र नहीं है, वह बिल्कुल अकेला है। 'अणिमा' में संकलित एक कविता को इस सन्दर्भ में इस प्रकार उद्धृत किया जा रहा है–

मैं अकेला
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सांध्य बेला।
पके आधे बाल मेरे
हुए निष्प्रभु गाल मेरे
चाल मेरी मंद होती आ रही
हट रहा मेला।

एक दूसरे स्थान पर कवि अपने जीवन की शुष्कता और नीरसता का चित्र खीचते हुए कहता है–

स्नेह–निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी
कह रही है– अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति में वह है लिखि
नहीं जिसका अर्थ जीवन बह गया है।

14.3.4 सहज-सरल मनुष्य– उत्तर छायावादी कविता काल के साहित्य का विश्लेषण करने पर तथ्य सामने आ जाता है कि कविवर सुमित्रानंदन पंत अपने चिन्तन और विषय में अधिकांश रूप से विकासोन्मुख रहे। यों तो आप अपने संस्कार और भाषा की दृष्टि से मुख्यत: छायावादी ही बने रहे, इससे उत्तर–छायावादी कविताधारा को इस दौरान एक स्वस्थ व नया चिन्तन और विषय–संसार प्राप्त हुआ। इस संसार में जहाँ अन्य कवि मार्क्सवाद के भौतिक दर्शन और नव–जीवन के सत्यों की ओर उन्मुख हुए, वही कविवर 'निराला' 'संवेदना और अनुभव के माध्यम से जन–जीवन को ग्रहण किया। यही कारण है कि उनकी कविताओं में मार्क्सवाद या समाजवाद के दर्शन को कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं दिखाई देता है। अपितु उनमें तो जन–जीवन अपनी सम्पूर्ण संवेदना के साथ उभरा है, दूसरी ओर कविवर पंत ने मार्क्सवादी दर्शन को चिन्तन के स्तर पर स्वीकार किया है। इस प्रकार वे प्राय: मार्क्सवादी सिद्धान्तों को ही अंकित करते रहे, जैसे–

कहता भौतिकता वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण,
भौतिक भव ही एकमात्र मानव का अन्तर दर्पण,
स्थूल सत्य आधार सूक्ष्म आधेय हमारा जो मन,
बाह्य विवर्त्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कविवर पंत अपनी परवर्ती रचनाओं में अरविन्द दर्शन से प्रभावित होते हुए दिखाई देते है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कविवर पंत आरम्भ से ही सम्पूर्ण मनुष्य मात्र के सुख, प्रेम, शान्ति का स्वप्न ही नहीं देखते रहे है, अपितु उसको महत्त्व भी देते रहे हैं। इस प्रकार कविवर पंत मार्क्सवाद को आवश्यक मानते हुए भी उसे एंकागी देखते है, वे यह भी मानते है कि वह केवल भौतिक योग क्षेत्र की व्यवस्था कर सकता है। यही कारण है कि कवि इसे आवश्यक मानते हुए भी पर्याप्त नहीं मानता और अरविन्द में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय ढूँढ़ता है, कवि ने स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, शिल्पी, लोकायतन आदि परवर्ती कृतियों में इसी समन्वय पर बल दिया है–

ताक रहे हो गगन?
मृत्यु–नीलिमा–गहन गंगन?
अनिमेष, अचितवन, कल–नयन?
निस्पन्द शून्य, निर्जन, नि:स्वन?
देखो भू को।
जीव–प्रसू को।
तथा
मनुज–प्रेम से, जहाँ रह सके–मानव ईश्वर!
और कौन–स्वर्ग चाहिए, तुझे धरा पर॥''

कवि का यह मानना है कि एक शंहशाह अपनी मृत प्रिया की स्मृति में विशाल और भव्य भवन का निर्माण करवा देता है। दूसरी ओर समाज के अधिकांश लोगों को पेट भरने के लिए अन्न और तन ढकने के लिए वस्त्र भी उपलब्ध नहीं होते है।

संग सौंध में हो श्रृंगार मरण का शोभन।
नग्न क्षुधातुर, वास–विहिन रहे जीवित जन॥

दिनभर के कठोर श्रम से थके हुए श्रमिक जब संध्या के समय अपने घर को लौटते है, तो कविवर पंत का हृदय उन्हें देखकर करूणा से भर उठता है। फिर के कहने लगते है–

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी घर डगमग डग
भारी है जीवन। भारी पग

14.6 प्रेम और मस्ती का काव्य -

उत्तर–छायावादी कविता की एक प्रमुख यह भी विशेशता रही कि उसमें उद्दाम मस्ती और मादकता का आवेश दिखाई देता है। अपने फक्कड़पन में इन्हें जगत या लोकापवादों की कोई चिन्ता नहीं है। ये अपने प्रेम की अभिव्यक्ति में कोई दुराव–छिपाव नहीं चाहते।

महादेवी वर्मा की परवर्ती कविताओं में मुक्त रूप से आशा, उल्लास, मिलन आदि का आलोक गुँज दिखाई देता है।'सान्धिनी' काव्य संग्रह से एक–दो उदाहरण देखिए।

जो तुम आ जाते एक बार।
कितनी करूणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणो का तार–तार
अनुराग भरा उन्माद राग
आँसू लेते थे पद परवार।
हँस उठते पल में आर्द्र नयन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

घुल जाता ओठों से विषाद
छा जाता जीवन में वसन्त
लुट जाता चिर संचित पराग
आँखे देती सर्वस्व बार।
तथा
लाए कौन संदेश नये धन!
अम्बर गर्वित, हो आयानत
चिर निस्पन्द हृदय में उसके
उमेड़ री पलकों के सावन।
लाए कौन संदेश नए धन!

महादेवी वर्मा के सम्पूर्ण काव्य की पहली विशेषता है कि उसमें गीति-काव्य के उत्कर्ष की आकर्षक और रोचक भावनाएँ है। जिन पर रहस्यात्मक का सुन्दर आवरण चढ़ा हुआ है। इससे सारे उत्कर्ष के आकर्षण और प्रभाव कुछ शिथिल पड़ते हुए दिखाई देते है। यह लक्षितव्य है कि कवयित्री वर्मा ने अपने संचित गीतो में सात्विक प्रेम को जीवन की सत्यता को बड़े ही आकर्षक रूप में चित्रित किया है।

मस्ती, नशे और खुमार के उत्तर-छायावादी काव्य की सर्वाधिक लोकप्रिय अभिव्यक्ति हरिवंशराय 'बच्चन' की 'मधुशाला' में हुई है-

''हम दीवानों की क्या हस्ती, हम आज यहाँ कल वहाँ चले
मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले।''

14.7 उत्तर-छायावादी काव्यभाषा व शिल्प-

उत्तर छायावादी काव्यधारा आधुनिक हिन्दी काव्यधारा की सर्वाधिक सशक्त और प्रभावशाली काव्यधारा के रूप में विख्यात रही है। इसका मुख्य कारण इसकी आवेगमयी भाव सरलता और काव्य भाषा की स्पष्टता एवं सहजता है। इस प्रकार इसने छायावादी विरासत को न केवल अक्षुण्ण बनाए रखा, अपितु उसे समृद्ध और विस्तृत भी किया।

14.7.1 काव्य-भाषा- उत्तर छायावादी कवियों ने संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी से प्रभाव ग्रहण कर खड़ी बोली को प्रकृति के अनुरूप ढाल कर उनको प्रयुक्त किया। संस्कृत शब्दों की कमी के साथ-साथ बच्चन, अंचल, भगवती चरण वर्मा ने उर्दू कविता की खुमारी और मादकता से हिन्दी कविता को सम्पन्न किया। 'बच्चन' की एक कविता उदाहरणार्थ इस प्रकार है-

''हाथो में आने से पहले नाज दिखाएगा प्याला
अधरों पर आने से पहले अदा दिखाएगी हाला
नाज अदा अंदाजो से अब हाय पिलाना दूर हुआ
अब कर देती है केवल फर्ज अदायी मधुशाला।''

14.7.2 लय और छन्द- उत्तर छायावादी कविता ने छायावाद की तरह पुराने छंदो रो मुक्ति, लय का अनुगमन और पुराने छंदो के स्थान पर विविध प्रकार के नए छन्दों को ग्रहण किया है। 'बच्चन' ने उर्दू की रूबाइयों और गजलों को अपनाया तो नरेन्द्र शर्मा, भगवती चरण वर्मा आदि ने पद्धतिया, मत्तयगंद और मिश्रित छंदो को ग्रहण किया।

14.7.3 प्रबन्ध विधान- उत्तर-छायावादी कविता का प्रबन्ध विधान काफी हद तक द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता और छायावादी लाक्षणिकता की ओर झुका हुआ है। 'दिनकर' की 'रश्मिरथी' मैथिलीशरण गुप्त की 'जयभारत' और 'विष्णुप्रिया' गुरूभक्त सिंह 'भक्त' की 'विक्रमादित्य' मोहनलाल महतो 'वियोग' की 'आर्यर्क्त' सियारामशरण गुप्त की 'उन्मुक्त' केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की 'ऋतम्भरा' नरेन्द्र शर्मा की 'द्रोपदी' आदि रचनाएँ इसके उदाहरण है।

14.8 प्रमुख कवि

उत्तर-छायावाद के निम्नलिखित प्रमुख कवि है-

14.8.1 रामधारीसिंह 'दिनकर'- उत्तर छायावादी कवियों में 'दिनकर' सर्वप्रधान कवि है। वे एक साथ ही ओज, प्रेम, मस्ती, राष्ट्रीयता और सामाजिक कुरीतियों के प्रखर गीतकार है। हुँकार की उनमें कमी नहीं है-

''सुनूँ क्या सिन्धु गर्जन तुम्हारा, स्वयं युग-धर्म की हुकाँर हूँ मै।''

'दिनकर' की 'हुँकार', 'रेणुका', 'कुरूक्षेत्र', 'उर्वशी' आदि रचनाएँ अधिक लोकप्रिय है।

14.8.2 हरिवंश राय 'बच्चन'- उत्तर छायावादी कवियों में कविवर 'बच्चन' सर्वाधिक प्रेम और मस्ती के अमर गायक हैं। उमर खैयाम की रूबाइयों के अनुवाद मधुशाला, मधुरूलश जैसी रचनाओं की मधुचर्चा के कारण इनके काव्य को उपहासवश 'हालावाद' भी कहा गया है।

14.8.3 माखनलाल चतुर्वेदी व बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'- ये दोनों ही उत्तर-छायावाद के सामने कवि है। दोनों ही में राष्ट्रीयता के स्वर के साथ-साथ प्रेम और मस्ती के अमर गायक है। चतुर्वेदी जी की 'भारतीय आत्मा' बहुत अधिक लोकप्रिय रचना है। 'पुष्प की अभिलाषा' और 'कैदी और कोकिला' कविताएँ अधिक प्रसिद्ध है। 'नवीन' जी की रचना 'हम विषपायी जनम के' रचना अधिक चर्चित हुई है।

14.8.4 नरेन्द्र शर्मा- शर्माजी मुख्य रूप से गीतकार रहे। उनकी कविताओं में प्रेम और मस्ती के साथ-साथ यौवन का उल्लास है। 'प्रभात फेरी' 'प्रवासी के गीत' 'पलाश वन' 'मिट्टी के फूल' 'कदलीवन' आदि इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ है।

14.8.5 भगवतीचरण शर्मा- ये अनासक्त भोक्ता की भाषा शैली में सुन्दर के सौन्दर्य की महिमा और मस्ती के गीत गानो वालों में प्रमुख है। इनकी काव्य-रचनाएँ 'एक दिन', 'प्रेम-संगीत', 'मधुकण' आदि हैं।

उत्तर छायावादी कविताधारा में श्री जानकी वल्लभ शास्त्री का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यो तो आप मुख्य रूप से गीतकार है, फिर भी आपके गीतों में छायावादी गीतों के संस्कार स्वरूप है। इन गीतों को ध्यान से देखने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि ये गीत छायावादी गीतों से कहीं अधिक उन्मुक्त है, फिर भी इनकी संवेदना और गूंज-अनुगूँज प्राय: छायावादी गीतो जैसी ही है। इस प्रकार ये अपना एक अलग आकर्षण बनाए हुए है। 'रूप-अरूप' 'शिक्षा' 'मेघ-गीत' और 'अवन्तिका' आपकी लोकप्रिय और सर्वोत्कृष्ट काव्यकृतियों हैं।

उपर्युक्त कवियों के अलावा उत्तर-छायावादी कविताधारा के अन्य महत्त्वपूर्ण कवियों में सर्वश्री रामकुमार वर्मा की 'अंजली' 'रूपराशि' 'चित्ररेखा' 'चन्द्र-किरण' और 'एकलव्य' सुमित्रा कुमारी सिन्हा की 'विहग्र पंथिनी' और विद्यावती कोकिल की 'अकुंरिता' और 'सुहागिन' काव्य कृतियाँ अधिक उल्लेखनीय हैं।

14.9 सारांश-

संक्षेप में यह कहा जा सकता है उत्तर-छायावादी कविताधारा में नयी कविता का सामूहिक व्यक्तित्व निश्चय ही जीवन्त व्यक्तित्व है, लेकिन यह सच भी है कि छायावाद के अतिरिक्त शेष अन्य धाराओं में ओज और शौर्य के कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' से बड़ा कोई कवि नहीं दिखाई देता है। हाँ अज्ञेय और मुक्तिबोध ही इस काव्यधारा के ऐसे कवि है, जो हमे अवश्य आकृष्ट करते हैं। कुल मिलाकर हम कह कह सकते है कि 'नयी कविताधारा' एक ऐसी काव्यधारा के रूप में एक सामूहिक व्यक्तित्व के रूप में छायावाद के बाद की अत्यधिक प्रभावशाली सशक्त और जीवन्त काव्यधारा है। वह हिन्दी-काव्यधारा की उपलब्धि भाव बोध, चिन्तन और शिल्प सभी दृष्टियों से है। उनसे जीवन को उसके गहरे और विविध रूपों में रूपायित किया है।

14.10 अभ्यास प्रश्न

1. हालावाद की मुख्य प्रवृत्तियों पर संक्षेप में टिप्पणी लिखिए।
2. उत्तर-छायावाद तक आते-आते कविता अधिक बौद्धिक होने लगती है। क्यों ? स्पष्ट कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–15

प्रगतिशील साहित्य

संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 प्रगतिशीलता का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य
 15.2.1 प्रगतिवादी विचारधारा
 15.2.2 प्रगतिवादी साहित्य चिंतन
15.3 प्रगतिवादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि
 15.3.1 अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ
 15.3.2 राष्ट्रीय परिस्थितियाँ
15.4 प्रगतिवादी आन्दोलन का इतिहास
 15.4.1 लेखक संघ बनाने के आंरभिक प्रयास
 15.4.2 प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना
 15.4.3 प्रगतिशील आन्दोलन का विस्तार और अवसान
15.5 प्रगतिशील साहित्य का उदय
15.6 हिन्दी में प्रगतिशील काव्य की परम्परा
15.7 प्रगतिशील कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ
 15.7.1 राष्ट्रीयता की भावना की अभिव्यक्ति
 15.7.2 वामपंथी विचारधारा और राजनीति का प्रभाव
 15.7.3 शोषित और उत्पीड़ित जनता से जुड़ाव
 15.7.4 ग्राम्य जीवन के प्रति लगाव
 15.7.5 शोषक सत्ता का विरोध
 15.7.6 सामाजिक परिवर्तन पर बल
 15.8 प्रगतिशील कविता की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ
15.9 सारांश
15.10 अभ्यास प्रश्न

15.0 प्रस्तावना

छायावाद या उत्तर–छायावादी गद्य और पद्य के भेद की तरह प्रगतिशील साहित्य नहीं आया। इस साहित्यिक आन्दोलन में गद्य और पद्य की पूर्णपेक्षित अभिव्यक्ति दिखाई देती है। इस साहित्यिक आन्दोलन में साहित्य के अतिरिक्त थियेटर, चित्रकला, संगीत, फिल्म सहित सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य प्रभावित हो रहे थे।

इस ईकाई में इस ओर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास किया जायेगा कि इसका जन्म यूरोप के फासीवाद के उभार के विरूद्ध संघर्ष के समय हुआ था। जिसे भारत जैसे औपनिवेशिक देश के लेखकों और कलाकारों ने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से जोड़ दिया। यह भी कि इस आन्दोलन के पीछे मार्क्सवादी विचार–धारा की शक्ति और सोवियत संघर्ष के निर्माण की भी शक्ति लगी हुई थी। इस प्रकार इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

साहित्य ने साहित्य के उद्देश्य से लेकर वस्तु और रूप तक के प्रश्नो पर नये तरह की सोच-समझ को उस रूप में रखा, जो उस समय के रचनाकारों और कलाकारों के बीच जीवंत बहस के मुद्दे बन गए। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि हम इस इकाई में साहित्य के संदर्भ में प्रगतिशील साहित्य विशेष रूप से प्रगतिशील कविता का परिचय प्रस्तुत करना ही अपना उद्देश्य रखेगें।

15.1 उद्देश्य

इस इकाई में आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण काव्यधारा प्रगतिशील साहित्य पर हम प्रकाश डालेंगे। इससे यह तथ्य सामने आ सकेगा कि प्रगतिशील आन्दोलन क्या है? उससे साहित्य किस तरह प्रभावित हुआ? फिर प्रगतिशील कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, उसकी विशेषताओं आदि के ऊपर भी समुचित प्रकाश डालेंगे।

15.2 प्रगतिशीलता का सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

प्रगतिशीलता और प्रगतिवाद में अंतर पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि प्रगतिशील के साथ-साथ प्रगतिशील शब्द का भी प्रयोग होता रहा है। प्रगतिशील लेखकों ने प्रगतिवाद उस साहित्य को कहा, जिसे मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र के अनुसार लिखा गया। कुछ लेखकों ने कम्यूनिस्ट पार्टी के दिशा निर्देशनुसार लिखे गए साहित्य को प्रगतिवादी साहित्य कहा, तो कुछ ने प्रगतिशील संघ के निर्देशानुसार लिखे गए साहित्य को प्रगतिवाद कहा। इस सम्बन्ध में डॉ. नामवर सिंह का यह मंतव्य उल्लेखनीय है-

''जिस तरह छायावाद और छायावादी कविता भिन्न नहीं है, उसी तरह प्रगतिशील और प्रगतिशील साहित्य भी भिन्न नहीं है। 'वाद की अपेक्षा' शील को अधिक अच्छा समझकर इन दोनों में भेद करना कोरा बुद्धि-विलास है। और कुछ लोगों की इस मान्यता के पीछे प्रगतिशील साहित्य का प्रच्छन्न छिपा है।''

15.2.1 प्रगतिवादी विचारधारा-

प्रगतिवादी साहित्य का आरम्भ ऐसे समय में हुआ जब साहित्य के क्षेत्र में छायावादी कवि पूर्णतया व्यक्तिवादी, आत्मनिष्ठा एवं कल्पना के आकाश में विचरण करने वाला प्राणी रह गया था। युग की परिस्थितियाँ इस प्रकार के साहित्य को स्वीकार नहीं कर सकती थी। द्वितीय विश्व-युद्ध के साथ-साथ सारे संसार में महगाँई की लहर दौड़ चुकी थी। इससे भारत-वर्ष भी न बच सका। एक ओर तो भारतवर्ष पहले ही गरीब था, दूसरे इस महँगाई ने इसकी जनता की कमर तोड़ दी। ऐसे समय में यदि कवि प्रकृति की रमणीयता एवं कल्पना लोक में विचरण करे, तो जनता उसे किस हृदय से स्वीकार कर सकती है ?पन्त ने छायावादी कविता की घटती हुई महत्ता को पहचाना और कवि को ठोस धरती के गीत गाने को कहा। वह लिखते है-

'इस युग की वास्तविकता ने जैसे उग्र रूप धारण कर लिया हो, इससे प्राचीन विश्वासों से प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये है। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप में सहम गई है। अतएवं युग की कविता सपनो में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।' इसी कारण वे लिख उठे-

देख रहे गगन मृत्यु नीलिमा नील गगन

देखो भू को स्वर्गिक भू को मानव पुण्य प्रसू को।

इस प्रकार इस काल की कविता ठोस पृथ्वी पर चित्रण करने लगी। मुख्य रूप से जो विचारधारा राजनीतिक क्षेत्र में साम्यवाद, सामाजिक क्षेत्र में समाजवाद और दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है, उसी का रूप साहित्य में प्रगतिवाद है। प्रगतिवादी साहित्य पर मार्क्सवाद का अत्यधिक प्रभाव है। वह मार्क्सवादी विचारधारा को अपनाता हुआ अपने काव्य का सृजन करता है।

प्रगतिवादी कवि ने समाज को पीड़ा, दुर्बलता, दयनीयता, निरीहता, बेबसी, उत्पीड़न, असमानता, पक्षपात और दमन के अकांड ताण्डव का चित्रण किया, उसकी कुरूपता और अश्लीलता का नहीं। प्रगतिवादी कवि ने जीवन के ऐसे पक्ष को अपनाया, जिसमें जन संस्कृति के उत्थान के तत्त्व निहित थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रामेश्वर शर्मा ने प्रगतिवाद के विषय में कहा है– ''प्रगतिवाद कोई 'वाद' नहीं, वरन् जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण है। प्रगतिशील साहित्य जनता की उस महान आशा, आकांक्षा और कर्मेक्षा की अभिव्यंजना है, जो देश, समाज और मनुष्य की आर्थिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक दासता से मुक्त होने की प्रेरणा देती है।' प्रगतिवादी कवि समाज का यथार्थ चित्रण अपनी लेखनी से करना चाहता है।

भगवतीचरण वर्मा ने अपनी 'भैसा गाड़ी' कविता में समाज के पददलित और निरस्कृत प्राणी का यथार्थ चित्रण अंकित किया है–

'चाँदी के टुकड़ों को लेने प्रतिदिन, पिसकर भूखों मर मर।

भैंसा गाड़ी पर लदा हुआ, जा रहा चला मानव जर्जर।'

15.2.2 प्रगतिवादी साहित्य-चिन्तन-

सन् 1836 ई. में मुन्शी प्रेमचन्द ने प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए कहा था– ''साहित्यकार का लक्षण केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का समान जुटाना नहीं है।'' उनके अनुसार–''हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो– जो हमे गति, संघर्ष और बैचेनी पैदा कर सुखाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।''

डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है कि प्रगतिशील साहित्य वह है जो समाज को आगे बढ़ाता है और मनुष्य के विषय में सहायक होता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि प्रगतिशील होने से ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है।''

आगे उनका कहना है– ''हमें ऐसा साहित्य चाहिए जो एक तरफ तो कला की उपेक्षा न करे, रस–सिद्धान्त के नियामक जिस आनन्द की माँग करते है, वह साहित्य से मिलना चाहिए, भले ही उसका एकमात्र उद्गम रसराज न हो, भले ही उसकी परिणति आत्मा की चिन्मयता और अखण्डता में नहीं, कलात्मक सौष्ठव के साथ–साथ उस साहित्य में व्यक्ति और समाज के विकास और प्रगति में सहायक होने की क्षमता भी होनी चाहिए, तभी वह अभिनंदनीय हो सकता है।''

सामान्यत: यह देखा जाता है कि प्रगतिशील साहित्यकार रूप और शिल्प को महत्त्व न देकर केवल साहित्य की विषय–वस्तु को ही श्रेय और महत्त्व देता है। वह उसी साहित्य को महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ मानता है जिसमें किसानों और मजदूरों के जीवन का यथार्थ चित्रण है। चाहे वह कला और शिल्प की दृष्टि से कमजोर क्यों न हो। लेकिन यह विचार सही नहीं है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस सम्बन्ध में अपना मंतव्य रखते हुए कहा है–

''रूप और विषय–वस्तु का सम्बन्ध अभिन्न और अन्योन्याश्रित है। प्रगतिशील साहित्य–रूप–सौष्ठव का तिरस्कार करके दो कदम आगे नहीं चल सकता। यह सौष्ठव कला को प्रभावशाली बनाने में एक बड़ा कारण है। काव्य कौशल की ओर ध्यान न देकर रचनाकार अपनी कृति को असमर्थ ही बनाएगा। परन्तु कला का रूप हवा में नहीं निखरता। फूल के रूप–रंग के लिए जिस तरह धरती की आवश्यकता होती है, उसी तरह किसी भी कृति के कलातमक सौन्दर्य का निखार उसकी विषय वस्तु की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है।''

15.3 प्रगतिवाद आन्दोलन की पृष्ठभूमि

प्रगतिवाद आन्दोलन की निम्नलिखित पृष्ठभूमि है–

15.3.1 अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ–सन् 1917 ई. में रूस से हुई बोल्शेविक क्रांति ने पूँजीवाद के पतन की घोषणा करते हुए संसार में समाजवाद के जन्म लेने और उसके पल्लवित पुष्पित होने का भी डंका बजा दिया। परिणामस्वरूप विश्व के पूंजीवादी–साम्राज्यवादी देशों में विश्व पूँजीवादी अर्थनीतिक व्यवस्था पर अपना एकाधिकार बढ़ाने के लिए संघर्ष तेज हुआ। दूसरी ओर, औपनिवेशिक राष्ट्रों ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और जनता का जनवादी संघर्ष बढ़ाना आरम्भ कर दिया। इन दोनों ही संघर्षों ने दूसरे विश्व–युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। और दूसरे विश्व–युद्ध के बाद ही समाजवाद और साम्राज्यवाद का संघर्ष जोर पकड़ता गया। इस प्रकार साम्राज्यवादी शक्तियाँ अमरीकी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नेतृत्व में सोवियत संघ के विरोध में उठ खड़ी हो गयी। फिर वे युद्धोन्माद में आकर उसके विरोध में प्रचार करने लगी। इससे शीत–युद्ध के बादल घिरने लगे। इससे भारत भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। इसने अंतत: 1947 ई. में अपनी आजादी हासिल कर ली। इसने लेखकों और बुद्धिजीवियों की फासीवाद के विरूद्ध से उत्पन्न हुई एकता को भी प्रभावित किया।

15.3.2 राष्ट्रीय परिस्थितियाँ– सन 1857 ई. की असफलता के बाद सन् 1885 ई. में मध्यमवर्गीय जनता ने कांग्रेस की स्थापना की। कांग्रेज की स्थापना अधिक अधिकारों, फिर स्वायत्त अधिकारों और अंत में पूर्ण आजादी के लिए ही की गयी थी। कांग्रेस के सुधारवादी नेतृत्व की ढुलमुल नीति के कारण ही सोशलिस्ट मंच की स्थापना कांग्रेस के वामपंथियों ने की। इस तरह बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में वामपंथियों के बढ़ते प्रभाव से किसानों और विद्यार्थियों के संगठन अखिल भारतीय स्तर पर बन गए। इसका असर लेखकों और बुद्धिजीवियों पर भी पड़ा। इससे सन् 1935 ई. में कुछ भारतीय लेखकों और बुद्धिजीवियों ने लंदन में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। सन 1936 ई. में इसका पहला अधिवेशन लखनऊ में हुआ।

स्वतन्त्रता संग्राम के साथ–साथ महिलाओं, दलितो, मुसलमानों और हिन्दुओं के अधिक अधिकारों की मांग अलग–अलग नेतृत्व के द्वारा होने लगा। फलत: साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़ उफनने लगी। इससे देश तो आजाद हो गया, लेकिन वह हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो भागों में बंट गया। आजाद हिन्दुस्तान धर्म निरपेक्षता और लोक तांत्रिकता के राह परर तो चल पड़ा, लेकिन उसके मार्गदर्शक पूंजीपति और भू–स्वामी ही थे। इससे बुद्धिजीवी और लेखक भी विभाजित हो गए।

15.4 प्रगतिवादी आन्दोलन का इतिहास–

अखिल भारतीय किसान सभा का अधिवेशन व प्रगतिशील लेखक संघ निम्नलिखित प्रकार से प्रभावित रहा–

15.4.1 लेखक संघ बनाने के आरंभिक प्रयास– सन् 1935 में पेरिस में लेखक फासीवाद के विरूद्ध एकजुट हुए थे जिस देखकर भारतीय लेखक भी एकजुट होने और संगठन बनाने की आवश्यकता समझने लगे। कुछ समय बाद सन् 1934 ई. में मुन्शी प्रेमचन्द और रामचन्द्र टण्डन ने लेखक संघ बनाने के लिए विचार विमर्श किया। फलस्वरूप लेखक संघ बनाने के लिए मुंशी प्रेमचन्द, रामनरेश त्रिपाठी और किशोरीदास वाजपेयी में तीन संयोजक नियुक्त हुए। इस प्रकार चालीस के दशक में भारतीय लेखक संगठित होने की सक्रियता के साथ–साथ भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों को भी एक मंच पर लाने के लिए प्रयत्नशील हो रहे थे। इसके लिए मुन्शी प्रेमचन्द की भूमिका सर्वोच्च थी।

15.4.2 प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना– सन् 1933 में जर्मनी में हिटलर के सत्तासीन होने पर पूरे विश्व में फासीवाद का आंतक छा गया। फलस्परूप संसार के लेखकों और बुद्धिजीवियों ने इसके शीघ्र विरोध करने के लिए एक होने का जोरदार प्रयास किया। सालभर बाद लेखक संघ की स्थापना सोवियत संघ में हो गयी। इसका भी सालभर बाद सन् 1935 ई. में लन्दन में रह रहे भारतीय लेखकों और बुद्धिजीवियों ने भारतीय लेखक संघ बनाने का निश्चय किया। इसके लिए मुल्कराज आनन्द इसके अध्यक्ष चुने गए। और इसके सचिव सज्जाद जहीर बनाए गए। मुंशी प्रेमचन्द ने उसमें तैयार किए गए घोषणा–पत्र को सन् 1936 में '**हंस**' के जनवरी अंक में प्रकाशित किया था।

प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के लिए अति महान् लेखकों, बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों जैसे रवीन्द्रनाथ टैगोर, पंडित जवाहर लाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण आदि के वरदहस्त प्राप्त हुए थे। अप्रैल नौ और दस को जब लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, तभी वही पर प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। कांग्रेस अधिवेशन के सभापति पंडित जवाहरलाल नेहरू थे, तो प्रगतिशील लेखक संघ का सभापति मुंशी प्रेमचन्द को बनाया गया।

15.4.3 प्रगतिशील आन्दोलन का विस्तार और अवसान– सन् 1838 ई. कलकत्ता में प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा सम्मेलन हुआ। इसके सभापति रवीन्द्रनाथ ठाकुर बनाए गए। अस्वस्थ होने के फलस्वरूप उन्होंने अपना लिखित सन्देश यह भेजा था–

''जनता से अलग रहकर हम बिल्कुल अजनबी बन जाएगें। साहित्यकारों को मिल–जुलकर उन्हें पहचानना है। ...... अगर साहित्य मानवता से तादात्म्य स्थापित न कर सका, तो वह अपने लक्ष्य और आकांक्षाओं को पाने में विफल रहेगा।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

धीरे-धीरे प्रगतिशील लेखक संघ के साथ सभी प्रकार के प्रगतिशील और उदार नजरिए के लेखकों का जुड़ाव जारी रहा। इस प्रकार प्रगतिवादी संघ सन् 1943 ई. में भारतीय जननाट्य संघ से जुड़ गया। जिसकी स्थापना बम्बई में की गई। सन् 1947 ई. इलाहाबाद में हुए अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के विशाल अधिवेशन के सभापति महापंडित राहुल सांकृत्ययायन नियुक्त किए गए।

सन् 1947 के भारतीय जनता की स्वाधीनता की लड़ाई एक नए दौर से शुरू हो गई उस समय के लेखक दो खेमों में बंट गए थे। एक शान्ति और जनवादी शक्तियों के साथ तो दूसरा हिन्दुस्तान को पिछलगू बनाने वाली शक्तियों के साथ था। इन दोनों खेमों में किसी प्रकार के समझौते नहीं हुए। इस प्रकार प्रगतिवाद का सुनियोजित रूप से हमला होने लगा। फलस्वरूप अन्दररूनी और बाहरी हमले के कारण प्रगतिशील लेखक संघ बिखरने लगा। सन् 1953 ई. में दिल्ली में जो प्रगतिशील लेखक संघ का पाँचवा सम्मेलन हुआ, उसमें डॉ. रामविलास शर्मा को संर्कीणतावाद का आरोप लगाकर महासचिव पद से हटा दिया गया और उर्दू लेखक कृष्ण चंदन को उसका महासचिव बना दिया गया। इस प्रकार प्रगतिशील लेखक संघ की सार्थकता समाप्त हो गयी।

15.5 प्रगतिशील साहित्य का उदय

हिन्दी प्रगतिशील साहित्य का उदय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ हुआ था। लेकिन कुछ साहित्यकारों का यह मानना है कि इनकी रचना उससे पहले ही शुरू हो गयी थी। इसकी गहराई में हम जाएं तो हमें यह दिखाई देता है कि इसकी परम्परा भारतेन्दु में ही है। ऐसा इसलिए कि उस काल के रचनाकारों ने भक्ति और श्रृंगारपरक साहित्य के साथ-साथ अपने समाज के अधिकार बड़े और प्रमुख सवालों पर लेखनी चलानी शुरू कर दी थी। आगे बढ़ती हुई ये प्रवृत्ति मुंशी प्रेमचन्द जयशंकर प्रसाद, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा, 'कौशल' आदि की कहानियों, उपन्यासों, नाटकों आदि में दिखाई देती है। इस प्रकार के साहित्य से हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य की नींव पड़ी। प्रेमचन्द की परम्परा के बाद नागार्जुन, भैरव प्रसाद गुप्त, फणीश्वरनाथ 'रेणु' आदि की रचनाओं में प्रगतिशील साहित्य के स्वरूप दिखाई देते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिशील रचनाकारों ने अपने उपन्यासों-कहानियों में किसानों मजदूरों के जीवन को प्रस्तुत करके के साथ ही साथ स्त्रियों के जीवन की वेदना को भी अंकित-चित्रित किया।

प्रगतिशील साहित्य ने मौलिक रचना के साथ-साथ आलोचना की भी बड़ी पृष्ठभूमि तैयार की। साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिशील आलोचकों ने समाहित यथार्थवाद को रचना का आधार बनाने के लिए एक अत्यन्त प्रभावशाली आन्दोलन भी चलाया। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा कि वही साहित्य श्रेयस्कार है, जिसमें जनता की भावनाओं और इच्छाओं की अभिव्यक्ति हो, जिसमें उनके जीवन के संघर्ष और भविष्य के सपने चित्रित हो। प्रगतिशील आलोचना ने वस्तु और रूप के बीच विवाद में यह मत प्रकट किया कि साहित्य समाज की अपेक्षा करके नहीं रचा जा सकता है। हिन्दी के आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक पक्षों को शिवदान सिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नामवर सिंह, मुक्तिबोध और अमृतराय ने विकसित किया।

15.6 हिन्दी में प्रगतिशील काव्य की परम्परा-

इससे पहले 'प्रगतिशील साहित्य का उदय' शीर्षक में हम यह बता चुके हैं कि आधुनिक युग-सन्दर्भ के आरम्भिक युग में भारतेन्दु युग में प्रगतिशील काव्य धारा का स्त्रोत फूट चुका था। इसके बाद द्विवेदी युग में इसका विकास ही नहीं हुआ, अपितु इस समय आए हुए नवजागरण की लहरों से यह प्रश्न भी तरंगित होने लगा था कि-

''हम क्या थे, क्या हो गए,
क्या होंगे अभी।
आओ विचारें मिलकर
ये समस्याएँ सभी॥''

प्रगतिशील कवियों ने विषय-वस्तु के महत्त्व को समझा। फिर यह अनुभव किया कि कविता तभी महान् बनती है जब वह कवि की प्रतिबद्धता की सच्ची गहराई से प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत होकर सामने आती है। यही कारण प्रगतिशील कविता के प्रमुख हस्ताक्षर नागार्जुन, मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन आदि में से किसी की भी कविता दूसरों की कविता का अनुकरण नहीं है। एक आन्दोलनकारी के रूप में प्रगतिशीलता का भले ही अंत हो चुका है, लेकिन वह आज भी नयी कविता के रूप में विचार और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शिल्प दोनों ही स्तरों पर अपनी अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष कर रही है।

15.7 प्रगतिशील कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रगतिशील कविता की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ हैं–

15.7.1 राष्ट्रीयता की भावना की अभिव्यक्ति– प्रगतिवादी युग अपने युग की समस्याओं के प्रति सचेत दिखाई देता है। उसने देश और विश्व की ज्वलंत समस्याओं के प्रति दृष्टिपात किया। उसने हिरोशिमा के नाश के लिए अमेरिका को कोसा। साथ ही बंगाल के अकाल, देश के विभाजन, महगाँई, बेकारी आदि समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किये।

15.7.2 वामपंथी विचार धारा और राजनीति का प्रभाव– साम्यवादी विचारधारा प्रगतिशील कविता का मूल है। रुस में साम्यवाद ने पूर्ण सफलता प्राप्त की। अत: प्रगतिवादी कवितों की आशा का केन्द्र रूस बन गया। उन्होंने लाल सेना, लाल चीन, लाल झण्डा आदि पर अनेक काव्यमय विचार व्यक्त किये। रूस की लाल सेना पर की कविता की कतिपय पक्तियाँ प्रस्तुत की–

'युगो की सड़ी रूढ़ियों को कुचलती, लहर की लहर से सदा ही मचलती।

अन्धेरी निशा में मशालो–सी जलती, चली आ रही है बढ़ती लाल सेना॥'

15.7.3 उत्पीड़ित जनता से जुड़ाव– प्रगतिशील कविता की यह भी एक विशेषता है कि उसमें शोषित और निर्धन वर्ग के प्रति सहानुभूति की भावना के दर्शन होते हैं। प्रगतिवादी कवियों ने मजदूरों और किसानों का अपनी कविता में सजीव और हृदयग्राही चित्रण किया है निराला जी की 'वह तोड़ती पत्थर' कविता में पत्थर तोड़ने वाली नारी की विवशता, भय और कार्यशीलता के मार्मिक वर्णन के साथ पूंजीपतियों की विलासिता और क्रूरता का चित्रण किया है। कवि सुधीन्द्र ने शोषित वर्ग की दयनीयता का चित्रण इस प्रकार किया है कि–

'एक ओर समृद्धि थिरकती पास सिसकती है कंगाली,
एक देह पर एक न चिथड़ा, एक स्वर्ण के गहने वाली।'

15.7.4 ग्राभ्य जीवन के प्रति लगाव– प्रगतिशील कवि श्रम का उपासक है। वह संसार में प्रत्येक वस्तु को श्रम के द्वारा ही प्राप्त करना चाहता है। इसलिए उसने मजदूर और किसानों की प्रशंसा की है। किसान और श्रमिक दोनों का जीवन परिश्रम की करूण कहानी है। प्रगतिवादी कवि ने ग्राम्य जीवन की दीनता का चित्रण करते हुए कहा है–

'यह भारत का ग्राम, सत्यता, संस्कृति से निर्वासित।'
झाड़ फूस के विवर यही, क्या जीवन शिल्पी के घर॥

15.7.5 शोषक सत्ता का विरोध– प्रगतिवादी कवियों ने जहाँ अपने शब्दों में शोषित वर्ग के प्रति सहृदयता प्रकट की है, वहीं दूसरी ओर शोषक वर्ग के प्रति घृणा व्यक्त की है। शोषक वर्ग में जमींदार, उद्योगपति व मिल मालिक आते है। यह वर्ग मजदूरों और किसानों की खून–पीसने की कमाई से विलासिता और वैभव का जीवन व्यतीत करता है। बेचारे मजदूरों के बच्चों को दूध की बूँद तक नहीं मिलती और पूंजीपतियों के कुत्ते दूध का पान करते हैं। पूंजीपति वर्ग की इस प्रकृति की भर्त्सना करते हुए कविवर 'दिनकर' ने कहा–

'श्वानों को मिलता दूध, वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपट, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं।'

15.7.6 सामाजिक परिवर्तन पर बल– साम्यवाद में क्रान्ति को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। अत: प्रगतिवादी कवि समाज, राजनीतिक और आर्थिक जीवन में शनै: शनै परिवर्तन के पक्ष में नहीं है। वह क्रान्ति की हिंसावृत्ति में विश्वास रखता है। प्रगतिशील कवि की लेखनी समाज के निर्धन वर्ग की दयनीय दशा को देखकर यह कामना करती है कि–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जावे।'

प्रगतिवादी साहित्यकार ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानता। वह तो द्वन्द्व के कारण इस सृष्टि का विकास मानता है। उसकी मान्यता है कि इस विकास के क्रम में जो अधिक समझदार होता है, वह बच जाता है। वह धर्म-अधर्म, आचार-विचार, स्वर्ग-नरक इत्यादि की चिन्ता नहीं करता। इसके लिए न कोई ब्राह्मण है, न ईसाई, न यहूदी। इन सभी का मूल्यांकन कवि जनहित में उसकी उपयोगिता के अनुसार करने लगता है।

सभ्य, शिष्ट और संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित
धर्म, नीति औ, सदाचार का मूल्यांकन है जनहित।

वह मानव को मानव के रूप में देखना चाहता है। यदि अन्धविश्वास एवं मिथ्या परम्पराएँ उसके रास्ते में आती हैं, तो वह उनका ध्वंस करता हुआ आगे बढ़ जाता है।

प्रगतिवादी कविता ने मजदूर एवं किसान की तरह नारी को भी शोषित माना है। उन्होंने देखा कि नारी का अपना स्वयं का कोई महत्त्व नहीं है। वह देव के रूप में नहीं, अपितु दासी के रूप में है। वह पुरुष की आज्ञा की अवहेलना करके एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती है। वह पुरूष की विलासिता की एक जीवित प्रतिमा है। नारी की एक ऐसी दयनीय दशा को देखकर प्रगतिवादी कवि पंत की आत्मा नारी स्वातंत्र्य के लिए पुकार उठी-

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे नर पर अवसित॥'

श्रम एवं ग्राम्य जीवन के चित्रण की भावना-

प्रगतिवादी कविता में समाज के नव-निर्माण का स्वर मुखरित हुआ है। वह ऐसे सामाजिक जीवन को साकार रूप देना चाहता है, जिसमें नये आदर्श, नई रीति, नई भावनायें और नई आकांक्षायें हो। उसका समस्त रंग नया हो। यथा-

'नव छवि नव रंग, नव मधु से।
मुकलित, पुलकित हो मानव जीवन॥'

15.8 प्रगतिशील कविता की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ

प्रगतिशील कविता से काव्यजगत के विचारों, भावों और विषयों में जहाँ क्रान्ति उत्पन्न हुई वहाँ उसने कला पक्ष में भी नवीनता का संचार किया। प्रगतिवादी कवियों ने भाषा को सरल और सुबोध रूप प्रदान किया। बोलियों के माध्यम से प्रगतिवादी कविता की जाने लगी। राजस्थानी और भोजपुरी बोलियाँ इस तथ्य का सबल प्रमाण है। अलंकारों के प्रयोग में प्रगतिवादी कवियों ने प्राचीन परम्पराओं को उखाड़ फेंका। नवीन रूपक, उपमान और नवीन प्रतीक प्रस्तुत किये। प्रगतिवादी कवि ने छन्द के बन्धनों को स्वीकार नहीं किया। कविता सहज और स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होने लगी। कविवर पंत ने स्पष्ट रूप से घोषणा की-

''साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग, करता मधुर पदार्पण।
अब गीत गीत मुक्त औ 'युगवाणी बहती अयास।''

15.9 सारांश-

प्रगतिशील विचारधारा का रूप हिन्दी कविता के साथ हिन्दी गद्य की विविध विधाओं में भी देखने को मिलता है। गद्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने प्रगतिवादी विचारधारा को अपने उपन्यास और कहानियों में स्थान दिया। उनके 'रंगभूमि' 'कर्मभूमि' 'गोदान' उपन्यासों में प्रगतिवादी विचार स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। उनकी 'कफन' कहानी में प्रगतिवादी दृष्टिकोण सुन्दर रूप में देखने को मिलता है। निराला जी ने अपने 'चोटी की पकड़' 'काले कारनामे' आदि उपन्यासों में मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द और निराला के प्रगतिवादी कविता की श्री वृद्धि करने में हिन्दी के अनेक कवियों ने अपना योगदान किया। सुमित्रानन्दन पंत की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'ज्योत्स्ना' और युगवाणी 'युगान्त' कृतियों में प्रगतिवादी कविता का स्वर मुखरित हो उठा। 'युगवाणी' में तो कवि साम्यवाद के विषय में स्पष्ट रूप से अपने विचार व्यक्त करता है और उसे नवीनता का द्योतक बताता है–

'साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग, करता मधुर पदार्पण।
मुक्त लिखित मानवता करती, मानव का अभिवादन॥'

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की सन् 1938 के बाद की रचनाओं में प्रगतिवादी कविता का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उनकी 'वह तोड़ती पत्थर' 'अणिमा' 'कुकुरमुत्ता' आदि रचनाओं में प्रगतिवादी कविता का शुद्ध रूप देखने को मिलता है। दिनकर की 'हुकांर' 'रसवली' 'रेणुका' आदि प्रमुख रचनाये है। पन्त, निराला और दिनकर के अतिरिक्त नरेन्द्र शर्मा, अंचल, सुमन, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', नेमचन्द, शमशेर माचवे, नरेश मेहता, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, डॉ. रामविलास शर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि ने भी प्रगतिवादी काव्य का सृजन किया।

इनके अतिरिक्त यशपाल डॉ. रांगेय राघव, राहुल सांस्कृत्यागन, कृष्णचन्द, अमृतलाल नागर, राजेन्द्र यादव आदि ने भी अपनी कलाकृतियों में प्रगतिवादी विचारधारा को स्थान दिया है।

हिन्दी साहित्य को प्रगतिवादी आलोचना ने नवीन जीवन और दिशा प्रदान की है। प्रगतिवादी आलोचना में साहित्य का मूल्यांकन समाज की उपयोगिता को दृष्टि में रखकर किया जाता है। प्रगतिवादी समालोचकों में डॉ. रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान अमृतराय आदि प्रमुख हैं।

प्रगतिवादी कविता में भाव पक्ष और कलापक्ष की दृष्टि से अनेक विशेषतायें उपलब्ध होती है। इस कविता ने हिन्दी काव्य जगत को क्रान्ति का स्वर, नवीन दृष्टिकोण, तर्क और व्यंग्य, निर्धन के प्रति सद्भाव, मानवतावादी दृष्टिकोण, नारी की मुक्ति की भावना, सांस्कृतिक समन्वय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं के साथ–साथ नवीनतम अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रदान किया।

15.10 अभ्यास प्रश्न

1. क्या प्रगतिवाद सिर्फ एक आंदोलन मात्र था? स्पष्ट कीजिए।
2. प्रगतिवाद के प्रमुख कवियों पर एक निबन्ध लिखिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–16

प्रयोगवाद और नयी कविता

संरचना

16.0 प्रस्तावना

16.1 उद्देश्य

16.2 प्रयोगवाद

16.2.1 प्रयोगवाद के वैचारिक बिन्दु

16.3 प्रयोगवाद से नयी कविता के सम्बन्ध की पहचान

16.3.1 नयी कविता के नामकरण के नए अर्धवृत्त

16.3.2 भाव–बोध

16.4 प्रमख प्रवृत्तियाँ

16.4.1 काव्य–सम्बन्धी पुरानी अवधारणा में बदलाव

16.4.2 लघु मानव–दर्शन में नए व्यक्तित्व की खोज

16.4.3 काव्य की अर्थभूमि का विस्तार और व्यक्ति स्वातंत्र्य पर बल

16.4.4 अनुभूति की ईमानदारी और प्रामाणिकता

16.4.5 रस के प्रतिमान की अप्रासंगिकता

16.4.6 स्वाधीनता प्राप्ति के बाद का मोह–भंग

16.4.7 प्रयोग–परम्परा और आधुनिकता

16.4.8 विसंगति और विडम्बना

16.4.9 अस्तित्ववादी और आधुनिकतावादी स्वर

16.4.10 प्रकृति सौन्दर्य पर नई दृष्टि

16.4.11 काव्य–रूप

16.4.12 काव्य–भाषा

16.4.13 बिम्ब और प्रतीकों का नयापन

16.4.14 छंद और लय

16.4.15 मूल्यांकन

16.5 सारांश

16.6 अभ्यास प्रश्न

16.0 प्रस्तावना

आधुनिक हिन्दी साहित्य में आजादी के आस–पास नई काव्य चेतना को व्यापक अर्थों और संदर्भों में 'प्रयोगवाद और नयी कविता' के नाम से जाना गया। यह एक प्रकार का काव्यान्दोलन था। जो विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं, जीवनमूल्यों, सामाजिक–राजनीतिक, घात–प्रतिघातों के फलस्वरूप सामाजिक यथार्थ के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। इसने अपने सामान्य और विशिष्ट प्रभावों से छायावादी और प्रगतिवादी मान्यताओं में से कुछ को तो अपनाया और कुछ को बिल्कुल ही खारिज कर दिया। कुछ को संशोधित करके नए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रूप में अपना लिया। इस प्रकार यह आन्दोलन नई बौद्धिकता का सन्दर्भ, विचारधारात्मक, संघर्ष और प्रतिबद्धता का प्रश्न, राजनीति और धर्म के बदलते रिश्ते, व्यक्ति स्वातंत्र्य, व्यवस्था-विरोध और अस्वीकार के साहस के रूप में दिखाई दिया। यो तो प्रयोगवाद और नयी कविता मार्क्सवादी, अस्तित्ववादी, मनोविश्लेषणवादी, अतियथार्थवादी, यथार्थवादी, क्षणवादी आदि विचारधाराओं के रूप और वस्तु से प्रभावित है, फिर भी वह किसी विचारधारा की अनुयायी या दासी नहीं है।

16.1 उद्देश्य

इस इकाई में हम प्रयोगवाद और नयी कविता के साहित्यिक आन्दोलनों को समझने के साथ-साथ इन दोनों काव्यधाराओं के सूक्ष्म भेद को भी जान सकेंगे। इस प्रकार इस इकाई में हम यह जान सकेंगे कि उपर्युक्त दोनों काव्यधाराएँ किस प्रकार विभिन्न विचारधाराओं से प्रभावित हुई और इसका निर्णय करने वाली कौन-कौन-सी परिस्थितियों रही। अन्त में हम इन दोनों ही काव्यधाराओं की प्रवृत्ति के वैशिष्टय पर प्रकाश डालेंगें।

16.2 प्रयोगवाद

हिन्दी काव्य साहित्य में सन् 1945 से 1955 तक के समय में लिखी गई कविता को प्रयोगवादी कविता की संज्ञा दी जाती है। प्रयोगवादी कविता के रचयिता कला को जीवन के लिए न मानकर कला को कला के लिए मानते है। अत: प्रयोगवादी कविता में समासंज की अपेक्षा 'व्यक्ति' को अधिक महत्त्व दिया गया है। इस काल के काव्य में कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों को ही प्राय: काव्य का विषय बनाया गया है। यही कारण है कि प्रयोगवादी काव्य में अंहवादिता, स्वार्थप्रेरित, असामाजिकता, उच्छृंखलता जैसी प्रवृत्तियाँ भी पनप गई।

प्रगतिवाद की अतिशय सामाजिकता ने व्यक्ति की पूरी तरह उपेक्षा कर दी। उधर विश्व के इतिहास में जो नयी उथल-पुथल हो रही थी, और विज्ञान के क्षेत्र में नित नये प्रयोग किये जा रहे थे। उन्होंने मानव के सामने नयी समस्याएं और उलझने खड़ी कर दी, जिनका समाधान प्रगतिवाद के पास न था। फलत: सन् 1943 में अज्ञेय के सम्पादन में 'तार-सप्तक' नामक एक कविता-संग्रह निकला, जिसमें सात प्रयोगशील कवियों की रचनाएँ थी। इसी के साथ प्रयोगवाद नामक इस नयी काव्यधारा का सूत्रपात हुआ, जिसका उद्देश्य युग की बदलती हुई परिस्थितियों को अभिव्यक्ति देनी थी। वस्तुत: प्रयोगवादी काव्य से आशय ऐसे काव्य से है, जिसमें भाव और कला सम्बन्धी प्रयोग सचेष्ट भाव से किये जाएं।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, गजानन माधव मुक्तिबोध, भारत भूषण अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नेमीचन्द जैन, प्रभाकर माचवे, शकुन्तला माथुर, नरेश कुमार मेहता आदि प्रयोगवादी कविता के प्रमुख कवि हैं।

16.3 प्रयोगवाद से नयी कविता के सम्बन्ध की पहचान

भ्रान्तिवश कुछ लोग नयी कविता को प्रयोगवाद भी मानते है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रयोगशील कवियों को प्रयोगवादी कहा, जिसका अज्ञेय ने घोर विरोध किया।

वास्तविकता यह है कि प्रयोगवाद मानव मन की निजी समस्याओं व चिन्ताओं का काव्य रहा है। हिन्दी कविता के विकास से सम्बन्धित समस्याओं को ही रेखांकित करने के लिए यह सामने आया। इस प्रकार प्रयोगवादी कविता के वैशिष्ट्य के आलोक में कुछ विद्वानों ने इसे 'राहों के अन्वेषण' कहा। इसके लिए मनन-चिन्तन के द्वारा यह अर्थ निकाला गया कि कठिन राह होते हुए, कवि-कर्म की समस्या से जूझते हुए सम्प्रेषणीयता के मार्गों का अन्वेषण-अन्वेषण यह कि राह शब्दों, बिम्बों, प्रतीकों लयों आदि के बोध से ही सामने लायी जा सकती है। शिल्प पर अधिक से अधिक ध्यान देने के फलस्वरूप ही प्रयोगवाद को रूपवादी (फार्मलिस्ट) समझा जाता है। लेकिन यह ध्यातव्य है कि नयी कविताधारा ने प्रयोगवादी काव्यधारा के इस रूपवाद (फार्मलिस्ट) मोह से तीव्र विरोध किया। इस आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि प्रयोगवाद और नयी कविता एक नहीं, अपितु दो काव्यान्दोलन हैं।

16.3.1 नयी कविता के नामकरण के नए अर्थ-वृत्त- कुछ लोग नयी कविता को प्रयोगवाद का ही अगला चरण बताते हैं। पर कई प्रबुद्ध आलोचकों के मतानुसार प्रयोगवाद और नयी कविता में अन्तर है, इसलिए सन् 1959 में तीसरे 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ प्रयोगवाद चूक गया तो सन् 1960 ने नयी कविता का जन्म माना गया। नयी कविता ने प्रयोगवाद को संकुचितता से ऊपर उठाकर उसे अधिक उदार और व्यापक बनाया। नयी कविता के कवियों ने नयी समस्याओं तथा बदलते हुए जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रयोगशीलता के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया। किन्तु प्रयोगशीलता के आग्रह का परित्याग कर दिया। वस्तुतः नयी कविता अपनी अभिव्यक्ति प्रेषणीयता तथा उपलब्धि में प्रयोगवादी कविता से आगे बढ़ गई है।

डॉ. जगदीश गुप्त, अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, लक्ष्मीकान्त वर्मा, कुंवरनारायण, विजयदेव नारायण साहि, श्रीकान्त वर्मा आदि कविता के प्रमुख कवि है।

16.3.2 भाव-बोध- भाव-बोध के विषय में मुक्तिबोध ने लिखा है- ''मैं अपनी खुद की जिन्दगी और दोस्तों की जिन्दगी से बता सकता हूँ कि अन्याय के विरूद्ध आवाज बुलंद करना आधुनिक भाव-बोध के अन्तर्गत है। आधुनिक भाव-बोध के अन्तर्गत यह भी आता है कि मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष में हम और भी अधिक दत्तचित्त हो तथा हम वर्तमान परिस्थिति को सुधारे, नैतिक ह्रास को थामै- उत्पीड़ित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की योजना करे।

सच्चाई यह है कि पुराने कवियों के समान ही प्रयोगवादी और नयी कविता के कवियों का अपना कोई सर्वांगीण दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं दिखाई देता है। वे अपने जीवन की सच्चाई को व्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील है। वे आज के विश्व-सभ्यता के भयानक स्वरूपों, दृश्यों, कष्टों, पीड़ाओं को अपने पूरे अनुभव को सौन्दर्याभिरूचि का विस्तार लिए करता हुआ बार-बार उसे संस्कारित करने के लिए निरन्तर दिखाई दे रहे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके लिए काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है। अपितु वह तो एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। यही कारण है कि मूल्य-चेतना व्यक्ति की देन न होकर पूरे समाज की देन है। परिणामस्वरूप नयी कविता का भाव-बोध एकान्त का एकालाप नहीं है, समाज से मानव से सीधा एक वार्तालाप है। वह एक व्यापक वार्तालाप है, जिसमें भावनात्मक और बौद्धिक परिष्करण की संस्कृति को व्यापक स्वीकृति प्राप्त है। जीवन की अनेकरूपता और विविधता के कारण नयी कविता का गीत स्वर कहीं है, तो कही तीखा आलोचना का स्वर है। और कही सौन्दर्यमयी प्रकृति का अनुभूतिमय स्वर है, तो कही-कही आत्मालोचना का रंग है।

''सच तो यह है कि नयी कविता के भीतर कई स्वर है, कई शैलियाँ है, कई शिल्प है और कई भाव-प्रवृत्तियाँ हैं। नयी कविता एक काव्य के प्रकार का नाम है। उस काव्य के प्रकार के भीतर अनेकानेक व्यक्तिगत शैलियाँ, शिल्प, रचना विधान और जीवन-दृष्टियाँ हैं।'' (नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ-3)

16.4 प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रयोगवाद और नयी कविता की निम्नलिखित प्रमुख-प्रवृत्तियाँ है-

16.4.1 काव्य सम्बन्धी पुरानी अवधारणा में बदलाव- प्रयोगवादी और नई कविता में सामाजिक दृष्टिकोण के प्रति व्यक्तिवाद की घोर प्रतिक्रिया हुई। प्रयोगवादी कवि अहं से जकड़ा हुआ है। वह समाज से दृष्टि हटाकर अपने तक ही सीमित रहना चाहता है। भारत-भूषण की कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

साधारण नगर के, एक साधारण घर में
मेरा जन्म हुआ है
बचपन बीता अति साधारण
साधारण सा खान-पान
तब मैं एक्राग मन
जुट गया ग्रन्थों में
मुझे परीक्षाओं में विलक्षण श्रेय मिला।

इस प्रकार के काल को देखकर डॉ. शिवदानसिंह चौहान लिखते है, 'साधारणतया प्रयोगवादी कविताओं में एक दयनीय प्रकार की झुझंलाहट, खीझ, कुंठा और हीन भाव ही व्यक्त हुआ है, जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नहीं, खण्डित करने का मार्ग है। महान् कविता का जन्म सारे संसार को, समाज को, जीवन के प्रगतिशील आदर्शों और नैतिक भावनाओं को एक उद्दंड और छिछोरे बालक की तरह मुहं बिचकाने से नहीं होता। सामाजिक बन्धनों के प्रति व्यक्तिवादी प्रतिवाद का यह तरीका स्वांग बनकर ही रह जाता है।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

16.4.2 लघु मानव-दर्शन में नए व्यक्तित्व की खोज- प्रयोगवादी व नई कविता में मानव को सर्वोपरि माना गया है। इस कविता का प्रमुख उद्देश्य ही मानव का कल्याण है। उससे मानव की अतुल शक्ति पर विश्वास है। प्रगतिवादी कलाकार मानव की सत्ता और शक्ति में इतना विश्वास करने लगा है कि उसे ईश्वर की सत्ता में भी सन्देह लगा। यथा-

'जिसे तुम कहते हो भगवान,
जो बरसाता है जीवन में,
रोग, शोक, दुख-दैन्य अपार,
उसे सुनाने चले पुकार।'

प्रयोगवादी और नये कवियों ने मानव-जीवन की छोटी से छोटी वस्तु को अपनी कविता का विषय बनाया। उन्होंने चाय की प्याली, चूड़ी का टुकड़ा, गर्म पकौड़ी, फटी ओढ़णी, सायरन आदि लघु वस्तुओं पर भी कविताओं की रचना की।

16.4.3 काव्य की अर्थभूमि का विस्तार और व्यक्ति स्वातंत्र्य पर बल- प्रयोगवादी और नई कविता के कवियों ने काव्य की अर्थ भूमि का विस्तार किया। इन कवियों ने सम्पूर्ण मानव को सृजन के केन्द्र में स्थापित किया। उनके लिए न कोई वर्जित है और न कोई विषय अछूत।

आज का कवि अपने अंह में ही सिमटकर रह गया है और अपने सुख-दुख, आशा-निराशा की अभिव्यक्ति को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। फलत: कविता में बह यही करता है। कैसी भी आत्मभिव्यक्ति से उसे कोई संकोच या किसी प्रकार की वर्जना या भय नहीं लगता। उदाहरणार्थ-

गुफा की दोहरी पर बार-बार
आ-आ कर
दहाड़ता है सिंह,
बाज मारता है
एक के बाद एक
सैकड़ों झपट्टे,
ले उड़ता है
कानों के फूल,
नाक की नथ,
हाथ की चूड़ियाँ
वक्ष की कंचुकी,
कमर का लहँगा,
और आँखों की शर्म।

16.4.4 अनुभूमि की ईमानदारी और प्रमाणिकता- प्रगतिवादी नयी कविता में भी यथार्थ की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है, परन्तु प्रयोगवाद कवि जीवन की कुण्ठाओं, वासनाओं और अन्य मानवीय दुर्बलताओं का जैसा अनुभव रखता है, वह उसको उसी यथातथ्य रखने के पक्ष में है। प्रयोगवादी कवि घोर यथार्थवादी है। उसे किसी भी प्रकार के भाव व्यक्त करने में झिझक नहीं है। 'अज्ञेय' नारी को प्राप्त करने की स्पष्ट रूप से माँग करते हैं,

'अहो! मेरा स्वाँस है उत्तप्त,
धमनियों में उमड़ आई है लहु की धार,
प्यार है अभिशप्त,
तुम कहाँ हो नारी।'

16.4.5 रस के प्रतिमान की अप्रांसगिकता- नयी कविता में रस के प्रतिमान की अप्रांसगिकता है। यह रसाश्रयी कविता नहीं है। यह हमे तन्मय नहीं करती है। यह तो हमारे चैन को ताड़ती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नई कविता में भावुकता के स्थान पर घोर बौद्धिकता का साम्राज्य है। यह कविता बौद्धिक प्रबलता के कारण नीरस, दुरूह और विचारों का जंजाल मात्र बनकर रह गई है। इस कविता में प्रत्येक भाव के समक्ष एक प्रश्न-चिन्ह लगा हुआ है। यही प्रश्न-चिन्ह प्रयोगवादी कविता की बौद्धिक प्रधानता का परिचायक है। बौद्धिकता का एक उदाहरण देखिये-

'चलो उठें, तक हम थे, बधु सैर को आये।
और रहे बैठे तो लोग कहेगे धुधँले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं।'

नयी कविता में अनुभूति की सच्चाई पर विशेष ध्यान दिया जाता है। वह अनुभूति कवि की होती है। समाज की अनुभूति को कवि पहले अपने में आत्मसात् करता है तथा उसी सामाजिक अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। युग बोध से सुपरिचित कवि अपने माध्यम से तथा अपने अनुभव की सच्चाई से अर्थात् अपने दु:ख दर्द से मानवमात्र के दु:ख दर्द को आत्मसात करने की चेष्टा करता है। उदाहरणार्थ-

हर एक छाती में आत्मा अधीरा है,
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है,
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में,
महाकाव्य पीड़ा है।

16.4.6 स्वाधीनता प्राप्ति के बाद का मोह-भंग- स्वाधीनता के बाद का उल्लास थोड़े- से ही समय में निराशा की काली चादर से ढकने लगा। इस प्रकार स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद के मोह भंग को नये कवियों ने चित्रित किया है।

नई कविता में निराशावाद की भावना दृष्टिगोचर होती है। प्रयोगवादी कवि को अपने जीवन में आशा और सुख की सम्भावना नहीं है। वह अपने जीवन और उपस्थित परिस्थितियों से निराशा है। समस्त संसार उसे निराशामय दिखाई देता है। विश्वास के अभाव के कारण ही प्रयोगवादी कवि के जीवन में निराशा जैसे ही हीन भावना का संचार हुआ है।

16.4.7 प्रयोग-परम्परा और आधुनिकता- राहो के अन्वेषी प्रयोगशील कवि कविता को प्रयोग का साधन मानते हैं, साध्य नहीं, इनका साध्य है- नये सत्यों का उद्घाटन और मानव मुक्ति के मार्गों की तलाश। प्रयोगवादी कवियों ने प्राचीन परम्पराओं और रूढियों के प्रति विद्रोह की भावना व्यक्त की है। वह समाज में नवीनता और क्रान्ति लाना चाहता है। इसलिये अज्ञेय जी ने प्राचीन, दूषित और जर्जर समाज को ललकारा है-'ठहर ठहर आततायी। जरा सुन ले, मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार सुन जा॥'

16.4.8 विसंगति और विडम्बना- प्रयोगवादी कविता में वैचित्र्य प्रदर्शन की भावना के भी दर्शन होते हैं। इसमें विलक्षण, आश्चर्य और नवीनता के दर्शन होते हैं। कही कही पर प्रयोगवादी वैचित्र्य प्रदर्शन मात्र हास्य की वस्तु बनकर ही रह गया है। यथा

'अगर कहीं में-तोता होता।
तो क्या होता ? ताक क्या होता ? तोता होता॥'

अस्तित्ववादी और आधुनिकतावादी स्वर-प्रश्न नई कविता का सर्वाधिक चर्चित प्रश्न रहा है। नई कविता में अनास्था की अपेक्षा आस्था के स्वर ही अधिक मुखरित हुए है। कवि भी अन्य साधारण-जनों की भाँति अनेक संघर्षो से जुझता है। आतंरिक संघर्षों से जूझते समय यदि उसकी आस्था कही टूटती दिखती भी है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि नई कविता अनास्थावादी है। भारती की निम्नलिखित पंक्तियों में आस्थामूलक स्वर देखते ही बनता है-

हमको तो चलना होगा ही
चलने में ही हम टूटों और अधूरों का
शायद होगा कुछ नया गठन

आधुनिक कवि भावुकता के स्थान पर जीवन को बौद्धिक दृष्टिकोण से देखता है और इसलिए उसे काल्पनिक आदर्शवाद के स्थान पर कटु यथार्थ ही अधिक आकृष्ट करता है। इस यथार्थ ने ही उसमें वर्त्तमान व्यवस्था के प्रति विक्षोभ भर दिया है। आज के जीवन का एक यथार्थ डॉ. कुमार विमल की 'राधा का निवेदन' कविता में इस प्रकार व्यक्त हुआ है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पोशाक इतनी चस्त
कि झुक भी नहीं सकती हूँ
खाने को पी. एल. चार सौ अस्सी का गेहूँ।
ब्राउस्टिक, लिपिस्टिक और रूज से अपने को
कितना सजाऊँ ?
कनु,
मुझे वही दिन बहुत अच्छा लगता था,
जब तुम मेरी मांग पर आम्रमंजरी रखा करते थे,
फूलों के पराग से मुझे मह–मह कर देते थे।
किन्तु अब तो प्यार भी
तुम 'रूटीन' के मुताबिक करते हो।

16.4.9 प्रकृति- सौंदर्य पर नई दृष्टि- नयी कविता में प्रकृति–चित्रण भी मिलता है, परन्तु यह प्रकृति–चित्रण अपने पूर्ववत्ती छायावादी एवं प्रगतिवादी काव्य से सर्वथा भिन्न है। नयी कविता में सौंदर्यबोध की एक विशेषता प्रकृति के नगण्य उपादानों से मण्डित बिम्ब भी है। जैसे-

गुलाबी–सी सुबह में,
काँटे–सा कसकता मन,
चाँद के दर्पण में
चोट की तरेड़
मेरी बिटिया के
बादल से पैर में चुभी
शीशे की कनी।

16.4.10 काव्य-रूप- नयी कविता के कवियों ने सभी प्रकार के प्रचालित काव्य रूपों को नए रूपों में डाला है। इस प्रकार नये कवियों ने प्रबन्ध काव्य का स्थापन्न नयी लम्बी कविताओं को बनाया है। 'अज्ञेय' की 'असाध्य वीणा', 'मुक्तिबोध' की 'ब्रह्मराक्षस' और 'अंधेरे में' और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'कुआनों नदी' आदि उल्लेखनीय हैं। काव्यरूपों के ये नए प्रयोग नयी कविता की अपनी शक्ति हैं। परिणामस्वरूप गजल, नवगीत, काव्य–नाटक के एक रूप नयी कविता की सर्जनात्मकता को नया परिप्रेक्ष्य देते हैं।

16.4.11 काव्य-भाषा- मनुष्य के मन के उलझे हुए भावों को ठीक उसी रूप में प्रकट करने के दुराग्रह के कारण इनकी शैली प्राय: दुर्बोध और अस्पष्ट हो गई है। छन्दों की संगीतात्मकता का तिरस्कार करके ये प्राय: मुक्त छन्दों का प्रयोग करते हैं, जिनकी अनगढ़ता अक्सर एक गद्यमयी शुष्कता को जन्म देती है। भाषा भी इनकी उतनी ही अव्यवस्थिति है। यह अव्यवस्था इन्होंने जान–बूझकर पैदा की है। उसने विभिन्न शास्त्रों के शब्दों, प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों, अंग्रेज–उर्दू के शब्दों का अजीब घोलमेल कर डाला। यह सब नवीनता के अत्यधिक आग्रह का ही दुष्परिणाम है। नवीनता का यह मोह नये उपमानों की खोज में और भी प्रबल हो उठा है-

(क) प्यार का बल्ब फ्यूज हो गया।
(ख) ऑपरेशन थियेटर–सी जो हर काम करते हुए भी चुप है।
(ग) बिजली के स्टोव–सी जो एकदम सुर्ख हो जाती है।
(घ) पहिले दरजे में लोग कफन की भाँति उजले वस्त्र पहने।

पर इन कवियों द्वारा ऐसे जबर्दस्ती के उपमानों की भरती से काव्य में कौन–सी सौंदर्य सृष्टि हुई या अभिव्यक्ति में सशक्तता आई, यह चिन्त्य है।

16.4.12 बिम्ब और प्रतीकों का नयापन- भाषा के कला–पक्ष के प्रति नया कवि अत्यन्त सजग है। नये उपमान, नये प्रतीक, नवीन बिम्ब–योजना का सौंदर्य इस काव्य में देखते ही बनता है। भाषा के विषय में अज्ञेय के विचार दृष्टव्य हैं- 'कवि जब अपना सत्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दूसरों पर प्रकट करने चलता है, तब अनिवार्यता: यह सोजता है कि सत्य जितने ही अधिक व्यक्तियों पर प्रकट हो, काव्य उतना ही सफल है। इसलिए कविता की भाषा के लिए बोल-चाल की भाषा सर्वदा आदर्श रूप में रहती है और रहनी भी चाहिए। साथ ही आदर्श कुछ पहुँच के बाहर ही रहता है।' नयी उपमानों का प्रयोग भाषा को सौंदर्य वृद्धि में अत्यन्त सहायक हुआ है। उदाहरणार्थ -

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में।

पर्वत पर उत्तरोत्तर ऊपर को जाती सड़क उठती उमंगों-सी चढ़ रही है और नीचे बहती नदी दर्द की रेखा जैसी बिछी हुई है। इन उपमानों से दृश्य निश्चय ही हृदयग्राही रूप में साकार हो उठा है।

नवीन उपमान योजना का एक और उदाहरण दृष्टव्य है-

फिर भी हम तुम मिलते हैं
ठीक जैसे
परछाई पानी में नहाती भी है और
भीगती भी नहीं।

16.4.13 छन्द और लय- नये कवियों का अपना निजी और विशिष्ट छन्द है, जो उनकी व्यक्त अनुभूतियों की अनिवार्यता से उसी के साथ उत्पन्न हुआ है। मुक्त छन्द भी नये कवियों का शौक न होकर उनकी अनिवार्यता है। 'अज्ञेय' के अनुसार-

'मैं खड़ा खोले कटिबंध पिंगल के
मुक्त मेरे छन्द भाषा मुक्तक है
मुक्ततम ममभाव पिंगल के।

'मुक्तिबोध' ने छन्द और लय के विषय में अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है-

'छन्द मुक्ति का अर्थ 'अराजक गद्य' को कविता कह देना नहीं है- लय को विचारानुकूल मोड़ना-सँवारना है। मुक्त छंद, लोकगीत का छन्द, परम्परित छन्द का महत्त्व तभी है, जब वह भाव की नव शक्ति और मानव हृदय की सामाजिक मुक्ति का द्योतक बनकर आता है। नया कवि छन्द-लय के इस सत्य को कभी नहीं भूलता और जो भूलता है, उसकी वह निन्दा करता है।' (मुक्तिबोध रचनावली)

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि नए कवियों ने छन्द-लय के अनेक प्रयोग किए हैं और मुक्त छन्द तो नयी कविता का पर्याय ही हो गया है।

16.4.14 मूल्यांकन- निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रयोगवाद के नाम पर बहुत-कुछ ऐसा लिखा गया है, जिसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है, फिर भी उसमें कुछ थोड़ा-सा अंश ऐसा भी है। जिसमें साहित्य की सम्पत्ति बनने की क्षमता है। कहीं-कहीं शैलीगत सौंदर्य, काव्य-विधाओं के नवीन प्रयोग, विषय-क्षेत्र का विस्तार और कहीं मार्मिक प्रतीकों, बिम्बों और व्यंग्यों का विधान इस काव्यधारा की विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं।

16.5 सारांश

इस इकाई में हमने प्रयोगवाद और नयी कविता पर प्रकाश डाला। हमने देखा कि नयी कविता का क्षेत्र प्रयोगवाद की कविता के क्षेत्र से अधिक व्यापक और विविध रूपों में है। नयी कविता ने हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उसने नये संदर्भों में नये मानव-मूल्यों को स्थापित कर व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर सामाजिक चेतना को नए अप्रस्तुत विधान तथा नये शिल्प-विधान के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

16.6 अभ्यास प्रश्न

1. नयी कविता की काव्य-प्रवृत्तियां पर एक निबंध लिखिए।
2. प्रयोगवाद का आरम्भ कब और क्यों हुआ था। आलोचना कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 17

समकालीन कविता

संरचना

17.0 प्रस्तावना

17.1 उद्देश्य

17.2 समकालीन कविता : स्वरूप और दृष्टि

17.3 नयी कविता की रूढ़ियों से नए काव्य–सृजन में मुक्ति का प्रयास

17.4 समकालीन कविता और राजनीति का परिदृश्य

17.5 समकालीन कविता, तात्कालिकता और परम्परा

17.6 समकालीन कविता में आधुनिकता का अर्थ–संदर्भ

17.7 समकालीन कविता : परिदृश्य की विशालता

17.8 समकालीन काव्य–सृजन की मूल प्रवृत्तियाँ या विशेषताएँ

17.9 समकालीन कविता का शिल्प–पक्ष

17.9.1 काव्य–रूप

17.9.2 भाषा

17.9.3 बिम्ब और प्रतीक

17.9.4 छन्द

17.10 सारांश

17.11 अभ्यास प्रश्न

17.0 प्रस्तावना–

नयी कविता की एक ऐसी स्थिति हो गयी कि उसके कवि अपने काव्य–मुहावरों के पक्ष से उत्पन्न हुई अपर्याप्ता का अनुभव करते हुए नये जीवन–जगत की सच्चाई को व्यक्त करने के लिए बेचैन हो गए। इससे उनकी सर्जनात्मक प्रक्रिया–स्वरूप विक्षोभ, चिन्ता, संघर्ष, चुनौती, विद्रोह आदि तीव्र स्वरों से प्रकट होने लगी। युवा पीढ़ी ने इसे सपाटबयानी से प्रस्तुत करना शुरू कर दिया। इस मानसिकता ने सृजन के लिए नए काव्य– मुहावरों को ढूंढ़ने का एक जोरदार अभियान चलाया। फलतः इससे जो रचनाशीलता सामने आयी, वह नयी कविता से बिल्कुल हटकर दिखाई दी। इस प्रकार नई चिन्ताओं–संघर्षों की मनोभूमिका से युक्त इस साठोत्तरी कविता को समकालीन कविता कहा जाने लगा।

17.1 उद्देश्य–

इस इकाई में हम समकालीन कविता के स्वरूप से परिचित होते हुए उसके राजनीतिक संबंधों को जान सकेंगे। इस प्रकार इस इकाई में हम समकालीन कविता की मूल प्रवृत्तियों और शिल्प–पक्ष का भी ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

17.2 समकालीन कविता : स्वरूप और दृष्टि :

स्वतन्त्रता के उपरान्त साहित्य जगत पर भी समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। जीवन–निर्वाह करने की समस्या और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सरकार की परमुखपेक्षी रूढ़िवादी भावनाओं के प्रति विद्रोह की भावनाओं पनपने लगीं, समकालीन साहित्यकार ने मन में आक्रोश की भावना लेकर साहित्यिक जगत में प्रवेश किया।

मान्यता और आस्था को नकारने वाली 'प्रयोगवादी कविता' अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकी, फलस्वरूप आस्थावादी काव्यधारा पुन: जीवंतता को प्राप्त हुई। इसे 'नयी कविता' की संज्ञा दी गई। मानववाद, विश्व–बंधुत्व, नवीन यथार्थ बोध, नवीन धारणाएं, महादेशीयता की आवाज, समाज के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति का महत्त्व, लघुमानव की छटपटाहट आदि वैशिष्ट्य के कारण इसे समकालीन हिन्दी काव्य के नाम से भी जाना जाता है। वास्तव में यह काव्यधारा उल्लास और युगबोध की सच्ची काव्यधारा है।

यह सच्चाई है कि सन् साठ के बाद कविता में जो स्वर उगे हैं, वे समकालीन हिन्दी कविता में बीजरूप में वर्तमान रहे हैं और गौण भाव से प्रस्फुटित होते रहे हैं। ये स्वर इस कविता के मूलाधार नहीं रहे हैं लेकिन इस कविता से सर्वथा विच्छिन्न या विरोधी स्वर के रूप में इनकी व्याख्या नहीं हो सकती, जैसा कि अकविता वाले करते है, यह भी सच्चाई है कि समकालीन हिन्दी कविता में असंतोष, अस्वीकृति और विद्रोह का स्वर बहुत साफ तौर पर उभर कर सामने आया है। इस प्रकार इस कविता में असंतोष और अस्वीकृति का स्वर विद्यमान है, धीरे–धीरे इसमें तीखे व्यंग्य और विद्रोह का स्वर प्रधान होता गया है। यह भी कि इसमें जीवन की टूटती मूर्तियों के बहुत करीब जाकर उनके टूटने की तल्खी, व्यथा और उसमें से फूटती अस्वीकृति की उग्रता को पहचाना है। इस कविता की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इसने अपने संपूर्ण जीवन के प्रतीकात्मक और प्रामाणिक अनुभवों को उनके जीवन्त वातावरण में चित्रित अंकित किया है। इस कविता धारा ने विषय या अनुभूति के अभिजात्य और भिन्न–भिन्न प्रकार की दृष्टियों या वादों से बनी हुई उनकी सीमाओं से उन्हें अलग करके व्यक्ति–व्यक्ति द्वारा भोगते हुए जीवन के सभी प्रकार के उपेक्षित और सच्चे प्रतीकों एवं बिम्बों के द्वारा सामने लाने की अपनी सार्थकता और सादेश्यता को समझा है।

17.3 नयी कविता की रूढ़ियों से नए काव्य–सृजन में मुक्ति का प्रयास

नयी कविता की रूढ़ियों से नए काव्य–सृजन में मुक्ति का प्रयास समकालीन कविता में देखा जा सकता है। इसके लिए विशेष रूप से 'धूमिल' लीलाधर जगडी, राजकमल चौधरी, विनोद कुमार शुक्ल, केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी आदि के नाम उल्लेखनीय है। नीचे दिए गए एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि किस प्रकार नयी कविता की रूढ़ियों से नए काव्य–सृजन में समकालीन कविता का प्रयास आकर्षक है–

तुम भी तो वही थे
भीड़ में साथ–साथ
और यहां भी साथ हो
सागर के तल में
इतना मत भूलें...
हम तो यहाँ भी विशेष हैं
इतना ही काफी है ...
एक साथ जी ने में
थोड़े चल शेष हैं।

तथा–

एक क्षण: क्षण में प्रवहमान
व्याप्त सम्पूर्णता
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
पिया था अगस्त्य ने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आज के इस विविक्त, अद्वितीय क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें
उसकी विविक्त अद्वितीयता में
शाश्वत् हमारे लिए यही है
अजिर है, अमर है।

17.4 समकालीन कविता और राजनीति का दृश्य

समकालीन कविता ने अपने गहरे अर्थों में राजनीतिक क्रूरता और अमानवता को धर्म तक भ्रष्ट करने की बात कही है। अपात्काल की राजनीति ने जनता को किस प्रकार तबाह और बरबाद किया है, इसे समकालीन कविता के कवियों ने बखूबी दर्शाया है। इस दृष्टि से भवानी प्रसाद मिश्र, नागर्जुन आदि उल्लेखनीय हैं। नागार्जुन की अभिव्यक्ति का एक उदाहरण इस प्रकार हैं–

''हरिजन गिरिजन नंगे–भूखे हम तो डोलें वन में
खुद तुम रेशम साड़ी डाँटे उड़ती फिरी गगन में
महँगाई की सूर्पनखा को ऐसे पाल रही हो
शासन का गोबर जनता के सिर पर डाल रही हो।''

स्वाधीनता के कई दशकों के बाद भी जनता ने महसूस कर लिया है कि भ्रष्ट और सिद्धान्तहीन राजनीति ने समाज का सँहार करने के सिवाय और कुछ नहीं किया है। परिणामस्वरूप जनता के पल–पल कठिन संघर्षों में तेजी आयी है। सौमित्र–मोहन ने 'लुकमान अली' नामक अपनी कविता में जनता की पीड़ा को इस प्रकार से उजागर किया है–

'लुकमान अली के लिए स्वतन्त्रता उसके कद से केवल तीन इंच बड़ी है।
वह बनियान की जगह तिरंगा पहनकर कलाबाजियाँ खाता है।
वह चाहता है कि पाँचवे आम चुनाव में बौनों का प्रतिनिधित्व करें।
उन्हें टाफियाँ बाटें।
जाति और भाषा की उन्हें कसमें खिलाए
वह आज नहीं, कल नहीं, तो परसों, नहीं तो किसी दिन
फ्रिज में बैठकर शास्त्रों का पाठ करेगा।'

रघुवीर सहाय ने उसी स्थिति की पीड़ा से भरकर लिखा–

''बीस वर्ष
खो गये भरमे उपदेश में,
एक पीढ़ी जन्मी पली–पुसी क्लेश में
बेगानी हो गई अपने ही देश में''
(आत्महत्या के विरूद्ध, पृष्ठ 18)

17.5 समकालीनता, तात्कालिकता और परम्परा –

समकालीन कविताधारा के कवियों की दृष्टि में पूजा पराजय का विनत स्वीकार है। अत: वे मनुष्य के पुजारी हैं। उसकी लघुता के प्रति भी आस्थावान है। पूजन से मन का भ्रम बढ़ता है। मूर्ति को सर्वशक्तिमान मान लेने पर व्यक्ति की आस्था, शक्ति और प्रभुता प्रभु को समर्पित हो जाती है। परिमाणत: मनुष्य व्यक्तित्वहीनता का अनुभव करने लगता है। एक उदाहरण देखिए–

पत्थर न घटता है, न बढ़ता है रचमात्र
मूर्ति बड़ी होती जा रही थी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

क्योंकि वे स्वयं छोटे होते जाते थे
भूलकर एक बड़ा सत्य यह।

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समकालीन हिन्दी काव्यधारा संक्रान्तिजन्य संग्रह, यातना, टूटन दुविधा की अनुभूति की एक ऐसी काव्यधारा है, जिसमें रह-रहकर सुन्दर अनागत के आने की आशा स्वयं को अंधेरे में प्रकाश की तरह जलाकर, फूल के समान खिलखिलाकर स्वयं को सार्थक और अपने द्वारा युग को मूल्यांकन बनाने की आस्था बिजली की कौंध-सी लिपट-लिपटकर दिखाई देती है।

17.6 समकालीन कविता में आधुनिकता का अर्थ- संदर्भ

यह कहा जा सकता है कि देश की आजादी के बाद शुरू-शुरू के दौर में जो यातना या पीड़ा उभर कर सामने आयी थी, उसके साथ भविष्य के प्रति अटल विश्वास और आशा का स्वर था। इस प्रकार उसमें एक दुविधा पीड़ा और आशा भरी हुई थी। इसी प्रकार उसमें टूटने की वास्तविकता और बनने के स्वप्न भी थे। उस समय उसमें डिसइन्यूश्नमेंट पूर्णरूप से नहीं था। अतएव इस कविता धारा में बोध अधिक है, और अस्वीकृति के तेवर भी। फिर भी विद्रोह का स्वर नहीं रहा, लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। धीरे-धीरे इन्यूजन समाप्त हो गया वह मोह भंग में बदल गया। इससे व्यक्ति का सामाजिक परिवेश और भी विद्रूप होने लगा। भविष्य के स्वप्न तार-तार हो गए। हिन्दी की समकालीन कविता में 'धूमिल, राजकमल चौधरी, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय की कविताएं इसी परिदृश्य की प्रामाणिकता है। 'धूमिल' ने संसद से सड़क तक अपने काव्य-संग्रह की कविता 'पटकथा' में कहा है-

दरअसल अपने यहां प्रजातंत्र
एक ऐसा तमाशा है।
जिसकी जान
मदारी की भाषा है।
अपने यहां संसद
तेल की वह घानी है
जिसमें आधा तेल
और आधा पानी है।''

17.7 समकालीन कविता : परिदृश्य की विशालता

मानव-जीवन और समाज में व्याप्त विविध यथार्थ रूपों का चित्र समकालीन हिन्दी कविता के सामाजिक पक्ष को ही पुष्ट करता है। सामाजिक जीवन की विकृतियों, मजबूरियों और असमर्थताओं के स्पष्ट और खुले चित्रधारा के चित्र इन कवियों ने अंक्ति किए हैं। मध्यम वर्ग आज सबसे अधिक त्रस्त और संतप्त है। अत: उसकी ही जिन्दगी का इतिहास और भूगोल इस कविताधारा में पढ़ा, देखा और समझा जा सकता है। सुबह से शाम तक कारखानों ऑफिसों, स्कूलों, दुकानों आदि में काम करने वाला व्यक्ति जब शाम को घर लौटता है, तब वह थककर चूर हो जाता है। इस धारा के विभिन्न कवियों ने इसी जिन्दगी को अपनी-अपनी कविताओं में प्रमुखता दी है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए एक उदाहरण इस प्रकार है-

भर दो, इस त्वचा की मृतात्मा की सूखी ठाठर में,
वह घास-पात, कूड़ा-कबाड़ सब-कुछ भर दो
लगा दो, नकली कौड़ियों की आँखें
कानों में सीपियाँ
मेरी इस हृदयहीन, धमनीहीन-काया में
सभी कुछ भर दो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तांकि मैं स्निग्ध पयमती माता के निकट
अपनी चेतनाहीन पूँछ को एक स्थिति में उठा
उसके वात्सल्य को, ह्दय को, आकर्षण को, चेतना को
सबको उभार दूँ
और हम इस मूर्दे के उपजाए स्नेह को निचोड़कर
जीवित रहो
जिन्दा रहो।

17.8 समकालीन काव्य- सृजन की मूल प्रवृतियाँ या विशेषताएँ

आज की कविता में 'विद्रोह' नाम से जो कविताएँ आ रही हैं, उनमें अधिकांशत: निर्लक्ष्य या यौन-विकृति सापेक्ष है। निर्लक्ष्य होने से ये कविताएँ सुविधा का विद्रोह करती हुई दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में जहां विद्रोह करने में खतरे का अनुभव वहां नहीं अपितु जहाँ सुविधा हो, वही वे कविताएँ विद्रोह करती हुई दिखाई देती हैं। इन्हें सबसे बड़ी संगति 'सेक्स' में दिखाई देती है, अथवा शरीर की विभत्सता में। समकालीन कविता महज आंदोलन नहीं है, यह नयी कविता के इसी जीवनोन्मुख धारा का अगला विकास है। जिसमें सायास आंदोलन की योजनाबद्ध लकीरें नहीं, बल्कि आज के जीवन की अनुभवजन्य विषय की संवेदनाएँ और बोध है। ये अनुभव और बोध आंदोलन से नहीं, सत्य से प्रेरित होकर आज की विषम स्थितियों की प्रतीति, अस्वीकृति और विद्रोह सबको आवश्यकतानुसार समेटते है। साठ के बाद की धारा में वे कवि भी हैं जो नयी कविता के विशिष्ट कवि रहे है। उनमें जीवनधारा की ऊर्जस्विता ही प्रधान रही है, अथवा जो नयी कविता की बनती हुई सीमाओं को पहचान कर उन्हें तोड़ने के लिए फिर से आकुल-व्याकुल है। और कवि भी हैं, जो साठ के बाद की उपज हैं। इन कवियों ने एक और जीवन की विकसित-चेतना और जटिलता का अनुभव किया और दूसरी ओर यह देखा कि नयी कविता के भी फार्मूले बनने लगे हैं। उसके प्रतीक और दर्द रूढ़ बनते जा रहे हैं। प्रतीकों के अंधेरे में कैद होकर यह कविता हर प्रकार से अन्तर्मुखी और स्पन्दन रहित होने लगी है। इसे जमाव को पिघलाना था, कविता की धारा को वर्त्तमान जीवन के सन्निकट पहुँचाना था अथवा नयी कविता की जीवनधारा को पहचानकर उसके साथ आगे चलना था।

समकालीन कविता के अध्ययन मनन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि इसमें मासूमियत की ओर झुकाव बहुत ही अधिक है। देश की आजादी पर मँडराते हुए पाकिस्तानी अतिक्रमणों और देश की आंतरिक और बाह्य सुरक्षा को दर किनार करते हुए आतंकवादी हमलों के कुपरिणाम स्वरूप हो रही हाय-हत्या और अभावग्रस्त जीवन का अति मार्मिक चित्रण इस कविता की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस कविता में एक ओर व्यक्तिगत पीड़ा को या किसी स्थिति की विषमता को व्यक्त करने वाले कवि हैं, तो दूसरी ओर क्रुद्ध और विद्रोही पीढ़ी की कविताएँ इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं। विद्रोही पीढ़ी की कविताएँ अत्यधिक तेज धक्कामार और आज के जीवन की सड़ांध को अत्यधिक प्रत्यक्षता से उभारने वाली हैं।

वे चुपचाप सुनते हैं
उनकी आँखों में विरक्ति है
पछतावा है
या क्या है, कुछ पता नहीं चलता।
वे इस कदर पस्त हैं
कि तटस्थ हैं
और मैं सोचने लगता हूँ कि इस देश में
एकता युद्ध की और दया
अकाल की जूंजी है
क्रान्ति
किसी अबोध बच्चे की
हाथों की पूंजी है।

समकालीन कविता में आम जिन्दगी की विवशता को बड़ी मार्मिकता और वास्तविकता के साथ अंकित किया गया हैं। किसी कवि का यह कहना बड़ा ही सटीक लगता है-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सोने का वो पंछी
भूल गया मुसकाना।
दूध–दही के देश को
मयस्सर नहीं एक दाना॥
वर्षों की गुलामी ने
हमें ऐसा जकड़ा–मसला।
हमारा धर्म हो गया
कम खाना, गम खाना॥

अतृप्तियाँ तुष्टि पाकर सुखवाद बन गई हैं, और सुखवाद में माँसल, शारीरिक और एन्द्रिय सुख को प्राप्त किया जा सकता है–

फैल रही है परिधि स्तनों की
हसरतें अभी जवान हैं।
आओ दोस्तो और साथियों
आओ मेरे झण्डे के नीचे
उत्सव करें
नाचें, गाएं रक्त की लय पर

17.9 समकालीन कविता का शिल्प–पक्ष –

समकालीन कविता का शिल्प–पक्ष विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। इसके काव्य–रूप, इसकी भाषा, इसके बिम्ब और प्रतीक, छन्द आदि अधिक प्रभावशाली और अद्‌भुत रूप में हैं। नीचे हम इसके शिल्प पक्ष पर क्रमशः प्रकाश डाल रहे हैं–

17.9.1 काव्य–रूप – नये कवियों की तरह समकालीन कविता के कवियों ने प्रबंधकाव्य के स्थान लम्बी–लम्बी कविताओं को लिखा। भवानी प्रसाद मिश्र का 'कालजयी', जगदीश गुप्त की 'गोपिका', जगदीश चतुर्वेदी का 'सूर्य पुत्र', विनय की 'महाश्वेता', नरेश मेहता का 'महाप्रस्थान का प्रबन्ध ढाँचा' 'प्रबन्ध काव्य का स्थानापन्न है। इसी प्रकार राजकमल चौधरी की 'मुक्ति–प्रसंग' 'कंकावती' धूमिल की 'पटकथा', 'मोचीराम', पारसनाथ सिंह की 'मुक्ति पर्व', लीलाधर जगूड़ी की 'इस व्यवस्था में', कमलेश की 'जरत्कास', अशोक वाजपेयी की 'जबरजोत' जगदीश चतुर्वेदी की 'एक लंगडे आदमी का बयान', सौमित्र मोहन की 'लुकमान अली' ऋतुराज की 'दिनचर्या', विनोदकुमार शुक्ल की 'लगभग जय–हिन्द' देवेन्द्र कुमार की 'खासकर उन्हीं अर्थों में', आग्नेय की 'अपने ही खिलाफ', कुमार विमल की 'एक सामरिक चुप्पी', वेणुगोपाल की 'ब्लेक मेल', चन्द्रकांत देववाले की 'दृश्य' विष्णु खरे की 'एक चीज के लिए' इस दौर की उल्लेखनीय लम्बी कविताएं हैं। इस दौर में जो नवगीत आंदोलन चले, वे संवेदना–शिल्प की दृष्टि से पुराने गीतों से बिल्कुल अलग हैं।

17.9.2 भाषा– समकालीन कविता की भाषा की शब्दावली कारतूस के समान बड़ी ही विस्फोटक है। इस प्रकार समकालीन कविता की भाषा आम आदमी की भाषा है। उसमें एक खास टोन है–

'फौजी दस्ते की तरह अंधेरे में,
एक भाषा खाइयाँ बदल रही है
चीजों की व्यवस्था में
तुम्हारा इस तरह गायब हो जाना
मेरे लिखने की भाषा है
अब निरन्तर सुन रहा हूँ अपने भीतर खुर–खुर
भाषा का जो आघात पहुँच रहा है
मेरी मरम्मत के बहाने।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

समकालीन कविता के कवि जीवन के अनुभव को संवेदना की गहराई से किस प्रकार पकड़ते है, इसका एक उदाहरण देखिए–

'गीली मिट्टी की तरह हाँ–हाँ मत करो
तनो
अकड़ो
अमरबेलि की तरह मत जियो
जड़ पकड़ो।'

17.9.3 बिम्ब और प्रतीक– समकालीन कविता के बिम्ब और प्रतीक आम आदमी की रोजमर्रा की जिन्दगी के हैं। केदारनाथ सिंह की कविता ''बैल'' असहाय और लाचार आदमी का प्रतीक है। वह दूसरों से हाँका और चलाया जाता है–

''वह एक ऐसा जानवर है जो दिनभर
भूसे के बारे में सोचता है
रातभर ईश्वर के बारे में।''

इस प्रकार से श्रीकान्त वर्मा की कविता 'मगध' है–

'केवल अशोक लौट रहा है
और सब
कलिंग का पता पूछ रहे हैं
केवल अशोक सिर झुकाए है
और सब विजेता की तरह चल रहे है।'

17.9.4 छन्द– समकालीन कविता ने मुक्त छन्द की सर्जनात्मक संभावनाओं का यथाशक्ति प्रयोग किया है। रघुवीर सहाय का इस दृष्टि से किया गया योगदान अत्यधिक प्रभावशाली रूप में है, जैसे–

'बच्चा गोद में लिए
चलती बस में
चढ़ती स्त्री
और मुझ में कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ।'

'धूमिल' ने जिस प्रकार लोक छन्दों के प्रयोग किए हैं, वे निश्चय ही अविस्मरणीय हैं, जैसे

'अपने यहाँ संसद
तेल की वह घानी है
जिसमें आधा तेल
और आधा पानी है।'

17.10 सारांश–

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समकालीन कविता अपने युग की एक ऐसी अजस्र कविता धारा है, जिसकी बहुत बड़ी संभावनाएँ हैं। पद्मधर त्रिपाठी, ऋतुराज, चन्द्रकांत देववाले, लीलाधर जगूड़ी, विष्णुचन्द्र शर्मा, प्रवण कुमार बन्द्योपाध्याय, विजेन्द्र, डॉ. विनय आदि इस कविता धारा के प्रतिनिधि कवि हैं।

17.11 अभ्यास प्रश्न

1. समकालीन कविता अपने परिदृश्य में अधिक विशाल हो जाती है। इस कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।
2. समकालीन कविता अपने युग की अजस्र कविता धारा है। स्पष्ट कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-6 : आधुनिक हिन्दी गद्य की विधाएँ

इकाई - 18

आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य

संरचना

18.0 प्रस्तावना
18.1 उद्देश्य
18.2 हिन्दी कहानी
 18.2.1 आरम्भिक हिन्दी कहानी
 18.2.2 प्रेमचन्द युगीन हिन्दी कहानी
 18.2.3 प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी
 18.2.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी
18.3 समकालीन हिन्दी कहानी : दशा एवं दिशा
18.4 हिन्दी कहानी में दलित चेतना
18.5 हिन्दी कहानी- शिल्प का विकास
18.6 हिन्दी उपन्यास
 18.6.1 आरंभिक हिन्दी उपन्यास
 18.6.2 प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उपन्यास
 18.6.3 प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास
 18.6.4 स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास
 18.6.5. समकालीन हिन्दी उपन्यास
18.7 हिन्दी उपन्यास में दलित चेतना
18.8 हिन्दी उपन्यास शिल्प का विकास
18.9 सारांश
18.10 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.0 प्रस्तावना :-

इस इकाई में हम हिन्दी गद्य को दो प्रमुख विधाओं-हिन्दी कहानी और हिन्दी उपन्यास-पर समालोचनात्मक प्रकाश डालेंगे। इसके अंतर्गत हम यह समझाने का प्रयास करेंगे कि कथा-साहित्य कहानी, उपन्यास से संबंधित साहित्य को ही कहते हैं। ये दोनों ही विद्याएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय गद्य विद्याएँ हैं। यह भी कि ये दोनों ही संवेदना, कथा, शिल्प एवं संचेतना की दृष्टि से प्राचीन भारतीय कथा और आरण्यापिका की परम्परा से अलग और आधुनिक संचेतना से परिपूर्ण हैं।

18.1 उद्देश्य :-

इस इकाई में हम हिन्दी कहानी और हिन्दी उपन्यास के विकास पर प्रकाश डालते हुए बदलते सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों में इन दोनों ही विधाओं की वस्तु, संरचना और दृष्टि में उपस्थित परिवर्तनों का उल्लेख कर सकेंगे।

इस इकाई में समकालीन हिन्दी कहानी उपन्यास की दशा-दिशा, इनमें चित्रित दलित चेतना और इन दोनों की शिल्पगत विशेषताओं को सामने रख सकेंगे।

18.2 हिन्दी कहानी :

हिन्दी कहानी के संपूर्ण विकास-क्रम को हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं-

1. आरंभिक कहानी
2. प्रेमचंद युगीन कहानी
3. प्रेमचन्दोतर कहानी
4. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी
5. समकालीन हिन्दी कहानी

18.2.1 आरंभिक हिन्दी कहानी :- 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी में कहानियाँ लिखी जाने लगीं। सरस्वती के प्रथम वर्ष (सन् 1900) में ही किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमति' नामक कहानी छपी। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने 'इन्दुमती' को हिन्दी की पहली मौलिक कहानी माना है, तो डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 1907 ई. में प्रकाशित बंग महिला नामक लेखिका की 'दुलाई वाली' कहानी को हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी सिद्ध किया है।

'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी से कहानी का युग आरम्भ होता है। इस युग की अन्य कहानियों में सन् 1903 में प्रकाशित रामचन्द्र शुक्ल की मौलिक कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' और 1907 ई. में प्रकाशित बंग महिला की 'दुलाई वाली' कहानी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, फिर भी हिन्दी कहानी का साहित्यिक स्वरूप द्वितीय उत्थानकाल में ही स्थिर हो सका।

सन् 1911 में जयशंकर प्रसाद ने 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया और उसमें अपनी सर्वप्रथम कहानी 'ग्राम' सन् 1911 में प्रकाशित की। प्रसादजी की कहानियाँ प्रौढ़ साहित्यिक कहानियाँ हैं। प्रसाद युग में अनेक कहानीकार हुए। इनमें से कुछ ये हैं- विश्म्भरनाथ शर्मा कौशिक, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, ज्वालादत्त शर्मा, प्रेमचन्द, राजा राधिकारमण सिंह आदि। मंशी प्रेमचंद की सर्वप्रथम कहानी, 'पंच परमेश्वर' 1916 ई. में छपी। इस प्रकार द्वितीय उत्थान काल में हिन्दी कहानी अपने साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित हुई।

18.2.2 प्रेमचंद युगीन हिन्दी कहानी- इस काल के दो प्रमुख कहानीकार जयशंकर प्रसाद और मुंशी प्रेमचन्द हैं। इसे प्रेमचन्द-प्रसाद युग भी कहते हैं। प्रेमचन्द भारतीय जीवन की परिस्थितियों एवं समस्याओं को लेकर उच्चकोटि की चरित्र प्रधान सामाजिक कहानियाँ लिखने में अद्वितीय सिद्ध हुए। इस उत्थानकाल में छायावादी कवियों (पंत, निराला, महादेवी वर्मा) ने भी कुछ साहित्यिक कहानियाँ लिखी। इस काल के अन्य प्रसिद्ध लेखकों में ये हैं- जैनेन्द्र कुमार, भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेजी, पाण्डेय बैचेन शर्मा उग्र, चण्डीप्रसाद हृदयेश आदि।

इस काल की कहानियाँ पूर्व-प्रेमचन्द कहानी की तुलना में कलात्मक दृष्टि से प्रौढ़ हैं। प्रवृत्तियों की दृष्टि से भी इन कहानियों में विविधता पाई जाती है। यों तो इस काल की कहानियों में सुधारवादी प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, फिर भी एक अंतर स्पष्ट है और वह यह कि इस युग की कहानियों में सुधारवादी प्रवृत्ति सहज, स्वाभाविक और कलात्मक है, आरोपित नहीं है। इस युग के लेखकों की गति तो यथार्थ के पथ पर है, इस उनकी दृष्टि सदा आदर्श पर टिकी रही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस युग की रचनाओं में आदर्शाभिमुख यथार्थवाद की प्रवृत्ति है। मुंशी प्रेमचन्द की रचनाएं इसी कोटि में आती है। इन कहानियों में यथार्थवाद की सीमाएं केवल उच्च वर्गीय व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि उनमें से मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय व्यक्तियों को भी स्थान मिला है। इन कहानियों का यथार्थवाद यथातथ्यवाद से भिन्न प्रकार का है। यह कल्पना से सज-संवर कर ऐसे रूप में सामने आता है कि संपूर्ण मानव जाति के लिए एक आदर्श बन जाता है।

व्यक्ति के समाज-निरपेक्ष अस्तित्व की स्वीकृति इस युग की कहानियों की एक मुख्य प्रवृत्ति है। प्रेमचन्द की 'ईदगाह', 'जयशंकर प्रसाद' की 'गुण्डा', सुदर्शन की 'अलबम', उग्र की 'भुनगा' विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की 'इक्केवाला' इसी प्रकार की कहानियाँ है, जिनमें व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता की झाँकी मिलती है। प्रसादजी ने इसी युग में भावप्रधान ऐतिहासिक कहानियों की रचना की है। इनकी कहानियों में आदर्श और सांस्कृतिक चेतना का सुन्दर समावेश है। रायकृष्ण दास, विनोदशंकर व्यास तथा गोविन्दवल्लभ पंत आदि प्रसाद परम्परा के ही कहानीकार हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रेमचन्द युगीन कहानी सामाजिक दृष्टि को प्रधान मानकर चली है। प्रेमचन्दजी ने अपनी कहानियों में वास्तविक घटनाओं और समस्याओं को लेकर आदर्श की स्थापना की है। उनकी कहानियों में वर्त्तमान की पीड़ा तथा न्याय-अन्याय का संघर्ष पद-पद पर परिलक्षित होता है। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी में उभरने वाली सभी प्रवृत्तियों का मूल स्रोत वास्तव में प्रेमचन्द की कहानी में ही खोजा जा सकता है।

18.2.3 प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी– उत्तर-प्रेमचन्द युगीन कहानी में प्रमुख रूप से जो दो प्रवृत्तियाँ उभर कर आती है, वे हैं– 1. मनोवैज्ञानिक, 2. समाजवादी। जैनेन्द्रजी की दार्शनिकता से युक्त कहानियाँ, इलाचन्द जोशी की 'कामा' तथा अश्कजी की 'स्वप्न' कहानी मनोवैज्ञानिकता की प्रवृत्ति को सामने लानी है। इस प्रवृत्ति को जिन अन्य कहानीकारों ने अपनी कहानियों में दर्शाया है, वे हैं– भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' तथा विष्णु प्रभाकर आदि।

इस काल के कहानीकारों ने पात्रों के मनोविश्लेषण को प्रधानता दी है। उन्होंने पात्रों के मानसिक अन्र्द्वन्द्व का चित्रण किया। इस युग के प्रमुख कहानीकारों के नाम हैं– जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, यशपाल, राहुल अमृतलाल नागर, रांगेयराघव आदि।

उत्तर-प्रेमचन्द्र युगीन कहानी में समाजवादी प्रवृत्ति के पोषक और प्रवर्त्तक हैं– यशपाल। इन्होंने अपनी कहानी में समाज में प्रचलित जर्जर रूढ़ियों के प्रति विद्रोह व्यक्त किया है। राहुत सांकृत्यायन, रांगेय राघव तथा नागार्जुन आदि की कहानियों में यही प्रवृत्ति देखने में आती है। इसके अतिरिक्त इस युग में सामाजिक-पारिवारिक समस्याओं को लेकर भी कहानी की रचना हुई है। ऐतिहासिक एवं आंचलिकता की प्रवृत्ति भी इस युग की कहानियों में द्रष्टव्य है।

18.2.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी– स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का आंदोलनों के स्वतन्त्र विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर किया जा रहा है–

नयी कहानी : आंदोलन की शुरूआत– स्वतन्त्रता प्राप्ति तक हिन्दी में कोई कहानी आंदोलन नहीं चला था। लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 'नयी कहानी' के रूप में एक ऐसी कहानी का आन्दोलन चला, जिसने कहानी के परम्परागत प्रतिमानों को नकार दिया और अपने मूल्यांकन के लिए नई कसौटियाँ रखीं।

इस काल की हिन्दी कहानी को नई कहानी कहते हैं। नई पीढ़ी के कहानीकारों ने मनोविश्लेषण और अन्तश्चेतनवाद की कृत्रिमता से हिन्दी कहानी को उबारा। वर्तमान युग की 'नई कहानी' ने भाव और शैली के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की। आज की कहानी जनवादी विचारधारा को लेकर चल रही है। ग्रामीण या जनपद के अंचल को लेकर आंचलिक कहानियों का निर्माण भी हो रहा है। 'नई कहानी' जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रवेश कर रही है। गाँव, कस्बा और नगर तीनों धरातलों के माध्यम से वर्त्तमान कहानीकार अपनी रचना प्रस्तुत करता है। नयी कहानी में सांकेतिकता एवं प्रकृति-चित्रण का विशेष महत्त्व है। इनमें चरम सीमा का आग्रह नहीं है। नई कहानियों में पात्रों की विशेष मन-स्थितियों का ही चित्रण किया गया है, इनमें चरित्र की असंगतियों का अंश नहीं है। नई कहानी में सामाजिक पृष्ठभूमि को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इस युग के प्रमुख कहानीकार हैं– धर्मवीर भारती, रांगेयराघव, मोहनसिंह सेंगर, राजेन्द्र यादव, बलवन्तसिंह, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, डॉ. लक्ष्मीनारायण, कमलेश्वर, लोचन बख्शी, अमरकान्त, पानू खोलिया, ओंकार शरद, श्रीकान्त वर्मा, कृष्णदेव वैद आदि-आदि।

सचेतन कहानी, अकहानी और सहज कहानी– सन् 1950 से हिन्दी कहानी ने एक नयी दिशा पकड़ी है। उसमें कथ्य और शिल्प का नयापन है। हिन्दी-साहित्य के कुछ इतिहासकार इस कहानी को 'नई कहानी' का संज्ञा देते हैं। इस कहानी में दो विरोधी स्वर देखने में आते हैं– 1. मूल्यवादी स्वर और 2. विघटित मूल्यों के परिवेश में चीख, संत्रास और बदले हुए रिश्तों का स्वर। सन् 1960 से 1970 तक की कहानियों में मूल्यवादी तथा सातवें दशक में दूसरी प्रवृत्ति की झलक दिखाई देती है।

सातवें दशक की कहानियों के क्षण बोध तथा आधुनिक भाव बोध को अधिक महत्त्व मिला है। सांकेतिक्ता की प्रवृत्ति आज की कहानी की पहचान-सी बन गयी है। आज की कहानी प्रतीक एवं बिम्ब विधान में नई कविता के निकट जान पड़ती है।

सचेतन कहानी– 'नयी कहानी' की आत्मपरकता और रूपवादी प्रवृत्ति के विरोध में 'सचेतन कहानी' का आंदोलन खड़ा हो गया। संचेतन कहानी की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इसने सचेत रूप से जीवन में सक्रियता, आशा, आस्था और संघर्ष का भाव संचारित करने पर बल दिया और प्रतिगामी मनोदशाओं का निषेध किया। महीपसिंह, मनहर चौहान राम दरश मिश्र, नरेन्द्र कोहली, जगदीश चतुर्वेदी आदि इस कहानी धारा के प्रमुख रचनाकार हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अकहानी–अकहानी के रचनाकारों ने नकार या अस्वीकार का दर्शन अपनाया। इस कथाधारा में किसी भी तरह की मूल्य – स्थापना के अस्वीकार के संकल्प हैं। इसमें मनुष्य की पीड़ा, संप्रास, कुंठा, व्यर्थताबोध, अजनबीपन, नगरूयताबोध आदि के चित्रण बड़ी तन्मयता के साथ यथार्थमयी चेतना द्वारा नए परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। अकहानी और अकविता सगोत्रिय हैं। जगदीश चन्द्र चतुर्वेदी, श्रीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, दूधनाथ सिंह, महेन्द्र भल्ला, गंगाप्रसाद विमल आदि इस काव्यधारा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं।

सहज कहानी – अमृतराय ने सहज कहानी की व्याख्या करते हुए लिखा है – मोटे रूप में इतना ही कह सकते हैं कि सहज वह है, जिसमें आडम्बर नहीं है, बनावट नहीं है, ओढ़ा हुआ मैनरिज्म या मुद्रा दोष नहीं है, आइने के सामने खड़े होकर आत्मरति के भाव से अपने ही अंग–प्रत्यंग को अलग–अलग कोणों से निहारते रहने का प्रयत्न नहीं है, किसी का अंधानुकरण नहीं है।

समानान्तर कहानी – सचेतन कहानी और अकहानी के बाद समानान्तर कहानी का आंदोलन सन 1947 में उठ खड़ा हुआ। यह आंदोलन जनवादी ताकतों को कुचलने वाली इन्दिरा गांधी की कटिबद्धता के विरोध में हुआ। भीष्म सहानी, चण्डी प्रसाद हृदयेश, कमलेश्वर, गोविन्द मिश्र, इब्राहिम शरीफ, सतीश जायसवाल आदि इसके प्रमुख हस्ताक्षर हैं।

सक्रिय कहानी – राकेश वत्स ने सक्रिय कहानी के विषय में लिखा है सक्रिय कहानी का सीधा और स्पष्ट मतलब है – आम आदमी की चेतनात्मक ऊर्जा और जीवन्तता की कहानी। सुरेन्द्र कुमार, रमेश बत्तरा, कुमारसंभव, राकेश वत्स, धीरेन्द्र अस्थावा आदि इसके प्रमुख रचनाकार हैं।

जनवादी कहानी– सन् 1982 ई. में 'जनवादी लेखक संघ' की स्थापना हुई। उसके राष्ट्रीय अधिवेशन के उपरान्त जनवादी लेखन कार्य राष्ट्रीय स्तर पर बड़ी तेजी से होने लगा। इसकी पृष्ठभूमि में प्रेमचंद की जन पक्षधरता, यशपाल, रांगेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, भीष्म साहनी, अमरकांत, शेखर जोशी आदि का बहुत बड़ा योगदान है। इस जनवादी कहानी के प्रमुख कहानीकार रमेश उपाध्याय, रमेश बत्तरा, स्वयं प्रकाश, हेतु भारद्वाज, नमिता सिंह, असगर वजाहत, उदय प्रकाश, राजेश जोशी, धीरेन्द्र अस्थाना, विजयकान्त आदि हैं।

18.3 समकालीन हिन्दी कहानी–दशा एवं दिशा

समकालीन हिन्दी कहानी आंदोलन की संकीर्णताओं से अब बाहर आना चाहती है। इसका मुख्य कारण यही है कि इसके कथाकार इसके आंदोलनगत खतरों के जानकार हो चुके हैं। इसलिए वे स्वतंत्र होकर साहित्य–साधना में लग रहे हैं। इस प्रकार आज का कहानीकार अपने समय की वृहद्ता ईमानदारी और सच्चाई को उसकी समग्रता में चित्रित प्रस्तुत करने में लगा हुआ है। वास्तव में आज के राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भों–वैश्वीकरण, उदारीकरण, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया आदि के बढते हुए दबाबों का पहचानकर उनके बीच से जीवन–मार्ग को तलाशने के अपने उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के प्रति समकालीन कहानीकार सजग है।

18.4 हिन्दी कहानी में दलित चेतना–

अभी कुछ ही वर्षों में हिन्दी में दलित साहित्य का स्वर सनाई देने लगा है। इसलिए इसका पूरा स्वरूप अभी पूरी तरह से उभरकर सामने नहीं आया है। फिर भी जगह–जगह दलित लेखकों के संगठन, अधिवेशन आदि सामने आ चुके हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, डॉ. श्योराज सिंह बेचैन, कँवल भारती, डॉ. धर्मवीर, जयप्रकाश कर्दम आदि हिन्दी कहानी में दलित चेतना के प्रतिनिधि कहानीकार हैं।

18.5 हिन्दी कहानी– शिल्प का विकास–

हिन्दी कहानी– शिल्प का निरन्तर विकास होता रहा है। प्रारंभिक कहानी का शिल्प लोक कथा– शिल्प के अधिक निकट रहा है। उसमें धार्मिक–पौराणिक कथा शैली के अनुप्राण और फारसी की मसनबी शैली की आख्यानक परम्परा का प्रभाव है। उसके कथानक स्थूल और घटना प्रधान और कुतूहलवर्द्धक हैं। उसके कथा– शिल्प में आकस्मिकता और उद्देश्य में उपदेशात्मकता और नीतिपरकता है।

'नयी कहानी' का कथा–शिल्प प्रयोगशीलता प्रधान रहा। उसके कथानक सूक्ष्म जीवन–यथार्थ की प्रामाणिकता पर आधारित हो गए। वस्तु के अनुरूप नयी भाषा–शैली प्रयुक्त हो गई। इसके शिल्प में संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी आदि विधाएं समा गई।

'अकहानी ' के भाषा–शिल्प ने परम्परागत भाषा–शिल्प का विरोध कर नये भाषा–शिल्प को अपनाया। डायरी, संस्मरण आदि इसमें घुल–मिल गये। सचेतन कहानी का शिल्प सरल, सीधा और आकार में छोटा हो गया। इसमें अतिशय–शिल्प–सजगता पर ध्यान दिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गया। समकालीन कहानी के कथ्य और शिल्प में नवीनता और प्रयोगशीलता पर बल दिया गया। इसके द्वारा कहानी को फार्मूलाबद्ध होने से बचने की सार्थक कोशिश की गई।

18.6 हिन्दी उपन्यास

हिन्दी उपन्यास के विकास को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है-

1.आरंभिक हिन्दी उपन्यास या प्रेमचंद- पूर्व हिन्दी उपन्यास
2. प्रेमचंद युगीन हिन्दी उपन्यास
3. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास
4. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास
5. समकालीन हिन्दी उपन्यास

18.6.1 आरंभिक उपन्यास- इसका काल सन् 1877 ई. से लेकर सन् 1918 ई. तक माना जा सकता है। इस काल में दो प्रकार के उपन्यास हैं- एक तो बंगला और अंग्रेजी से अनुदित उपन्यास और दूसरे मौलिक उपन्यास। श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतेन्दु हरिशचन्द्र के 'पूर्व प्रकाश' और 'चन्द्रप्रभा' को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास माना है। कुछ लोग श्रद्धाराम फिल्लौरी के भगवती नामक उपन्यास को हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास मानते हैं। इस काल में सामाजिक, जासूसी तिलस्मी-ऐय्यारी, ऐतिहासिक और भावप्रधान उपन्यास लिखे गये।

सामाजिक उपन्यास- पूर्व प्रेमचंद युगीन सामाजिक उपन्यासों की बड़ी भूमिका रही है। किशोरीलाल गोस्वामी, श्रद्धाराम फिल्लौरी, लाला श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, गोपालराम गहमरी, लज्जाराम मेहता आदि इस युग के महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास- पूर्व प्रेमचंद युगीन- ऐय्यारी उपन्यासों की भी अधिक रचना हुई। देवकीनंदन खत्री, हरिकृष्ण जौहर, किशोरीलाल गोस्वामी आदि इस युग के तिलस्मी-ऐय्यारी उपन्यासों के उल्लेखनीय रचनाकार हैं। देवकीनंदन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकांता संतति ' उपन्यास हिन्दी के सर्वाधिक उल्लेखनीय तिलस्मी ऐय्यारी उपन्यास सिद्ध हुए हैं।

जासूसी उपन्यास- तिलस्मी ऐय्यारी उपन्यासों की लोकप्रियता के फलस्वरूप गोपालराम गहमरी को अलग तरीके से अपनी प्रसिद्धि के लिए जासूसी उपन्यासों की रचना की ओर मुड़ना पड़ा। हिन्दी के जासूसी उपन्यासकारों में गोपालराम गहमरी, रामलाल शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, जयराम दास गुप्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास- मध्यकालीन भारतीय मुगल शासन से संबंधित अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए। किशोरीलाल गोस्वामी, गंगाप्रसाद, मथुरा प्रसाद शर्मा, ब्रजनंदन सहाय आदि इस युग के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं।

भावप्रधान उपन्यास- इस युग में भावप्रधान उपन्यास भी लिखे गए। उनमें न घटना है और न चरित्र। इनमें केवल भावतत्त्व की ही प्रधानता है। ठाकुर जगमोहन सिंह, ब्रजनंदन सहाय आदि इस युग के भावप्रधान उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं।

18.6.2 प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उपन्यास- प्रेमचन्द युग में लिखे गए उपन्यासों को प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उपन्यास के नाम से जाना जाता है। हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द का स्थान अद्वितीय है। उन्हें उपन्यास सम्राट कहा जाता है। उन्होंने पहली बार हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी। इस युग में हिन्दी उपन्यास का सर्वांगीण विकास हुआ। प्रेमचन्दजी ने उपन्यासों में यथार्थ की भूमिका पर पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान दिया तथा मानव-जीवन और प्रमुख रूप से कृषक वर्ग और राष्ट्रीय आंदोलन की अभिव्यक्ति अपने उपन्यासों में की। उनकी सबसे बड़ी विशेषता सरलता और अकृत्रिमता है। हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में यथार्थवादी विचारधारा का उचित प्रकाशन प्रेमचन्द से ही प्रारंभ होता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'प्रेमचन्द शताब्दियों' से पद-दलित, अपमानित और शोषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबर्दस्त वकील थे, गरीबों और बेबसों के महत्त्व के प्रचारक थे। 'प्रेमचन्द ने उच्चकोटि के साहित्यिक उपन्यासों की रचना की।' उनके अनेक उपन्यासों में 'गोदान' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचन्द युग में जयशंकर प्रसाद ने तीन उपन्यास लिखकर अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था। 'कंकाल' उनका यथार्थवादी उपन्यास है। 'तितली' में नारी-भावना का प्रकाशन है। 'इरावती' उनका अधूरा उपन्यास है। प्रेमचन्द युग के अन्य उपन्यासकारों में प्रसिद्ध है-विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, जैनेन्द्रकुमार तथा वृन्दावनलाल वर्मा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

18.6.3 प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास- डॉ. सत्यपाल चुघ ने प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास के बारे में लिखा है-'प्रेमचन्दोत्तर युग में उपन्यास साहित्य का विपुल विस्तार हुआ है। पूर्ववर्ती युगों का विशेष आग्रह कथनीय पर रहा, आलोच्य युग में ही उपन्यासकार शिल्प सजग हुए। यही शिल्प सजगता आगे अनेक अभिनव प्रयोगों में मूर्तिमन्त हुई है। वस्तुत: उपन्यास की लोचपूर्ण स्वच्छन्दता में अन्य साहित्य रूपों को स्वयं विलय करने की जो अद्‌भुत सामर्थ्य है, उसका वास्तविक तथा प्रभूत परिचय इसी युग में मिलता है।'' प्रेमचन्द ने उपन्यास के आविर्भाव की जो रचना शक्ति भरी, उसका संपूर्ण जौहर प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास में देखने को मिलता है। आलोचक के लिए उपन्यास के उभरे स्वरूप का आकलन करना कठिन या साहित्य के प्रत्येक स्वरूप को उपन्यास ने अपने में समाहित किया है। झांसी की रानी में (जीवनमूलक शिल्प), बिल्लेसुर बकरिहा (रेखाचित्रात्मक शिल्प), जयवर्धन (डायरीमूलक शिल्प), शेखर: एक जीवनी (आत्मसंस्मरणात्मक शिल्प), बाणभट्ट की आत्मकथा (यथा आख्यायिकामूलक रूप) सूरज का सातवां घोड़ा (कहानी मूलक शिल्प), काठ का उल्लू और कबूतर (लोककथात्मक शिल्प), बूंद और समूद्र (महाकाव्यात्मक शिल्प), ये कोठेवाालियां (इण्टरव्यूपरक शिल्प) आदि रूप देखने योग्य हैं। प्रेमचन्दोत्तर काल में प्रकाशित होने वाले उपन्यासों की संख्या अनगिनत है।

आदर्शोंन्मुखी यथार्थवाद का समर्थन यद्यपि प्रेमचन्द ने किया, उसी को प्रतिष्ठित करने की उनके समकालीन अन्य उपन्यासकारों ने चेष्टा की। शनै:शनै आदर्शोन्मुखता लुप्त होकर यथार्थ के नाम पर दूसरी अन्य प्रवृत्ति पनपने लगी। यही प्रवृत्ति आगे चलकर स्वतन्त्रवाद के रूप में प्रकट हुई, जिसे प्रकृतिवाद कहते हैं। इसके अन्तर्गत मानव का संस्कृति और सभ्यता का बोछा उतार फेंकने में ही उद्धार है। आगे के विश्लेषण-प्रधान उपन्यासों में रूपान्तर के रूप में यह प्रवृत्ति प्रकट हुई। अवध के नवाबों की रंगीन रातें, चन्द हसीनों के खतूत, दिल्ली का दलाल, शराबी, सरकार तुम्हारी आंखों में, जीजीजी आदि उनके ख्याति प्राप्त उपन्यास हैं। नग्न यथार्थ को देखकर पहली बार तो सब उस ओर आकृष्ट हुए। हिन्दी पाठकों 'युवक वर्ग' ने उन उपन्यासों को बहुत प्रेम से पढ़ा। परन्तु यह सम्मोहन अधिक देर तक न ठहरकर शीघ्र ही टूट गया। शैली के संयत और संतुलित हो जाने की सबसे बड़ी विशेषता अंग्रेजी के उपन्यास की व्यंग्यमयता है।

प्रेमचन्द के मनोविश्लेषणपरक उपन्यासों का अभाव नहीं था परन्तु जैनेन्द्रजी की 'परख' में उनका वह रूप प्रेमचन्दोत्तर काल की देन है। सुनीता, कल्याणी, सुखदा, वितर्त, त्यागपत्र, व्यतीत, जयवर्द्धन आदि जैनेन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास है। इन सभी उपन्यासों में घटना का वर्णन नहीं, बल्कि मानव मन की थाह लेने का प्रयास अधिक किया गया है। व्यक्तिमूलक असंगतियों तथा मानसिक द्वन्द्व का विश्लेषण, कुण्ठाओं चेतन-अचेतन आदि संघर्ष का वर्णन सावधानीपूर्वक किया गया है। बिल्कुल नवीन दिशा की ओर जैनेन्द्र की रचना-शैली ने संकेत किया है। कुछ नए लेखकों के सामने आने पर पाठकों को अनेक उच्च कोटि के उपन्यास पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। संन्यासी, प्रेत और छाया, पर्दे की रानी, मुक्ति पथ, सुबह के भूले, जिप्सी, जहाज का पंछी तथा ऋतुचक्र इलाचन्द्र जोशी के। शेखर : एक जीवनी भाग-१, भाग-२, नदी के द्वीप तथा अपने-अपने अजनबी, अज्ञेय के। पथ की खोज, बाहर-भीतर, रोडे और पत्थर तथा अजय की डायरी आदि डॉ. देवराज के सूरज का सतावां घोड़ा, गुनाहों का देवता, धर्मवीर भारती के तथा द्वाभा व सांचा प्रभाकर माचवे आदि के ख्याति-प्राप्त उपन्यास हैं।

हिन्दी उपन्यास की गरिमा अदृश्य मन के चित्र खींचने के कारण नि:संदेह आगे बढ़ी। आज वह विदेशी उपन्यासों से सामना करने में समर्थ हो गया है। सीमाओं में घिर जाने के कारण इन उपन्यासकारों का अनुभूति क्षेत्र व्यापक रूप ग्रहण न कर सका। डॉ. गणेशन ने वैसा ही अनुभव किया तथा लिखा है- ''एक विषादात्मक दर्शन की प्रेरणा से लिखित हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनुष्य की सामान्य बुद्धि की प्रामाणिका का निषेध कर उसके अतीत, अज्ञात एवं अस्पष्ट अन्तश्चेतना के निगूढ़ रहस्यों का आविष्कार करने का आग्रह दिखाई पड़ता है। उनमें एक सीमित परिधि के अन्दर रहकर बौद्धिकता के द्वारा अप्राप्य एक संसार को ढूंढ निकालने का प्रयास है, जिसकी उपलब्धियां अभी शैशवास्था में ही है।'' इसी प्रकार की धारणा डॉ. देवराज की भी है-'' हिन्दी में फ्रायड की अचेतन कामवृत्ति की पुस्तकों के न होने से इसका ज्ञान हमारें लेखकों को न हो सका। इसीलिए ये कृतियां या तो अस्पष्ट रह जाती हैं या फिर उनमें सिद्धान्त प्रतिपादन अधिक मिलता है और जीवनानुभूति की प्रेरणा कम।'' तथापि हमारे उन उपन्यासकारों के प्रश्न अत्यधिक प्रशंसनीय हैं। उन्होंने उपन्यास को नवीन दिशा दी तथा प्रभावोत्पादक अदृश्य मन के चित्र पर्याप्त मात्रा में अंकित किए। डॉ. सुषमा धवन ने इस संबंध में लिखा है- मनोविश्लेषणवाद उपन्यास में वैयक्तिक अनुभूति का चित्रण अत्यधिक गंभीर तथा मार्मिक है, चाहे वह कितना ही सीमित एवं खण्डित हो।'

छायावादी वैयक्तिकता के विरुद्ध जन्म लेने वाली प्रतिक्रिया को तत्कालीन राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति की ओर से भी बल मिला। सुभाषचन्द्र का उग्रवादी आंदोलन जोरों पर था तथा गांधीजी को स्वतन्त्रता की मांग राष्ट्रीय क्षेत्र में जोर पकड़ रही थी। तानाशाही का विरोध अंतराष्ट्रीय क्षेत्र में किया जा रहा था। रक्तिम क्रान्ति के पश्चात् रूस की जनशक्ति की सफलताओं ने नवीन लक्ष्य की ओर संकेत किया। जन-शक्ति अस्तित्व के प्रति जनतन्त्र की विजय पर मन सजग हो गया। ऐसी स्थिति में नवीन प्रगतिवादी धारा ने जन्म लिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रगतिवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से सर्वाधिक प्रभावित हुआ। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की अलौकिक सत्ता पर आस्था न होने के कारण 'अर्थ' पर जीवन की प्रमुख संस्था आधारित है। प्रत्येक युग की सामाजिक तथा सांस्कृतिक मान्यताएं सम्पत्ति के उत्पादन तथा भोग के अनुरूप बदला करती है। पूंजीवाद तथा समाजवाद अर्थ के विरोध में भी दो सक्रिय द्वन्द्वात्मक शक्तियां हैं। पूंजीवाद अपनी सक्रिय शक्ति के साथ विकासोन्मुख है। धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता, भाग्य में विश्वास, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, क्षुद्र प्रान्तीयता, संकीर्ण राष्ट्रवाद और भांति-भांति के नैतिक पूर्वाग्रह उसके दुष्परिणाम हैं। शोषक वर्ग ने चतुरता जिसका जाल पूर्वक फैलाया है। अत: उसे केवल वर्ग संघर्ष और रक्तिम क्रान्ति ही पदच्युत कर सकती है।

प्रेमचन्दोत्तर काल में बहुत बड़ी संख्या इस विचारधारा से संबंधित उपन्यासों की उपस्थिति की गई। अत: प्रयोगवाद का सर्वाधिक विकास इसी युग में हुआ। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव तथा उपेन्द्रनाथ अश्क के अतिरिक्त फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यासों में भी प्रगतिवाद के तत्त्व देखने को मिलते हैं। सिंह सेना तथा जय यौधेय (राहुल सांकृत्यायन), पार्टी के कामरेड, दादा कामरेड, मनुष्य के रूप, झूठा,-सच (यशपाल), मुर्दों का टीला, विषाद मठ (रांगेय राघव), गिरती दीवारे, गर्म राख, शहर में घूमता आईना, पत्थर और पत्थर, बड़ी आंखें (उपेन्द्रनाथ अश्क) आदि प्रगतिवाद उपन्यास हिन्दी मे बराबर याद किए जाते रहेंगे। इन उपन्यासों में वर्णित जीवन का रूप तथा कौशल अपने में एक आदर्श है।

यद्यपि प्रेमचन्द की परम्परा में सामाजिक अथवा समस्यामूलक उपन्यासों द्वारा मूलभूत समस्याओं का चित्रण किया गया है किन्तु उस परम्परा का भगवती प्रसाद वाजपेयी (सूनी राह, सपना बिक गया), भगवतीचरण वर्मा (आखिरी दांव, भूले-बिसरे चित्र, वह फिर नहीं आई, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, अपने खिलौने, रेखा, सबहि नचावत रामगुसाई), आचार्य चतुरसेन शास्त्री (धर्मपुत्र, गोला), राजेन्द्र यादव (उखड़े हुए लोग), विष्णु प्रभाकर (तट के बंधन), भैरवप्रसाद गुप्त (मशाल, गंगा मैया), धर्मवीर भारती (सूरज का सातवां घोड़ा, गुनाहों का देवता), नरेश मेहता (यह पथ बन्धु था, डूबते मस्तूल), मोहन राकेश (अंधेरे बंद कमरे), लक्ष्मीनारायण लाल (बड़ी चम्पा, छोटी चम्पा, काले फूल का पौधा, बया का घोंसला और सांप, धरती की आंखें, मन वृंदावन), ऊषा प्रियंवदा (बचपन, खम्भे, लाल दीवारें), कमलेश्वर (एक सड़क-सत्तावन गलियां) तथा रजनी पनिक्कर (प्यासे बादल) आदि प्रसिद्ध उपन्यासकारों ने आगे बढ़ाया।

मानव-जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणों से वर्ग-वैषम्य तथा स्थिति-वैषम्य के द्वारा इन उपन्यासों का आकलन किया गया है। ईर्ष्या-द्वेष के प्रसंग में तत्कालीन सामाजिक समस्याएं वाजपेयी के उपन्यासों में उभरती हैं। अतीतोन्मुखी तथा विकासोन्मुखी विचारों के संघर्ष को भगवतीचीण वर्मा ने उपस्थित किया है। देश-विभाजन में नई कथा-सामग्री जुटाने पर भी कई उपन्यासो की रचना की गई है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'धर्मपुत्र' हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव पर आधारित सफल उपन्यास है। शास्त्रीजी ने 'गोली' में शोषण तथा अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाई है। जीवन में व्याप्त अंतर्विरोधों, आर्थिक संघर्ष, विवशताओं तथा नैतिकता-अनैतिकता को राजेन्द्र यादव ने लिया है। कांग्रेस तथा साम्यवाद के प्रभाव से आई सामाजिक-राजनैतिक चेतना को भैरवप्रसाद गुप्त ने वर्णित किया है। नारी की दयनीय स्थिति का वर्णन विष्णु प्रभाकर ने किया है। आज के विशृंखलित, टूटे जीवन को वर्णन का विषय विष्णु प्रभाकर ने बनाया है। नरेश मेहता ने नारी की सहन-शक्ति, टूटन तथा आन्तरिक पीड़ा का अनुभव किया है। रिक्तता,अकेलेपन का वर्णन मोहन राकेश ने 'अंधेरे बंद कमरे' में मूर्तिमान किया है।

ऐतिहासिक उपन्यासों का श्रीगणेश किशोरीलाल गोस्वामी ने 'कुसुम कुमारी' मूर्ति से किया था। इसके पश्चात् मिश्र बन्धु तथा जयशंकर प्रसाद के द्वारा किए गए प्रयास में कथा-संगठन शिथिल तथा अत्यधिक कृत्रिमता के कारण उच्च कोटि की कला के दर्शन न हो कसे। वृंदावनलाल वर्मा ने 'गढ़ कुंडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' से वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यास का आरंभ होता है। मुसाहिबजू, झांसी की रानी, कचनार, माधव की सिंधिया, मृगनयनी, भुवनविक्रम तथा अहिल्याबाई आदि वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यास है। रांगेय राघव (मुर्दों को टीला, प्रागैतिहासिक तथा आदिम वैदिक युग से संबंधित उपन्यास), राहुल सांकृत्यायन (जययौधेय, सिंह सेनापति), भगवतीचरण वर्मा (चित्रलेखा), आचार्य चतुरसेन शास्त्री (वैशाली की नगर वधु, भाग-१, भाग-२), यशपाल (देशद्रोही), अमृतलाल नागर (महाकाल), रांगेय राघव (विषाद मठ, मुर्दों का टीला तथा चविर), शिवसागर मिश्र (राजतिलक), आनन्द प्रकाश जैन (कुणाल की आंखें, तांबे के सिक्के), अमृतलाल नागर (सात घूंघट वाला मुखड़ा, एकदानैमिषारण्ये, मानस का हंस), इकबाल बहादुर देवसरे (ओरछा की नर्तकी), कृष्णचन्द्र शर्मा भिक्खु (मौत की सराय), विराज (नेपालेश्वर) आदि प्रेमचन्दोत्तर काल के अन्य उपन्यासकार हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास की रचना सामाजिक उपन्यास की अपेक्षा अधिक कष्टदायक होती है, जिसका कारण कलाकर को औपन्यासिकता का निर्वाह तथा ऐतिहासिक मर्यादा को अखण्ड बनाए रखना पड़ता है। रचना का गौरव जरा-सी भूल से समाप्त हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वृंदावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक मर्यादा को खण्डित नहीं होने से तथा वर्णन में औपन्यासिकता को भी बनाए रखा। वर्माजी की रचना पद्धति की अनेक विशेषताएं विषय का गहरा तथा सन्निकट परिचय कौतूहलवर्धक घटनाओं का पर्याप्त मात्रा में समावेश, पात्रों की स्वभावगत विचित्रताओं का मनोरंजक वर्णन, प्रत्येक रस का सानुपातिक एवं संतुलित वर्णन तथा भाषा-शैली में प्रादेशिकता आदि है।

डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने लिखा है-''इस क्षेत्र में किशोरीलाल गोस्वामी से लेकर रांगेय राघव तक जितने उपन्याकारों ने प्रवेश किया, उनमें वर्माजी सबसे आगे है, परिणाम तथा उत्कृष्टता दोनों की दृष्टियों से।'' वर्माजी की परम्परा को शिवसागर मिश्र, आनन्दप्रकाश जैन, अमृतलाल नागर, इकबाल बहादुर देवसरे, कृष्णचन्द्र शर्मा भिक्खु तथा विराज आदि ने आगे बढ़ाया। ऐतिहासिक उपन्यासों की यह स्थिति विदेशी रचनाओं का डटकर मुकाबला कर सकती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विपेदी के उपन्यासों को (बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्रलेख, पुनर्नवा) उच्च कोटी की कमाई कहा जा सकता है। इसमें संस्कृत की आख्यायिका शैली तथा उपन्यास के पश्चिमी शिल्प का संगम हुआ है। इन उपन्यासों में इतिहास काव्य तथा उपन्यास का आनन्द प्राप्त होता है। प्रेमचन्दोत्तर काल में आजकल सर्वाधिक धूम आंचलिक उपन्यासों की है। आंचलिक उपन्यासों में जनजीवन का समूचा चित्र उतारकर सम्पूर्ण विशिष्टताओं-विचित्रताओं को उपस्थित किया जाता है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा इसके विषय में लिखते हैं- ''कुछ उपन्यासों में किसी प्रदेश-विशेष का यथातथ्य और बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है, उन्हें ही प्रादेशिक अथवा आंचलिक उपन्यास कहा जाता है।'' डॉ. विशम्भरनाथ उपाध्यायजी का कथन है-''आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं जिनमें किसी विशेष जनपद के जनजीवन का समग्र चित्रण होता है। समग्र का अर्थ भाषा, वेशभूषा, उत्पादन के साधन, प्रकार, विनियम, संक्षेप में आर्थिक जीवन, उस आर्थिक जीवन पर आधारित वर्गों और जातियों के परस्पर संबंध, धार्मिक विश्वास, विवाह, मृत्यु आदि आचार, शिष्टाचार, चरित्र और आदतें, मनोरंजन, व्यसन, कला, भोजन-पान, स्वास्थ्य, शिक्षा-दीक्षा तथा जीवन-दर्शन आदि हैं।''

हिन्दी लेखकों का ध्यान तीन उपन्यासकारों (इंग्लैण्ड के टामस हार्डी, रूस के दास्तावस्की और अमेरिका के अर्नेस्ट हैमिंग्सेव) के कारण इस प्रकार के उपन्यसाकारों की ओर आकृष्ट हुआ है। विशेष बलराहुल सांकृत्यायन, शिवदानसिंह चौहान तथा बनारसीदास चतुर्वेदी के 'जनपदों की संस्कृति की रक्षा और विकास' जनपदीय आन्दोलन के द्वारा मिला। फणीश्वरनाथ 'रेणु' (मैला आंचल, परती परकथा, जुलूस, दीर्घयता) उदयशंकर भट्ट (लहरें और मनुष्य),, देवेन्द्र सत्यार्थी (ब्रह्मपुत्र), नागार्जुन (बालचनमा, बटेशरनाथ, रतिनाथ की चाची, नयी पौध, दुःखमोचन, वरुण के बेटे),शिवप्रसाद मिश्र (बहती गंगा), अमृतलाल नागर (बूंद और समुन्द्र), रांगेय राघव (कब तक पुकारूं), शैलेश मटियानि (हौलदार), राजेन्द्र अवस्थी (जंगल के फूल), रामदरश मिश्र (पानी के प्राचीर) आदि उच्च कोटि के उपन्यास हिन्दी में प्राप्त होते हैं। रेणु ने बिहार के ग्रामीण वातावरण को, बम्बई के मछुओं के जीवन को उदयशंकर भट्ट ने, मैथिल प्रदेश के लोक जीवन को नागार्जुन ने, लखनऊ के जीवन को अमृतलाल नागर ने तथा नटजीवन को रांगेय राघव ने उपस्थित किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यास के पश्चात् कथा तथा शिल्प दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी उपन्यास उन्नत एवं समृद्ध हुआ। डॉ. गणेशन ने इस कथन के रंगमंच के विषय में अत्युक्ति न करते हुए लिखा है- ''सेवासदन से लेकर अब तक के पचास वर्षों में हिन्दी उपन्यास ने जो कुछ प्राप्त किया है, वह सचमुच आश्चर्यजनक है। यूरोपीय भाषाओं में सैकड़ों वर्षों में जो विकास हुआ, वही हिन्दी में पचास वर्षों में हुआ। इतनी अल्प अवधि में किसी भी भाषा में इतनी वैविध्यपूर्ण विशेषताओं का उद्‌गम और विकास नहीं हुआ होगा।''

18.6.4-स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास-स्वांतत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास हमें पांच प्रकार के मिलते हैं- १. ऐतिहासिक उपन्यास २. प्रगतिवादी उपन्यास ३. मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास ४. अतियथार्थवादी या यौनसंबंधी उपन्यास ५. रोमानीप्रवृत्ति वाले उपन्यास।

इस युग के उपन्यासों में आंचलिकता को विशेष महत्त्व दिया गया। किसी अंचल या जनपद की संस्कृत का चित्रण करने को अनेक उपन्यासों की रचना इसी युग में हुई है। आंचलिक उपन्यासकारों में प्रमुख है-फणीश्वरनाथरेणु, रांगेय राघव, नागार्जुन, देवेन्द्र, सत्यार्थी, शैलेश मटियानि, शिवप्रसाद रुद्र, रामदरश मिश्र आदि। ऐतिहासिक उपपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, डॉ. रांगेय राघव, डॉ. सत्यकेतु, विद्यालंकार आदि प्रमुख हैं। साम्यवादी विचारधारा को लेकर चलने वाले उपन्यासकारों में डॉ. रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, नागार्जुन, अमृतलाल नागर आदि हैं। इसी प्रकार अन्य विविध प्रकार के उपन्यास इस युग में लिखे जा रहे हैं। रोमानी और यौन प्रवृत्तियों से संबंधित उपन्यासों की तो बाढ़-सी आ गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में हिन्दी उपन्यासों के विविध रूपों का विकास हो रहा है। वर्तमान युग में हिन्दी उपन्यास ने नवीन विषय और रचना-शिल्प को अपनाया है। विश्व की अनेक भाषाओं में प्रमुख उपन्यासों का भी हिन्दी में अनुवाद हुआ है। इसी प्रकार भारतीय भाषाओं के अनेक उपन्यासों का भी हिन्दी में अनुवाद किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.6.5 समकालीन हिंदी उपन्यास- यों तो स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों को समकालीन हिन्दी उपन्यासों के नाम से जाना जा सकता है, तथापि पिछले दशक से लिखे जा रहे उपन्यासों को समकालीन हिन्दी उपन्यास के नाम से रेखांकति करना हम अधिक समुचित समझते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि यही उपन्यास आगामी उपन्यास के विकास और श्रेष्ठता के सूचक हैं। समकालीन उपन्यासकारों में निर्मल वर्मा के रात का रिपोर्टर, भीष्म साहनी के मध्यादास की माड़ी, रामदरश मिश्र का 'बिना दरवाजे के मकान' शिवप्रसाद सिंह का 'नीला चांद', गोविन्द मिश्र का 'तुम्हारी रोशनी में', नरेन्द्र कोहली का 'अभिज्ञान', विवेकीराय का 'सोनामाटी' मनोहर श्याम जोशी का 'कुरु-कुरु स्वाहा' अब्दुल बिस्मिलाह का 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' आदि उल्लेखनीय हैं। महिला कथाकारों में शशिप्रभा शास्त्री शिवानी, कृष्णा सोबती, दीप्ति खंडेलवाल, मन्नू भण्डारी, उषाप्रियंवदा, निरुपमा सोवती, मेहरुन्सिा परवेज, राजी सेठ, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, मृणाल पाण्डेय, नासिरा शर्मा, सूर्यबाला आदि उल्लेखनीय हैं। यह गौरतलब है कि समकालीन उपन्यासकारों ने राजनीति, सामाजिक यथार्थ का जो चित्रण किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके पास अनुभव वैविध्य और रचनात्मक दृष्टियां अपेक्षित रूप में है।

18.7 हिन्दी उपन्यास में दलित चेतना-

हिन्दी को अन्य विधाओं की अपेक्षा हिन्दी उपन्यासों में दलित साहिय का जोर कम दखाई देता है। इस विद्या की यह परम्परा सन् १९९४ में प्रकाशित जय प्रकाशकर्दम के उपन्यास 'छप्पन' और सन् १९९५ में प्रकाशित प्रेम कापड़िया के उपन्यास 'मिट्टी की सुगन्ध' से मानी जा सकती है। वास्तव में हिन्दी उपन्यास में दलित चेतना मुंशी प्रेमचंद के 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' और 'गोदान' उपन्यास से ही दिखाई देती है। इन उपन्यासों में दलित की पीड़ा व्यथा, दुर्दशा और संघर्ष की कथाएं हैं। अमृतलाल नागर का 'नाच्यो बहुत गोपाल' जगदीशचन्द्र का 'धरती धन न अपना', मधुकर उपाध्याय का 'एक टुकड़ा इतिहास', गिरिराज किशोर का 'परिशिष्ट मधुकर सिंह का 'उत्तरगाथा', मुद्रा राक्षक का 'दण्ड-विधान', मनु भण्डारी का 'महाभोज', मनमोहन पाठक का, 'गगन घटा घटरानी', पुन्नीसिंह का 'पाथर घटी का शोर' आदि उपन्यासों में दलित जीवन के अनुभूतिपूर्ण यथार्थ भरे हुए हैं।

18.8 हिन्दी उपन्यास-शिल्प का विकास-

भारतेन्दु युगीन लेखकों को उपन्यास रचना की प्रेरणा अंग्रेजी और बंगला उपन्यासों से प्राप्त हुई। भारतेन्दु काल में सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी तथा रेमानी उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु युग में आरंभ हुई इस परम्परा को विस्तार मिला द्विवदी युग में। द्विवेदी युगीन उपन्यासों को भी प्रवृत्ति के आधार पर पांच वर्गों में रखा जा सकता है। ये वर्ग हैं-तिलस्मी, ऐटारी उपन्यास, अद्भुत घटना प्रधान उपन्यास, जासूसी उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास तथा सामाजिक उपन्यास। इस काल के उपन्यासकारों की प्रवृत्ति रहस्य और रोमांच के माध्यम से मनोरंजन करने की ही अधिक दिखाई देती है। सामाजिक जीवन के यथार्थ और समस्यामूलक गंभीर उपन्यासों की रचनाओं का तो अभाव ही रहा है।

पूर्व-प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में मुख्य रूप से सुधारवादी प्रवृत्ति ही प्रधान है। इस युग के उपन्यासों का लक्ष्य सामाजिक कुरीतियों का विरोध करना तथा आदर्श समाज एवं आदर्श परिवार की रचना का संदेश देना ही रहा है। ये सभी उपन्यास सोद्देश्य रचे गये हैं। इस युग के उपन्यासकार चाहे आर्यसमाजी रहे हों या सनातन धर्मी, उनका लक्ष्य एक ही रहा। वह लक्ष्य था-नैतिक मूल्यों की स्थापना। प्रेमचन्द युग से पूर्व के उपन्यास साहित्य में जो तिलस्म ऐटारी, जासूसी तथा रोमनी प्रवृत्ति थी, उससे उपन्यास को मुक्ति दिलाने का कार्य सचमुच प्रेमचन्दजी ने ही किया था। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करना तथा शोषित वर्ग की पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान करना प्रेमचन्द्र युगीन उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियां हैं। प्रेमचन्द्र के उपन्यास कथ्य की दृष्टि से बहुआयामी है। सेवासदन में प्रेमचन्द्र की दृष्टि मुख्यत: विवाह से जुड़ी समस्याओं तथा समाज में वेश्याओं की स्थिति पर केन्द्रित रही है। 'निर्मला' दहेज-प्रथा तथा अनमेल विवाह के अभिशापों की कहानी कहता है।

'प्रेमाश्रम' में उन्होंने किसान समस्याओं को उभारा है तथा 'गोदान' तो ग्रामीण जीवन का महाकाव्य ही कहलाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रेमचन्द के उपन्यासों के कथानकों की व्यापकता को देखकर कहा था, 'अगरआप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दु:ख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचय आपको नहीं मिल सकता। ' झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वालों से लेकर बैंकों तक, गांव से लेकर धारासभाओं तक आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रेमचन्द युगीन उपन्यासकारों में जयशंकर प्रसाद विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' तथा चतुरसेन शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी के उपन्यासों में प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में विविध शिल्प दिशाएं पनपी हैं। इनमें से प्रमुख हैं- प्रगतिवादिता, व्यक्तिवादिता, मनोविश्लेषणवादिता, ऐतिहासिकता तथा आंचलिकता। हिन्दी के अनेक उपन्यासकारों ने मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित होकर पूंजीवाद के दमन चक्र में पिसती हुई शोषित और पीड़ित जनता की करुण एवं दयनीय दशा का सुन्दर चित्रण किया है। यशपाल (दादा कामरेड, पार्टी कामरेड, मनुष्य के रूप, झूठ-सच) रांगेय राघव (विषाद मठ, सीधा-सादा रास्ता), भैरवप्रसाद गुप्म (मशाल तथा गंगा मैया) तथा अमृतराय (नागफन का देश) आदि ने समाजवादी चेतना के आधार पर सामाजिक यथार्थ के सुन्दर और प्रभावशाली चित्र उतारे हैं। कतिपय उपन्यासकारों की रचनाओं में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति दिखाई देती है। इन उपन्यासकारों की दृष्टि में व्यक्ति के विकास के अभाव में सामाजिक विकास संभव नहीं है। इस वर्ग के लेखकों में भगवतीचरण वर्मा (टेढ़-मेढ़े रास्ते, चित्रलखा), उदयशंकर भट्ट (एक नाड़ी : दो पक्षी, नए मोड़) ऊषा मित्रा (वचन का मोल), भगवतीप्रसाद वाजपेयी (चलते-चलते, दो बहनें) उल्लेखनीय हैं। मनोविश्लेषणवादिता की प्रवृत्ति आधुनिक उपन्यासों की एक प्रमुख विशेषता है। इन उपन्यासकारों ने आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रकाश में मानव-मन की कुण्ठाओं, ग्रंथियों तथा दमित वासनाओं को उभारा है। इलाचन्द जोशी (पर्दे की रानी, सन्यासी, जहाज की पंछी) अज्ञेय (शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप) जैनेन्द्र (परख, सुनीता, कल्याणी तथा त्यागपत्र) इस प्रवृत्ति को उभारने वाले प्रमुख उपन्यासकार हैं।

आंचलिकता भी आज उपन्यासों में प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में उभरी हैं। आंचलिक उपन्यासों में किसी अंचल अथवा प्रदेश विशेष के जन-जीवन और लोक-संस्कृति का यथातथ्य और बिम्बात्मक चित्रण किया गया है। फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' तथा 'परती परिकथा' प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास हैं। उदयशंकर भट्ट का 'सागर की लहरें' रांगेय राघव का 'कब तक पुकाऊं' राही मासूम राजा का 'आधा गांव' हिमांशु श्रीवास्तव का 'रथ के पहिए' भी आंचलिक उपनयासों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कविता की भांति उपन्यास में भी नये-नये प्रयोग हुए। इन उपन्यासों में कथातत्त्व क्षीण हो गया। प्रभाकर माचवे गिरिधर गोपाल सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती आदि के कुछ उपन्यास इसी प्रकार के हैं। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा' आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया एक सफल उपन्यास हैं। गिरधर गोपाल के 'चाँदनी के खण्डहर' में चौबीस घण्टों का विश्लेषण हुआ है। नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' अनेक प्रकार की विसंगतियों से पूर्ण प्रयोगशील उपन्यास है। आधुनिक समय में मनुष्य परिवार, समाज और अहं के स्तर पर कुछ टूट-सा गया है। कुछ उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर भी गया। उनमें मोहन राकेश, निर्मल वर्मा राजकमल चौधरी, नरेश मेहता उल्लेखनीय हैं। मोहन राकेश का 'अंधेरे बन्द कमरे' न आने वाला कल व्यक्तित्व-विघटन से संबंधित उपन्यास हैं। निर्मल वर्मा का 'वे दिन' राजकमल चौधरी का 'मछली मरी हुई' कमलेश्वर का 'डाक बंगला' गंगाप्रसाद विमल का अपने से अलग प्रसिद्ध आधुनिक उपन्यास हैं कृष्ण सोबती, ऊषा प्रियंवदा तथा शिवानी हिन्दी की प्रसिद्ध उपन्यास लेखिकाएं है। आज का हिन्दी उपन्यास मानव-जीवन की समस्याओं को मूल और यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर रहा है।

18.9 सारांश

उपन्यास आधुनिक हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक सशक्त प्रभावशाली एवं लोकप्रिय विद्या है। भारतेन्दु काल से लेकर अब तक हिन्दी उपन्यास की धरा अबाध रूपसे बहती चली आ रही है। उपन्यास साहित्य ने अपने विकास-क्रम में अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों को झेला है। इन परिवर्तनों के ही अनुरूप उपन्यास के कथ्य एवं शिल्प में भी परिवर्तन आया है। साथ ही उसमें युगानुरूप प्रवृत्तियां भी उभरी हैं। विविध युगों के उपन्यासों में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां देखी जा सकती हैं।

18.10 अभ्यास प्रश्न

1. गद्य साहित्य आधुनिक जीवन की देन है। स्पष्ट कीजिए।
2. उपन्यास आधुनिक व्यस्त जीवन का महाकाव्य है। इस कथन की समालोचना कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई -19

हिन्दी नाट्य साहित्य

संरचना

19.0 प्रस्तावना

19.1 उद्देश्य

19.2 आधुनिक नाट्य रचना में संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व

19.3 हिन्दी नाटक का विकास

19.3.1 पूर्वपीठिका

19.3.2 भारतेन्दु युग के नाटक

19.3.3 द्विवेदी युग : नाटक सृजन की दृष्टि से ह्रासकाल

19.3.4 प्रसाद युग : रंग - निरपेक्ष साहित्यिक नाटक रचना का युग

19.3.5 प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य

19.4 नया नाटक

19.4.1 विगत नाट्य परम्पराओं से भिन्न संवेदना और शिल्प का नाटक

19.4.2 आंतरिक यथार्थ की रंग-सापेक्ष और गंभीर अभिव्यक्ति-

19.5 जनवादी नाटक

19.6 नुक्कड़ नाटक

19.7 सारांश

19.8 अभ्यास प्रश्न

19.0 प्रस्तावना

नाटक में कथोपकथन मूलक भाषिक संरचना होती है। इसके साथ ही इसमें कलाओं का भी प्रवेश होता है। नाटक में कथोपकथन मूलकभाषा की नाटकीयता का सौन्दर्य क्रियाशीलता को उकसाने में होता है, घटनाओं और स्थितियों के वर्णन करने में नहीं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार नाटक या अभिनय के लिए प्रयोग किये जाने वाले शब्द या वाक्य तभी सार्थक एवं कलात्मक माने जाते हैं, जब वे कायिक वाचिक सात्विक और आहार्य अभिनय को उकसाते या प्रेरित करते हैं। इस ईकाई में हम विभिन्न नाटकीय प्रवृत्तियों के आधार पर हिन्दी नाटक के विकास, उसकी अंतर्वस्तु और शिल्प पर प्रकाश डालेंगे।

19.1 उद्देश्य

इस इकाई में हम हिन्दी नाटक रंगमंच और एकांकी के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए नाटक विधा के शैली-शिल्पगत मर्म , नाटक और रंगमंच के पारस्परिक संबंधों पर प्रकाश डालेंगे। फिर अधुनिक हिन्दी नाटक से पहले के नाट्य-लेखन और प्रदर्शन, नाटक की विभिन्न धाराओं की निजी प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए हिन्दी नाटक की नई और स्वस्थ धाराओं के जन्मदाता-नाटककारों के योगदान को बतला सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

19.2 आधुनिक नाटक-रचना में संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व

कुछ पाश्चात्य नाट्या-समीक्षक तनाव और संघर्ष की दशाओं की अभिव्यक्ति को ही नाटक का प्रधान तत्त्व मानते हैं जबकि भारतीय परम्परा में रसवादी नाटकों में अंतर्द्वन्द्वके तनाव का कोई महत्त्व नहीं है। ऐसा चित्रण रसनिष्पत्ति में बाधा डाल सकता है।

19.3 हिन्दी नाटक का विकास

19.3.1 पूर्व पीठिका- नाट्य-लेखन एवं प्रयोग-विज्ञान (अभिनय) की परम्परा बहुत पुरानी है। हिन्दी में प्राचीन काल में अनेक नाटक लिखे गये। किन्तु हिन्दी नाटक संस्कृत नाट्य परम्परा में उद्‍भुत हुआ है। संस्कृत नाटक की अत्यन्त पुष्ट परम्परा रही है। हिन्दी में प्राचीन काल में अनेक नाटक लिखे गये किन्तु आधुनिक नाटकों का प्रांरभ भारतेन्दु युग से ही हुआ है। १३०० विक्रम संवत् के आसपास, ब्रजभाषा में 'गोविन्द हुलास' नाटक की रचना हुई। यह संस्कृत में रूप गोस्वामी द्वारा रचित 'विदग्ध माधव' नामक नाटक के आधार पर लिखा गया है। संस्कृत के सुप्रसिद्ध 'हनुमन्नाटक' का हिन्दी में हृदयराज ने सत्रहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा में अनुवाद किया। इसी शताब्दी में महाराजा जसवन्तसिंह ने संस्कृति के सुप्रसिद्ध प्रतीकात्मक 'प्रबोध चन्द्रोदाय' का बज्रभाषा में अनुवाद किया और पद्यात्मक नाटक की रचना की। महाकवि देव ने भी इसके आधार पर 'देवमाय प्रपंच' नाटक की रचना की। इस प्रकार 'प्रबोध चन्द्रोदय' के कुछ और अनुवाद हुए। महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक के हिन्दी में कई अनुवाद हुए। इन अनुवादों में पहला नेवाज कवि का है और दूसरा रजा लक्ष्मणसिंह का।

इस प्रकार संस्कृत के अनूदित नाटकों की परम्परा भारतेन्दु युग से पूर्व से ही चली आ रही थी। वे नाटक प्राय: प्रद्यात्मक थे। भारतेन्दु हरिशचन्द्र के पिता श्री गोपालचन्द्र (उपनाम गिरधरदास) का 'नहुष' नाटक ब्रजभाषा में रचित हिन्दी का पहला मौलिक नाटक है। किन्तु यह पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है। इस युग में कुछ सामाजिक नाटक स्वांग के रूप में खेलने के लिए रचे गए किन्तु वे अब प्राप्त नहीं है। इस युग के नाटक पद्यबद्ध थे और उनमें साहित्यिकता का अभाव था।

19.3.2 भारतेन्दु युग- भारतेन्दु को आधुनिक हिन्दी नाटक का जन्मदाता माना जाता है। भारतेन्दु युग में हिन्दी नाटक का विशेष उत्कर्ष एवं विकास दिखाई पड़ता है। भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में युग की समस्याओं को प्रस्तुत किया। उन्होंने 'विद्यासुन्दर' (सन् १९६८) तथा 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' (सन् १९७३) शीर्षक नाटकों की रचना की। इनमें सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावनाओं का समावेश मिलता है। 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारतेन्दुजी ने विदेशी शासन से पीड़ित एवं कुचली हुई राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अवस्था के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने पुरानी सामाजिक गली-सड़ी रूढ़ियों एवं परम्पराओं पर कठोर आघात किया और नाटकों में व्यंग्य-विनोद को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। भारतेन्दु ने जब नाट्य-रचना के क्षेत्र में एक सबल प्रेरणा उपस्थित की तब उनके समय में अनेक अन्य लेखक भी नाटक-रचना के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए। इन लेखकों ने विभिन्न विषयों पर नाटक लिखे। इनमें सर्वप्रथम लाला श्रीनिवास दास थे। भारतेन्दु-युग के अन्य प्रतिनिधि नाटककारों में प्रमुख है- पंडित प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णभट्ट तथा रामचरण दास गोस्वमी। उन्होंने अपने नाटकों में पौराणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनैतिक कथा-वस्तु का चयन करके समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में व्याप्त कुरीतियों और समस्याओं पर भी सुधारवादी दृष्टिकोण से विचार किया। इनके अतिरिक्त अन्य नाटककारों ने भी इस युग में सामाजिक तथा धार्मिक विषयों पर अनेक नाटक लिखे। इस युग में हास्य और व्यंग्य प्रधान नाटक भी लिखे गये। भारतेन्दु युग में मौलिक नाटकों के साथ ही संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी भाषाओं से नाटकों के अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किए गए।

19.3.4 प्रसाद युग- हिन्दी नाटकों के विकास में जयशंकर प्रसाद का उदय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। प्रसादजी ने हिन्दी नाटक को एक अपेक्षित स्तर और साहित्यिक सौष्ठव प्रदान किया। अपने रचनाकाल के प्रारंभिक वर्षों में प्रसादजी ने 'परिचय एवं प्रायश्चित्त' नामक एकांकियों' की रचना की। उनकी 'सज्जन' और 'करुणालय' नामक गीति-नाट्य भी इसी काल की रचनाएं हैं। इनमें इतिहास, प्रेम और नीति का सफल समन्वय हुआ है। प्रसदाजी का पहला ऐतिहासिक नाटक 'राजश्री' हैं। इसके बाद 'विशाखा' की रचना हुई। प्रसादजी का इतिहास संबंधी दृष्टिकोण 'विशाखा' की भूमिका में प्रस्तुत हुआ। उन्होंने उसमें लिखा है-

''मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंग में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'अजातशत्रु' में प्रसादजी का ऐतिहासिक नाटककार का स्वरूप पूर्ण निखार में है। इसके उन्होंने 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' नामक ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। उनका 'जन्मेनय का नागयज्ञ' नामक नाटक उत्तर महाभारत काल की घटनाओं के आधार पर निर्मित नाटक है। 'ध्रुवस्वामिनी' एक ऐतिहासिक नाटक होने के साथ ही एक समस्या प्रधान नाटक भी है। प्रसादजी के नाटकों में पौर्वात्य और पाश्चात्य नाट्य-शिल्प का अत्यधिक सुंदर सम्मिश्रण हुआ है। उनके नाटक न तो सुखांत है और न दुखांत ही अपितु प्रसादांत हैं, जिनमें सुख-दु:ख का अनूठा सामंजस्य है।

प्रसादजी मुख्य रूप से ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हैं किन्तु उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, समस्स्याप्रधान एकांकी तथा गीति-नाटयों की रचना करके जहां एक ओर भारतीय इतिहास की गौरव-गाथाओं को उपस्थित किया है, वहीं दूसरी ओर उन्हीं के सामान्तर चलने वाले षड़यंत्रों और स्वार्थपूर्ण दुष्कार्यों का भी चित्रण किया है।

ऐतिहासिक साम्राज्यों के उत्थान-पतन के साथ-साथ धार्मिक इतिहास के सूत्र भी उनकी रचनाओं में दिखाई देते हैं। देश-प्रेम एवं राष्ट्र के लिए आत्मोत्सर्ग की जो उदात्त भावनाएं प्रसादजी के भिन्न-भिन्न नाटकों में मिलती है, वे उनके आशावादी एवं राष्ट्रीय व्यक्तित्व की परिचायक है।

प्रसाद युग के अन्य नाटककारों में प्रहसनकार जे. पी. श्रीवास्तव विशेष रूप से चर्चित हैं। उन्होंने कुछ मौलिक और कुछ अनूदित प्रहसन प्रस्तुत किए। प्रसाद युग के अंतिम चरण में कुछ उच्चकोटि के नाटककारों का उदय हमें दिखाई पड़ता है। इनमें सर्वप्रमुख हैं- हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, जगन्नाथदास, 'मिलिन्द' आदि। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने अंग्रेजी नाटककार 'इब्सन' और 'शा' से प्रभावित होकर समस्यामूलक नाटकों की रचना की। ये चरित्र-चित्रण प्रधान यथार्थवादी नाटक हैं, जिनमें आज की बुद्धिवाद मान्यताओं के आधार पर सामाजिक जीवन की समस्याओं का विश्लेषण किया गया है।

19.3.5 प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य- इस युग में हिन्दी नाटक रंगमंच और यर्थाय से जुड़ गया था। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इन नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-

1. साहित्यिक मंचीय नाटक- हिन्दी नाटक को आधुनिक भाव-बोध के साथ सम्बद्ध करने वाले प्रथम नाटककार उपेन्द्रनाथ अश्क हैं। उनकी कृतियां 'छठा बेटा', 'कैद और उड़ान', 'भंवर', 'अंजो दीदी' आदि हैं। 'अंजो दीदी' उनकी सर्वाधिक प्रौढ़ रचना है। मंचीय सार्थकता और नई जटिल जीवनानुभूतियों को नाटकीयता प्रदान करने वालों में जगदीशचन्द्र माथुर अग्रगण्य है। 'कोणार्क', 'शारदीया', 'पहला राजा' इनकी प्रमुख रचनाएं है। अभिनव नाटकीय प्रयोगों में डॉ. लक्ष्मीनारायणलाल विशिष्ट हैं। उनकी रचनाओं में 'मादा कैक्टस' 'तीन आँखों वाली मछली', 'सुन्दर रस', 'अंधा कुआँ', 'रातरानी', 'रक्त-कमल' आदि प्रमुख हैं।

मानवीय ट्रेजेडी को रचनात्मक ढंग से नाटकों के रूप में प्रस्तुत करने में मोहन राकेश सिद्धहस्त नाटककार है। 'आधे-अधुरे', 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों का राजहंस' उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

2. गीति नाटक- आधुनिक भावबोध को रूपायित करने वाले नाटकों में धर्मवीर भारती के गीतिनाटक 'अंधा युग' का विशेष स्थान है। यह नाटक एक सशक्त त्रासदी है।

धर्मवीर भारतीजी के अतिरिक्त अन्य गीति- नाटककार एवं उनकी कृतियाँ निम्नलिखित हैं-

सुमित्रानन्दन पंत- 'राज शिखर', 'शिल्पी' और सौवर्ण।

गिरिजाकुमार माथुर - 'कल्पान्तर'।

सिद्धनाथ- 'सृष्टि की साँझ', 'लौह देवता', 'संघर्ष, ' 'विकलांगों का देश' तथा 'बादलों का शाप'।

दुष्यंत कुमार- 'एक कण्ठ विषपायी'।

3. पौराणिक-ऐतिहासिक नाटक- कुछ नाटककारों ने पुराण, इतिहास के आधार पर भी नाटकों की रचना की है। इनमें सेठ गोविन्ददास तथा हरिकृष्ण प्रेमी प्रमुख हैं। सेठजी के 'कर्ण', 'शशिगुप्त' तथा प्रेमीजी के 'आहुति', 'स्वप्न भंग' आदि प्रमुख हैं।

4. सामाजिक नाटक- सेठ गोविन्ददास के 'हिंसा या अहिंसा', 'संतोष', प्रेमीजी के 'बंधन', 'छाया', 'गोविन्द वल्लभ पंत का'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'सोहाग बंदी', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'न्याय की एक रात', 'विनोद रस्तोगी के 'आजादी के बाद, 'नया हाथ, नरेश मेहता के 'सुबह के घण्टे', 'खण्डित यात्राएँ', मन्नू भंडारी का 'बिना दीवारों का घर,' 'शिवप्रसाद सिंह का' 'घाटिया गूँजती हैं, तथा ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम' आदि उल्लेखनीय सामाजिक नाटक हैं।

रेडियो- नाटक (ध्वनि-रूपक)-रेडियो-नाटकों (ध्वनि-रूपक) का विकास भी इस युग में विशिष्ट रूप में हुआ। इन एकांकीकारों में रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क तथा विष्णु प्रभाकर उल्लेखनीय हैं। वर्माजी के एकांकियों में 'रेशमी टाई', 'चारू मित्रा' 'दीवानापन', 'रिमझिम', 'इन्द्रधनुष', 'मयूर पंख', 'अश्कजी के एकांकियों में 'सूखी डाली', 'जोंक', 'विवाह के दिन', 'विष्णु प्रभाकर के एकांकियों में 'इंसान', 'प्रकाश की परछाईं' 'क्या वह दोषी था' आदि प्रमुख रेडियों (ध्वनि-रूपक) नाटक हैं।

इनके अतिरिक्त जगदीशचन्द्र माथुर, गोविन्दवल्लभ पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, रेवतीशरन शर्मा, सिद्धनाथ कुमार आदि प्रमुख एकांकीकार हैं।

दूरदर्शन नाटक- टेलिविजन के आविष्कार के कारण नाटकाकारों का ध्यान इस ओर भी गया। माध्यम और शिल्प की दृष्टि से ये नाटक फिल्म नाटक के अधिक निकट हैं। टेलिविजन मौलिक भी होते हैं और कहानियों उपन्यासकारों तथा रंगमंचीय नाटकों के रूपान्तर भी। आजकल इस क्षेत्र में काफी नाटक लिखे जा रहे है। वर्तमान युग में नाटक आकार में लघुता, उद्देश्य में सूक्ष्म मनोविश्लेषण तथा माध्यम में पाठ्य और कलात्मक अभिनय की ओर जा रहा है।

19.4 नया नाटक-

जगदीशचन्द्र माथुर और मोहन राकेश ने प्रसाद की काव्योपन नाट्य-शैली के अनुसार संवेदना की नयी भूमि पर नए प्रयोग शिल्प के द्वारा ऐतिहासिक-पौराणिक नाट्य-लेखन को नया रूप देना आरंभ कर दिया। यहीं से नया नाटक लिखने का दौर शुरू हो गया। जगदीश चन्द्र माथुर के 'कोणार्क' और 'लहरों का राजहंस' एवं मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' हिन्दी नया नाटक आधुनिक रूप में परिलक्षित हुए हैं।

19.4.1 विगत नाट्य परम्पराओं से भिन्न संवेदना और शिल्प का नाटक- आजादी के 10-12 वर्षों के बाद ही हमारे देश के आम आदमी का जीवन संकट से घिरने लगा था। इससे रचनाकार अछूते नहीं रहे। इससे रचनाकार ने नया नाटक लिखने की जो शुरूआत की, वह विकसित तो हुई लेकिन आंतरिकता के जटिल संसार को प्रतिबद्धता के साथ रूपायित करने के कारण गंभीर सर्जनात्मक नाट्य सर्जन से आभासित होने लगी।

19.4.2 आंतरिक यथार्थ की रंग- सापेक्ष गंभीर अभिव्यक्ति - कुछ समय बाद नये नाटक की सृजनशीलता बाह्य यथार्थ के स्थान पर आतंरिक यथार्थ को रूपायित करने की चेष्टा करने लगी। फलत: व्यक्ति के गहरे अन्तर्द्वन्द्व, उलझाव और भटकाव के माध्यम से वर्त्तमान जीवन को यथार्थ स्थिति व्यंजित करने में प्रवृत्त हुई। प्रतीकात्मक शैली को महत्त्व देने के कारण ही नया नाटककार आधुनिकता की व्यंजक संवेदना को व्यक्त करने के लिए मिथकीय या पौराणिक प्रसंगों को नयी तार्किकता के साथ प्रस्तुत करने लगा। नयी तार्किकता का लक्ष्य पौराणिक मिथकों के प्रचलित आस्था-विश्वासों में अनास्था पैदा करना ही रहा है। इस प्रकार नए नाटकों में लोक-ग्राह्यता की तुलना में व्यक्तिगत विशेषता को अधिक महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार के नाटकों में व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्त्व की खोज के नाम पर मनुष्य के आचरण, व्यवहार या क्रियाओं का एक ऐसा गड्ड-मड्ड संसार प्रस्तुत किया है, जो दिशाहीन होने की व्याकुलता की ही संवेदना भरता है।

नये नाटककारों में उल्लेखनीय हैं- लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, द्रोपदी, लक्ष्मीकांत वर्मा, अज्ञेय, ललित सहगल, बृजमोहन शाह, डॉ. शंकर शेष, रेवतीशरन शर्मा, दया प्रकाश सिन्हा, गिरिराज किशोर, नरेन्द्र कोहली, सुशील कुमार सिंह, मुद्रासक्सस, रमेश बख्शी, काशीनाथ सिंह आदि।

19.5 जनवादी नाटक-

मार्क्सवादी चेतना के फलस्वरूप हिन्दी में जनवादी नाटकों के लेखन कार्य आरंभ हुए। दूसरे शब्दों में, जीवन की सामाजिक, आर्थिक आदि समस्याओं को नाटक का कथानक बनाने वाली यथार्थवादी नाटकों की एक शाखा को जो राजनीतिक स्तर पर मार्क्सवादी विचारधारा के प्रतिबद्ध थी, 'जनवादी नाटक' कहा जाने लगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हिन्दी जन-नाटक-मंच के महत्त्वपूर्ण नाटककारों में सज्जाद जहीर का नाटक 'तुफान से पहले' है। सन् 1946 ई. में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के निर्देशन में खेला गया। इसी प्रकार ख्वाजा अब्बास का नाटक 'मैं कौन हूँ' (1947) ई. में, राजेन्द्र सिंह बेदी का नाटक 'नकले मकानी' अथवा 'जादू की कुर्सी' 1948 ई. में, हब्बीर तनवीर का नाटक 'शतंरज के मोहरें' आदि नाटक स्थान-स्थान पर मंचित होकर जन-चेतना को आन्दोलित करने में अपनी अहम् भूमिका निभा चुके हैं।

19.6 नुक्कड़ नाटक-

आजादी के बाद हमारे देश की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में अधिक बिखराव आने लगा। फलस्वरूप भुखमरी गरीबी, शोषण और अन्याय का दूषित वातावरण फैलने लगा। इसके विपरीत असंतोष और विद्रोह के स्वर मुखरित होने लगे। इसके लिए हड़ताल और प्रदर्शन के व्यापक रूप सामने आने लगे। इसी चेतना के परिप्रेक्ष्य में सातवें दशक से ही नुक्कड़ नाटकों के प्रयोग शुरू हो गए।

नुक्कड़ नाटक : बिना मंच का रंग-प्रयोग-

नुक्कड़ नाटक के लिए कोई भी खाली स्थान, कस्बा, नगर, सड़क-चौराह, गाँव की चौपाल, स्कूल का मैदान, कॉलेज का लॉन आदि हो सकता है। इसके अभिनय के लिए किसी प्रकार के विशेष वेश-भूषा की आवश्यकता नहीं होती है अर्थात इसमें शरीक होने वाले पात्र जिस वेश में होते हैं, उसी वेश में भाग ले सकते हैं।

भारतीय रंगमंच के क्षेत्र में नुक्कड़-रंग के प्रयोग का श्रेय बादल सरकार को है। बादल सरकार ने 'जुलूस' 'हत्यारे', 'औरत', 'मशीन' नाम से प्रसिद्ध नुक्कड़-नाटकों की रचना की। आज चारों ओर नुक्कड़-नाटक प्रदर्शित हो रहे हैं।

19.7 सारांश-

इस इकाई को पढ़ने के बाद हमने हिन्दी नाट्य-साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया है। हमने देखा कि प्रसाद के द्वारा आरंभ किया नाट्य अनेक यथार्थमूलक नाट्य-लेखन की ओर उन्मुख हो रहा है।

19.8 अभ्यास प्रश्न

1. भारतेन्दु युग के नाटक और प्रसादोत्तर युग के नाटक में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. नाटक और प्रहसन में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 20

हिन्दी आलोचना

संरचना

20.0 प्रस्तावना

20.1 उद्देश्य

20.2 आधुनिक हिन्दी आलोचना की आरंभिक स्थिति

20.2.1 आधुनिक काल से पहले की हिन्दी आलोचना

20.2.2 भारतेन्दु युगीन हिन्दी आलोचना : आधुनिक हिन्दी आलोचना का सूत्रपात

20.2.3 द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना

20.2.4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना

20.2.5 शुक्ल युगीन अन्य आलोचना

20.3 शुक्लोत्तंर हिन्दी आलोचना

20.3.1 स्वच्छन्दतावादी आलोचना

20.3.2 प्रभाववादी या प्रभावभिव्यंजक आलोचना

20.3.3 मनोवैज्ञानिक या अन्तश्चेतनावादी आलोचना

20.3.4 ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना

20.3.5 शास्त्रीय समीक्षा

20.3.6 अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना

20.3.7 प्रगतिवादी या मार्क्सवादी आलोचना

20.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना

20.5 हिन्दी आलोचना की वर्तमान स्थिति

20.6 सारांश

20.7 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

20.0 प्रस्तावना :-

हिन्दी साहित्य की आधुनिक आलोचना की शुरूआत भारतेन्दु युग से ही हुई। इस इकाई में इस तथ्य पर प्रकाश डालने के साथ-साथ आलोचना के विकास स्वरूप को भी सामने लाया जायेगा। इस इकाई में हम आलोचना के विभिन्न दौर-स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए विभिन्न प्रकार की आलोचनाओं की पद्धतियों-प्रवृत्तियों उनकी सीमाओं, शक्तियों, विशेषताओं, पद्धतियों आदि को भी समझायेंगे। फिर आलोचक की वर्त्तमान स्थिति और दशा को भी चिह्नित करने पर समुचित ध्यान देंगे।

20.1 उद्देश्य-

इस इकाई में हम हिन्दी आलोचना के उद्‌भव और विकास को समझाते हुए इसकी आरंभिक स्थिति का परिचय देने के साथ-साथ हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य रामचन्द शुक्ल के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

इस इकाई में हम शुक्लोत्तर और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचनाएं की दिशा-दशा, आलोचना की प्रचलित पद्धतियों, आलोचना की विशेषताओं, आलोचना की वर्त्तमान स्थिति और अंत में प्रमुख आलोचकों के अवदान और वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाल सकेंगे।

20.2 आधुनिक आलोचना की आरंभिक स्थिति -

आधुनिक हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास आधुनिक काल से ही हुआ है। हम यहां आधुनिक काल की आलोचना की आरंभिक स्थिति पर प्रकाश डाल रहे हैं-

20.2.1 आधुनिक काल से पहले की हिन्दी आलोचना- आधुनिक हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास आधुनिक काल से ही हुआ है। हम यहां आधुनिक काल की आलोचना की आरंभिक स्थिति पर प्रकाश डाल रहे हैं-

आधुनिक काल से पहले की हिन्दी आलोचना- भक्तिकालीन ग्रन्थों में हिन्दी समालोचना का प्रारम्भिक रूप मिलता है। नायिकाभेद के संकेत 'सूर की साहित्य लहरी' और नन्ददास की 'रस मंजरी' में विद्यमान हैं। अकबरी दरबार के कई कवियों की रचनाओं में इसी प्रकार के संकेत मिलते हैं। परन्तु वे लक्षण निरूपण की देन नहीं हैं, वे लीलागान या रसिकता के लिए उपस्थित हुए हैं। केशवदास की 'कवि प्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' में स्थिति अवश्य ही बदली है। ये दोनों ग्रन्थ ही आचार्यत्व की देन हैं। इन दोनों लक्षण ग्रन्थों में स्पष्टतः लक्षण निरूपण को प्रस्तुत किया गया है। इस काल के सभी ग्रन्थों का महत्त्व आलोचना की दृष्टि से नहीं है। इन दोनों ग्रन्थों में संस्कृत के ही काव्यशास्त्र का अनुगमन हुआ है। साथ ही उनमें स्पष्टता तथा गम्भीरता का अभाव है।

रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त कवियों को तीन वर्गों में बाँटा जाता है। हमारे दृष्टिकोण में रीतिबद्ध तथा रीतिसिद्ध कवियों की रचनाएं दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। रीतिबद्ध कवियों ने काव्यांगों की दृष्टि से छः उपवर्ग किए हैं- स्वाँग निरूपण कवि, सर्वरस निरूपक कवि, श्रृंगार निरूपण कवि, नायक-नायिकाभेद निरूपक कवि, अलंकार निरूपक कवि, तथा छन्द निरूपक कवि आदि। इन समस्त लक्षण रूपों में आलोचना का एक रूप अवश्य ढूँढ़ा जा सकता है। रीतिसिद्ध कवियों के लक्षण निरूपण सूक्ष्म ज्ञान के द्योतक हैं। अतः उनमें आलोचना का सैद्धान्तिक रूप खोजा जा सकता है। रीतिकालीन इस आलोचना का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, जिसके कारण तीन है- प्रथम में काव्यशास्त्र के अनुकरण, दूसरे में स्पष्टता तथा गम्भीरता का अभाव तथा तीसरे में कर्त्ता आलोचना को दृष्टि में रखकर उसमें प्रवृत्त हुआ है।

20.2.2 भारतेन्दु युगीन हिन्दी आलोचना : आधुनिक हिन्दी आलोचना का सूत्रपात- भारतेन्दु युग में हिन्दी आलोचना का आविर्भाव हुआ था। विद्वानों ने प्रथम आलोचक चैतन्य बद्रीनारायण 'प्रेमधन' को माना है। उन्होंने 'आनन्द कादम्बनी' नामक पत्रिका में सन् 1932 में लाला श्रीनिवासदास विरचित 'संयोगिता स्वयंवर' नामक के नाट्य दोष दिखाकर तथा गदाधरसिंह द्वारा अनूदित 'बंग विजेता' के भाषा दोषों का निर्देश कर हिन्दी आलोचना का सूत्रपात किया था। पुस्तक परिचय के समाचार पत्र-पत्रिकाओं में रहा करते थे। उन्हीं में हिन्दी की प्रारंभिक आलोचना का स्वरूप सुरक्षित है। बाबू भारतेन्दु का आलोचनात्मक ग्रन्थ 'नाटक' सन् 1883 में प्रकाशित हुआ था। इस सैद्धान्तिक आलोचना ग्रन्थ में पूर्वी तथा पश्चिमी कला के समन्वय के आधार पर सामान्य नियम निर्धारित किए गए हैं। अर्थ-प्रकृतियों एवं संधियों के संबंध में भारतेन्दु की क्रान्तिकारी दृष्टि का एक कथन- 'संस्कृत-नाटक की भाँति हिन्दी नाटकों में इनका अनुसंधान करना था। किसी नाटकांग में इनको ध्यानपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है।' डॉ. श्यामसुन्दर जी की धारणा है कि यह ग्रन्थ भारतेन्दु द्वारा रचित नहीं है। डॉ. श्यामसुन्दर दास के द्वारा यदि उस ग्रन्थ की आलोचना न की जाती, तो गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार उसी को हिन्दी की आलोचना का प्रथम पुष्प माना जाता। गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की समालोचना तथा अम्बिकादत्त व्यास की 'गद्यकाव्य मीमांसा' भारतेन्दु युग के अंतिम चरण में यह पुस्तकें प्रकाशित हुई। उस समय की भाषा-शैली का एक नमूना 'लालजी' यदि आप बुरा न मानिए तो एक बात आप धीरे से पूछें, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसे कहेंगे ?क्या किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया नाटक लिख डालने से वह ऐतिहासिक नाटक हो गया ? कृपा करके बिहारी निरपंराधीनी कवित्व शक्ति के प्राण निर्दयता के साथ न लीजिए।'

20.2.3 द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना - आचार्य महावीर प्रसाद के नेतृत्व में हिन्दी आलोचना अधिक उर्वर सिद्ध हुई। आलोचना ने वास्तविक प्रतिष्ठा इसी युग में आकर प्राप्त की। आलोचना के प्रचार-प्रसार की अधिकाधिक माँग विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालयी शिक्षा के द्वारा बढ़ी। इस चुनौती का हिन्दी आलोचना ने सफलतापूर्वक सामना किया। उनकी सभी पद्धतियों में ग्रन्थ रचे गए। सैद्धान्तिक आलोचना में संस्कृत के काव्यशास्त्र तक सीमित ग्रन्थ और नई एवं स्तरीय दृष्टि के ग्रन्थ सामने आए। आचार्य गुलाबराय का 'नवरस' (सन् 1921) रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'नाट्य निर्णय' (सन् 1930) तथा अर्जुनदास केडिया का 'भारती भूषण' (सन् 1939)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आदि पहले वर्ग के उल्लेखनीय ग्रन्थ थे। डॉ. श्यामसुन्दर दास का 'साहित्य लोचन' (सन् 1926), लक्ष्मीनारायण सुधांशु का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा डॉ. रामकुमार वर्मा का 'साहित्य समालोचना' (सन् 1938) आदि द्वितीय वर्ग के प्रमुख ग्रंथ हैं। साहित्य लोचन तथा काव्य में अभिव्यंजनावाद की इन ग्रन्थों में विशेष चर्चा हुई है। इनमें सभी अंगों पर सैद्धान्तिक आलोचना का स्तरीय वर्णन मिलता है। भारतीय एवं पाश्चात्य समन्वय की चेष्टा इन ग्रंथों में सक्रिय रही है। सुप्रसिद्ध इटेलियन काव्यशास्त्री क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को समझाने की चेष्टा अभिव्यंजनाबाद में की गई है तथा कलावाद की 'कला कला के लिए' पुष्टि की गई है।

20.2.4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को इस काल की आलोचना को नई गति, दिशा तथा शक्ति प्रदान करने का श्रेय प्राप्त है। हिन्दी आलोचना की उनके आविर्भाव ने काया पलट कर दी। हिन्दी के तीन बड़े कवियों के ग्रन्थों के सम्पादन के समय भूमिका के रूप में उन्होंने विस्तृत आलोचनाएं लिखी। तुलसी ग्रंथावली (सन् 1923) में, जायसी ग्रंथावली (सन् 1925) में, भ्रमर गीतसार (1926) में, इन ग्रन्थों की भूमिका में तुलसी, जायसी तथा सूर की विस्तृत आलोचनाएं थी। इन आलोचनाओं में विस्तृत और गम्भीर अध्ययन तथा काव्य गुण पहचानने का यह स्तर हिन्दी के लिए सर्वथा नवीन था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को एक अन्य रूप में भी अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास सन् 1929 में प्रकाशित हुआ। आदिकाल की संपूर्ण साहित्यिक सामग्री को (सुनिश्चित योजना में) बाँधकर इससे पहले अन्य कोई साहित्यकार अंकित न कर सका। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की यह अभूतपूर्व रचना थी। हिन्दी के समूचे साहित्य को चार कालों में बाँटना, उसके बाह्य परिवेश को साहित्यिक रचना से जोड़ना, साहित्यिक सूझबूझ के आधार पर प्रत्येक काल की सामग्री का उत्कृष्ट मूल्यांकन करना आदि। कृष्णशंकर शुक्ल (केशव की काव्य कला सन् 1934 तथा कविवर रत्नाकर सन् 1935), आचार्य विश्वप्रसाद मिश्र (बिहारी की वाविभूति सन् 1936), गरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (महाकवि हरिऔध सन् 1934), रामनाथ 'सुमन' (प्रसाद की काव्य कला सन् 1938), डॉ. श्यामसुन्दरदास (हिन्दी भाषा और साहित्य सन् 1930) हरिऔध (हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास सन् 1934) आदि समसामयिक अन्य कलाकारों ने आचार्य शुक्ल के पद चिन्हों पर चलकर हिन्दी का व्यावहारिक आलोचना तथा इतिहास लेखन की परम्परा को पुष्ट किया।

20.2.5 शुक्ल युगीन अन्य आलोचना- इस काल में कई दिशाओं से छायावाद के आविर्भाव के समय का डटकर विरोध हुआ, किन्तु दो आलोचकों (शांतिप्रिय द्विवेदी तथा डॉ. नगेन्द्र) ने छायावाद को स्थापित करने में भरपूर सहायता की। हमारे साहित्य निर्माता (सन् 1982), कवि और काव्य (सन् 1936) तथा साहित्यिकी (सन् 1938) आदि शान्तिप्रिय द्विवेदी के तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए। सन् 1938 में प्रकाशित डॉ. नगेन्द्र के 'सुमित्रानन्दन पंत' ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की।

छायावादोत्तर काल में सबसे पहले आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सामने आए। वाजपेयीजी ने शुक्लजी की सीमाओं को पहचानकर आलोचना पद्धति को उनसे मुक्त रखा। छायावादी तत्त्वों को उन्होंने समुचित आदर दिया तथा नई कविता के अनेक तत्त्वों की उन्होंने मुक्त कण्ठों से प्रशंसा की। आधुनिक साहित्य तथा नया साहित्य, नये प्रश्न आदि उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। आचार्य हजारीप्रसाद प्रसाद द्विवेदी इस काल के प्रमुख आलोचक थे। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' ऐतिहासिक पद्धति में विरचित उनका प्रसिद्ध ग्रंथ सन् 1940 में प्रकाशित हुआ। आचार्य शुक्ल से हिन्दी वालों ने तुलसी का आदर करना, ग्रियर्सन से जायसी का आदर करना सीखा, आचार्य द्विवेदी से कबीर का आदर करना सीखा। डॉ. नगेन्द्र इस काल के महान आलोचक (तीसरे) सिद्ध हुए। हिन्दी आलोचना को उनके ग्रन्थों ने एक बार फिर से समयानुकूल भी बनाया तथा गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया। 'इस सिद्धान्त' में सैद्धान्तिक आलोचना को तथा 'देव और उनकी कविता' में व्यावहारिक आलोचना को उसके उत्कर्ष पर उन्होंने पहुंचाया। गुलाबराय (सिद्धान्त और अध्ययन सन् 1946 तथा काव्य के रूप 1947), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (वाङ्मय विमर्श, हिन्दी साहित्य का अतीत दो भाग और हिन्दी का समसामायिक साहित्य) आदि इसी कोटि के अन्य आलोचक हैं।

आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी में स्वच्छदतावादी, प्रभाववादी, मनोवैज्ञानिक या अन्तश्चेतनावादी, ऐतिसासिक एवं सांस्कृतिक, अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक और प्रगतिवादी या मार्क्सवादी आलोचना का विकास हुआ। नीचे इन पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है-

20.3.1 स्वच्छन्दतावादी आलोचना- हिन्दी में स्वच्छंदतावादी आलोचना का विकास छायावादी काव्यधारा के मूल्यांकन के साथ हुआ। इससे इस काव्यधारा के स्वस्थ मूल्यांकन के लिए आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने छायावाद संबंधी अनेक भ्रमों को दूर किया। इसी प्रकार का दृष्टिकोण डॉ. नगेन्द्र ने भी रखा। इस स्वच्छन्दतावादी आलोचना से इसके आलोचकों को पर्याप्त ख्याति मिली। वाजपेयी ने 'आधुनिक साहित्य: नया साहित्य, 'नए प्रश्न', 'जयशंकर प्रसाद', 'कवि निराला', हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी आदि उल्लेखनीय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आलोचनात्मक ग्रथ लिखें।

20.3.2 प्रभाववादी या प्रभावाभिव्यंजक आलोचना – किसी काव्य कृति का अध्ययनोपरांत मार्मिक ढंग से पाठकों पर पड़े हुए प्रभावों को व्यक्त करने के स्वरूप को प्रभाववादी या भावाभिव्यंजक आलोचना कहते हैं। इस प्रकार की आलोचना का पहला प्रयास पद्मसिंह शर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि ने किया। इस आलोचना पद्धति का हिन्दी में अधिक विस्तार नहीं हुआ।

20.3.3 मनोवैज्ञानिक या अन्तश्चेतनावादी आलोचना– मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार कला में नवीन प्रयोग होना चाहिए। उनका यह मानना है कि जैसे–जैसे समाज का विकास होता जाएगा वैसे–वैसे जीवन–दशाएं बदलती जाएंगी। फिर उसके सनातन, अवचेतन और चेतन आपस में टकराने लगेंगे। परिणामस्वरूप मानव–चरित्र की संश्लिष्टताएं और जटिलताएं और अधिक बढ़ जाएंगी। इलाचन्द्र जोशी', 'अज्ञेय', डॉ. देवराज आदि इस आलोचना स्वरूप के महान् आलोचक हैं।

20.3.4 ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना– 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक आलोच्य ग्रन्थ के द्वारा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना की नींव डाली। यहां उल्लेख कर देना अपेक्षित होगा कि ऐतिहासिक आलोचक मानव–समुदाय की चेतना, देशकाल के अनुसार बदलते हुए भी परम्परा से बंधा होता है, वहां सांस्कृतिक आलोचक रचना में सांस्कृतिक तत्त्वों का छानबीन करते हुए उसके सांस्कृतिक महत्त्व और अवदान को रेखांकित करता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भगीरथ मिश्र, सीताराम चतुर्वेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना के उल्लेखनीय आलोचक हैं।

20.3.5 शास्त्रीय समीक्षा– द्विवेदी युग में रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की शास्त्रीय समीक्षा के ग्रन्थ लिखें गए। यही नहीं, भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्त ग्रन्थ के अनुवाद भी हुए। रामकुमार वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, भगीरथ मिश्र, लीलाधर गुप्त, देवराज उपाध्याय, डॉ. केशरी नारायण शुक्ल आदि शास्त्रीय समीक्षा के उल्लेखनीय समीक्षक हैं।

20.3.6 अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना– आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा आरम्भ की गई अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना बाद में विश्वविद्यालयी शोधकार्यों के फलस्वरूप धीमी होती हुई शोध–लेखन–प्रकाशन के द्वारा समृद्ध होने लगी है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', बलदेव प्रसाद मिश्र, माता प्रसाद गुप्त, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, श्री कृष्णलाल, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, दीनदयाल गुप्त, कामिल बुल्के आदि उल्लेखनीय अन्वेषण एवं अनुसंधान परक आलोचक हैं।

20.3.7 प्रगतिवादी या मार्क्सवादी आलोचना– शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त और डॉ. रामविलास शर्मा आदि आलोचकों ने मार्क्सवादी और समाजवादी पद्धति को पुष्ट और प्रचलित किया। शिवदान सिंह चौहान (प्रगतिवाद) का ग्रन्थ सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ। सन् 1946 में लिखा गया प्रकाशचन्द्र गुप्त का ग्रन्थ 'नया हिन्दी साहित्य' ने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की। सन् 1949 में 'संस्कृत और साहित्य' सन् 1948 में 'प्रगति और परम्परा' दो ग्रन्थों के द्वारा डॉ. रामविलास शर्मा ने ख्याति प्राप्त की। अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, डॉ. देवराज उपाध्याय के मनोविश्लेषणवादी अथवा मनोवैज्ञानिक पद्धति में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। आलोचक के रूप में अज्ञेय को 'त्रिशंकु' के द्वारा ख्याति मिली। इलाचन्द्र जोशी की प्रसिद्धि का आधार 'साहित्य सर्जना' थी। डॉ. देवराज ने 'आधुनिक कथा साहित्य' तथा 'मनोविज्ञान' के द्वारा ख्याति अर्जित की।

20.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना

स्वातंत्र्योत्तर काल में प्रारम्भ के प्रयोगवाद और बाद की नयी कविता के आविर्भाव के द्वारा आलोचनात्मक जागृति का जन्म हुआ। अपनी–अपनी मान्यताओं का वर्गीकरण तारसप्तकों के कवियों ने वक्तव्यों के द्वारा स्पष्ट किया। कुछ आलोचकों ने स्वतंत्र आलोचना ग्रन्थ लिखे। मुक्तिबोध का (नए साहित्य का सौन्दर्य), गिरिजाकुमार माथुर (नई कविता : सीमाएं और सम्भावनाएं), धर्मवीर भारती (मानव–मूल्य और साहित्य), डॉ. नामवरसिंह (कविता के नये प्रतिमान), लक्ष्मीकान्त वर्मा (नई कविता के प्रतिमान), डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी (भाषा और संवेदना) आदि अनेक उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। नई कहानी का प्रतिपादन करने के लिए भी कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए जिनमें डॉ. देवकीनन्दन अवस्थी द्वारा सम्पादित (नई कहानी संदर्भ और प्रकृति) तथा नामवरसिंह की (कहानी और कहानी) दोनों ग्रंथ सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आलोचना के रूप में प्रबलता संभवत: यथा सर्वाधिक स्वातन्त्र्योत्तर काल में रही। शोध स्तर की आलोचना को दो वर्गों में रखा जा सकता है। पी.एच.डी. तथा डी. लिट् के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध एवं एम. फिल. के लिए प्रस्तुत किए गए लघु प्रबन्ध। इस पद्धति में भावी अध्ययन की संभावनाओं पर बल तथा खोजी हुई सामग्री में सामंजस्य बैठाना आदि कार्य किया जाता है। आलोचना की इस प्रबल पद्धति की कल्पना असम्भव है। सन् 1950 में केवल 50 व्यक्तियों ने उपाधियां अर्जित की, परन्तु इस समय उनकी संख्या 5000 के लगभग है। सन् 1979 तक डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल (शोध संदर्भ सन् 1980) की गणना के अनुसार 4500 पार कर चुकी थी। इसके अतिरिक्त लघु प्रबन्धों की संख्या भी कई सौ होनी चाहिए।

नागरी प्रचारिणी सभा की 17 खण्डों में हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास के प्रकाशन की योजना इतिहास-लेखन के क्षेत्र में आलोचना की एक उपलब्धि है। डॉ. राजबली पाण्डेय द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य की पीठिका', राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'हिन्दी का लोक साहित्य डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'रीतिबद्धकाल', डॉ. धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी भाषा का विकास', 'लक्ष्मीनारायण सुधांशु द्वारा सम्पादित 'समलोचना निबन्ध पत्रकारित', परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'भक्तिकाल' तथा डॉ. अंचल एवं डॉ. काशिकेय द्वारा सम्पादित 'उत्कर्षकाल' आदि सात खण्ड अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित और नेशनल पब्लिसिंग हाउस, देहली द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' इतिहास-लेखन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।

20.5 हिन्दी आलोचना की वर्त्तमान स्थिति-

जिस भाषा और साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. नगेन्द्र जैसे समर्थ समालोचक हों, जिस भाषा को इतने बड़े देश और इतनी बड़ी जनसंख्या की राष्ट्रीय भाषा होने का गौरव प्राप्त हो, जिस भाषा में साहित्य पर 5000 के लगभग शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए जा चुके हों, जिस भाषा और साहित्य की सभी विधाओं में अनेकानेक उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ प्रस्तुत किए जा चुके हों, जिस भाषा में एक हजार वर्षों से साहित्य सृजन हो रहा हो तथा जिसके पठन-पाठन को विदेशों में भी मान्यता प्राप्त हो, उस क्षेत्र में आलोचना के मानदण्डों की कमी होना संभव नहीं है। परन्तु उन मानदण्डों को प्रकट करने वाले व्यक्ति की प्रतीक्षा है। डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है- 'हिन्दी में प्राचीन और नवीन काव्य और काव्यशास्त्र में इतनी सामग्री विद्यमान है कि उसके आधार पर हिन्दी के अपने काव्यशास्त्र के अस्तित्व की परिकल्पना असंगत नहीं कही जा सकती। हिन्दी के पास मूलधन अवश्य विद्यमान है कि उसके आधार पर अच्छे काव्यशास्त्र का निर्माण किया जा सकता है, जो संस्कृत और अंग्रेजी का उपजीवी न होकर हिन्दी की अपनी सम्पत्ति होगी।' हिन्दी भाषा की समस्त क्षमता तथा महत्त्व उसी काव्यशास्त्र के द्वारा प्रकट हो सकती है। हिन्दी के स्वतन्त्र काव्यशास्त्र के सूत्र अलंकार, रस, रीति, वक्रोति, ध्वनि औचित्य आदि हिन्दी आलोच्य ग्रंथों में विद्यमान हैं। डा. भगीरथ मिश्र ने लिखा है- 'संस्कृत से प्राप्त समस्त लक्षणों और तत्त्वों को सामने रखकर भी काव्य की उस व्यापक तथा गम्भीर महत्ता को हृदयंगम नहीं कर पाते, जो केवल उसी साहित्य की धरोहर है। अत: हमें आज की स्थिति से नए सिद्धान्त स्थिर करने चाहिए। जो काव्य और साहित्य के समस्त महत्त्व को प्रकट कर सकें।'

20.6 सारांश-

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने आलोचना के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए लिखा है- 'यदि हम साहित्य को व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या माना जायेगा।' अत्यन्त गूढ़ सत्य डॉ. श्यामसुन्दर दास के इस कथन में निहित है, वह है आलोचना से मानव तथा जीवन का जुड़ा होना। यदि डॉ. श्यामसुन्दर दास का यह अनुमान सत्य है, तो आलोचना के स्वरूप का परिवर्तित होना जीवन के प्रत्येक परिवर्तन के साथ आवश्यक है। जीवन का परिवर्तन साहित्य के द्वारा आलोचना को प्रभावित करता है। इसी तथ्य की पुष्टि हिन्दी समालोचना का विकास-क्रम भी करता है। आलोचना का स्वरूप जीवन के मूल स्वरूप के प्रत्येक परिवर्तन के साथ परिवर्तित होता है। आलोचना भी साहित्य के अन्य रूपों की भांति जीवन्त विद्या है। आलोचना ने जीवन में घटित होने वाले मर्म तक पहुँचने की कोशिश की है। प्रत्येक ने जीवन में परिवर्तित होने वाला रूप आलोचना के इसी तथ्य की पुष्टि करता है। हिन्दी आलोचना का एक अन्य महत्त्वपूर्ण सत्य स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए संघर्ष प्रतीत होता है। हिन्दी समालोचना का आगे विकास-क्रम प्रस्तुत करने से इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

20.7 अभ्यास प्रश्न

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का आरम्भ कब और कहाँ हुआ? उदाहरण सहित उत्तर लिखिए।
2. हिन्दी आलोचना की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालते हुए विस्तार से वर्णन कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 21

निबन्ध एवं अन्य गद्य विधाएं

संरचना

21.0 प्रस्तावना

21.1 उद्देश्य

21.2 निबंध का विकास

21.2.1 भारतेन्दु युग (1873–1900)

21.2.2 द्विवेदी युग (1900–1920)

21.2.3 शुक्ल युग (1920–1940)

21.2.4 शुक्लोत्तर युग

21.3 अन्य गद्य विधाएं

21.3.1 रेखाचित्र

21.3.2 संस्मरण

21.3.3 जीवनी

21.3.4 आत्मकथा

21.3.5 यात्रावृत्तान्त

21.3.6 रिपोर्ताज

21.3.7 साक्षात्कार

21.3.8 डायरी

21.4 सारांश

21.5 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

21.0 प्रस्तावना

हिन्दी के आधुनिक युग की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि गद्य है। उससे भी बड़ी उपलब्धि है– गद्य की विविध विधाओं की देन। निबन्ध तथा अन्य गद्य विधाओं की प्राथमिक शर्त है– निजी अनुभवों की प्रामाणिक और विश्वसनीय अभिव्यक्ति। रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, डायरी आदि गद्य–विधाएं लेखक की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ हैं, जो साहित्य की सृजनात्मक विधाओं के रूप में प्रस्तुत होने लगी है। इस इकाई में निबन्ध और इन्हीं विधाओं की प्रवृत्तिगत स्थितियों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

21.1 उद्देश्य

इस इकाई में निबन्ध और गद्य की अन्य विधाओं के स्वरूप और उनके सामाजिक परिवर्तन पर विचार करेंगे।

21.2 निबन्ध का विकास

हिन्दी–गद्य की विधाओं में निबन्ध का विशेष महत्त्व है। आचार्यों ने निबन्ध को गद्य की कसौटी के रूप में स्वीकार किया है। गद्य साहित्य की अन्य विधाओं के समान निबन्ध का आरम्भ भी भारतेन्दु युग में ही हुआ था। भारतेन्दु युग से लेकर अब तक निबंध ने अनेक

सोपानों को पार किया है। इन विविध सोपानों के आधार पर ही आधुनिक साहित्य की निबन्ध-विद्या की प्रवृत्तियों को जाना और परखा जा सकता है।

21.2.1 भारतेन्दु युग-(1873-1900)- भारतेन्दु युगीन निबन्धकारों के सामने राजनीति, धर्म, आर्थिक दुर्दशा, अध्यात्म, अतीत का गौरव आदि अनंत विषय फैले हुए थे। इस युग के निबन्धकारों ने इन विषयों पर जी भर कर निबन्ध लिखें हैं। समाज-सुधार और राष्ट्रीयता की भावना इस काल के निबन्धों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। इस काल के निबन्धकारों का प्रमुख उद्देश्य अपने निबन्धों के माध्यम से भारतीय जनता को शिक्षित करके उनमें राष्ट्रीयता की भावना जागृत करना था। भारतेन्दु ने स्वयं इतिहास, धर्म, कला, समाज-सुधार तथा साहित्य आदि विषयों पर निबंध लिखें। इन निबन्धों में व्यंग्य-शैली का आकर्षण देखते ही बनता है। इसी युग में प्रतापनारायण मिश्र ने 'समझदार की मौत है', 'दाँत', 'माँ', 'परीक्षा', 'मनोयोग' आदि विषयों पर निबंध लिखे। इन निबन्धों में भी जन-जागरण की प्रवृत्ति ही प्रमुख है।

बालकृष्ण भट्ट इस युग के समर्थ निबंधकार है। भट्टजी ने 'देश-सेवा की महत्ता अंग्रेजी शिक्षा और प्रकाश', 'बाल-विवाह', 'राजा और प्रजा' आदि अनेक निबंधों में सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। इनके निबंधों में मूल रूप से समाज-सुधार तथा राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति ही प्रमुख है। इस युग का निबंधकार राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण तथा तत्कालीन जीवन चेतना से सीधे जुड़ा हुआ है।

21.2.2 द्विवेदी युग-(1900-1920) - द्विवेदी युगीन निबंधों में विभिन्न क्षेत्रों से सामग्री की प्रवृत्ति अधिक है। इस युग के निबधकारों में आत्म-अभिव्यंजना का तत्त्व लगभग नहीं के बराबर है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त गोविन्दनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त तथा सरदार पूर्णसिंह इस युग के महत्त्वपूर्ण निबन्धकार हैं। इनके निबन्धों में नैतिक और सामाजिक विषयों को उपयुक्त स्थान मिला है। इनके निबन्धों में लॉर्ड कर्जन पर प्रहार करते हुए जिस व्यंग्य-प्रवृत्ति को दर्शाया गया है, वह उच्चतम है।

21.2.3 शुक्ल युग-(1920-1940) - शुक्ल युग के निबन्धों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दर दास ने निबन्ध के क्षेत्र में क्रान्ति ही ला दी। आलोचना, गंभीरता तथा शैली वैविध्य इस युग के निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। छायावादी युग के निबन्धों में व्यक्ति और लालित्य को प्रधानता देने की प्रवृत्ति प्रमुख है। छायावादी युग में बाबू गुलाबराय (मेरा भवन, प्रीतिभोज, मेरी, दैनिकी का एक पृष्ठ) प्रमुख निबंधकार हैं। अन्य ललित निबंधकारों मे शांतिप्रिय द्विवेदी, शिवपूजन सहाय तथा रघुवीर सहाय के नाम उल्लेखनीय हैं। इस युग के निबंधों में एक ओर गंभीर चिंतन, विश्लेषण तथा तार्किकता की प्रवृति है तो दूसरी ओर आत्मीयता, भावुकता और व्यंग्य की प्रवृत्ति है। इस युग के निबंधों की भाषा में लाक्षणिकता, कथन का बांकापन तथा प्रतीकात्मकता का सुन्दर समन्वय है।

21.2.4 शुक्लोत्तर निबंध- शुक्लोत्तर युग में निबंध अपनी पूर्णता पर पहुँचा। इस काल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निबंधकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। द्विवेदीजी के निबंधों में सांस्कृतिक विरासत के साथ-साथ नवीन जीवन-बोध है। उनके निबंध देश की नवीनतम गति से जुड़े हुए हैं। जैनेन्द्र, शांतिप्रिय, द्विवेदी डॉ. नगेन्द्र, अज्ञेय, रामवृक्ष बेनपुरी, भगवतशरण उपाध्याय, कुबेरनाश राय, डॉ. विद्यानिवास मिश्र इस युग के उच्चकोटि के निबंधकार हैं। इन निबंधकारों के निबंधों में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। इन निबंधकारों के निबंधों में भावुकता, वैचारिकता, समीक्षात्मकता की प्रवृत्ति अधिक है। इसके अतिरिक्त बेढ़ब बनारसी, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, केशवचंद्र वर्मा इस युग के ऐसे निबंधकार हैं, जिनके निबंधों में रहस्य में हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति ही प्रमुख है। इन निबंधों में राजनीतिक और सामाजिक विसंगतियों पर तीखे और मर्म भेदी व्यंग्य किए गए हैं। इस प्रकार हम देखते है कि आधुनिक हिन्दी निबंध साहित्य में युगानुरूप अनेक प्रवृत्तियाँ उभरी हैं।

आधुनिक युग में आकर हिन्दी का निबंध साहित्य और भी अधिक प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ है। द्विवेदी युग में विषय का विस्तार और परिमार्जन तो खूब हुआ था, परन्तु उस काल में विषय के विश्लेषण और उसकी गहराई में जाने की प्रवृत्ति अधिक नहीं थी। यह कार्य आधुनिक काल में जाकर पूरा हुआ। भाव, भाषा, शैली सभी दृष्टियों से नये एवं उत्कृष्ट निबंधों की रचना इस काल में हुई।

हिन्दी निबंध साहित्य की इस परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय बाबू गुलाब राय, पदुमलाल, पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आदि लेखकों को हैं। रायकृष्णदास, वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ. रघुवीरसिंह ने बड़े सुंदर भावात्मक निबंधों की रचना की है। पदुमलाल पन्नालाल बख्शी के निबंधों में पाश्चात्य और भारतीय निबंध शैली का सुन्दर समन्वय हुआ था। साहित्य के धरातल पर सरस, ललित निबंधों की रचना करने वालों में डॉ.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं। डॉ. नगेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, शान्तिप्रिय, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प्रमुख आलोचनात्मक निबन्धकार हैं। संस्मरणात्मक निबंधों की रचना महादेवी वर्मा तथा बनारसीदास चतुर्वेदी ने की है। यात्रा संबंधी निबंधों के लेखकों में राहुल सांकृत्यायन भगवतशरण उपाध्याय प्रमुख हैं। श्रीराम शर्मा के शिकार संबंधी निबंध भी अपने ढंग के एकमात्र निबंध हैं।

21.3 अन्य गद्य विधाएं-

प्रारम्भ से पद्य की अपेक्षा हिन्दी का गद्य जन-जीवन के अधिक निकट रहा है। पुराने रूपों में परिवर्तन के साथ ही नए-नए रूप भ्ज्ञी अंकुरित एवं पनलवित हुए। गद्य के अनेक रूपों ने पुराने रूप-रंगों को त्यागकर सर्वथा नवीन रूप में प्रकट हुए है। आग-कथा, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि प्रथम कोटि के उल्लेखनीय रूप हैं। जीवनी, यात्रा वर्णन तथा संस्मरण आदि द्वितीय कोटि के रूप हैं। प्रत्येक रूप अथवा विधा का परिचय रचनास्वरूप तथा परम्परा दो रूपों में अभिव्यक्त होता है। दोनों ही भागों से यह स्पष्ट होता है कि गद्य के ये दोनों ही रूप अत्यधिक संवेदनशील हैं। प्रत्येक गति एवं दिशा को पकड़ने के लिए उनका प्रत्येक तत्त्व आतुर है। दोनों प्रकार की विधाओं का विवेचन निम्न प्रकार है-

21.3.1 रेखाचित्र- रेखाचित्र गद्य के नवीन रूपों में प्रमुखतम है। सत्याल चुघ, श्रीराम बेनीपुरी तथा यशपाल आदि ने रेखाचित्र को शब्द चित्र कहा है। लेखक रागोत्प्रेरक शब्दावली का प्रयोग व्यक्ति-विशेष का वर्णन करते समय करता है। इस संबंध में डॉ. मक्खनलाल शर्मा ने ठीक ही लिखा है- ''किसी भाव- विशेष को दृष्टा के हृदय में जिस प्रकार चित्र का उद्देश्य जाग्रत कर देता है, उसी प्रकार से इतिहास, घटना, मनोविज्ञान, वातावरण आदि की सहायता से रेखाचित्र भी अभिप्सित भाव की अनुभूति करा देता है तथा पाठक एक नवीन मानसिक अवस्था को प्राप्त कर रसमग्न हो जाता है।'' अत: रेखाचित्र का एकमात्र उद्देश्य वैयक्तिक अनुभूति के माध्यम से मानववाद तक पहुंचना है। श्री कृपाशंकर ने रेखाचित्र को चित्रकला का शब्द मानते हुए लिखा है- 'रेखाचित्र का तात्पर्य किसी जीव, पदार्थ या वस्तु के आधार को खींचता है। अत: रेखाचित्र चित्रकला का ही एक शब्द है।'' डॉ. बच्चनसिंह का मत है- ''मुख्यतया बाह्य रेखाओं पर आधारित रहने के कारण लक्षित चित्रों को रेखाचित्र की अभिधा दी जा सकती है। रेखाचित्रों में आलम्बन के चित्र सौन्दर्य को तथा उनकी चेष्टाओं को अंकित किया जाता है।'' चित्रकार जिस प्रकार किसी पदार्थ, व्यक्ति, दृश्य को अपनी तलिका और रंगों के माध्यम से सजीव करता है। डॉ. भगीरथ मिश्र लिखते हैं- ''अपने सम्पर्क में आए किसी विलक्षण व्यक्तित्व अथवा संवेदना को जगाने वाली, सामान्य विशेषताओं से युक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र के मर्मस्पर्शी रूप को देखी-सुनी या संकलित घटनाओं की पृष्ठभूमि में इस प्रकार उभारना कि उसका हमारे हृदय पर सुनिश्चित प्रभाव अंकित हो जाए, रेखाचित्र कहलाता है।''

कहानी रेखाचित्र के सबसे समीप की वस्तु है। कहानी आकार में छोटी और कम से कम व्यक्तियों, घटनाओं अथवा दृश्यों से संबंधित होती है। रेखाचित्र में भी लेखक का उद्देश्य पाठक पर एक सुनिर्दिष्ट, सुस्पष्ट तथा संवेदनात्मक प्रभाव डालता है, परन्तु कहानी तथा रेखाचित्र में फिर भी अंतर है। दोनों में सुस्पष्ट अंतर कल्पना का प्रयोग है। कहानी में कल्पना तथा रेखाचित्र में वास्तविकता अधिक होती है। रेखाचित्र का वर्णन आदि से अंत तक वास्तविक प्रतीत हो, इसी कारण बहुत से संस्मरण या रेखाचित्र कहानी के अंतर्गत रख लिए जाते हैं। अत: लेखक को रेखाचित्र का वर्णन करते समय कल्पना का मोह बिल्कुल नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कहानी में तत्त्वों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है, परन्तु रेखाचित्र में इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। रेखाचित्र का लक्ष्य वर्ण्य-विषय में संवेदनात्मक रूप भर देना होता है। संवेदनात्मक वर्ण्य-विषय के अभाव में लेखक की रचना रेखाचित्र नहीं बनी रह सकती। डॉ. नगेन्द्र ने रेखाचित्र के संबंध में ठीक ही कहा है- ''जब चित्रकला का यह शब्द साहित्य में आया, तो इसकी परिभाषा भी स्वभावत: इसके साथ आई, जिससे रेखाएं हों, पर मूर्त्त रूप अर्थात् उतार-चढ़ाव, दूसरे शब्दों में, कथानक का उतार चढ़ाव आदि न हो। तथ्यों का उद्घाटन मात्र हो, पूर्व आयोजिक विकास न हो। रेखाचित्र में तथा खुलते जाते हैं, संयोजित नहीं होते।''

रेखाचित्र के समीप की वस्तु कहानी के बाद संस्मरण हैं। कथात्मक भराव संस्मरण में नहीं होता। उसका उद्देश्य भी पाठक पर किसी एक निश्चित उद्देश्य को डालना होता है। फिर भी इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। संस्मरण लेखकों में स्मर्यमाण व्यक्ति का रेखाचित्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्राय: आ गई है। डॉ. विशम्भरनाथ अग्रवाल ने ठीक ही लिखा है- ''हिन्दी में पूर्ण वैज्ञानिक स्थिति में लिखित रेखाचित्र एक भी नहीं मिलता।'' रेखाचित्र तथा संस्मरण विषय-प्रधान तथाा संस्मरण विषयी-प्रधान होता है। रेखाचित्र अभिव्यक्ति शैली में तथा संस्मरण में व्यक्ति के 'स्व' की प्रधानता रहती है। संस्मरण 'स्व' के बाल पर ही बन पाता है। रेखाचित्रों के संस्मरणात्मक हो पाने के कारण ही हिन्दी कलाकार अभी भी आत्मनिष्ठ है। तटस्थ लेखन की माँग रेखाचित्र के पास कम है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कहानी, संस्मरण के समान ही जीवनी भी रेखाचित्र के समीप की वस्तु है। रेखाचित्र के समान ही जीवनी में भी लेखक का उद्देश्य नायक के जीवन-चरित्र से संबंधित संवेदनशील अंशों को उद्घाटित करना होता है। परन्तु फिर भी दोनों के रचना विधान में आकाश-पाताल का अंतर है। नायक की अनुभूतियों, भावनाओं, कल्पनाओं आदि को जीवनी में अधिक अभिव्यक्ति मिलती है तथा रेखाचित्र में लेखक की अनुभूतियों, भावनाओं और कल्पनाओं को अभिव्यक्ति मिलती है। रेखाचित्र का भावात्मक पक्ष तथा जीवनी का चरित्र वर्णन तथ्यात्मक होता है।

रेखाचित्र के प्रमुख रचना तत्त्व निम्नांकित ठहरते हैं। यथार्थ अर्थात् वास्तवविकता पर बल, वर्णित पात्र के संवेदनशील रूप की पकड़ आकृति तथा वेशभूषा आदि का जीता-जागता चित्र, प्रत्येक स्तर के पात्र में अटूट स्नेह, कथात्मकता, आरोह-अवरोह तथा कल्पना के पुट का परित्याग, वाग्मिता अर्थात् कम-से-कम शब्दों में अधिकाधिक बात कह पाना तथा संक्षिप्त आकार आदि प्रमुख विशेषताएं हैं।

रेखाचित्र और वर्ण्य- विषय के प्रवृत्ति और वर्ण्य-वस्तु दो आधार हो सकते हैं। प्रकृति के आधार पर रेखाचित्र की प्रवृत्तियों को कृपाशंकर सिंह के मतानुसार नौ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। महादेवी वर्मा का 'भक्तिन' चीनी फेरी वाला' तथा 'पहाड़ी कुली भाई' आदि संवेदनात्मक रामवृक्ष बेनीपुरी का 'किसको लिखे रहे हैं' स्नेह-प्रधान, महादेवी वर्मा के 'रवीन्द्र बाबू' तथा मैथिलीशरण गुप्त संबंधी रेखाचित्र श्रद्धा भक्ति समन्वित है। रामवृक्ष बेनीपुरी का लाल तारा' तथा 'हलवाहा' मनोवृत्ति प्रधान, रामवृक्ष बेनीपुरी का 'ये मनोरम दृश्य' प्रकृति सौंदर्य प्रधान, प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'लेटर बॉक्स' तथ्य-प्रधान, प्रधाशचन्द्र गुप्त का 'शेरशाह की सड़क' ऐतिहासिक रामवृक्ष बेनीपुरी का 'शहीद की, चिताओं पर' राष्ट्रीयता प्रधान तथा श्रीराम शर्मा का 'ठाकुर की आज' व्यक्ति-प्रधान आदि रेखाचित्र की प्रकृति के आधार पर विभाजन किया गया है। ऐतिहासिक, घटना-प्रधान, मनोवैज्ञानिक, वातावरण प्रधान, सामायिक सत्य-प्रधान, प्रभाववादी, व्यंग्यात्मक, आभ्यांतरिक आदि वर्गीकरण वस्तु के आधार पर किए गए हैं।

प्रारम्भ में हिन्दी में रेखाचित्र नाम का कोई रूप नहीं था, फिर भी प्राचीन काल में इसके अनेक रूप ढूँढे जा सकते हैं। चन्दरबरदायी के 'पृथ्वीराज रासो' जायसी के 'पद्मावत' तुलसी के 'मानस', देव, बिहारी, मतिराम आदि के श्रृंगारिक वर्णनों में इस प्रकार के अनेक चित्र मिल सकते हैं। प्रसाद की 'कामायनी' पन्त की 'ग्राम्या', निराला की 'परिमल' आदि में आधुनिक काल के इस प्रकार के अंश मिल जाते हैं। बाबू हरिश्चन्द्र के 'विक्रम कालिदास', 'रामानुजाचार्य, ''जयदेव'', वल्लभाचार्य, 'सूरदास', 'सुकरात', 'जंगबहादुर', 'द्वारिकानाथ मिश्र', 'राजाराम शास्त्री', लॉर्डक्यों तथा लॉर्ड लारेन्स आदि निबन्धों से गद्य में इनका श्रीगणेश माना जा सकता है। रेखाचित्र का कुछ विद्वानों ने पद्मसिंह शर्मा को जनक माना है। स्वतन्त्र रूप से रेखाचित्र नाम से श्रीगणेश करने का श्रेय श्रीराम शर्मा को है। सन् 1930 में प्रकाशित 'बोलती प्रतिमा' में कई सुन्दर रेखाचित्र प्रस्तुत किए गए है।

सन् 1930 में निराला के 'कुल्ली भाट' तथा सन् 1941 में 'बिल्लेसुर बकरिहा' ने इसके स्वरूप को अत्यधिक विकसित किया है। परन्तु बनारसीदास चतुर्वेदी ने रेखाचित्र को स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त करने में सर्वाधिक योगदान दिया। उन्होंने उत्कृष्ट कोटि के चालीस रेखाचित्र तथा भूमिका के रूप में रेखाचित्र के रचना स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। बनारसीदास के मतानुसार – 'जिस प्रकार अच्छा चित्र खींचने के लिए रेखाचित्रकार में विश्लेषणात्मक बुद्धि तथा भावुकतापूर्ण हृदय दोनों का सामंजस्य होना चाहिए पर दुःखकातरता, संवेदनशीलता, विवेक और संतुलन इन सब गुणों की भी आवश्यकता है।'

रामवृक्ष बेनीपुरी के आविर्भाव से तीसरी प्रगति प्राप्त हुई। महान शैलीकार का योग पाकर साहित्य रचना का यह रूप चमक उठा। 'लाल तारा, 'माटी की मूरतें, 'गेहूँ और गुलाब' तथा 'मील का पत्थर' आदि उनके कई प्रकाशित संग्रह हैं। बेनीपुरी की भाषा-शैली की डॉ. हरवंशलाल शर्मा ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। डॉ. शर्मा का कथन इस प्रकार है– 'रेखाचित्र को इतने साज-सँवार के साथ गढ़कर कोई दूसरा व्यक्ति नहीं रखता, शैलियाँ बदलती रहती हैं, जिसमें छोटे-छोटे भाव भी ने वाक्य पाठकों को मुग्ध किए रहते हैं।

डॉ. प्रकाशचन्द्र गुप्त (पुरानी स्मृतियाँ, नए स्केच), देवेन्द्र सत्यार्थी (रेखाएं बोल उठीं), कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर (भूले हुए चेहरे), जगदीशचन्द्र माथुर (दस तस्वीरें), सत्यजीवन वर्मा (एलबम), राजा राधिकारमणसिंह (सातवी समां, टूटा तारा, सूरदास), इन्द्राविद्या वाचस्पति (मैं इनका श्रवणी हूँ) विनोदशंकर व्यास (शान्तिप्रिय द्विवेदी (पथचिन्ह), आचार्य विनयमोह शर्मा, (रेखा और रंग) सेठ गोविन्ददास (स्मृतिकण), डॉ. नगेन्द्र (चेतना के बिम्ब), डॉ. रामविलास शर्मा (विराम चिन्ह), ओंकार शरद (लंका महाराजिन), महावीर त्यागी (मेरी कौना सुनेगा) आदि साहित्यकारों के अतिरिक्त भी वर्तमान काल में योग प्राप्त हुआ है। प्रेमनारायण टण्डन, राहुल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सांस्कृत्यायन, हर्षदेव मालवीय, प्रभाकर माचवे, अश्क, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, महावीर अधिकारी हलदार त्रिपाठी, प्रो. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, रेणु, मदन वात्स्यायन, कपिल, मेहताब अली, सत्यवती मलिक, अविनाश, रघुवीर सहाय, विद्या माथुर तथा निर्मल वर्मा आदि अनेक साहित्यकार रेखाचित्रों की सृष्टि करने में प्रमुख हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आयु कम होते हुए भी साहित्य की यह विद्या रंग–रूप में किसी से कम नहीं है। उसके सभी रूपों को श्रीराम शर्मा, बेनीपुरी तथा महादेवी वर्मा ने अपनाया है। अनेक नए रूप–रंगों का पता रेखाचित्र के माध्यम से चलता है। जगदीशचन्द्र माथुर का संग्रह (दस तस्वीरें) से रेखाचित्र को अत्यधिक निखार प्राप्त हुआ है अर्थात् आया है। जगदीशचन्द्र माथुर के संग्रह में यह रूप यौवन पर जा पहुँचा है।

21.3.2 संस्मरण साहित्य– वर्तमान काल में संस्मरण ने भी गद्य की नई विधाओं के रूप में ख्याति प्राप्त की है। संस्मरण में स्मर्यमाण का लेखक वर्णन करता है। वह वर्णन सत्य घटनाओं पर आधारित तथा पाठक पर तात्कालिक प्रभाव डालने की क्षमता रखता है। लेखक के अनावश्यक रूप से महत्ता धारणा करने पर रचना आत्मकथात्मक रेखाचित्र की ओर बढ़ने लगती है। अत: प्रधानता दोनों में से किसी को नहीं मिलनी चाहिए। प्रधानता तो लेखक के स्मर्यमाण व्यक्ति के साथ बिताए गए अंतरंग क्षणों को मिलनी चाहिए, वही रचना संस्मरण कहलाती है। 'हिन्दी जीवनी' सिद्धान्त और अध्ययन में डॉ. भगवानशरण भारद्वाज ने संस्मरण के कई नियामक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ओर संकेत किया है। सहानुभूतिपूर्ण हृदय की अनिवार्यता, व्यक्तिगत सम्पर्क की अनिवार्यता, लेखक के स्व–निरीक्षण की क्षमता, रचना के प्रारम्भ तथा अन्त का रोचक होना आदि उसके प्रमुख तत्त्व डॉ. भारद्वाज ने बताए है। संस्मरण सफलता की एक शर्त सहानुभूमिपूर्ण हृदय की अनिवार्यता है। व्यक्ति के स्वभाव में झांकने का अवसर सहानुभूति के द्वारा ही प्राप्त होता है। संस्मरण की दूसरी शर्त व्यक्तिगत सम्पर्क है, जिसके अभाव में व्यक्ति की रूचि–अरूचि, आकर्षण–विकर्षण आदि का पता नहीं चल सकता है। व्यक्तिगत सम्पर्क के द्वारा वातावरण आत्मीयतापूर्ण हो जाता है तथा रचना में अतिरिक्त प्रभाविष्णुता आ जाती है। इस परम्परा की तीसरी शर्त लेखक के स्व–निरीक्षण की क्षमता है। संस्मरण में लेखक को स्वभाव का नि:संग विवेचन करना पड़ता है, तभी रचना में गहराई आ पाती है। इस परम्परा की चौथी तथा अंतिम शर्त रचना का आदि से अंत तक रोचक होना है, क्योंकि प्रारम्भ में रोचक होने पर पाठक रचना की ओर आकृष्ट होता है तथा अंत में रोचक होने पर अमिट छाप अंकित हो जाते है।

प्रेमचन्द्र युग में ही संस्मरण साहित्य का भी प्रादुर्भाव हुआ। इससे पूर्व संस्मरण प्रचलित नहीं थे। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सर्वप्रथम संस्मरणात्मक निबंध प्रस्तुत किया। वर्णन के विषय बालकृष्ण भट्ट थे। कुछ विद्वान हिन्दी का पहला संस्मरण लेखक पद्मसिंह शर्मा को मानते हैं। उन्होंने अकबर इलाहाबादी तथा कविरत्न सत्यनारायण पर संस्मरण प्रस्तुत किए। गोपालकृष्ण गोखले पर महात्मा गांधी ने संस्मरण लिखे। प्रेमनारायण टण्डन गोपालराम गहमरी, श्रीराम शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, डॉ. रघुवीरसिंह, सामवृक्ष, बेनीपुरी, रामनाथ, 'सुमन' रामनरेश त्रिपाठी, अनुग्रह नारायण सिंह, शान्तिप्रिय द्विवेदी, मोहनलाल महतो 'वियोगी' श्री मती शिवरानी (प्रेमचन्द्र: घर में) आदि इस युग के प्रमुख संस्मरण लेखक हैं।

'प्रेमचन्द्र: घर में'– इस युग की सर्वश्रेष्ठ कृति है। प्रस्तुत कृति में प्रेमचन्द्र के आजीवन भाँति–भाँति के संघर्षों से जुझने का, उससे उत्पन्न सफलता–असफलता का, हर्ष–विषाद का तथा सुख–दु:ख का वर्णन श्रीमती शिवरानी ने किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर का में संस्मरण की बाढ़–सी आ जाने पर अनेक साहित्यिकों ने कलम चलाई। विनोदशंकर व्यास (उनकी स्मृतियाँ), बनारसीदास चतुर्वेदी (संस्मरण), जैनेन्द्र कुमार (ये और वे), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (मण्टो : मेरा दुश्मन), कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी, माखनलाल चतुर्वेदी (समय के पाँव), डॉ. नगेन्द्र (चेतना के बिम्ब), जगदीशचन्द्र माथुर (दस तस्वीरें), महादेवी वर्मा (पथ के साथी), अमृतलाल नागर (जिनके साथ जिया) तथा बलराज साहनी (यादों के झरोखे) आदि युग प्रसिद्ध संस्मरणात्मक लेखक हैं। इनमें सबसे अधिक सुझ–बुझ, उच्च कोटि की संवेदनशीलता तथा अभूतपूर्व प्रभाविष्णुता उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'मण्टो: मेरा दुश्मन' में दिखाई देता है। इस विषय में डॉ. भगवानशरण भारद्वाज ने लिखा है– ''इन संस्मरणों को पढ़कर पाठक के दिमाग पर छाया रहता है उतना ही गहरा, उत्सुक झंझलाहटपूर्ण तनाव जिसमें हार–जीत का कोई फैसला नहीं आता है और अंत में जो एक झटके में मुँह के बल गिर पड़ता है, वह पाठक के साथ विजेता की भी सारी करूणा का अधिकारी बन जाता है।''

इस प्रकार संस्मरण अल्पायु का होते हुए भी पर्याप्त मात्रा में विकास प्राप्त कर चुका है। उसमें विषय–वैविध्य तथा शैली–वैविध्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भी है। उसमें रामवृक्ष बेनीपुरी जैसे कलाकार तथा प्रभाववादी महादेवी वर्मा भी है। अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुरूप प्रत्येक संस्मरण लेखक ने विषय और शैली को चुना। उच्च कोटि के संस्मरण लेखन की पहचान तथा अंतिम परिणति उसे अपने-अपने रूप में ढालना है।

21.3.3 जीवनी- गद्य के आधुनिक काल में जीवनी ने भी लोकप्रियता प्राप्त की। आदि काल के रासो ग्रन्थ में आश्रयदाता के जीवन चरित्र की झांकी प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति को हम जीवनी में समाहित नहीं कर सकते, क्योंकि चरित्र नायक का अतिव्यंजनापूर्ण वर्णन यत्र-तत्र पूर्णत: काल्पनिक है। इस दिशा में भक्ति-काल में 'हततक' सही प्रयत्न किए गए है। 'भक्तमाल' उस की रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 'भक्तमाल' के रचियिता नाभादास का आविर्भाव सन् 1600 के आस-पास माना गया है। भक्तमाल के उपरान्त 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम लिए जाते हैं। वार्त्ता संदिग्ध होने के कारण जीवनी साहित्य को आधुनिक काल (पुनर्जागरण काल) की ही देन माना जाता है।

पुनर्जागरण काल में सबसे पहले भारतेन्दु युग का विस्तार सन् 1851 से सन् 1900 तक माना जाता है। इस युग में अन्य विधाओं के समान ही जीवनी ने भी नया रूप-रंग प्राप्त किया। जीववियों को लिखने का मार्ग राष्ट्रोत्थान तथा समाजवादी की भावना ने खोल दिया। 'चरितावली' तथा 'पंच पवित्रात्मा' दो ग्रन्थ स्वयं बाबू भारतेन्दु हरिशचन्द्र जी ने प्रस्तुत किए। चरितावली में कालिदास तथा राजाराम शास्त्री आदि के चरित्र प्रस्तुत हैं। कार्तिक प्रसाद खन्नी, देवी प्रसाद मुसिफ और जंगबहादुर मल आदि इस युग के प्रसिद्ध जीवनीकार हैं। इस युग की जीवनियों में कुछ त्रुटियाँ भी बनी रहीं। उनमें राष्ट्र-प्रेम स्तुत्य है, परन्तु साहित्य की कसौटी पर वे खरी नहीं उतर पातीं। जीवनी साहित्य पर डॉ. भारद्वाज ने खड़ा ही महत्त्वपूर्ण शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार- 'इतिहास के स्थान पर किंवदन्तियाँ का प्रयोग किया जाना तथा दृष्टि का मनोवैज्ञानिक एवं तर्कनिष्ठ न होना इन रचनाओं की प्रमुख त्रुटियाँ हैं।'

द्विवेदीयुग में राष्ट्र-प्रेम और समाज-सुधार पूर्ण वेग के साथ प्रकट हुआ। बाबू भारतेन्दु हरिशचन्द्र के आकस्मिक निधन ने उन्हें केवल वेगही वहीं प्राप्त करने दिया, बल्कि भारतेन्दु युग में अंकुरित बीज द्विवेदीजी का सहयोग पाकर अत्यधिक वेग से प्रकट हुआ। परिणामस्वरूप जीवनियों की बाढ़-सी आ गई। जमुनादास, लज्जाराम मेहता, ब्रजनन्दन सहाय, वृंदावनलाल वर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी आदि लेखकों ने इस क्षेत्र में विशेष प्रसिद्धि पाई। प्रत्येक शताब्दी में प्रकाशित होने वाली रचनाओं के नाम डॉ. भगवानशरण भारद्वाज ने गिनाएं हैं। 1900 से सन् 1910 तक 40 जीवनियां, सन् 1911 से 1920 तक लगभग 50 जीवनियाँ तथा 1911 से 1926 तक 26 जीवनियाँ प्रकाशित हुई। अत: सन् 1901 से सन् 1936 तक द्विवेदी युग में लगभग 114 जीवनियाँ प्रकाशित हुई। ये जीवनियाँ सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक आदि सभी प्रकार के व्यक्तियों के जीवन पर आधारित हैं। शिल्प की दृष्टि से भारतेन्दु युग की अपेक्षा द्विवेदी युग में ऐतिहासिकता अधिक तथा अतिरंजना कम है।

सन् 1927 से सन् 1941 तक के समय को डॉ. भगवानशरण भारद्वाज ने प्रेमचन्द युग माना है। प्रेमचन्द की चेतना द्विवेदी युग की साहित्यिक चेतना पुनर्जागरण से आगे निकलकर संघर्ष की ओर बढ़ती जाती है। डॉ. भगवानशरण भारद्वाज के शब्दों में इस युग की जीवनियों में मृदुता कम तथा कर्कशता अधिक है। सत्यदेव विद्यालंकार, अगरचन्द नाहटा, चन्द्रगुप्त वेदालंकार रामवृक्ष बेनीपुरी, पं. दीनदयाल उपाध्याय आदि इस युग के प्रमुख जीवनी लेखक हैं। इस युग के लेखन में लेखक कितनी सफलता प्राप्त कर चुका था, प्रस्तुत उदाहरण में स्पष्ट हो जाता है-''शंकर स्वामी ने शंख ध्वनि की। चारों ओर का वातावरण गूँज उठा। कान में तेल डालकर बैठे हुए कर्महीनों के कर्ण कुहरों में भी ध्वनि समा गई। विरोधियों के दिल दहल गए, अच्छे-अच्छे सब्र छक्के-पंजे भूलकर कन्नी काटने लगे।'' इसी जीवन्त शैली के आधार पर जीवनी की सफलता निर्भर है। भाषा मुहावरेदार तथा प्रसाद गुण शैली का प्रयोग इस प्रकार की जीवनियों में देखने को मिलता है।

वर्तमान काल के अन्तर्गत् सन् 1948 से लेकर अब तक का समय आता है। वर्तमान काल में गद्य के अन्य रूपों के समान ही जीवनी साहित्य भी अनेक रूपों में विकसित हुआ है। इन जीवनियों के लेखक भी जाने-माने साहित्यकार हैं। प्रेमचन्द का 'कलम का सिपाई' इस क्रम की सर्वोत्तम रचना है। प्रसिद्ध उपन्यासकार, साहित्यकार तथा आलोचक अमृतराय (प्रेमचन्द्र के पुत्र) ने विशेष ख्याति प्राप्त की। इस क्रम की दूसरी कड़ी डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा लिखित 'निराला की साहित्य साधना-पहला भाग' है। डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला के व्यक्तित्व को सर्वप्रथम संघर्षशील व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। निराला के व्यक्तित्व को चारों ओर फैले किंवदन्तियों के जाल से काट फेंकने का प्रयत्न किया है। सुप्रसिद्ध कहानीकार, एकांकीकार, नाटककार तथा उपन्यास लेखक श्री विष्णुप्रभाकर द्वारा 'आवारा मसीहा' में उपन्यास लेखक शरत् बाबू की जीवनी प्रस्तुत की गई है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वर्त्तमान राजनैतिक जीवनियों को आगे बढ़ाने का श्रेय राहुल सांकृत्यायन को दिया जाता है। उन्होंने चन्द्रसिंह गढ़वाली तथा मार्क्स व लेनिन की जीवनियाँ प्रस्तुत की है। इस परम्परा में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की जीवनी प्रोफेसर बलराज मधोक ने प्रस्तुत की है तथा राममनोहर लोहिया की ओंकार शरत् ने जीवनी प्रस्तुत की है।

डॉ. श्रीनिवास हड़ीकर ने इस परम्परा में सबसे पहले ऐतिहासिक जीवनियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद की जीवनी इसी परम्परा में विश्वनाथ वैशम्पायन ने प्रस्तुत की है। वीर सिंधु ने सरदार भगतसिंह पर शोधपूर्ण जीवनी प्रस्तुत की है।

समग्रत: यह कहा जा सकता है कि आलोच्ययुगीन जीवनी साहित्य विषय तथा परिमाण की दृष्टि से ही सम्पन्न नहीं है अपितु शैलीगत उपलब्धियों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। विषय का वैविध्य तथा शैली की प्रौढ़ता उसमें है। जीवनी का मूलाधार रचना के अन्त तक विषयगत बना रहा है। जीवनी में व्यक्ति–विशेष का चित्र प्रस्तुत करने में व्यापकता एवं गहराई होती है तथा जीवनी में चित्रकार आगे न आकर हमेशा व्यक्ति–विशेष को ही आगे रखता है। हिन्दी के लेखकों पर आत्मनिष्ठा का आरोप लगाए जाने पर भी इस दोष में जीवनी का क्षेत्र मुक्त है। शैली को भी बहुत ज्यादा अलंकृत नहीं होने दिया। अत: शैली को शुरूकता तथा नीरसता से बचाए रखकर लेखकों ने अद्‌भुत संतुलन का परिचय दिया है। हिन्दी के साहित्यकारों ने विष्णु प्रभाकर की 'आवारा मसीहा' ने सबसे अधिक ख्याति प्राप्त की है।

इस जीवनी के संपूर्ण नियामक तत्त्व सात है, जिसमें डॉ. सरला दुबे ने छ: की ओर तथा डॉ. भगवान शरण भारद्वाज ने 'हिन्दी का जीवन साहित्य' अपने शोध प्रबन्ध में सातवें की ओर संकेत किया है।

1. जीवनी आकर्षण के सभी तत्त्व प्रामाणिक होने चाहिए। लेखक अनुभूति वर्णन के समय अवश्य ही छूट ले लेता है। जेम्स फ्लेक्सनर ने ठीक ही कहा है– 'जीवनी लेखक जादूगर की भाँति है जो सत्य और कल्पना, नाटकीयता और विद्वता आदि तत्त्वों के दो गें भेदों के समान उछलता है तथा पृथ्वी पर गिरने एवं टकराने से बचता है।

2. लेखक के तटस्थता धर्म से च्युत होने पर रचना जीवनी का क्षेत्र छोड़कर अन्य दिशा (संस्मरण) की ओर मुड़ने लगती है।

3. वैज्ञानिक छानबीन के पश्चात् ही लेखन कार्य प्रारम्भ करना चाहिए, क्योंकि अपेक्षित खोजबीन के अभाव में रचना कहानी–सी प्रतीत होने लगती है।

4. लेखक में चरितनायक की मनोदशा के विश्लेषण की विशेषता के आधार पर ही जीवनी रसात्मक आकर्षण की अधिकारी बन पाती है।

5. साहित्यिकता की अनुपस्थिति में जीवन में गहराई नहीं आ जाती है। देश–काल की सीमाओं से ऊपर न उठकर सूचिका मात्र बन जाती है।

6. जीवनी में मानवीयता का पुट होना चाहिए। इसमें अति होने पर रचना की आकर्षण घट जाता है। आज के बुद्धिवादी युग में मानवीयता अविश्वसनीय तथा उबा देने वाली होती है।

7. जीवनी में देश–काल की सामर्थ्य आ जाने पर उसमें अतिरिक्त गरिमा तथा अतिरिक्त आकर्षण आ जाता है।

21.3.4 आत्मकथा – जीवनी का अत्यधिक कष्टप्रद रूप आत्मकथा प्रस्तुत करना है। कष्ट का एकमात्र कारण रचनाकार का आत्मकथा में दृष्टा एवं भोक्ता दोनों का बने रहना है, क्योंकि आत्मा–कथाकार को दृष्टा का कर्त्तव्य निभाना पड़ता है तथा उसे भोक्ता भी बने रहना पड़ता है। दृष्टा के पद से च्युत हो जाने पर वह (आत्म–कथाकार) आत्मश्लाबा का शिकार हो जाता है, तथा भोक्ता के धर्म से च्युत होने पर आत्म कथाकार की कृति प्राणतत्त्व के स्पर्श से शून्य हो जाती है। आत्मकथा के लेखक को आत्मश्लाघा तथा आत्मशून्यता के बीच से गुजरना पड़ता है। मानव–जीवन में अटूट आस्था का पग–पग पर प्रकट होना....

स्वामी दयानन्द की विद्वता, निर्भीकता तथा महान् प्रचारक्ता आत्मकथा में पगपग पर प्रकट हुई है। आत्मकथा साहित्य में प्रवाहपूर्ण भाषा तथा प्रसाद गुणयुक्त शैली प्रयुक्त हुई है। उनकी भाषा में पण्डिताऊपन की छाप डॉ. भगवानशरण भारद्वाज के अनुसार नहीं है। उदाहरण– 'जब मेरी सोलह वर्ष की अवस्था हुई थी, तब मुझसे छोटी 14 वर्ष की बहन थी, उसको हैजा हुआ। एक रात्री में जिस समय नाच हो रहा था, नौकर ने खबर दी......।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्विवेदी युग की प्रथम उल्लेखनीय आत्मकथा डॉ. भगवानशरण भारद्वाज के अनुसार 'काले पानी की कारावास कहानी' है। सुप्रसिद्ध आर्य-समाजी भाई परमानन्द इसके रचियिता है। स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा रचित 'कल्याण मार्ग का पथिक' दूसरी आत्मकथा है, इस कथा में लेखक अपने आत्म-उत्थान का सच्चा और जीवन चित्र उपस्थित करता है तथा अपने द्वारा प्रयुक्त शैली को कहीं भी एकरस नहीं होने देता। वातावरण, व्यंग्य और विनोद पुट के द्वारा अंत तक सरस एवं संजीव बना रहा। महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित 'आत्मकथा' इसकी तीसरी सुप्रसिद्ध रचना है। द्विवेदीजी के आदि से अंत तक निस्संगता परिचय के साथ घटनासूत्र भी विद्यमान रहा है। द्विवेदीजी के आन्तरिक रूप की प्रमुख रेखाएं नि:संदेह पर्याप्त मात्रा में अंकित हो पायी है। स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा रचित 'कल्याण मार्ग का पथिक और महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित 'आत्मकथा' इस युग की दो प्रमुख रचनाएं है।

प्रेमचन्द युग में आते ही उसका प्रभाव साहित्य के सभी रूपों पर पड़ा। आत्मकथा के आंतरिक और बाह्य रूपों में परिवर्तन हुआ। आक्रोश ने मृदुता एवं विनम्रता का स्थान ले लिया। सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी रामप्रसाद बिस्मिल की इस युग की पहली आत्मकथा थी। बिस्मिल जी की कारावास से भेजी गई आत्मकथा स्वर्गीय बिस्मिल की आत्मकथा को कहने में पूर्ण सक्षम है। सरल, सुबोध भाषा तथा प्रसाद गुण युक्त शैली को प्रयोग किया गया है। इस आत्माकथा के माध्यम से इस युग के राजनैतिक परिवेश का परिचय भी मिल जाता है। इस युग की दूसरी प्रसिद्ध आत्मकथा के रचयिता बालकृष्ण शर्मा ''नवीनजी'' के जीवन भर जिन अनेक प्रकार के कष्टों से जूझना पड़ा, प्रस्तुत आत्मकथा ने उन्हें बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णित किया है। इस युग की अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी द्वारा रचित चौथी सुप्रसिद्ध रचना है। डॉ. श्यामसुन्दर (मेरी आत्म कहानी) भारत वे प्रथम राष्ट्रपति स्वनामधन्य बाबू राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा, स्वामी भवानी दयाल संयासी की (प्रवासी की कहानी), राहुल सांकृत्यायन की (मेरी जीवनयात्रा) आदि इस युग की अन्य आत्मकथाएं हैं।

वर्तमान काल में आत्मकथा की साहित्य के अन्य रूपों के समान अनेक प्रकार से उन्नति हुई है। उत्कट कोटि की रचनाओं में आत्मकथा के सभी नियानक तत्त्वों का (अपेक्षित तटस्थता, घटनाा सूत्र का अन्त तक बने रहना, वेश और काल को अभिव्यक्ति दे पाना तथा मानव-जीवन में अटूट आस्था आदि) समावेश हुआ है। 'यादों की परछाइयाँ' इस युग की प्रथम आत्मकथा है, जिसके रचयिता आचार्य चतुरसेन शास्त्री हैं। अत्यधिक शोधक शैली तथा वर्णन घटना-प्रधान है। इस युग की दूसरी विशेषता (आत्मकथा) 'अपनी खबर' सुप्रसिद्ध कथाकार तथा उपन्यासकार बैचेन शर्मा उग्र द्वारा रचित है। श्री उग्र की अनूटेपन शैली की विशेषता आत्मकथा के पग-पग पर व्यक्त हुई है। विशेष सम्मान तथा गौरव प्राप्त हिन्दी की दो रचनाओं 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ,' 'नीड का निर्माण फिर से' के रचयिता सुप्रसिद्ध कवि बच्चन है। कवि होने के कारण बच्चन के गद्य में अनूठी ताजगी और नवीनता है। उन्होंने साहित्यिक जीवन के प्रत्येक आरोह-अवरोह का तथा समसामायिक साहित्यिक वातावरण को मूर्त कर पाने में विशेष सफलता पाई है। वृन्दावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी' सुप्रसिद्ध आत्मकथा है। अपनी तथा अपने परिवेश की कहानी कहने में समर्थ होने के कारण ही वर्माजी को आत्म-लेखन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। वियोगी हरि (मेरा जीवन प्रवाह), शांतिप्रिय द्विवेदी (परिव्राजक की प्रजा), डॉ. देवराज (यौवन के द्वार पर), स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (स्वतन्त्रता की खोज में), यशपाल (सिंहावलोकन), सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी पृथ्वीसिंह आजाद (क्रान्ति पथ का पथिक), सुखदेव राज (ज्योति जगी) आदि इस काल की अन्य प्रसिद्ध आत्मकथाएँ हैं।

हिन्दी में आत्मकथा का रूप अवपायु होने पर भी कम विकसित नहीं है। इस क्षेत्र में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त साहित्यकार हरिवंशराय बच्चन है। काव्य विवेक और उनके समसामयिक अन्य साहित्यकारों के साहित्यिक विवेक को समझने में कवि बच्चन के दोनों आत्मकथात्मक ग्रन्थ ही सहायक सिद्ध नहीं हुए, बल्कि जिसकी आज प्रतिक्षा है, उस खड़ी बोली गद्य के आदर्श को भी समझ पायेंगे, क्योंकि उनकी बोली में ताजवी, व्यंजना, स्फूर्ति, चुटीलापन, चुस्ती तथा काव्य जैसे सरसता की नई धार है।

21.3.5 यात्रा-वृत्तान्त - भारत में यातायात की संख्या कम नहीं रही है, अपनी-अपनी यात्राओं के वर्णन दोनों ही वर्गों ने प्रस्तुत किए हैं। उन वर्णनों की संख्या भी कम नहीं है। यात्रा साहित्य के अन्तर्गत इन सभी वर्णनों को स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्येक यात्री तथा उसका यात्रा वर्णन साहित्यिक नहीं होता है। हिन्दी में सर्वाधिक उपयोग प्रारम्भिक यात्रा- साहित्य का ही है। उसमें साहित्यिक कम तथा भौगोलिक एवं धर्म-प्रधानता अधिक है।

साहित्यिक श्रेणी का यात्रा-वर्णन सामान्य यात्रा-वर्णन से भिन्न होता है। कुछ तत्त्व सामान्य विवरण से पृथक् उसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने वाले होते हैं। यायावरी तथा घुमक्कड़पन यात्रा-वर्णन का प्रमुख तत्त्व है। यायावरी का वर्णन न करने वाले साहित्य को यात्रा-साहित्य नहीं कहा जा सकता है। यात्रा के लिए यात्रा करना तथा यात्रा में उल्लास एवं उमंग उपस्थित करना यायावरी का तात्पर्य है। डॉ.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रघुवंश ने ठीक ही लिखा है– ''यात्रा का जो आकर्षण मानकर नहीं चलता, मस्ती के साथ निश्चित होकर जो यायावर नहीं बनता, जिसे आगे की सीमाएं क्रमश: आगे की ओर बराबर खींचती नहीं रहती, वह यात्रा करके भी यात्री कहलाने का अधिकारी नहीं है।''

यात्रा वर्णन का दूसरा रूप प्रकृति की पुकार है। प्रकृति की पुकार ही याथावरी का मूलाधार है। प्रकृति की पुकार लेकर बढ़ने से ही उसमें यायावरी का तत्त्व उभरता है। यायावरी की यात्रा का सच्चा आनन्द प्राकृतिक दृश्यों की भांति उत्कृष्ट आकर्षण रहता है। डॉ. रघुवंश ने लिखा है– ''यायावर वही है जो चलता चला जाये, कहीं रूके नहीं, कोई बंधन उसे कसे नहीं और वह जो दर्शनीय है, ग्रहणीय है स्मरणीय है अथवा संवेदनीय है, उसका संग्रह करता चले। ऐसे भी हैं जो नाप–जोख करते हैं, हिसाब लगाते हैं, विवरण प्रस्तुत करते हैं। ऐसे भी हैं जो यात्रा के नाम पर भोग–विलास का सुख लूटने के लिए भी चल पड़ते हैं। यात्री मानना, यायावर कहना, घुमक्कड़ स्वीकार करना साहित्यिक अर्थ में यात्रा का अपमान है। यह साहित्यिक को छोड़कर और सब–कुछ हो सकता है। वह यात्रा के साहित्य को छोड़कर अनुभूतियों को संजोता हुआ, देश–काल में फैले हुए अनन्त जीवन में साँसे लेता हुआ यात्रा का विवरण प्रस्तुत करता है।

यात्रा वर्णन का तीसरा रूप वर्णन की तटस्थता है। तटस्थता के अभाव में वर्णन संस्मरण बन जाता है। थोड़ी–सी भूल से भी रचना का स्वरूप एकदम बदल जाता है। यात्रा का केन्द्र बिन्दु यायावरी और सौन्दर्योपासना होता है, न कि यात्री। यात्रा साधन तथा यायावरी और सौन्दर्योपासना दोनों साध्य वृत्तियाँ हैं। सफल लेखक अपने आपको सामने न लाकर यायावरी और सौन्दर्योपासना को सामने लाता है। भारतेन्दु पूर्व से लेकर भारतेन्दु युग तक की परम्परा, द्विवेदी युग में अंतिम चरण से लेकर आज तक की परम्परा आदि के द्वारा यात्रा वर्णन को दो भागों में बाँटा गया है।

यात्रोपयोगी होने के कारण भारतेन्दु युग के वर्णनों में साहित्यिकता कम होती है तथा धार्मिकता या भौगोलिकता के कारण यायावरी सी उनमें नहीं मिलती। यात्रा साहित्य का उद्भव और विकास शोध प्रबन्ध विवरण के आधार पर डॉ. सुरेन्द्रकुमार के प्रमुख ग्रंथ हैं– ''विट्ठलजी की बन यात्रा, जीमनजी की माँ की वन–यात्रा, किसी अज्ञात व्यक्ति सेठ पदमसिंह की यात्रा, किसी अज्ञात व्यक्ति की बात, दूर देश की, श्रीमती बरलावर सिंह की बद्री यात्रा श्री समसहाय की यात्रा परिक्रमा, भारतेन्दु बाबू के पांच यात्रा विषयक निबन्ध प्रतापनारायण मिश्र तथा बालकृष्ण भट्ट के यात्रा संबंधी निबंध, ज्ञान के उद्यान में, नई दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण और प्रवास की मेरी अद्भूत कहानी) शिवप्रसाद गुप्त (पृथ्वी प्रदक्षिण तथा गोपालराम गहमरी की यात्रा–विषयक रचनाएं आदि हैं।)

सच्चे अर्थों में यात्रा–साहित्य के अन्तर्गत वर्तमान काल में द्विवेदी युग की रचनाएं आती हैं। किसी दृश्य, स्थान अथवा व्यक्ति के आकर्षण को उभारने की प्रवृत्ति उनमें मिलती है। यायावरी को उभारने का भी लेखकों ने प्रयत्न किया है। रामनारायण मिश्र (यूरोप यात्रा छ: मास), कन्हैयालाल मिश्र (हमारी जापान यात्रा), प्रो. मनोरंजन (उत्तराखण्ड के पथ पर) जवाहरलाल नेहरू (आँखो देख रूस), सेठ गोविन्ददास (सुदूर दक्षिण पूर्व, पृथ्वी परिक्रमा), सूर्यनारायण व्यास (सागर प्रवास), रामधारीसिंह दिनकर (देश–विदेश मेरी यात्राएँ), यशपाल जैन (जय अमरनाथ उत्तराखण्ड के पथ पर), भुवनेश्वर प्रसाद 'भुवन' (आँखों देखा यूरोप), विष्णु प्रभावर (हंसते निर्झर), राहुल सांकृत्यायन (घुमक्कड़शास्त्र, मेरी लद्दाख यात्रा, लंका–तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी तिब्बत यात्रा, मेरी यूरोप यात्रा, जापान, ईरान, रूस में पच्चसी वर्ष, यात्रा के पन्ने, यात्रावली तथा एशिया के दुर्गम खण्डों में), भगवतशरण उपाध्याय (वो दुनिया, कलकत्ते से पीकिंग सागर की लहरों पर तथा गंगा–गोदावरी), अमृतराय (सुबह के रंग), रांगेय राघव (तूफानों के बीच), अज्ञेय (अरे यायावर याद रहेगा तथा एक बूंद सहसा उछली), यशपाल (लोहे की दीवार के दोनों ओर तथा राह बीती), रामवृक्ष बेनीपुरी (पैरों में पंख बांधकर, हवा पर तथा पेरिस नहीं भूलती), मोहन राकेश (आखिरी चट्टान तक), देवेश दास (यूरोप तथा रजवोड़) आदि प्रमुख लेखक और उनकी रचनाएं हैं। सत्यनारायण (आवारे की यूरोप यात्रा, युद्ध यात्रा), शिवनन्दन सहाय, गोपाल नेवटिया, जगदीशचन्द्र जैन, काका कालेकर तथा हंस कुमाशी तिवारी, हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार तन्त्रलोक से यन्त्रलोक तक, और अप्रवासी की यात्राएँ, दो यात्रा संग्रह आदि प्रकाशित हुए।

21.3.6 रिपोर्ताज– फ्रांसीसी रिपोर्ताज का अंग्रेजी के रिपोर्ट से गहरा संबंध है। रिर्पोट तथा रिपोर्ताज की सूचना अधिकांशत: आंखों देखी होती है। परन्तु फिर भी दोनों में अंतर है। रिपोर्ट में सिर्फ सूचना तथा रिपोर्ताज में सूचना के अतिरिक्त साहित्यिकता भी होती है। साहित्यिकता के द्वारा ही रिपोर्ट और रिपोर्ताज में भेद–स्थापना होती है। सफल रिपोर्ताज लेखक श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर इसी मत के हैं– 'रिपोर्ताज के घटना, दृश्य, मेले–उत्सव आदि सभी में ज्ञान और आनन्द का संगम होना चाहिए। ''डॉ. ओम प्रकाश सिंहल लिखते हैं– ''आंखों–देखा तथा कानों सुना वर्णन प्रस्तुत करने वाले वर्ण्य–विषय को तथा पाठक के हदतन्त्री को झंकृत करने को रिपोर्ताज कहते हैं।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रिपोर्तात के मूलोद्‌गम तथा रचना तत्त्वों में सबसे अधिक सफल प्रयत्न डॉ. रामविलास शर्मा का है। प्रगति और परम्परा नामक संग्रह के रिपोर्ताज निबंध में एक लेख में डॉ. शर्मा ने लिखा है– ''किसी घटना या घटनाओं का ऐसा वर्णन जिसका वस्तुगत सत्य पाठक को प्रभावित कर सके, रिपोर्ताज कहा जाता है। कोई रिपोर्ताज लेखक कल्पना के सहारे नहीं हो सकता। द्वितीय महायुद्ध में इसके लिखने की कला विशेष रूप से पल्लवित हुई। रिपोर्ताज लेखक को जनता से सच्चा प्रेम होना चाहिए। साहित्य के सभी रूपों में रिपोर्ताज के लेखन के लिए वह बहुत जरूरी है।''

कल्पना की अपेक्षा वस्तुगत सत्य को प्रधानता देना, जन जीवन की सहानुभूतिपूर्ण अनुभूति, आकार का सीमित होना, प्रभाव की एकता, कथा संबंधी कटाव–तराश तो नहीं, किन्तु घटना तत्त्व का समावेश आवश्यकता आदि प्रमुख तत्त्व हैं।

रिपोर्ताज का जन्म उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर ही हुआ है। इनमें से किसी एक का अभाव भी उसके महत्त्व को खण्डित कर देता है। उदाहरणार्थ, वस्तुगत सत्य की अपेक्षा उसे भावचित्र बना देती है। व्यंग्य का रूप जन–जीवन के प्रति असहिष्णुता से उभरकर सामने आता है। प्रभाव की एकता के अभाव में रिपोर्ताज रिपोर्ट मात्र होता है। रिपोर्ताज की सफलता के लिए पांचों तत्त्वों का होना आवश्यकता है।

रूसी, फ्रांसीसी, अंग्रेजी आदि साहित्य की अपेक्षा हिन्दी की रिपोर्टज परम्परा अधिक सम्पन्न है। हिन्दी लेखकों का व्यक्तिवादी होना उसका प्रथम कारण है। इस वास्तविकता को भुहलाया नहीं जा सकता। अतः व्यक्तिगत सत्य की प्रतिष्ठा रिपोर्ताज की पहली मांग है। हिन्दी के लेखक इस मांग को पूरा करने में असमर्थ होने के कारण ही गिने–चुने कलाकार इस ओर आगे बढ़े है। हिन्दी लेखक का प्रतिक्रियावादी होना रिपोर्ताज का दूसरा कारण है। क्रान्तिकारी साहित्य होने के कारण रिपोर्ताज की प्रक्रिया पटरी पर बैठ सकना असम्भव है। हिन्दी पत्रकारिता का अभी भी अर्द्ध–विकसित होना रिपोर्ताज का तीसरा कारण है। हिन्दी की पत्रकारिता अभी भी रिपोर्ताज लेखकों को आवश्यक अवसर प्रदान नहीं कर पाती।

इस क्षेत्र में आने वाले कलाकारों की संख्या कम होने पर भी प्रयत्न पूर्णतः सफल रहे हैं। श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर को हिन्दी में रिपोर्टज का सूत्रपात करने का श्रेय प्राप्त है। हिन्दी का पहला रिपोर्ताज 1926 के गुरुकुल कांगड़ी की रजत जयन्ती से संबंधित उनका रिपोर्ताज है। डॉ. ओम प्रकाश सिंहल के अनुसार रिपोर्ताज परम्परा सूत्रपात्र का श्रेय प्रभाकर को न देकर सन् 1938 में 'लक्ष्मीपुरा' रिपोर्ताज के प्रकाशित होने के कारण श्री शिवदानसिंह चौहान को मिलना चाहिए।

यह विद्या आरम्भिक स्थिति की अपेक्षा धीरे–धीरे जोर पकड़ने लगी। अकाल से पीड़ित बंगाल के निवासियों की दुर्दशा पर लिखे रिपोर्ताज साहित्य की विद्या आकर्षण का केन्द्र बन गई। बंगाल के अकाल पर संगेय राघव ने कितने ही रिपोर्ताज लिखें। 'तुफानों के बीच' संग्रह में ये रिपोर्ताज एक साथ प्रकाशित हुए।

डॉ. प्रकाश चन्द्र गुप्त का इस परम्परा में दूसरा स्थान है। इनके घटना– प्रधान रिपोर्ताज 'रेखाचित्र' नामक संग्रह में प्रकाशित हुए। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का तीसरा नाम है। रेखाएँ और चित्र नामक संग्रह में उनके रिपोर्ताज व्यंग्यपूर्ण निबंधों के संग्रह में मिलते हैं। भदन्त आनन्द कोसल्यायन (देश की मिट्टी बुलाती है,) शिवसागरनाथ मिश्र (वे लडेंगे हजार साल), धर्मवीर भारती (युद्ध यात्रा), शमशेर बहादुर सिंह (प्लाट का मोर्चा), डॉ. भगवतशरण उपाध्यक्ष (खून के छींटे), फणीश्वर नाथ 'रेणु' (एकलव्य के नोट्स), रामकुमार (पेरिस के नोट्स), विवेकी राय (बाढ़ बाढ़ बाढ़), जगदीशचन्द्र चतुर्वेदी (चीनियों द्वारा निर्मित काठमाण्डू नहासा सड़क), कैलाश नारद (धरती के लिए), निर्मल वर्मा (प्राग एक स्वप्न), सतीश कुमार (क्या हमने कोई षड्यन्त्र रचा था), श्रीकान्त वर्मा (मुक्ति फौज), कमलेश्वर (क्रान्ति करते आदमी को देखता), कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर (कण बोलें, क्षण मुस्काएं) आदि अन्य लेखकों के उल्लेखनीय रिपोर्ताज हैं।

हिन्दी में रिपोर्ताज ने 35–40 वर्षों में ही महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। अनेक वरिष्ठ साहित्यकारों को अपने लेखन कार्य में सफलता भी मिली। हमारे अनुमान में पत्रकारिता के विकास के साथ–साथ यह परम्परा और अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती जायेगी।

21.3.7 साक्षात्कार– अंग्रेजी के इण्टरव्यू का हिन्दी रूपान्तर साक्षात्कार है। यह भी गद्य की एक नयी विद्या के रूप में दिनोदिन लोकप्रिय हो रहा है। इसका प्रचार–प्रसार पत्र–पत्रिकाओं से लेकर विभिन्न साहित्यिक विद्याओं में हो रहा है। इसका महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि समय के अभाव में पाठक साक्षात्कार के द्वारा ही किसी अपेक्षित व्यक्ति के तर्कऔर अनुभव को सहज ढंग से समझ लेता है। साक्षात्कार की सम्प्रेषणीयता के लिए संवाद–शैली नितान्त आवश्यक होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हिन्दी में सबसे पहले बाबू हरिशचन्द्र के पंडित राधा चरण गोस्वामी ने साक्षात्कार लिए थे। इसलिए पंडित राधाचरण गोस्वामी, साक्षात्कार की नींव डालने वाले और सबसे पहले साक्षात्कार कर्त्ता के रूप में लोक चर्चित हैं। इसके बाद पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और प्रेमचन्द के क्रमश 'रत्नाकरजी से बातचीत' और प्रेमचन्द के साथ दो दिन, नाम से विशाल भारत में सन् 1931 ई. के सितम्बर और सन् 1932 ई. के जनवरी अंक में प्रकाशित हुए थे। सन् 1939 में प्रकाशित पुस्तक 'जैनेन्द्र और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार' प्रभाकर माचवे द्वारा संकलित साक्षात्कार हैं। बेनी माधव शर्मा द्वारा संकलित पांचवें दशक में 'कवि दर्शन' पुस्तक में मैथलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल आदि के साक्षात्कार हैं।

आज साक्षात्कार साहित्य का व्यापक प्रचार-प्रसार हो रहा है। फलस्वरूप इसका महत्त्व दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। इससे इसकी लोकप्रियता शिखर पर चढ़ती जा रही है।

21.3.8 डायरी- डायरी लेखन व्यक्तिगत लेखन हैं। यह भी सच है कि डायरी लेखन प्रकाशन से पूर्व तो व्यक्ति सम्पदा के रूप में होता है, लेकिन प्रकाशनोपरान्त वह व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक हो जाता है। अतएव इसका महत्त्व तभी वास्तविक और अपेक्षित होता है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि डायरी की लोकिप्रियता डायरी लेखक की लोकप्रियता और महानता पर निर्भर होती है।

डायरी लेखन से डायरी लेखक हृदय की सच्ची अनुभूति और आप बीति घटनाओं का ब्यौरा साफ-सापु दिखाई देता है। इससे उसके विषय में ठीक-ठीक और सच्ची जानकारी प्राप्त हो जाती है। ऐसा इसलिए कि उसके डायरी लेखन से उसके व्यक्तित्व का दर्पण साफ-साफ झलकता-चमकता हुआ दिखाई देता है।

हिन्दी में डायरी लेखन का उदय अभी नया है। इसलिए स्वतंत्र रूप में डायरी साहित्य की रचना अभी बहुत नहीं दिखाई देती है। लेकिन जो कुछ भी डायरी लेखन हुआ है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। घनश्याम दास बिड़ला का 'डायरी के पन्ने', सुन्दरलाल त्रिपाठी का 'दैंदिनी', डॉ. धीरेन्द्र वर्मा का 'मेरी कॉलिज की डायरी', सियाराम शरण गुप्त की 'दैनिकी', मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' आदि डायरी लेखन-साहित्य के प्रेरक उल्लेख हैं। इस प्रकार के और डायरी लेखन हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि डायरी लेखन-साहित्य का भविष्य अधिक-अधिक उज्ज्वल है।

21.4 सारांश

इस इकाई को पढ़कर आप समझ गये होंगे कि किस प्रकार छायावाद के बाद हिन्दी-गद्य में भी प्रगति और प्रयोग की प्रवृत्तियाँ उभरकर आयीं।

21.5 अभ्यास प्रश्न

1. ''हिन्दी-निबंध में व्यंग्य ने काफी प्रगति की है।'' इस कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।
2. प्राकृतिक सौन्दर्य का निरूपण हिन्दी के यात्रावृत्त साहित्य की एक अन्य प्रमुख कृति है। स्पष्ट कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई -22

उर्दू साहित्य का परिचय

संरचना

22.0 प्रस्तावना

22.1 उद्देश्य

22.2 भाषा की उत्पत्ति

22.3 साहित्य-लेखन-पद्य

22.3.1 उर्दू काव्य-लेखन का प्रारंभिक चरण

22.3.2 उर्दू साहित्य का दक्षिण भारत में उद्घाटन

22.3.3 उत्तरी भारत तथा दिल्ली में उर्दू काव्य का प्रारंभिक चरण

22.3.4 उर्दू साहित्य का दिल्ली से पलायन

22.3.5 लखनऊ में उर्दू साहित्य का विकास

22.4 दिल्ली में उर्दू साहित्य का पुन: जागरण

22.5 नजीर अकबरावादी तथा उर्दू साहित्य में नई धारा का विकास

22.6 उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दिल्ली से बाहर उर्दू काव्य का विकास

22.7 उर्दू साहित्य में गद्य-लेखन

22.8 उर्दू साहित्य का विकास केन्द्र : फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना एवं नयी गद्य शैली

22.9 उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का उर्दू गद्य-साहित्य केन्द्र दिल्ली कॉलेज

22.9.1 उत्तरी भारत में उर्दू साहित्य के विकास केन्द्र दिल्ली कॉलेज

22.9.2 उर्दू में कथा-साहित्य का प्रारंभिक चरण

22.9.3 नयी चेतना और अलीगढ़ साहित्य केन्द्र

22.9.4 उर्दू पत्र-लेखन की परम्परा

22.9.5 उर्दू साहित्य में उपन्यास एवं लघुकथा

22.10 स्वतंत्रता आन्दोलन का प्रारंभिक काल एवं उूर्द काव्य

22.10.1 बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उर्दू काव्य

22.10.2 उर्दू साहित्य में उपन्यास लेखन एवं प्रेमचन्द

22.11 उर्दू साहित्य में नई विचारधाराओं का आगमन

22.11.1 नयी विचारधाराएँ और उर्दू उपन्यास

22.11.2 उर्दू काव्य आधुनिकता के दौर में

22.12 उर्दू साहित्य में शोध कार्य

22.13 दक्खिनी हिन्दी

22.14 सारांश

22.15 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

22.0 प्रस्तावना

उर्दू साहित्य का महत्त्व हिन्दी साहित्य के महत्त्व से कहीं अधिक इसलिए आँका जा सकता है कि उसका जो स्वरूप दिखाई देता है, उसमें अरबी और ईरानी विशेषताओं के साथ-साथ दिल्ली, आगरा और अवध की बोलियों की सरसता लबालब भरी हुई हैं। इसमें विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं का समन्वय आरंभ से लेकर अब तक प्राप्त होता है। इसके साथ ही इसमें हिन्दी साहित्य के समानान्तर चल रहे इस साहित्य की प्रमुख विधाओं और शैलियों का पूरा ज्ञान प्राप्त होता है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि इस साहित्य की विकास-यात्रा ने हिन्दी साहित्य की बहुमुखी विकासधारा को अधिक प्रवाहमयी बनाने में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है।

22.1 उद्देश्य

इस इकाई में हम उर्दू भाषा की उत्पत्ति, उर्दू साहित्य में पद्य-लेखन के आरंभ-विकास, दिल्ली और दिल्ली के बाहर के उर्दू साहित्य के विकास की चर्चा करते हुए उर्दू साहित्य में गद्य-लेखन और शोध कार्यों पर प्रकाश डालेंगे।

उर्दू भाषा और साहित्य की विकास यात्रा पर परिचयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए हम निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश डालना समुचित समझ रहे हैं-

22.2 उर्दू भाषा की उत्पत्ति

उर्दू भाषा और साहित्य पर जब हम समग्र रूप से दृष्टि डालते हैं, तो हम यह पाते हैं कि इसका इतिहास लगभग एक हजार वर्षों का इतिहास है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इसका आरंभिक विकास उसी दौर का है, जब आधुनिक भारतीय भाषा और साहित्य का विकास क्रम आरंभ हुआ। इस प्रकार इसके भाषा और साहित्य पर भी भारतीय समाज के विकास, पतन और परिवर्तन का प्रभाव आधुनिक भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य पर भी कम-अधिक मात्रा में अवश्य पड़ा। लगभग 10वीं शताब्दी के बाद ऐतिहासिक सामग्री प्रचुर मात्रा में ऐसी एकत्र हो गयी कि भारतीय आर्य-भाषाओं के समूह में एक नयी भाषा ने जन्म दिया। इसे ही उर्दू कहा गया और आज भी इसे इसी नाम से जाना जाता है।

यह सर्वविदित है कि हमारे देश में द्रविड़ भाषा और संस्कृत भाषा का अत्यधिक विकास आर्य-भाषाओं के प्रवेश से बहुत ही पहले हो चुका था। द्रविड़ और संस्कृत भाषा में आस्ट्रिक और बोलियों के भी प्रभाव मिश्रित थे। कुछ समय बाद ही आर्य और द्रविड़ परस्पर एक-दूसरे की भाषा के सन्निकट आई और उन्होंने परस्पर एक-दूसरे की भाषा से बहुत-कुछ प्राप्त किया। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी और अन्य भाषा-शास्त्रियों ने अनेक ऐसे शब्दों की ओर संकेत किया है, जो आस्ट्रिक और दूसरी भाषाओं से लिये गए हैं और वे आज भी प्रचलन में हैं। यह एक बड़ी दिलचस्प बात का यहां उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आर्य जाति ने हिन्दुस्तान को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित कर दिया था- उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। उच्च वर्ग के अंतर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य और निम्नवर्ग के अंतर्गत शुद्र और स्त्रियाँ रखी गई। इससे बोली और भाषा में बहुत बड़ा अन्तर आ गया। प्रामाणिक तौर पर हम देखते हैं कि संस्कृत के प्राचीन नाटकों में ब्राह्मण, राजा और उनके मंत्री संस्कृत बोलते हैं, तो निम्न वर्ग के लोग प्राकृत बोलते हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाएं प्रचलित थीं। लेकिन यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही। बौद्ध और जैन धर्मों के उदय और उनके विस्तार के फलस्वरूप भारतीय समाज में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। इससे संस्कृत को पराजय का मुँह देखना पड़ा और प्राकृत को विजय हासिल करने का रास्ता साफ हो गया। इसका मुख्य कारण यह रहा कि बौद्ध-जैन धर्म ने ब्राह्मणवादी प्रतिष्ठा को बहुत-कुछ धराशायी कर दिया। महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार स्थानीय बोलियों में ही किया। उन्होंने उस सुझाव को अमान्य कर दिया कि उनकी शिक्षा को संस्कृत में संग्रहीत कर लिया जाए। इस विषय में डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है-

''... परन्तु बुद्ध ने इसे अस्वीकृत कर दिया और साधारण जनों की सभी बोलियों को ही अपना माध्यम रखा। उनका यही अनुरोध रहा कि समस्त जन उनके उपदेश को अपनी मातृभाषा में ही ग्रहण करें (सकाय निरूत्तिया)। इससे इन बोलियों के साहित्यिक प्रयोग में बहुत मदद मिली। वास्तव में यह आत्मिक स्वातंत्र्य की दृष्टि से एक क्रांतिकारी आन्दोलन था, जिसका उस समय पूरा-पूरा महत्त्व लोग न समझ सके और न लाभ ही उठा सके।''

600ई.पू. के आस-पास भारतीय भाषाओं पाली, मागधी, अर्ध-मागधी, शौर सैनी आदि का विकास बड़ी तेजी से होने लगा। कुछ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

समय बाद आर्य भाषाओं में फिर नए-नए रूप आने लगे। प्राकृत में संस्कृत के तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्‌भव शब्दों के रूप अधिक दिखाई देने लगे। इस आधार पर इस काल को अपभ्रंश काल की संज्ञा दी गई। इस काल के प्रभाव को हम 8वीं शताब्दी के बाद भी देखते हैं। दूसरे शब्दों में यह हम कह सकते हैं कि इस अपभ्रंश काल का प्रभाव चौदहवीं शताब्दी तक रहा। सन् 1000 ई. के आसपास भारत की आधुनिक भाषाओं का जो विकास प्रारम्भ हुआ, उसमें उर्दू भाषा और साहित्य के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

1000 ई. के आस-पास बड़ी तादाद में हमारे देश में मुसलमान आए। उनसे हमारी भारतीय भाषाएं और बोलियाँ बहुत अधिक प्रभावित हुई। इसी समय बाहर से आए मुसलमानों ने पंजाब के एक बड़ भाग को अपने अधिकार में ले लिया। पंजाब में गजनबी बादशाहों के पौने-दो सौ वर्ष के शासन काल में बहुत ही अच्छा सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ। उस समय के बड़े-बड़े फारसी कवियों की रचनाओं में भी एक आध शब्द-हिन्दुस्तान की भाषाओं के मिलते हैं। इतिहास के जानकारों ने ख्वाजा मसउद साद सलमान (मृत्यु लगभग 1130 ई.) को हिन्दी का पहला कवि माना है। उस समय के बुछ बाद अर्थात् लगभग 1225-35 के आस-पास फारसी शब्दावली में किसी भी भारतीय भाषा को 'हिन्दी' कहते और लिखते थे। इस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों का मेल-जोल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रकट होने लगा था। मेल-जोल की यह गति बढ़ती गयी और भाषिक घनिष्ठता का केन्द्र पंजाब से दिल्ली आया गया। वहाँ की भाषाओं में सम्मिश्रण की प्रक्रिया तेज होने लगी।

उर्दू का उद्‌गम स्थल पंजाब और दिल्ली है। दिल्ली शौरसैनी और प्राकृत से उत्पन्न होने वाली विभिन्न भाषाओं का केन्द्र रही है। हम यह जानते हैं कि दिल्ली के एक ओर हरियाणवी है, तो इसके दक्षिण-पूर्व में ब्रजभाषा का क्षेत्र फैला हुआ है। उस समय कृष्ण भक्ति की भावधारा ब्रजभाषा में जहाँ दिखाई दी, वहीं राजस्थानी और उसकी बोलियों में कुछ साहित्य लिखा गया। लेकिन खड़ी बोली बोलचाल की भाषा की दीवार को नहीं पार कर पायी। और इसमें अरबी-फारसी के शब्द प्रवेश करते रहे। इस प्रकार खड़ी बोली में जो परिवर्तन हुआ, उससे यह भाषा बनी, जिसको साधारणत: 'हिन्दुस्तानी' की संज्ञा दी जाती है। इसके दो साहित्यिक रूप हैं-

1. उर्दू, जिसमें अरबी-फारसी के शब्द अधिक होते हैं और जिसे फारसी लिपि में लिखा जाता है।

2. हिन्दी, जिसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है, जिसे देवनागरी लिपि में लिखा जाता है।

यह ध्यातव्य है कि खड़ी बोली का यह रूप सबसे पहले उर्दू के ही रूप में निखरा और आगे बढ़ा। इस हिन्दुस्तानी को साहित्यिक रूप देने में उर्दू का ही विशेष योगदान रहा। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि शौरसैनी अपभ्रंश से विकसित होने वाली भाषाओं के क्रम में एक उर्दू भाषा भी रही। यही कारण है कि भाषा के संबंध में हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद नहीं रहा। अतएव हिन्दुओं की तरह ब्रजभाषा और अवधी भाषा में वैसी ही रचनाएं कि, जैसी हिन्दुओं ने। कुतुबन, रसखान, जायसी, रहीम आदि मुसलमान उसी प्रकार साहित्य में समाहत हैं, जिस प्रकार तुलसी, सूर, मीरा आदि।

उर्दू भाषा के उद्‌भव पर प्रकाश डालते हुए प्रोफेसर सैयद एहतेशाम हुसैन ने अपनी लोकचर्चित पुस्तक उर्दू-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास में लिखा है-

''उर्दू न तो विदेशी भाषा है, न वह सिन्ध में पैदा हुई, और न दक्षिण भारत में, न पंजाबी से निकली, न ब्रज भाषा से, वरन् जैसा कि ऊपर कहा गया है, दिल्ली के चारों और जाने वाली कई बोलियों में फारसी-अरबी के शब्दों के मिलने और पश्चिमी हिन्दी की उस बोली में, जिसे खड़ी बोली कहा जाता है, रूप ग्रहण करने से एक नई भाषा का विकास हुआ। आरंभ में उस पर पंजाबी का प्रभाव अधिक रहा, परन्तु धीरे-धीरे खड़ी बोली ही उर्दू के रूप में निखरती गयी। इतनी बात ठीक है कि उर्दू एक आर्यभाषा है, जो खड़ी बोली, शौरसेनी, अपभ्रंश, शौर सैनी प्राकृत के अंदर होकर बोलचाल की उस भाषा से सम्बन्ध जोड़ती है, जो संस्कृत के साथ-साथ बोली जाने वाली प्राकृतिक बोलियों के रूप में अब से ढ़ाई हजार वर्षपूर्व जीवित और प्रचलित थी। ऐतिहासिक कारणों से अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उसने फारसी-अरबी और संस्कृत की शब्दावली से भी काम लिया। इसका मूल आधार खड़ी बोली है, किन्तु एक जीवित भाषा होने के कारण उसमें उन सभी भाषाओं के शब्द आ गये हैं, जिनसे उसका सम्पर्क रहा है।'' (उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 9-10)

प्राचीन इतिहास में उर्दू की कौन-कौन से नाम दिए गए, इस सम्बन्ध में प्रोफेसर एहतेशाम हुसैन का कहना है-

''आरंभ में जिन लोगों ने फारसी में भारतवर्ष का इतिहास लिखा या हिन्दुस्तान में सैर करने के लिए आये, और अपनी यात्रा का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हाल लिखा, उन्होंने यहाँ की भाषाओं को साधारणत: 'जबाने-हिन्द' 'हिन्दी', या 'हिन्दुई' लिखा है। इन लोगों की पहुँच अधिकतर पंजाब, गुजरात और उत्तरी भारत तक थी। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि उन्होंने यहाँ की भाषाओं के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया होगा। अमीर खुसरो ने भी जहाँ भारत की भाषाओं का वर्णन किया है, वहाँ 'हिन्दी' और 'हिन्दुई' के अतिरिक्त 'जबाने-देहली' भी लिखा है। मुहम्मद तुगलक और फिरोज तुगलक के राज्यकाल में जो इतिहास की पुस्तकें लिखी गयीं, उनमें भी उत्तरी भारत की बोलचाल की भाषा के लिए 'हिन्दुई' लिखा गया है। 14वीं और 15वीं शताब्दियों में दक्षिण में उसको 'जबाने-हिन्दुस्तानी', 'हिन्दी', अथवा 'हिन्दुस्तानी' कहा जा रहा था। कभी-कभी उसी को 'दकनी' भी कहते थे। 16वीं सदी में अब्दुल फजल ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'आइने अकबरी' में हर प्रान्त की भाषा का अलग-अलग वर्णन किया है और उसमें भी 'हिन्दुई' शब्द का प्रयोग किया गया था। लगभग 19वीं सदी के अन्त तक 'उर्दू' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में नहीं मिलता। उसकी जगह 'रेख्ता' या 'हिन्दी' दो ही शब्द कवियों की जुबान पर चढ़े हुए थे। 'रेख्ता' संगीत का एक पारिभाषिक शब्द था। इसमें राग-रागिनियाँ मिलायी जाती थी। अधिकत्तर वह शब्द पद्य के लिए काम में लाया जाता था, गद्य के लिए हिन्दी ही बोलते-लिखते थे। इस प्रकार उर्दू के कई नाम मिलते हैं, जिनमें कुछ तो किसी विशेष प्रान्त या क्षेत्र में बोले जाते थे और कुछ विशेष समय में। मुगलों की उन्नति के समय में महल और सेना से सम्बन्धित बाजार होते थे, वहाँ मिली-जुली बोलियाँ बोली जाती थीं, उसके लिए कभी-कभी जबाने उर्दू या जबाने उर्दू-ए-अल्ला का प्रयोग किया जाता था। 19वीं शताब्दी के आरंभ से कुछ पहले साधारणत: उर्दू शब्द भाषा के अर्थ में बोला जाने लगा। उसी समय से यूरोपियन लेखकों ने इसे 'हिन्दुस्तानी' कहना भी आरंभ किया।'' (उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 10-11)

22.3 उर्दू साहित्य लेखन : पद्य

यह सर्वमान्य तथ्य है कि साहित्य लेखन का मुख्य आधार गद्य और पद्य ही होता है। उर्दू-साहित्य लेखन के प्रारंभिक कवि का समय बहुत अधिक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। ऐसा इसलिए, कि इस साहित्य का काव्य-काल सदैव अत्यधिक परिवर्तनशील रहा है। उर्दू काव्य लेखन के प्रारंभिक चरण पर चर्चा करने से यह बात सुस्पष्ट हो जायेगी।

22.3.1 उर्दू काव्य लेखन का प्रारंभिक चरण - ग्यारहवीं सदी में ख्वाजा अहमद को हिन्दी का पहला कवि मान लेने के बाद 12वीं और 13वीं शताब्दियों में अनेक ऐसे सूफी-फकीर देश एक कोने से दूसरे कोने में रहें, जिन्होंने अपनी बात जनभाषा के माध्यम से व्यक्त की। वह इसलिए कि उस समय धर्म और भक्ति के भावों को व्यक्त करने वाली ऐसी कोई भाषा प्रचलित नहीं रही होगी। अतएव उन्हें विवश होकर बहुत से फारसी-अरबी के शब्दों को जनभाषा में मिलाने पड़े होंगें। उनमें उर्दू के शब्दों के होने के तथ्य को अस्वीकारा नहीं जा सकता है।

बारहवीं-तेरहवीं सदी के सूफी-फकीरों में बाबा फरीद शकरगंज (1173-1265) का नाम सर्वप्रधान है। ये शहाबुद्दीन के आक्रमण काल में काबुल से भारत आए थे और पंजाब में रहे। सिक्खों के धार्मिक ग्रंथ 'आदिग्रन्थ साहब' में उनके 130 दोहे संकलित हैं। इसी प्रकार अमीर खुसरो (मृत्यु 1324 ई.) हजरत गेसूदराज (मृत्यु 1921 ई.), सैय्यद मुहम्मद जौनपुरी (मृत्यु 1504 ई.), शाह हाशिम अलवी (मृत्यु 1649 ई.) आदि की रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 13वीं शताब्दी में फारसी-अरबी शब्दों के मेल से एक ऐसी भाषा बन रही थी, जो जनसामान्य की समझ की भाषा थी, और जिसे सूफी-फकीर प्रचार के लिए प्रयोग कर रहे थे।

यद्यपि अमीर खुसरो और गेसूदराज का उर्दू साहित्य के इतिहास में अत्यधिक महत्त्व है, तथापि अमीर खुसरो का महत्त्व एक महान् रचनाकार की दृष्टि से सर्वोच्च है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनकी अधिकांश रचनाएं न केवल भारत में ही, अपितु ईरान में भी बहुत अधिक लोकप्रिय हैं। उनकी रचनाओं की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उनमें भारतीयता का पुट बहुत अधिक मिलता है। इस तरह उनमें भारतीय बोलियों, भारतीय त्योहारों, ऋतुओं और भारतीय जलवायु सहित भरतीय जीवन के सुन्दर और आकर्षक पक्षों को प्रमुख और सम्मानपूर्ण स्थान दिया गया है। वे भारतीय कला और संगीत के बहुत बड़े प्रेमी थे। इसमें वे बहुत निपुण भी थे। इस तरह उन्होंने भारतीय कला और संगीत को बहुत कुछ प्रदान भी किया। चूंकि वे अमीर और फकीर दोनों ही थे, इसलिए वे जनता के बहुत करीब थे, तो राजदरबार कला से भी दूर नहीं थे। उन्होंने मुख्य रूप से दोहे, पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखी हैं। खुसरों की कविताओं के कुछ नमूने इस प्रकार दिय जा रहे हैं-

गोरी सोवै सेज पर, और मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई सब देस॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जब यार देखा नैन भर, दिल की गयी चिन्ता उतर।
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाए कर॥

तू तो हमारा यार है, तुझ पर हमारा प्यार है।
तुझ दोस्ती बिसयार हैं, इक शव मिलो तुम आय कर।
खुसरो कहे बातें, गजब दिल में न लावे कुछ अजब।
कुदरत खुदा की है अजब, जब जिवा दिया गिल लायकर॥

जेहाले-मिस्कीं मकुन तगाफुल, दुराए नैनान बनाए बतियाँ।
कि ताबे-हिजराँ न दारम ऐ जाँ, न लीह्न काहे लगाए छतिया॥

शबाने-हिजराँ दराज वो चूँ, जुल्फे रोजे-वस्लत चू उम्र कोतहै।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ, तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ॥

चू शम्अ सोजाँ चूँ जर्रा हैरा, जेमेहरे-ऑमह बगशतम आखिर।
न नींद नैना, न अंग चैनाँ, न आप आवै, न भेजैं पतियाँ॥

अमीर खुसरो की पहेलियाँ, दोहे और गीत भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व की हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं-

एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिजड़े में दिया॥
जों-जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए॥ (दीया-बत्ती)

एक नार दो को ले बैठी। टेढ़ी हो के बिल में पैठी।
जिसके बैठे उसे सुहाय। खुसरो उसके बल-बल जाय॥ (पायजामा)

अस्थ तो इसका बूझेगा। मुँह देखी तो सूझेगा।
बाला था जब मन को भाया,

बड़ा हुआ कुछ काम न आया॥

खुसरो कह दिया, उसका नाँव।
बूझै नहीं तो छोड़े गाँव॥ (दीप)

अमीर खुसरो ने ब्रजभाषा में भी कविताएं लिखीं कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं-

चूक भई कुछ वालों ऐसी।
देस छोड़ भयो परदेसी॥

तन वाको सगरा ज्यों पानी॥

चार मास बाके नहिं नेक।
हाड़-हाड़ में वाके छेद॥

मोहिं अचंभा ऐसे।
वामे जीव वसत है कैसे॥

अमीर खुसरो को भाव की गहराई की दृष्टि से भले ही महत्त्व न दिया जाए, किन्तु भाषा की दृष्टि से उनकी पहेलियाँ साहित्य के इतिहास का सदा एक महत्त्वपूर्ण अंग बनी रहेंगी। वास्तव में उनके काव्य में खड़ी बोली काव्य भाषा बनने का सफल प्रयास कर रही थी। उनकी भाषा के ऐतिहासिक महत्त्व को समझने के लिए एक पहेली यहां प्रस्तुत है-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तरवर से इक तिरिया उत्तरी, उसने बहुत रिझाया।
बाप का उसने नाम जो पूछा, आधा नाम बताया।
आधा नाम पिता पर प्यारा, बूझ पहेली गोरी।
अमीर खुसरो यों कहे, अपने नाम न बोलो–निबोरी॥

उपर्युक्त उद्दरणों से यह तथ्य सामने आ जाता है कि अमीर खुसरो ने दिल्ली के आस–पास बोली का ही प्रयोग अपनी भाषा में किया है। वह एक फारसी शेर में लिखते हैं–

चुमन तूतिए–हिन्दम, अर रास्त पुर्सी
जेमन हिन्दुई पूर्व, ता नग्ज गोयम॥

(अर्थात् मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ, अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो, तो हिन्दी में पूछो, जिसमें कि मैं तुमको अनुपम बातें बता सकूँ।)

हम अमीर खुसरो द्वारा दी गई भाषा 'हिन्दुई' से हिन्दी भाषा का इतिहास का आरंभ मानने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करेंगे। यह लक्षितव्य है कि अमीर के समय में हिन्दुओं–मुसलमानों का परस्पर मेल–मिलाप परस्पर भाषाओं के आदान–प्रदान का बहुत बड़ा आधार तैयार हो रहा था। फलस्वरूप जिस प्रकार राजस्थानी, बुन्देली, ब्रज, अवधी आदि भाषाओं का विकासक्रम चल रहा था, उसी प्रकार उर्दू भी अपना प्रभाव भारतीय समाज में व्यापक रूप से जमा रही थी। इस तरह यह जहाँ उत्तर भारत में केवल भाषा बन रही थी, साहित्यिक क्षेत्र से कोसों दूर थी, वहीं यह दक्षिण भारत में भाषा और साहित्य दोनों ही रूपों में लोकप्रिय होने लगी थी। इसके कई कारण थे। उनमें से मुख्य कारण एक यह भी था कि दिल्ली की फौज में हिन्दू–मुसलमान दोनों ही थे। दूसरी बात यह कि उस समय की राजभाषा फारसी से जैसे ये अनभिज्ञ थे, वैसे ही वहाँ की बहुप्रचलित धर्मभाषा संस्कृत के ज्ञान से भी बहुत दूर थे। अतएव उनके व्यवहार की भाषा अरबी, फारसी और संस्कृत के शब्दों की मिश्रित बोलचाल की भाषा थी। वह खड़ी बोली ही थी। उस पर सहज रूप से ही पंजाबी, हरियाणवी और ब्रज का स्पष्ट प्रभाव था।

उर्दू की लोकप्रियता का दूसरा प्रमुख कारण यह था कि शासन–प्रबन्ध को सुचारु रूप से चलाने और कर वसूल करने के लिए राजदरबार की भाषा फारसी के साथ–साथ स्थानीय भाषा का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक था। इससे उर्दू का विस्तार अधिक हुआ।

उर्दू भाषा और साहित्य का फैलाव और विस्तार दक्षिण और गुजरात में अपेक्षित रूप से हुआ। उत्तर भारत की पंजाबी, राजस्थानी, हरियाणवी, ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देली आदि भाषाओं की तरह मराठी, बंगाली, उड़िया आदि भाषाओं में अनूठे साहित्य लिखे गए। उस समय नवीन भाषाओं में अनूठे साहित्य लिखे गए। उस समय नवीन भाषा उर्दू के रूप में निर्मित हो रही थी।

22.3.1 उर्दू–साहित्य का दक्षिणी भारत में उद्घाटन – यह ऐतिहासिक सत्य है कि दक्षिण भारत सदैव उत्तर भारत से प्रभावित होता रहा है। आर्यों के आगमन के बाद बुद्धमत का प्रचार–संचार उत्तर से ही दक्षिण में हुआ था। ईसा की 6वीं 7वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में स्थापित होने वाले राज्य उत्तर भारत से ही संचालित हुए थे। चालुक्य वंश, यादव वंश आदि इसके उदाहरणस्वरूप हैं। उत्तर भारत से ही आकर मुसलमान दक्षिण भारत की बोलियों से परिचित हुए थे। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से भी उत्तर भारत की भाषा बोलियों से दक्षिण भारत प्रभावित हुआ। दूसरी बात यह कि उत्तर भारत के जो सैनिक, कर्मचारी, उनके परिवार, व्यापारी, सूफी, फकीर दक्षिण भारत में जाकर रह गए, वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पाया तो किसी द्रविड़ भाषा का प्रयोग कर सकते थे या उसी से मिलती–जुलती नयी भाषा का प्रयोग कर सकते थे, जिसे वे दिल्ली से लाए थे। दिल्ली से वे जो भाषा अपने साथ लाए थे, उसमें पंजाबी, हरियाणवी और खड़ी बोली मिली–जुली थी। उसमें ब्रहभाषा का भी प्रभाव था। यही नहीं, उसमें फारसी–अरबी के भी बहुप्रचलित शब्दों के प्रवेश थे। इसी भाषा को उन्होंने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनाया था। धीरे–धीरे यही भाषा साहित्यिक बन गयी। रचनाकारों ने इसे कभी हिन्दी, तो कभी 'जबाने–हिन्दुस्तानी' कहा। कभी–कभी तो उन्होंने इसको 'दकनी' भी कहा।

दक्षिणी उर्दू–साहित्य के विकास को देखते हुए हम इसे तीन युगों में बाँट सकते हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. पहला युग – बहमनी राज्य के अंत तक का समय। इस युग का धार्मिक साहित्य के साथ–साथ भाषा–विज्ञान का महत्त्व अधिक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. दूसरा युग – बीजापुर में आदिलशाही और गोलकुण्डा में कुतुबशाही के राज्य–शासन का समय। इस युग का साहित्य और कला की दृष्टि से अधिक महत्त्व है।

3. तीसरा युग – मुगल साम्राज्य का समय। इस युग में उर्दू–साहित्य का एक वृहद् कोश एकत्र हो गया।

हम यह भली–भाँति जानते हैं कि बदली हुई परिस्थितियाँ भाषा और साहित्य को काफी हद तक प्रभावित करती हैं। अतएव दक्षिणी उर्दू और आज की उर्दू में बहुत बड़ा फर्क है। दक्षिणी उर्दू साहित्य का सबसे पहला रचनाकार ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज हैं। वह दिल्ली के सुप्रसिद्ध सूफी फकीर निजामुद्दीन औलिया के 'खलीफा' ख्वाजा नसीरुद्दीन चिराग दिल्ली के प्रमुख शिष्यों में से एक थे और खलीफा भी थे। यों तो उनके अनुयायी उत्तर भारत में बहुत थे, लेकिन सन् 1399 ई. में वे दक्षिण भारत (कर्नाटक) अपने मत के प्रचार के लिए चले गए और वहीं बस गए। गेसूदराज न केवल महान् विद्वान् थे, अपितु एक महान् रचनाकार भी थे। उनकी कई रचनाएं फारसी–अरबी में हैं। लेकिन वे अपने समुदाय और सामान्य जनता के लिए अपने विचारों को हिन्दी में ही प्रकट किया करते थे। गेसूदराज के पोते अब्दुल्ला अपने समय के जाने–माने सूफी कवि और सन्त थे। उन्होंने सुप्रसिद्ध पुस्तक 'निशातुल–इश्क' का अनुवाद भी किया। उसी समय 'निजामी' नामक एक कवि ने एक मसनबी 'कदमराय' और पद्म लिखी। इस प्रकार उर्दू–साहित्य का वास्तव में बीजापुर और गोलकुण्डा के विकास के साथ ही विकास हो रहा था। दक्षिण के अनेक बादशाहों स्वयं उर्दू, ब्रज और तेलगु में लिखना अपने लिए गर्व की बात समझते थे। फलत: वहाँ के कवियों ने भी भारतीय भाषाओं में अपने विचार प्रकट किए। दूसरी बात यह कि हमारे देश पर बाहरी आक्रमण अधिकांशत: उत्तर–पश्चिम से ही हुए। अतएव उनका दबाव दक्षिणी भारत तक आते–आते समाप्त हो जाता था। इससे वहां के लेख और कलाकार ईरानी प्रभाव से अवश्य कुछ बच जाते थे। फिर भी वे अपनी ही भाषा में काम चलाते हुए उसी में रचनाएं किया करते थे। दिल्ली से दूर, राज–कार्यालय का हिन्दुस्तानी भाषा में काम करना, हिन्दू–मुसलमानों के मेल–मिलाप, शांति, सूफी–फकीरों की उपस्थिति और अन्य कारणों ने दक्षिण में उर्दू को विस्तृत करने के समुचित अवसर प्रदान किए।

सूफी फकीरों के युग में शाह मीरान जी का नाम अत्यन्त लोकप्रिय है। उनकी रचनाओं के आधार पर उस समय की भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि ये मेरी रचनाएं उन लोगों के लिए हैं, जो अरबी–फारसी नहीं जानते। इस प्रकार उनकी रचनाओं में 'शहादतुल–हकीकत' 'खुशनामा' और 'शरहे–मरगूबुल कुलूब' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। अंतिम रचना गद्य में हैं। इसमें भी सूफी–मत के गूढ़ ज्ञान बताए गए हैं। उनकी कविता का एक उदाहरण इस प्रकार है–

तू कादिर कर सब जग सबको रोजी देवे।
तू सभों का दाना बीना, सब जग तुमको सेवे॥

एकस माटी भूली देवे एकस माटी बाज।
केतों भीख मगावे, केतों देवे राज॥

केतों पाट पितम्बर देता केतों सरकी लाया।
केतों ऊपर धूप तलावे केतों ऊपर छाया॥

केते ज्ञान भगत बैरागी केते मूर्ख गँवार।
एक जिन एक मानस कीता एक पुरुस एक नार॥

शाह अशरफ वियाबानी लिखित 'ना सरहार' दक्षिण की दूसरी महत्त्वपूर्ण मसनवी है। यह सन् 1503–04 की है। इसमें कुल नौ अध्याय हैं। इसलिए इसका नाम 'नौ सरहर' है। इसमें करबला की ही घटना का उल्लेख है। इस पर हिन्दी का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इमाम हुसैन की बहन जैनब का एक चित्र इस मसनवी में इस प्रकार आकर्षक रूप में हैं–

जैनव अहै उसका नाम। माथा जानूँ सूरज बाट॥
अमृत घोले सोना बाय। सरगाँ जैसे लम्बे बाल॥
नयन सलोने ज्यों बादाम। याके जानों चाँद ललाट॥
जो कोई देखन भूल जाय। चंदर–सूरज दोनों गाल॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दक्षिणी उर्दू साहित्य के अंतर्गत निजामी की सुप्रसिद्ध मसनवी 'कदम राव-कदमराव' का स्थान अधिक समाहत है। उनकी कविता का एक उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत है-

गुसाई तुम्हीं एक देना जिसका उदार।
अकास ऊँचा पाताल धरती तुम्ही॥

बरोबर न तुम्हीं दीनहार।
जहाँ कचन कोई हता है तुम्हीं॥

रजि नहार अंगिये रजिन हार तूँ।
रह नहार पछें रहनहार तूँ॥

मीरानजी के पुत्र बुरहानुद्दीन 'जानम' भी अधिक लोकप्रिय सूफी कवि रहे। उन्होंने अपनी रचनाओं की भाषा को कहीं 'दकनी' कहा है, तो कहीं 'गूजरी' अर्थात् गुजराती उर्दू कहा है। उनकी मृत्यु संवत् 1582 ई. के आस-पास हुई। आपकी रचनाओं के अध्ययन से यह तथ्य सामने आ जाता है कि आपकी भाषा सरल और सुबोध है। उसमें काव्य-सौन्दर्य का आकर्षण है। 'सुख सहेला', 'वसयितुलहादी', 'इरशादनामा' आदि आपकी रचनाएं अधिक जानी जाती है। आपकी रचनाओं से उद्धृत निम्नलिखित शेर से आपके रचनागत वैशिष्ट्य पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है-

ये रूप प्रगट आप छिपाया कोई न पाया अन्त।
माया मोह में सब जग बाँध्या क्योंकर सूझे पन्त॥

बाज आ कहें अपनी बूझ।
मालूम नहीं उसकी सूझ॥

एक जमा सब पकड़्या बार।
जों के बीच थे निकला झाड़॥

काटा छाँटा फल और फूल।
शाख वर्ग सब देख उसूल।

न इस खालिक मखलक कोए।
जैसा-तैसा समझा होए॥

शाह बुरहान ने जिस प्रकार अपने पूर्वजों की कविता पर परम्परा और धारा को आगे बढ़ाया, उसी प्रकार उनके सुपुत्र और उनके अधिकारी अमीनुद्दीन ने अपने पूर्वजों के बताए हुए मार्ग का ही अनुसरण किया। आपकी रचनाओं में गद्य और पद्य दोनों का स्वरूप है। 'हिनबामा' और 'रमजुससालिकीन' उनकी महत्त्वपूर्ण काव्य-रचनाएं हैं। आपकी गद्य रचनाओं में 'गंजे-मखफी' और 'वजूदिया' अधिक प्रसिद्ध हैं। उनमें हिन्दू-मुस्लिम विचारों की एकता और समन्वय के भाव झलकते हैं।

इब्राहिम आदिल द्वितीय (1580-1626 ई.) दकनी भाषा और उसकी कविता से प्रेम रखने के साथ-साथ संगीत शास्त्र में भी अधिक रुचि रखता था। फलतः उसने उत्तर-भारत के विद्वानों से सम्पर्क और परामर्श करके ब्रजभाषा में 'नवरस' नामक एक पुस्तक लिखी। यह 16वीं शताब्दी के अंत में या 17वीं शताब्दी के आरंभ में लिखी गई। इससे हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता के समन्वय का सुन्दर परिचय मिलता है।

सन् 1656 ई. में बीजापुर के सर्वोत्तम कवि 'नुसरती' का काव्य-संग्रह हिन्दी और उर्दू दोनों में ही 'कुल्लियाते शाही' के नाम से प्रकाशित हुआ था। 'गुलशने-इश्क', 'अली-नामा' और 'तारीखे-सिकन्दरी' नामक तीन पुस्तकें लिखी हैं। इनमें 'गुलशने-इश्क' और 'अली-नामा' बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें वर्णित प्रेमकथाएं दक्षिण भारत की प्रचलित प्रेमकथाएं हैं। नुसरती की दूसरी काव्य-पुस्तक 'अलीनामा' अधिक सुगम और श्रेष्ठ काव्यकृति है। इसमें उसने 'पृथ्वीराजरासो' और इस प्रकार की वीर गाथाओं की तरह वर्णन किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसमें नुसरती चन्दबरदाई की तरह अपने बादशाह के जीवन के सभी अंगों का चित्रण बड़ी सुन्दरता और उल्लास के साथ किया है। नुसरती की मृत्यु सन् 1684 ई. में हुई। उसकी भाषा सरल और सुबोध तो है, लेकिन उसमें फारसी-अरबी के शब्द अधिक हैं। वह दूसरे कवियों की तरह ही अपनी भाषा को हिन्दी कहता है। उदाहरण के लिए 'मनोहर-मधुमालती' के कुछ शेर देखिए-

उधर साथ थी माँ के मधुमालती।
इधर माँ के संगात चम्पावती॥

बहुत दिन कों जिस वक्त बिछड़े मिलें।
एकर एकं लगाए चँगुल कर गले॥

उनूँ क्यों सकियाँ चँकि सौ सात थीं।
इनूँ के कने भी उसी घात थीं॥

बीजापुर के कवियों में हाशमी नामक एक कवि बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसका निधन सन् 1697 ई. में हुआ था। उसकी सुप्रसिद्ध कृति 'युसुफ-जुलैखा' है। इसमें बारह हजार शेर हैं। उसने प्रेम-विरह का अनोखा चित्रण किया है। गोलकुंडा का पाँचवा बादशाह मुहम्मद कुली कुतुबशाह, जो 1580 ई. में राजसिंहासन पर बैठा था, उर्दू का एक महान् कवि था।

दक्षिणी उर्दू साहित्य के प्रमुख रचनाकारों में मुहम्मद कुली अत्यन्त लोकप्रिय हैं। साहित्य मर्मज्ञों का यह मानना है कि वह उर्दू का पहला कवि है। उसने हिन्दू-मुसलमानों के त्यौहारों का समान रूप से चित्रांकन किया है। उसने हिन्दी के श्रृंगारिक कवियों के समान नारी-सौन्दर्य का चित्रण नख से शिख तक बड़े ही सरस रूप में किया है। इसी प्रकार के रचनाओं का आकलन करने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उसकी रचनाओं के विषय और विचारधारा न केवल भारतीय हैं, अपितु उसकी भाषा उस हिन्दुस्तानी के सन्निकट है, जो हिन्दी भी है और उर्दू भी। उसका समय तुलसी, सूर और मीरा का समय है। उसकी रचनाओं के प्रभाव को देखकर उसे उर्दू का सबसे पहला बड़ा कवि माना जाता है। उसकी भाषा सरल और सुबोध होने के साथ-साथ भाषा-वैज्ञानिकों के लिए अधिक उपयोगी है। उसकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं-

पिया बाज प्याला पिया जाए ना।
पिया बाज इक तिल जिया जाए ना।
नहीं इश्क जिसको बड़ा कोर है।
कधीं उससे मिल बैसिया जाए ना॥

कुतुब शह न दे मुझे दिवाने को यन्द।
दिवाने को कुछ यन्द दिया जाए ना॥

है इश्क हर एक धात हर एक दिल में पियारा।
मुँज इश्क पियारे का अहै जिउ का अधारा॥

बिन सैर तुमन सारी कलियाँ सूख रही हैं।
टुक आके करो गश्त चमन जी उठे सारा॥

रूख एक है पर एक कथन लाख चमन है।
लख जोत है हरठार चले एक रतन है॥

किस ठार में दिसता नहीं हर ठार है भरपूर।
देखन को सकत काँ उसे बस एक नयन है॥

मुँज इश्क गिरी आग का एक चिनगी है सूरज।
इस आग के शोले का धुवाँ सात गगन है॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मुहम्मद कुली कुतुबशाह के राज्यकाल में 'वजही' बादशाह के द्वारा अपने युग का सबसे बड़ा कवि के रूप में प्रतिष्ठित कवि रहा। 'कुतुब-मुशतरी' उसकी श्रृंगार प्रधान रचना है। उसमें बादशाह मुहम्मद कुली कुतुबशाह नायक है। उसमें उसने बादशाह की वीरता, उदारता, दानशीलता और प्रेम-भावना का बड़ा ही अनूठा चित्रण किया है। उसमें अरबी-फारसी के शब्दों के साथ-साथ संस्कृत के तत्सम और तद्‌भव शब्दों के प्रयोग सार्थक रूप में हैं। उसकी भाषा व्याकरण सम्मत है। एक नमूना नीचे दिया जा रहा है-

छिपी रात उजाला हुआ दीस का।
लगा जग करन सेव परमेस का॥

जो आया झलकता सूरज दाट कर।
अँधेरा जो था सो गया न्हाट कर॥

सूरज यूँ है रंग आसमानी मने।
कि खिल्या कमल फूल पानी मने॥

कुतुबशाही युग का दूसरा महान् कवि गौव्वासी था। उसकी सुप्रसिद्ध रचनाएं 'सैफुल-मुलूको-बदीउल-जमाल' और 'तूतीनामा' हैं। सैफुल-मुलूको-बदीउल-जमाल सन् 1624 ई. की रची हुई है, तो 'तूतीनामा' सन् 1631 ई. की रची हुई है। पहली रचना प्रेम-कथा की है और दूसरी रचना हितोपदेश की है। इन दोनों ही रचनाओं में भावुकता, सरसता और प्रवाहमयता है। कुतुबशाही युग का तीसरा महान् कवि इब्ने-निशाती है। उसकी प्रसिद्ध मसनवी फूल बन है। यह दक्षिणी उर्दू साहित्य कोश का एक अनकोन रत्न है। इब्ने निशाती फारसी भाषा का एक निपुण काव्यशास्त्री था। उसकी रचना 'फूलबन' के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसका भाषा और शब्दों के प्रयोग पर बहुत बड़ा अधिकार था। 'फूलबन' एक ऐसी प्रेमकथा है, जिसमें तत्कालीन भारतीय समाज की स्थिति, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि को बड़े ही आसानी से समझा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दक्षिणी उर्दू-साहित्य खड़ी बोली की एक सशक्त अभिव्यक्ति का माध्यम थी। यों तो उस पर फारसी का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है, फिर भी भारतीय भाषाओं के बढ़ते हुए प्रभाव से किसी प्रकार वह दूर नहीं थी। इस प्रकार 17वीं शताब्दी के बीतते उर्दू भाषा गुजरात, अर्काट, मद्रास और मैसूर के कुछ भागों में पहुँच गयी। इस प्रकार दक्षिण भारत में उर्दू साहित्य का जो प्रवाह प्रवाहित हुआ था और साहित्यिक परम्पराएं स्थापित हुई, बीजापुर और गोलकुण्डा के मुगल राज्य में मिला दिए जाने से उनमें कोई फर्क नहीं दिखाई दिया। यह इसलिए कि भाषा और साहित्य का सम्बन्ध केवल राज्य से न होकर जनता से भी था। इसलिए सन् 1687 ई. के बाद से दक्षिणी उर्दू के कवियों के यहाँ उन्हीं की परम्पराओं के आधार पर स्वच्छन्दता और प्रवाह का विकास होता दिखाई पड़ता है। सन् 1687 ई. के लगभग चालीस वर्षों बाद दक्षिण भारत में उर्दू के जो अनेक विशिष्ट और बहुमूल्य रत्न उत्पन्न हुए, उनमें 'वली', 'बहरी' और 'सिराज' सहित 'वजदी', 'वली', 'बैलोरी', 'दाऊद', 'उजलत' और आजिज लोकचर्चित कवि हुए। इनमें 'वली' का ऐतिहासिक महत्त्व सर्वाधिक है।

वलि का पूरा नाम वली मुहम्मद था। 'वली' ने गजल, मसानवी, कसीदा आदि कविनाएं लिखी हैं। उसकी गजलों में प्रेम की पीर अधिक है। उर्दू-काव्य में आरंभ से संचारित होने वाले सूफीमत को बड़ी ही सुन्दरता व शक्ति सम्पन्नता के साथ प्रस्तुत किया गया है। 'वली' की रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे फारसी काव्यधारा से अधिक प्रभावित हैं। यह भी कि उनमें भारतीय जीवन की सुन्दर झाँकी हैं, जैसे गंगा, यमुना, कृष्ण, राम, सरस्वती, सीता, लक्ष्मी आदि के स्वरूप उनमें बड़े ही आकर्षक रूप में हैं। जहाँ तक 'वली' की भाषा की बात है, वह यह है कि उसमें आरंभिक दक्षिण काव्य-भाषा की समानता दिखाई देती है। यह भी सच है कि उसमें थोड़ी-बहुत दक्षिणी उर्दू से भी सम्पर्क साधे हुए था। 'वली' की भाषागत यह महत्त्वपूर्ण खूबी है कि उसने जहाँ-कहीं सरल और शुद्ध उर्दू भाषा का प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोग जनभाषा के सन्निकट हैं। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देखिए-

जिसे इश्क का तीर कारी लगे।
उसे जिन्दगी क्यों न भारी लगे॥

न होवे उसे जग में हरगिज करार।
जिसे इश्क की बेकरारी लगे॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वली कों कहे तू अगर एक वचन।
रकीबा के दिल कटारी लगे॥

सजन तुम मुख सेती खोलो नकाब आहिस्ता आहिस्ता।
कि ज्यों गुल से निकलता है गुलाब आहिस्ता आहिस्ता।
हजारों लाख खूबाँ में सजन मेरा चले यूँ कर।
सितारों में चले क्यों माहताब आहिस्ता आहिस्ता॥

सलोने साँवरे पीतम तेरे मोती की झलकाँ ने।
किया अबदे–पुरैय्या को खराब आहिस्ता आहिस्ता॥

यों तो वली की भाषा अरबी और आम बोलचाल की है, लेकिन यह कहीं–कहीं फारसीनिष्ठ भी हैं। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है–

हुस्न का मसनद–नशी वो दिल्वरे मुमताज है।
दिल्वरों का हुस्न जिस मसनद का पा अन्दाज है॥

गैरे–हैरत हैखबर उस आइना–रू की किसे।
राज के पर्दे में जिसकी खमुशी आावज है॥

याद से उस रश्के–गुलजारे–इरम के ऐवली।
रंग को मेरे सदा ज्यों बूए–गुल परवाज है॥

इस युग के दूसरे बड़े कवि महमूद बहरी को कहा जाता है। ये बीजापुर के एक गाँव के रहने वाले सूफी कवि थे। उनकी भाषा प्राचीन दक्षिण उर्दू साहित्यकारों से अधिक मिलती–जुलती है। उनकी काव्यकृति 'मनलगन' नाम से प्रकाशित हुई है। यह एक गजल–संग्रह है। इसकी भाषा सरल और स्वाभाविक है। इसके लिए एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है–

सूर तुझ मुख मिसाल ने सच है।
लाल तुझ लब से लाल ने सच है॥

धन तेरे मदमाते नयन के निमन।
पुर्तगाली कलाल नें सच है॥

अब खुशामद तूँ बस कर ऐ बहरी।
तुज पर उसका खयाल ने सच है॥

'सिराज' औरंगाबादी एक महान् सूफी कवि थे। उन्हें इस युग का तीसरा महान् कवि के रूप में मान्यता दी गई है। उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'बोस्ताले–खयाल' एक महत्त्वपूर्ण गजल रचना है। यह सन् 1774 ई. में लिखी गयी। इसमें कुल 1160 शेर हैं। इसकी भाषा दक्षिण भारत की उर्दू के मुकाबले उत्तर भारत की उर्दू से कहीं अधिक प्रभावशाली है। नमूने के लिए कुछ शेर दिए जा रहे हैं–

सब जगत ढूँढ फिरा, न पाया हरगिज।
दिल के गोशे में मकाँ, था मुझे मालूम न था।
खबरे–तहैय्यरे–इश्क सुन, न जुनूँ रहान परी रही।
न तो तूँ रहा, न तो मैं रहा, जो रही, सो बेखबरी रही॥

चली सम्ते–गैब से वों हवा कि चमन सुरुर का जल गया।
मगर एक शाखे–नेहाले–गम, जिसे दिल कहें सो हरी रही॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मुद्दत से गुम हुआ, दिले–बेगाना ऐ 'सिराज'।
शायद कि जा लगा है किसी आश्ना के हाथ॥

इस समय तक उत्तर भारत में उर्दू की परम्पराएं काफी आगे बढ़ चुकी थीं। 15वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी के आरंभ तक दक्षिणी उर्दू अधिकांश रूप में उत्तर–भारत से स्वतंत्र उन्नति करती रही। इसके आरंभ में तो केवल सूफी कवियों और लेखकों ने उस भाषा को अपनाया, जो उत्तर–भारत से द्रविड़ और महाराष्ट्र की भाषाओं के बीच आ पहुँची थी, किन्तु थोड़ा ही समय बीतने के बाद उस भाषा ने यहाँ जड़ पकड़ ली। इसे अपेक्षित आवश्यकताओं की पूर्ति होने लगी। यह लक्षितव्य है कि इस समय तक यह भाषा मुख्य रूप से मुस्लिम समाज में ही स्थापित थी, लेकिन यह मूल रूप से ऐसी भारतीय भाषा थी, जिससे हिन्दू–मुसलमानों सहित अन्य जातियों के मेल–मिलाप का अच्छा परिचय मिलता है।

22.4.3 दक्षिण शासकीय वर्ग का उर्दू–साहित्य के विकास में योगदान – दक्षिण के कई बादशाहों ने स्वयं उर्दू, ब्रज और तेलगू में लिखना अपने लिए गर्व की बात समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ के कवियों ने भी भारतीय भाषाओं में अपने विचार प्रकट किए। आदिलशाही कुल की तरह गोलकुण्डा का कुतुबशाही कुल भी साहित्य प्रोत्साहन के क्षेत्र में किसी से पीछे नहीं था। इस कुल का श्रेष्ठ बादशाह सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह जिसका निधन सन् 1611 ई. में हुआ, उसका उपनाम 'मआनी' था। वह स्वयं साहिबे दीवान रहा। उसने उर्दू का एक काव्य–संग्रह भी प्रस्तुत किया। उसके काव्य का सम्पूर्ण अध्ययन–मनन करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि उसे सभी इस्लामी भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, अर्थात् उसका अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं पर अच्छा अधिकार था। उसके काव्य–संग्रह की यह बहुत बड़ी विशेषता थी कि उसमें एक नहीं, अपितु अनेक विषयों की विविधता है। उसके काव्य में अधिक उर्दू काव्यों के समान केन्द्रीय विषय अध्याय न होकर साहित्यिक और भावात्मक है। दूसरी बात यह है कि उसने दक्षिण भारतीय प्रभावशाली साहित्यिक परम्परा का सुन्दर ढंग से निर्वाह किया है। उसके काव्य में श्रृंगार और प्रेमरस का सुन्दर प्रवाह प्रवाहित हुआ है। उसने अपनी हिन्दू रानी भागमती के नाम पर भावनगर (वर्तनान हैदराबाद) को बसाया था इस कुल के अन्य कवियों में गौव्वासी, कुतुबी, इब्नेनिशाती, तबई, जुनैदी और 'अमीन' उल्लेखनीय नाम हैं।

इन कवियों ने भी नुसरती और मुल्ला हाशमी की तरह मसनबी काव्य के रूपों को प्रस्तुत करने में अपना कमाल दिखाया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित लगता है कि उस समय की भाषा का स्वरूप बड़ा ही स्पष्ट और सरल था। काव्य के विषय मुख्य रूप से आध्यात्मिक और कथात्मक ही होते थे। इस प्रकार उस समय अरबी–फारसी अपना रंग खूब जमा रही थी।

कुतुबशाही कुल के कवियों में 'सैफल–मलुक' और 'तूतीनामा' ने तत्कालीन प्रभाव से प्रभावित होकर ही कथात्मक और आध्यात्मिक विषयों पर आधारित अपनी रचनाओं को प्रस्तुत किया। फारसी काव्य–विषयों के अतिरिक्त संस्कृत के अत्यधिक भंडार को भी उर्दू दक्किनी में रचा।

इस कुतुबशाही कुल के प्रसिद्ध कवि गैव्वासी की सुप्रसिद्ध रचना 'तूतीनामा' को संस्कृत की शक सप्तति का रूपान्तर कहा जाता है। इसमें फारसी के साथ–साथ हिन्दी के शब्दों का आकर्षक और अद्‌भुत मेल है।

कुतुबशाही कुल सुप्रसिद्ध कवियों में मुल्ला वजही का नाम लोकचर्चित है। उसका निधन सन् 1640 ई. में हुआ था। उसकी दोनों रचनाएं 'कुतुबमुश्तरी' और 'सबरस' उसकी प्रसिद्धि के मुख्य आधारस्तम्भ हैं। उसका एक काव्य–संग्रह फारसी में भी है। उसे पहला कवि माना जाता है। उसने अपनी रचनाओं में 'दक्किनी' शब्द का प्रयोग बहुधा किया है। 'कुतुब–मुश्तरी' उनकी एक सुप्रसिद्ध रचना है, जिसमें 'दक्खिनी' शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है–

"दक्खिनी में जूँ दक्खिनी मीठी बात का, अदा नहीं किया कोई उस घात का।"

(क) दक्षिण में औरंगजेब कालीन उर्दू साहित्य – सन् 1687 ई. में औरंगजेब ने गोलकुण्डा पर अपना अधिकार कर लिया। इसे उसने अपने मुगल साम्राज्य में मिला लिया। दक्षिण के राज्यों को मुगल साम्राज्य में मिल जाने के कारण वहां साहित्यिक गतिविधियाँ प्रभावित हुई। चूँकि औरंगजेब ने अपना डेरा औरंगाबाद में डाला था, जिससे गोलकुण्डा और बीजापुर का साहित्य स्वरूप औरंगाबाद में अपना प्रभाव जमाने लगा। यों तो औरंगजेब का रूझान साहित्य कला की अपेक्षा सत्ता–विस्तार की ओर अधिक था, लेकिन उसने उर्दू साहित्य को प्रोत्साहित करते हुए उसे आश्रय प्रदान किया। फलत: मुगल अमीर और सैन्य अधिकारी इसके प्रति झुके। फलत: उर्दू भाषा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उत्तरी भारत के प्रभाव से प्रभावित हुई। इस प्रकार दक्षिण और दिल्ली का केन्द्रबिन्दु औरंगाबाद बन गया। इस विषय में सुप्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक लक्ष्मीनारायण शफीक ने अपनी चर्चित पुस्तक 'चमनिस्तान-शुअरा' में इस विषय पर विचार किया है। उन्होंने औरंगाबादी कवियों के भाषा-साहित्य के योगदान का अच्छा उल्लेख किया है। इस धारा के कवियों में वली दक्किनी का नाम अधिक उल्लेखनीय है। उसका निधन सन् 1744 ई. में हुआ था। यह अपनी सूफी प्रवृत्ति और काव्य के लिए औरंगाबाद सहित अहमदाबाद और दिल्ली में अधिक उल्लेखनीय रहा। वास्तव में एक अनूठा कवि था, जिसके विषय में उसने स्वयं ही उल्लेख किया है। रेखता और दक्खिनी उसके उल्लेख सराहनीय हैं। एक उदाहरण देखिए-

'दक्खिनी जबाँ में शेर सब लोगाँ कहे हैं ऐ वली,
लेकिन नहीं बोला कोई यक शेर खुशतर जई नियत
ये रेखता वली का जाकर उसे सुनाओ
रखता तो फिकरोशन जो अनवरी के मांनद'

प्राप्त हुए वली के जीवन-वृत से यह जानकारी मिलती है कि वह एक बड़ा घुमक्कड़ रहा। उसके मित्र हिन्दू-मुसलमान दोनों ही थे। उनके वर्णन उसने बड़े रोचक ढंग से किए हैं। धर्म-साहित्य वली की काव्य-रचनाएं उस काल के सहिष्णु समाज की ओर संकेत करती है। उसने अपने संत-मित्रों में अमृतलाल और खेमदास का उल्लेख इस प्रकार किया है-

''है बसकि आबो-रंहे-हया खेमदास में
आता नहीं किसी के ख्यालों में
बैरागियों के पंथ में आकर वो महजबी
बैराग कूँ उठाके चढ़ाया आकास में
शम्ओ-बज्में वफा है अमृतलाल
सर्वे-बागे अदा है अमृतलाल।''

22.3.3 उत्तरी भारत तथा दिल्ली में उर्दू काव्य का प्रारंभिक चरण - उर्दू भाषा-साहित्य के विशेषज्ञों की यह अवधारणा है कि हमें उत्तरी भारत में उर्दू के विकास का उल्लेख करते हुए जायसी, कुतुबन, मंझन, सूर, कबीर, मीरा और तुलसी की काव्यकृतियों के अंशों को ही उर्दू का आरंभिक रूप समझना चाहिए। यह इसलिए कि उस समय तक भाषाएं अपने परिवर्तन युग में थी। उर्दू भी अवधी, ब्रज या पूरबी से उतनी ही निकट या दूर थी, जितनी खड़ी बोली पर आधारित हिन्दी।

उर्दू साहित्य के उत्थान और विकास में योगदान देने वाले उर्दू कवियों के नाम हमें 17वीं शताब्दी के अंतिमकाल से ही निरंतर प्राप्त होने लगते हैं। उनमें से 'अफजल' पानीपत ने 'बारहमासे' की परम्परा में एक अत्यधिक हृदय स्पर्शी और रोचक मसनवी 'विकट कहानी' के नाम से प्रस्तुत की है, जो अब प्रकाश में आ चुकी है। यह मसनवी सन् 1625 ई. से पहले की रचना है। यह दिल्ली के आस-पास की ही भाषा है। इसकी भाषा सरल, सुबोध और सपाट है। एक नमूना इस प्रकार दिया जा रहा है-

मेरा सुख देख उसको हैरत आयी।
निहादा बर अलम दागे जुदायी॥

बिकट किस्सा निपट मुश्किल कहानी।
दिवानी की सुनो सखियन कहानी॥

मिलन पाछे बिछड़ना यूं कठिन है।
कहो अब जिन्दगी की क्या जतन है॥

'अफजल' के सिवाय 'जाफर-जटल्ली' और 'अटल' के नाम विशेष रूप से चर्चित है। यों तो 'जटल्ली' के काव्य-संग्रह अश्लील और हास्य-युक्त हैं, फिर भी उसमें तत्कालीन सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दशा का विश्वसनीय चित्रण है। सन् 1688 ई. में लिखी हुई रोशन अली सहारनपुरी की रचना 'आ शूरनामा' इसी काल की एक उल्लेखनीय रचना है। इसमे करवला की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख है। 'फितरत', 'उम्मीद', 'बेदिल', 'नदीम', और 'आरजू' फारसी के विद्वान् होने पर भी कभी-कभार अपने शिष्यों के चाहने पर एक-आध शेर उर्दू के भी कह देते थे। इन सभी में 'आरजू' का नाम सर्वप्रधान और सर्वोच्च है, क्योंकि उनके ही संरक्षण और निर्देशन में अनेक उर्दू के कवियों ने उत्तर-भारत में उर्दू-काव्यधारा सबसे पहले प्रवाहित की। उस समय कुछ कवियों ने उर्दू-फारसी मिश्रित या उर्दू-फारसी की आधी-आधी भाग वाली कविताएं लिखते रहे।

उर्दू भाषा-साहित्य के समीक्षकों का यह मानना है कि उत्तर-भारत में उर्दू काव्य के साहित्य का पहला चरण मुगल बादशाह मुहम्दशाह के राज्यकाल में ही पड़ा था। यह सर्वविदित है कि मुहम्मद शाह ने सन् 1719 ई. में गद्दी सम्भाली थी। वह ऐसा पहला मुगल बादशाह था, जिसने उर्दू में कविताएं लिखीं।

यह ध्यान देने की बात है कि मुगल बादशाह मुम्मदशाह के शासन काल में दो ऐसी सनसनीपूर्ण घटनाएं घटी, जिनके कारण मुगल राज्य की अवनति का अंदाजा लगाया जा सकता है। पहली घटना नादिरशाह और शाह अब्दाली के आक्रमण और उनकी लूटमार की रही। इससे शाही कोष खाली हो गया। दूसरी घटना उर्दू काव्य का पाँव दिल्ली में जम जाना। अगर राज्य कमजोर न होता, तो न नादिर और न शाह अब्दाली दिल्ली को लूटता और न जनता की भाषा मुख्य भाषा का स्वरूप धारण करती। 'फाइज', 'आबरू', 'नाजी', 'हातिम', 'यकरंग', 'मजहर जानेजाँ', 'मजमून', 'फुँगा', 'ताबाँ', और दूसरे इस काल के ऐसे उल्लेखनीय कवि रहे, जिनका उर्दू साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन कवियों की भाषा सरल हिन्दुस्तानी थी। ये फारसी के विद्वान् होते हुए भी भारतीय भावनाओं से प्रेरित और आकर्षित थे। उस समय की कवितायें उर्दू के प्रयोग को 'रेख्ता' कहा जाता था। 'रेख्ता' का अर्थ है- मिला-जुला, गिरा-पड़ा, पक्की गय की तरह मजबूत। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय के काव्य में प्रयुक्त होने वाली उर्दू एक मिली-जुली भाषा थी।

शाह मुबारक 'आबरू' का असली नाम नज्मुद्दीन न था। वह 'आबरू' उपनाम से प्रसिद्ध था। उसके गुरु का नाम 'आरजू' था। उनका निधन सन् 1734 ई. में हुआ। उसकी कविताओं के अध्ययन-मनन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि उसमें श्रृंगार रस के प्रति अधिक आकर्षण था। उसकी एक मसनबी में तो श्रृंगार रस के नख-शिख वर्णन की रीति पर प्रेमिका की सुन्दरता, छवि और पहनावे का सुन्दर आलेख है। दिल्ली की बोलचाल का मजा उसके शेरों में किस प्रकार है, इसका एक उदाहरण देखिए-

फिरते थे दश्त-दश्त दिवाने किधर गये।
वे आशिकी के हाए जमाने किधर गये॥

अफसोस है कि मुझको वो यार भूल जावे।
वो शोक वो मुहब्बत, वो प्यार भूल जावे॥

कौल 'आबरू' का था किन जाऊँगा उस गली।
होकर के बेकरार देखा आज फिर गया॥

उठ चेत क्यों जुनूँ सती खातिर निचन्त की
आयी बहार तुझको खबर है बसंत की॥

'नाजी' को पूरा नाम सैय्यद मुहम्मद शाकिर था। यद्यपि उनका निधन युवावस्था में हो गया था, लेकिन उन्होंने नादिरशाह के आक्रमण से दिल्ली की हुई तबाही का बड़ा ही सजीव और सटीक उल्लेख अपनी एक शोकमयी कविता में किया है। उनके कुछ शेर नमूने के तौर पर इस प्रकार प्रस्तुत है-

आज तो 'नाजी' सजन से कर तू अपना अर्जे-हाल।
मरने जीने का न कर बसवास, होनी है सो ही॥

नमकी-हुस्न देखकर पी का।
रंग गुल का मुझे लगा फीका॥

किया फर्दा का वादा सर्ब कद ने।
कयामत का जो दिन सुनते थे कब है॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'हातिम' का पूरा नाम शेख जुहूरूद्दीन था। उनका जन्म दिल्ली में ही सन् 1699 ई. में हुआ था। 'वली' का उन्होंने अच्छा अनुसरण किया। उनका निधन सन् 1781 या 92 ई. में हुआ। यों तो उन्होंने फारसी में भी कविताएं लिखी है, लेकिन वे उर्दू काव्य के क्षेत्र में ही अधिक लोकप्रिय हैं। उनके रचित कुछ शेर उदाहरण के रूप में इस प्रकार हैं-

जिसको देखा सो यहाँ दुश्मने-जाँ है अपना।
दिल को जाने थे हम अपना, सो कहाँ है अपना॥
खुप गयी है दिल में 'हातिम' के तेरी बाँकी निगाह।
चलते-चलते टुक बताता जा तेरा क्या नाम है॥

जिन्दगी दर्दे-सर हुई 'हातिम'।
कब मिलेगा मुझे पिया मेरा॥

पीरी में 'हातिम' अब न जवानी की याद कर।
सूखे दरख्त भी कहीं होते हैं फिर हरे॥

मिर्जा मजहर 'जाने-जाँ' अपने समय के बहुत ही महान् सूफी और विद्वान् थे। अतएव उनकी थोड़ी-सी कविताएं बहुत आँकी जाती है। उनकी हत्या 80 वर्ष की आयु में सन् 1791 ई. में कर दी थी। उनके सुप्रसिद्ध शिष्यकवियों में 'यकीन' के कुछ शेर देखिए-

चली अब गुल के हाथों में लुटा कर कारवाँ अपना।
न छोड़ा हाय बुलबुल ने चमन में कुद निशाँ अपना॥

ये हसरत रह गयी क्या-क्या मजे से जिन्दगी करते।
अगर होता चमन अपना, गुल अपना, बागवाँ अपना॥

हम गिरफ्तारों को अब क्या काम है गुलशन से लेक।
जी निकल जाता है, जब सुनते हैं आती है बहार॥

पूर्व उत्तर भारत के आदि कवियों में एक अन्य कवि 'फाइज' का नाम बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'फाइज' का पूरा नाम सदरुद्दीन मुहम्मद था। वे दिल्ली के राजदरबार में उच्च पद पर थे। वे अपना संग्रह तैयार करने वाले उत्तर भारत के सर्वप्रधन उर्दू कवि हैं। उन्होंने हिन्दू त्यौहारों और महात्माओं का अत्यधिक रोचक चित्र प्रस्तुत किया है। दिल्ली में एक स्थान का उल्लेख करते हुए उनका कहना है-

है इन्दर की मानो सभा जा ल्वागर।
कि हर नार दिस्ती है रम्भा सों वर॥

कमर पर जो पड़दे हैं समू-सर।
उनीं वोच मिल जाता मूए-कमर॥

ले जाती है, ज्यों अप्सरा जी को छल।
कि देख उनको पानी में दिल जाए जल॥

हर एक नार सूरज की शोभा धरे।
खड़ी हो सूरज की तपस्या करे॥

उनकी गजल के कुछ शेर देखिए-

गाली तेरी मुझ दिल को प्यारी लगे।
दुआ मेरी तुझ मन में भारी लगे॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नहीं तुझसा और शोख ऐ मन हरन।
तेरी बात दिल को न्यारी लगे॥

भवाँ तेरी शमशीर जुल्फाँ कमन्द।
पलक तेरी जैसे कटारी लगे॥

इस प्रकार समस्त उत्तरी भारत में दिल्ली को उर्दू साहित्य का केन्द्र बनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। इससे धीरे-धीरे दक्षिण का साहित्यिक प्रभाव फीका पड़ता गया। इस प्रकार मुहम्मदशाह के दरबार में हमारे देश की संगीत-कला जीवित थी। बिना किसी सहारे की उर्दू भाषा साधारण जीवन में अपनी जड़ें फैला रही थी।

(क) काव्य का विकास और उर्दू भाषा का शुद्धिकरण - जिन कवियों ने उर्दू ग़ज़ल को ग़ज़ल बनाया, उनमें 'दद' और 'मीर' का अत्यधिक महत्त्व है। ख्वाजा मीर 'दर्द' उर्दू के प्रमुख सूफी कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका जन्म सन् 1721 ई. में दिल्ली में हुआ था। उनके काव्य में सूफीमत की गूढ़ बातें बड़े ही सरल और सहज ढंग से होने के साथ-साथ बड़ी ही आकर्षक शैली में भी हैं। उनकी भाषा वर्तमान उर्दू भाषा के सन्निकट है। इसके लिए एक उदाहरण देखिए-

''जग में आकर इधर-उधर देखा,
तू ही नजर आया, जिधर देखा
इन दिनों कुछ अजब है दिल का हाल
देखता कुछ है, ध्यान में कुछ है।''

'सौदा' का पूरा नाम मिर्जा मुहम्मद रफी 'सौदा' था। उनका जन्म सन् 1706 ई. में हुआ था। वे स्वभाव में ही एक अमीराना और हँसने-हँसाने वाले थे। वे शाह हातिम के शिष्य थे। जब अहमदशाह दुर्रानी और मराठों के परस्पर आक्रमण से दिल्ली डावांडोल हो उठी, तो वे सबसे पहले फर्रूखाबाद के नौव्वाब मेहरबान खाँ 'रिन्द' के यहाँ गये। और सन् 1771 ई. के आस-पास वे अवध की राजधानी फैदाबाद पहुँचे थे। जब आसफुद्दौला ने अपनी राजधानी लखनऊ बनायी, तो 'सौदा' भी लखनऊ चले गए। उनका निधान 1781 ई. में हुआ। 'सौदा' के लखनऊ आने से वहाँ काव्य-जगत में एक नयी जान आ गयी। चूँकि आसफद्दौला स्वयं उर्दू के एक अच्छे शायर थे। इसलिए समय-समय पर वे बड़े से बड़े मुशायरों का आयोजन करवाया करते थे। उसमें बड़े-बड़े नौव्वाब और अमीर-उमरा सम्मिलित होते थे। चूँकि 'सौदा' एक कवि ही नहीं, अपितु एक अव्वल दर्जे के विद्वान् और ज्ञानी भी थे। इसलिए उनकी कविताओं में जीवन की अनेक समस्याओं की झलक दिखाई देती है। उनकी ग़जलों के कुछ शेर इस प्रकार हैं-

जो मजकूर उससे करता है, कोई गमखार रोने का।
तो कहता है कि चुप रह, है उसे आजार रोने का॥

मैं अपना हाल पर हँसता हूँ, वरना हर घड़ी जालिम।
मुहब्बत में तेरी सामाँ, किया तैयार रोने का॥

कभू मैं बात बिन रोये नहीं की उससे पर उनने।
न पूछा यूँ सबब क्या है, तेरे हर बार रोने का॥

जब नजर उसकी आन पड़ती है।
जिन्दगी तब ध्यान पड़ती है॥

एक के मुँह से जिस घड़ी निकले।
फिर तो सौ की जबान पड़ती है॥

लेकिन इतना कहे कोई मुझसे

कभू उसके भी कान पड़ती है ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मैं हाल कहूँ किससे, तेरे अहदं में अपना।
रोते हैं कहीं दिल को, कहीं जी की पड़ी है॥

जिस रोज किसी और पे बेदाद करोगे।
ये याद रहे हमको बहुत याद करोगे॥

इस युग के एक अन्य प्रसिद्ध कवि 'सोज' थे। उनका पूरा नाम सैय्याद मुहम्मद मीर था। लेकिन ध्यातव्य यह है कि जब मीर तकी 'मीर' का नाम सम्पूर्ण भारत के काव्य-संसार में फैल गया, तो 'सोज' ने अपना उपनाम 'मीर' से 'सोज' में बदल लिया। उनका निधन सन् 1798 ई. हुआ। उनका काव्य-संग्रह बहुत छोटा-सा है, लेकिन उसकी भाषा सरल, सुबोध और बोलचाल की होने के कारण रसभरी है। उनकी गजलों के कुछ शेर नीचे दिए जा रहे हैं-

लेफिरा मैं कहाँ-कहाँ दिल को।
न लगा, ले गया जहाँ दिल को॥

जब तलक आँखें खुलीं थी, दुःख पै देखा किये।
मुँद गयी जब आँखयाँ तब, 'सोज' सब आनंद है॥

राक को नींद है, न दिन को चैन।
ऐसे जीने से ऐ खुदा गुजरा॥

कहता न था मैं ऐ दिल! इस काम से तू बाज आ।
देखा मजा न तूने नादान आशिकी का॥

सच्चाई यह है कि 18वीं शताब्दी का इतिहास भले ही संसार के इतिहास के रूप में क्यों न देखें, निश्चय ही एक महापरिवर्तनकारी इतिहास-काल कहा जायेगा। दिल्ली में तो एक तरफ राजनीतिक अवनीति थी, तो दूसरी और समाज के मेले-ठेले भी चल रहे थे और वे बड़ी तेजी से चल रहे थे। फाइज ने इसका उल्लेख अपने काव्य में इस प्रकार किया है-

''है इन्द्र की मानो सभा जलबागर।
कि हर नार दिस्ती हैं रंभा सो वर॥''

इसी समय का उल्लेख उस काल की सुप्रसिद्ध कसौदा गोशायर सौदाशाही ने किया है। वह उस समय के अफसरों के ऊपर व्यंग्य और ताना मारते हुए बड़ा ही प्रभावशाली दिखाई देता है। फरुखसियर के समय में अधिकांशत: निम्नवर्गीय ऊँचे पदों पर कार्य करने लगे थे। इससे कुलीन और उच्चवर्गीय लोग अपेक्षित होने लगे थे। वर्ग-झड़पों का उल्लेख हमें उस समय के उर्दू काव्य में मिलता है, जैसे-

''ऐसे वैसे कैसे हो गए
कैसे-कैसे ऐसे कैसे हो गए।''

22.3.4 उर्दू साहित्यविदों का दिल्ली से पलायन - दिल्ली में उर्दू-साहित्य ने अपनी जड़ें जमा तो ली थी, लेकिन नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली जैसे विदेशी लुटेंरो ने चारों ओर भय और असुरक्षा का एक दहशत भरा वातावरण फैला दिया। फलस्वरूप अनेक विद्वान् और साहित्यकार दिल्ली से कूच कर अवध, हैदराबाद, मुर्शिदाबाद, पटना आदि नगरों में अपने लिए नए संरक्षकों और आश्रयदाताओं की खोज करने लगे थे। इस प्रकार के पलायन करने वाले विद्वानों और साहित्यकारों में 'मीर', 'सौदा', 'सोज' आदि थे। उन्होंने उपर्युक्त नगरों में शरण ले ली।'सौदा' को विशेषकर एक कसीदा लिखने वाला समझा जाता है। उनके जीवन में ही यह बात चर्चित हो गयी थी कि वह जिस कोटि के कसीदे लिखते हैं, वैसी गजल नहीं लिख पाते हैं। इसकी ओर उन्होंने अपनी कविताओं में संकेत भी किया है, जैसे-

लोग कहते हैं कि 'सौदा' का कसीदा है खूब।
उनकी खिदमत में लिये, मैं ये गजल जाऊँगा॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'सौदा' ने अपने समय के दरबारियों और भ्रष्ट अधिकारियों के ऊपर कड़ा व्यंग्य प्रहार करते हुए तत्कालीन सामाजिक दशा की ओर ध्यान दिलाने का प्रयास अपनी श्रेष्ठ गजलों के माध्यम से किया है।

इस युग के सबसे प्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ कवि मीर तकी 'मीर' थे। उन्होंने अपनी जीवनी-कथा आपबीती के रूप में फारसी में लिखी है। यह जिके-मीर के नाम से लोकचर्चित है। इसका अनुवाद उर्दू में ही नहीं, अपितु हिन्दी में भी हो चुका है और यह प्रकाशित भी हो चुका है। इससे तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। आप अकबराबाद 'आगरा' में सन् 1725 ई. में उत्पन्न हुए थे। जैसी दु:खभरी हालात दिल्ली की थी, वैसा ही जीवन 'मीर' का था। अगर कोई उस पतनशील समाज का काव्यात्मक रूप उसकी सारी शोकपूर्ण गहराईयों के साथ देखना चाहे, तो वह उसे उस समय के इतिहास में नहीं पाएगा, अपितु वह 'मीर' की कविताओं में देख सकेगा। इस विषय में उन्होंने स्वयं कहा भी है-

''बरहमी हाल की है सारी मेरे दीवाँ में।
सैर कर तू भी ये मजमुआँ परीशानी का॥''

मीर आज तक गजल के सबसे बड़े कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनकी गजलों की भाषा अत्यन्त सरल व बोलचाल की है। उनमें सरसत्ता और रोचकता बढ़कर है। उनमें हार्दिक भावनाओं का बड़ा ही उद्भुत चित्र तूफानी जोश के साथ भरा हुआ है। उन्होंने आकर्षक और प्रभावशाली मरसिये भी लिखे हैं, फिर भी उनमें गजलों का शोकमय वातावरण नहीं हैं। इसी प्रकार की उनकी मसनवी भी हैं। उसमें उनका आदर्श प्रेम झलकता है। किन्तु वह गजल के ही बादशाह के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनकी गजलों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं-

हस्ती अपनी हबाब की-सी है।
ये नुमाइश सुराब की-सी है॥

नाजुकी उसके लब की क्या कहिए।
पंखड़ी एक गुला की-सी है॥

बार-बार उसके दर पर जाता हूँ।
हालत एक इज्तिराब की सी है॥

'मीर' उन नीम-बाज आँखों में
सारी मस्ती शराब की-सी है॥

उर्दू भाषा और साहित्य के निर्माण और विकास में सभी धर्मों और वर्गों के लोगों ने भाग लिया। इससे यह बात साफ हो जाती है कि जब तक राजनीति में संस्कृति और भाषा पर धर्म की छाप नहीं लगी थी, तब तक हिन्दू-मुसलमान दोनों ही उर्दू लिखते थे। इससे उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। उन दोनों को ही समाज और साहित्य में समान समादर प्राप्त था। वे दोनों ही मुशायरों में भाग लेते थे। उस युग में आनन्दराम 'मुखलिस', टेकचन्द 'बहार', 'बिन्द्राबन', 'राकिम', भिखारीलाल 'अजीज', महराब राय 'ताँबा', बाल मुकुन्द 'हुजूर', मंगलसेन 'उलफत', सियालकोटीमल 'दीवाना' आदि फारसी के स्थापित विद्वान् भी कभी-कभी अवश्य उर्दू में लिखते थे। इससे उनकी प्रभावशाली काव्य कला की खूब प्रशंसा होती थी।

उर्दू कविता का यह युग 'दर्द', 'सौदा' और 'मीर' जैसे असाधारण और बेजोड़ शायरों के कारण ही उल्लेखनीय नहीं है, अपितु इस युग में उर्दू-साहित्य अत्यधिक विकास और विस्तार हुआ। उस काल की सामन्तवादी संस्कृति के पतनोन्मुख दशा का उस काल के कवियों ने बड़ा ही रोचक, मर्मस्पर्शी और यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया। इस प्रकार उनकी कविताओं में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि दिखाई देती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त काल में उर्दू-साहित्य विशेषत: पद्य की दिशा में विकासोन्मुख रहा। उर्दू साहित्य की विभिन्न विधाओं की आधारशिला इसी काल में रखी गई। नैराश्य एवं नाउम्मीदी के उस काल में उर्दू साहित्यकाश में 'दिनकर' के समान एक मात्र अपनी बेजोड़ छवि बनाए हुए था। लखनऊ का साहित्यिक केन्द्र इस दिशा में ही अगला कदम था।

22.3.5 लखनऊ में उर्दू साहित्य का विकास - लखनऊ साहित्यिक केन्द्र लगभग 18वीं शताब्दी के आठवें दशक में बन चुका था। इसका यह अर्थ नहीं है कि दिल्ली में उर्दू शायरी का वातावरण उण्डा हो गया। अपितु यह कि लखनऊ में दिल्ली ही के अनेक नामी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कविगण एकत्र हो गए। इससे यहाँ का राजदरबार और नगर में शेर-शायरी की ऐसी धूम मच गयी कि उसके सामने दिल्ली की शोभा निश्चय ही कुछ दिनों के लिए फीकी पड़ गयी। शुजाउद्दौला स्वयं कवि तो नहीं था, लेकिन वह कवियों का बहुत ही आदर और सत्कार किया करता था। उन्हें वह पत्र लिख-लिख कर अपने दरबार की शोभा बढ़ाने के लिए आमंत्रित किया करता था। इससे बेरोजगार हो रहे कविगण लखनऊ की ओर बढ़ते चले जा रहे थे। आसफुउद्दौला कितने अच्छे कवि थे, इसका पता उनका काव्य-संग्रह देखने में लग जाता है। इसी प्रकार गाजीउद्दीन हैदरन, नसीरूद्दीन हैदर और वाजिद अली शाह भी उच्च कोटि के कवि थे। वाजिद अली शाह ने तो लगभग 100 पुस्तकें लिखी हैं। उनमें गद्य और पद्य फारसी और उर्दू दोनों में ही हैं। दिल्ली से जो कवि आ रहे थे, उनमें से अधिकांश ऐसे थे, जो अपनी आयु का बड़ा भाग वहीं व्यतीत कर चुके थे। ये यहाँ आकर वे पूरी तरह यहाँ के जीवन में घुलमिल न सके थे। लेकिन 19वीं शताब्दी के पहले चरण में लखनऊ का दरबार पूर्णरूप से स्थापित हो चुका था। वहाँ का जीवन एक नए साँचे में ढ़ल चुका था। यही कारण है कि जो भी कविजन यहाँ बाहर से आए, उन्होंने यहाँ के जीवन से प्रभाव लिया। इसके साथ ही यहाँ के साहित्य को भी प्रभावित किया। इनमें से 'मुसहफी', 'जुरअत', 'मीर इसन', 'इन्शा', 'रंगी' और 'नासिख' के साथ-साथ 'आतिश' भी थे। इन सभी ने लखनऊ की उर्दू साहित्य के विकास में आगे बढ़ाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

उपर्युक्त कवियों में से अधिकांश ने भाषा की ओर अधिक ध्यान दिया। इससे भाषा के बजाय हानि अधिक हुई। यह इसलिए कि इससे भाषा एक बार फिर सरलता और सादगी की जड़ से कट-कट कर क्लिष्टता की भूमि पर आ गयी। दूसरी बात यह कि लखनऊ का दरबार कवियों के आपसी अहंकार से उत्पन्न झगड़ों का अड्डा बन गया। यों तो उस समय लखनऊ में राजनीतिक उथल-पुथल कम नहीं हो रही थी, फिर भी उससे कहीं अधिक और तेज साहित्यिक उथल-पुथल दिखाई देने लगी थी। इस प्रकार प्राय: सभी कवि स्वयं को श्रेष्ठ और महान् सिद्ध करने के लिए हाथ-पैर मारने लगे थे।

उस समय लखनऊ की आर्थिक स्थिति दिल्ली के मुकाबले में अधिक अच्छी थी। फलस्वरूप सामाजिक दशा बड़ी ही ऊँची और आकर्षक थी। समय-समय पर मेले-ठेले के आकर्षक और श्रेष्ठ आयोजन हुआ करते थे। इस प्रकार धार्मिक स्वरूप बड़ी धूमधाम से सम्पन्न होते थे। यहाँ की शोक सभाएं तो मुहर्रम की एक माह की चहल-पहल से उत्सव की तरह लगती थीं मर्सिया, नोहा और सलाम काव्य रूपों का विकास इन्हीं धार्मिक गतिविधियों के फलस्वरूप उल्लेखनीय रूप में हुआ।

(क) लखनऊ केन्द्र के प्रसिद्ध कविगण एवं उनका काव्य - उर्दू साहित्य में 'मुसहफी', 'मीर हसन' और 'इन्शा' को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। इनमें मीर 'हसन' अपनी प्रसिद्ध मसनवी 'सहरुलब्यान' के कारण अधिक लोकप्रिय हुए। यह मसनवी लखनऊ के सामाजिक जीवन की प्रत्येक झलकी अपने में समेटे हुए है। इन मसनवी में लौकिक ही नहीं, अपितु अलौकिक जीवन के सभी चित्र दिखाई देते हैं। शेख कलंदर बख्श 'जुरअत' ने दिल्ली से अपना डेरा कूचकर लखनऊ में ठिकाना बना लिया। लखनऊ में शाह आलम के बेटे सुलेमान शिकोह का दरबार दिल्ली से आने वाले कवियों के लिए पहला पड़ाव होता था। 'जुरअत' का पूरा नाम शैख कलंदर बख्श था। वे दिल्ली के ही प्रसिद्ध कवि 'हसरत' के पुत्र थे। कहा जाता है कि 'जुरअत' दोनों आँखें से अंधे थे। वे कविता के अतिरिक्त संगीत और ज्योतिषशास्त्र में भी निपुण थे। सन् 1810 ई. में उनका देहान्त हो गया।

'जुरअत' का काव्य-संग्रह हर तरह की कविताओं का है। अधिकांश रूप से गजलें हैं। इसके अतिरिक्त मसनवी आदि भी हैं। उनकी गजलें एक ही भावना को लेकर चली हैं। इसलिए उनमें मन चाहे रोचक और आकर्षक चित्र हैं, उन्होंने मनोभावों को प्रस्तुत करने के लिए केवल श्रृंगार रस को ही स्थान दिया है। उदाहरणार्थ उनके कुछ शेर निम्नलिखित हैं-

बात ही औव्वल तो वो करता नहीं मुझसे कभी।
और जो बोले भी हैं कुछ मुँह से तो शरमाया हुआ॥

है कलक से दिल की ये हालत मेरी अब तो कि मैं।
चारसू फिरता हूँ अपने घर में घबराया हुआ॥

लगजा गले से तब अए ऐ नाजनी नहीं।
है-है खुदा के वास्ते, मतकर नहीं-नहीं॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परी–सा जो मुखड़ा दिखाकर चले।
मुझे तुम दिवाना बनाकर चले॥

आये जो मेरे पास तो मुँह फेर के बैठे।
ये आज नया आपने दस्तूर निकाला॥

इस दौर के मशहूर कवि इंशा अल्लाह खां इंशा जो कई भाषाओं के ज्ञाता थे, लखनऊ के साहित्यिक मंच पर छाये हुए थे। वे फारसी, तुर्की, पश्तो, पंजाबी, मारवाड़ी, कश्मीरी, हिन्दी आदि भाषाओं को अच्छी तरह जानते–समझते थे। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'दरिया–ए–लताफत' है। यह भाषा विज्ञान, व्याकरण, काव्य शास्त्र और अन्य विषयों का एक बहुत बड़ा कोश है। उन्हें अपनी विद्वता के कारण दरबार में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ था। उनका अंतिम समय अत्यधिक दु:खदायी रहा, जबकि वे सारी जिन्दगी दूसरों को हँसाते रहे। उनकी कविताओं के रंग अलग–अलग हैं, इसलिए उनके सबके उदाहरण देना संभव नहीं है। उनकी एक गजल बहुत प्रसिद्ध है, जो उनकी अंतिम गजल बताई जाती है। वह उनकी अन्य गजलों से बिल्कुल अलग है। उसके कुछ शेर यहाँ दिए जा रहे हैं–

कमर बाँधे हुए चलने को यों सब यार बैठे हैं।
बहुत आगे गये बाकी, जो हैं, तैयार बैठे हैं॥

न छेड़ ऐ निकहते–वादे–बहारी राह लग अपनी।
तुझे अठखेलियाँ सूझी हैं, हम बेजार बैठे हैं॥

तसीव्वुर अर्श पर है और सर है पा–ए–साकी पर
गरज कुछ और धन में इस घड़ी मयखार बैठे हैं॥

वे अपनी चारू उफतादगी से अब कि पहरों तक।
नजर आया जहाँ पर साया–ए–दीवार बैठे हैं॥

भला गर्दिश फलक की चैन देती है किसे 'इन्शा'।
गनीमत है कि हम–सूरत यहाँ दो–चार बैठे हैं॥

इस युग के 'मुसाहफी'– एक सुप्रसिद्ध कवि हैं। इनका पूरा नाम शेख गुलाम हमदानी था। ये अमरोहा के रहने वाले थे। ये उर्दू के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं। उनकी गजलों में भावुकता, सादगी और कलात्मक निपुणता है। उनकी कविताओं में 'मीर', 'सौदा', 'जुरअत' और 'इन्शा' सभी के रंग मिलते हैं। उन्होंने प्रथम चरण के महान् कवियों के विषयों की भाषा की निपुणता का अनुकरण किया है। इसी प्रयास में व्यक्त रहने के कारण उन्होंने अपनी कोई शैली गढ़ने का प्रयास भी नहीं किया है। उनके निम्नलिखित शेर उपर्युक्त विशेषताओं के प्रतीक हैं–

सोते ही हम रह गए अफसोस हाय।
काफिला यारों का सफर कर गया॥

किस्सा कहूँ क्या दिले बीमार का।
इश्क की तप थी न बचा मर गया॥

तेरे कूचे हर बहाने मुझे दिन से रात करना।
कभी इससे बात करना कभी उससे बात करना॥

मैं एतमाद करूँ किसकी अशनाई पर।
कोई किसी का जमाने में आशना भी है ?

फैजाबाद में जन्में 'इनाम बख्श नासिव' का अपना कवि दरबार था। उनके शिष्यों में अधिकांश रूप से उच्चस्तरीय अधिकारी थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसलिए उन्हें कभी भी किसी प्रकार का कोई आर्थिक अभाव नहीं हुआ। वे गजल के उच्चकोटि के शायर थे। उनकी शैली निजी थी। भाषाविद् और पिंगलशास्त्र के पाण्डित्य ने उनकी कविता के बाह्य रूप को तो संवारा, लेकिन भाव को सुन्दर नहीं बनने दिया। उनकी कीर्ति-पताका लखनऊ से बाहर दक्कन तक फैली हुई थी। यह सच है कि 'नासिख' एक कवि के रूप में तो असफल हैं, क्योंकि वे भावपूर्ण, जो कविता को प्रभावशाली बनाती हैं, बुझी-बुझी और दबी-दबी-सी हैं। इसके विरुद्ध भाषा, मुहावरे, और अलंकार सारी कविता पर इस प्रकार छाए हुए हैं कि वे ही उनकी रचनाओं का मूल अंग जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए ये शेर देखिए-

आज होता है दिला दर्द जो मीठा-मीठा।
ध्यान आता है तुझे किसके लबे-शीरी का॥

सैकड़ों आहें करूँ पर जिक्र क्या आवाज का।
तीर जो आवाज दे, है नक्स तीरंअदांज का॥

नाजनीनों से करूँ क्या ख्त मैं नाजुक-मिजाज।
बोझ उठ सकता नहीं मुझसे किसी के नाज का॥

तुफां-गुल इस बाग में है और शबनम है अजीब।
हँस के बैठा जो तेरी महफिल में वो रोकर उठा॥

बात जिन नाजुक मिजाजों से न उठती थी कभी।
बोझ उनसे सैकड़ों मन खाक का क्योंकर उठा॥

'नासिख' के समान सुप्रसिद्ध और उतने ही महत्त्वपूर्ण लखनऊ के दूसरे कवि ख्वाजा हैदर अली थे। उनका उपनाम आतिश था। आप पहले फैजाबाद में एक नौव्वाब के यहाँ तलवार चलाने वालों में नौकर हो गए थे। उन्हीं के साथ आप लखनऊ चले आए। उस समय लखनऊ शेर-शायरी का बहुत बड़ा केन्द्र बना हुआ था। उसमें 'इन्शा' और 'मुसहफी' का बोलबाला था। वे ही चर्चित थे। इससे प्रभावित होकर आतिश 'मुसहफी' के शिष्य हो गए।

'आतिश की कविता' 'नासिख' द्वारा प्रचलित किए गए रूप-रंग से बिल्कुल मिलती-जुलती थी। उनकी कविता बोलचाल की शुद्ध भाषा में बड़े प्रवाह के साथ मुखरित हुई है।

भाषा की सुन्दरता के साथ-साथ करुणा की अपार धाराएं मन को आन्दोलित कर देती हैं। आतिश का विचार था कि कविता एक कला है, जिसमें शब्दों का सुन्दर प्रयोग होना चाहिए। इसीलिए उनके यहाँ कला के साथ भावनाएँ इस प्रकार मिली-जुली हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ कुछ शेर इस प्रकार है-

न गोरे-सिकन्दर न है कब्रे दारा।
मिटे नामियों के निशां कैसे-कैसे॥

बहारे-गुलिस्ताँ की है आमद-आमद।
खुशी फिरते हैं बागवाँ कैसे-कैसे॥

बुतखाना खोद डालिये मस्जिद को ढाइये।
दिल को न तोड़िये ये खुदा का मुकाम है॥

दिल की कुदरतें अगर इन्सां से दूर हों।
सारे निफाक गन्दो-मुसलमाँ से दूर हों॥

ना मर्द और मर्द में इतना ही फर्क है।
वे नान के लिए मरे ये नाम के लिए॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'गुलजारे–नसीम' उर्दू के प्रसिद्ध मसनवी हैं। उनका नाम 'मीर हसन' की मसनवी के बाद लिया जाता है। इस मसनवी में गुल–बकावली की प्रसिद्ध कहानी लिखी गयी है। गद्य में मूक कहानी का फोर्ट विलियम कॉलेज के लेखक निहालचन्द लाहौरी ने पहले ही फारसी से उर्दू में अनुवाद कर दिया था। इसमें 'नसीम' ने बहुत–से अलंकारों का प्रयोग किया है। यही नहीं, इसमें उन्होंने हार्दिक भावनाओं को भी बड़ी सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किया है। उनकी गजलों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

नाम मेरा सुनते ही शर्मा गए।
तुमने खुद आपको रुस्वा किया॥

गर यही है इस गुलिस्ताँ की हवा।
शाखे–गुल एक रोज झोका खायेगी॥

रुह–रवानो–जिस्म की सूरत मैं क्या कहूँ।
झोंका हवा का था, इधर आया उधर गया॥

अब दर्दे–जिगर हो के निकलता है दहन से।
वो जोश जो बरसों मेरे सीने में निहाँ था॥

जब हो चुकी शराब तो मैं मस्त मर गया।
शीशे के खाली होते ही पैमाना भर गया॥

अतिश के शिष्यों में नौव्वाब सैय्यद खाँ, 'रिन्द' और पंडित दयाशंकर 'नसीम' बहुत बड़े कवियों में से हैं। हिन्द का बचपन फैजाबाद में बीता। युवावस्था के बाद वे लखनऊ चले आए। उनका निधन सन् 1857 ई. में हो गया। उनकी भाषा बड़ी ही साथ–सुथरी थी। उनकी कविताएं कोमल भावनाओं से भरी हुई होती थीं। उनके दो काव्य–संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। उनके कुछ शेर नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं–

हजार बार किया मेरा इम्तिहाँ उसने।
बस आजमा चुका, अब आजमायेगा फिर क्या॥

मैं भला क्यों कर कहूँ तुमको बुरा।
आपने जो कुछ किया अच्छा किया॥

वादे पे तुम न आये तो कुछ हम न मर गये।
कहने को बात रह गयी दिन तो गुजर गए॥

धूप दिन की, ओस शब की खाइये।
आस्ताने यार पर मर जाइये॥

पड़ गई जान किस अजाब में हाय।
चाहना भी बड़ी मुसीबत है॥

न खुलवाओ मेरी जबाँ चुप रहो।
कोई बात मुँह से निकल जायेगी॥

(ख) उर्दू साहित्य में मर्सिया लेखन – लखनऊ के साहित्यिक केन्द्र में प्रमुख काव्यों में मर्सिया विशिष्ट महत्त्व की रही है। 'मर्सिया' शब्द से अभिप्राय किसी धार्मिक, राष्ट्रीय या किसी प्रियजन की मृत्यु पर शोक प्रकट करने वाली रचना से होता है। उर्दू साहित्य में मर्सिया लेखन उपर्युक्त परिभाषा के अतिरिक्त एक ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित है। विषय के चित्रण पर भी अति करुणाजनक एवं वेदनापूर्ण ढंग से लिखे जाते रहे हैं। जहाँ तक कविता में मर्सिया का अभिप्राय है, वह यह है कि मर्सिया सामान्य रूप उस कविता को कहा जाता है, जिसमें किसी धार्मिक या राष्ट्रीय नेता या किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु पर शोक प्रकट किया गया हो और उसकी अच्छाइयों का उल्लेख इस प्रकार से किया जाए कि सुनने वाले भी प्रभावित हों।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उर्दू में अधिकत्तर ये इमाम हुसैन और उनके साथियों के विषय में लिखे गए हैं, जो मुसलमानों के रसूल के नाती थे। उन्हें नाम मात्र के एक मुसलमान बादशाह मजीद ने कर्बला की रंणभूमि में तीन दिन भूखा-प्यासा रखकर बड़ी निर्दयता के साथ मार डाला था। उनके साथ केवल 72 व्यक्ति थे। उसमें 80 वर्ष के बूढ़े और 6 महीने के बच्चे भी सम्मिलित थे। वे सबके सब भूखे-प्यासे ही मारे गए। इमाम हुसैन ने अपने आदर्श के लिए एक बहुसंख्यक सेना से अंतिम समय तक बड़ी वीरता से लड़कर अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। उनकी शहादत के बाद उनके खेमों, डेरों में आग लगा दी गई। आदरणीय महिलाओं को बन्दी बनाकर नगर-नगर फिराया-घुमाया गया। मरसिये में इसी घटना को बड़े रोचक और हृदय-विदारक रूप से प्रस्तुत किया जाता है।

यों तो मासिया-लेखन का कार्य दक्षिण भारत में ही शुरू हो चुका था, लेकिन उसमें साहित्यिकता का पूरा अभाव था। यह इसलिए कि उसमें केवल अपना शोक प्रकट करने और इमाम हुसैन के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए लिखे जाते थे। इसी प्रकार दिल्ली में शुरू-शुरू के दौर में लिखे गए मरसिये थे। इसके बाद लखनऊ में लिखे गए मरसिये धीरे-धीरे साहित्यिक महत्त्व का रूप धारण करता गया। बहुत से कवि धार्मिक पुण्य प्राप्त करने के लिए और कविता को नयी दिशा की ओर ले जाने के लिए मरसिये लिखने लगे। इनमें 'दिलगीर', 'फसीह', 'खलीक', और 'जमीर' अधिक उल्लेखनीय हैं। 'खलीक' 'मीर हसन' के बेटे थे। उनके घर में चार पीढ़ियों से मरसिये लिखे जाते थे। उन्होंने भी बड़े श्रेष्ठ मरसिये लिखे। 'मीर' जमीर ने पहले पहल मरसियों को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इससे वह शोकाकाव्य न होकर एक महाकाव्य बन गया। मीर 'जमीर' के बाद मीर बब्बर अली 'अनीस' और मिर्जा सलामत अली 'दबीर' ये दो ऐसे महाकवि हुए, जिन्होंने लिखने वालों में अपना नाम बहुत ऊँचा किया।

मीर 'अनीस' के काव्य के अध्ययन-मनन के उपरान्त हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके काव्य में वे सभी विशेषताएं हैं, जो एक महान् कलाकार के लिए आवश्यक होती हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मीर 'अनीस' के काव्य में (मरसिये में) सभी पात्रों के चरित्र-चित्रण बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुए हैं। उसे देखकर किसी प्रकार की भिन्नता और अनुपयुक्ता की बात नहीं दिखलाई देती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उनके पास मिलती-जुलती भावनाओं और जटिल हालातों के चित्रण के लिए नपे-तुले और अपेक्षित शब्द भंडार थे। यह भी कि उनकी दृष्टि बड़ी ही दिव्य थी। इसमें इमाम हुसैन और उनके साथी दैवी गुणों से परिपूर्ण थे, जिनका उल्लेख इतिहास में नहीं था। इसलिए वे उनके सम्बन्ध में बहुत सोच-विचार करके ही कहते थे।

उन्होंने प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण किया है। ये चित्रण बड़े ही आकर्षण और रोचक हैं। उनके मरसिये भौतिक और उदार भावनाओं का एक बहुत बड़ा कोश है। उसके अध्ययन और मनन से आत्मगौरव के बड़े ही पवित्र भाव जाग उठते हैं। यह सच है कि उस समय के मरसिये शोक प्रकट करने और सुनने वालों में करुण भावना उत्पन्न करने के लिए लिखे जाते थे। मीर 'अनीस' के मरसिये इस दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

जहाँ मीर 'अनीस' के भाषा-प्रयोग का प्रश्न है, वह यह है कि उन्होंने इसमें बड़ी ही निपुणता हासिल की थी। उनकी भाषा बहुत सरल, मीठी और शुद्ध होती थी। वह समय, स्थान और स्थिति के अनुकूल अपनी भाषा को उतारने में बड़ी ही कुशल और सिद्धहस्त थे। चूंकि वे समान रूप से आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों ही थे। इसके अनुकूल ही उन्होंने अपनी शैली का भी प्रयोग किया।

मरसिये के अन्य महत्त्वपूर्ण कवियों में मिर्जा सलामत अली 'दबीर' का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध है। वे मीर 'जमीर' के शिष्य थे। जिस समय वे अपनी प्रसिद्धि के शिखर पर चमक रहे थे, उस समय मीर 'अनीस' भी अपनी यश-पताका फहरा रहे थे। फिर दोनों में प्रतिद्वन्द्विता होने लगी। मिजा 'दबीर' और मीर 'अनीस' की प्रतिद्वन्द्विता ने लखनऊ के साहित्यिक केन्द्र में बढ़ती हुई भोग-विलासिता सम्बन्धित विषयों पर भी एक प्रकार की रोक लगा दी। 'वासोख्त' को प्रसिद्धि प्राप्त होने का एक कारण यह भी था। दूसरे अर्थों में उर्दू साहित्य का प्रभाव समाज पर भी पूर्णरूप से बढ़ रहा था। कहा जा सकता है कि साहित्य दरबार की सीमाओं से निकलकर सर्वसाधारण का दर्पण बन रहा था।

चूँकि 'अनीस' और 'दबीर' के विषय एक ही थे, उनका समय भी एक ही था और उनका काव्य-रूप भी एक ही था। इसलिए उनकी आलोचना समान रूप से होती थी। उनके इतने प्रभाव बढ़ गए थे कि उससे उस समय के लखनऊ में 'अनसिये' और 'दबीरिये' नामक दो दल बन गए थे। ये आपस में खूब विवाद करते रहते थे। मीर 'अनीस' और मिजा 'दबीर' की शैलियाँ अलग-अलग थीं, यह निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'दबीर'-जेरे-कदमें-वालिदा फिरदौसे-बरी है।
'अनीस'-सुनते हैं माँ के पाँव के नीचे विहिशत है।
'दबीर'-जिस तर्ह जल जले में कोई साहबे मकाँ।
'अनीस'-जैसे कोई भूचाल में घर छोड़ के भागे।

सन् 1756 ई. में लखनऊ की साहित्यिक गतिविधियों को उस समय भारी झटका लगा, जब वाजिद अलीशाह 'अख्तर को बलपूर्वक गद्दी से हटाकर कलकत्ता के पास मटिया बुर्ज भेज दिया गया।' 'अख्तर' के सन्दर्भमें विभिन्न प्रकार के विचार हैं। लेकिन वे सभी आधारहीन है। 'अख्तर' ने मटिया बुर्ज से लखनवीं वातावरण तैयार करने का भारी प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने लखनऊ में अपनी नवाबी के काल में साहित्य और ललितकलाओं मुख्य रूप से नाटक और संगीत को अभूतपूर्व संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान किया। उन्होंने अनेक प्रकार की बंदिशें, ठुमरियाँ, उपरागों और रागनियों की रचना की। लखनऊ में मरसिये का प्रचलन भी उन्हीं के संरक्षण में संभव हुआ था। इससे मरसिया एक पद्य में रूप में सामने आने के साथ-साथ नाटक के रूप में भी प्रस्तुत किया। 'अख्तर' की सौ से कहीं अधिक रचनाएं विभिन्न प्रकार के विषयों और विद्याओं पर प्राप्त होती है। यह सर्वविदित है कि वे एक साथ कवि, लेखक, नाटककार, अभिनेता, संगीतकार और नर्तक थे।

मीर 'अनीस' और मिर्जा 'दबीर' के बाद भी मरसिये की परम्परा बनी रही। 'अनीस के दोनों भाई 'यूनिस' और 'उन्स' भी मरसिये के बहुत बड़े कवि रहे।' मीर 'अनीस' के तीनों बेटे मरसिये के अच्छे कवि थे। इनमें से 'नफीस' तो 'अनीस' के समान ही प्रतिष्ठित हुए। आज भी इनके वंशज मरसिया लिख रहे हैं, भले ही आज सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रभाव के कारण मरसिये की प्रतिष्ठा गिर गयी है। मीर 'अनीस' के समान मिर्जा 'दबीर' के भी पुत्र 'औज' के मरसिया लिखने वालों में अपनी यश-पताका फहरायी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनों ही परिवारों ने मरसिया लिखने वाले अपने पूर्वजों की परम्परा का निरन्तर निर्वाह किया। इनके अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध मरसिया लिखने वाले कवि भी हुए हैं, जैसे 'इश्क', 'तअश्शुक', 'रशीद', 'आरिफ', वहीद आदि। इनमें से 'इश्क' और 'तअश्शुक' दो भाई थे, उन्होंने मरसिये में एक नयी डगर निकाली।

आलोचकों का यह मानना है कि मरसिये में अपनायी गयी शैली से आधुनिक काव्यधारा तो प्रेरित हुई, लेकिन यह बहुत हद तक सही नहीं है, यह इसलिए कि आधुनिक काव्य रचना जिन समस्याओं के फलस्वरूप लिखी गयी है, वह मरसिये के कवियों के सामने नहीं थी। नयी कविताधारा में एक नयी चेतना का प्रवाह है। मरसिये की नवीनता उस चेतना की नवीनता नहीं है, अपितु विषय के प्रस्तुत करने के ढंग और शैली की नवीनता है।

22.4 दिल्ली में उर्दू साहित्य का पुनः जागरण -

अट्ठारहवीं शताब्दी के जाते-जाते और उन्नीसवीं शताब्दी के आते-आते दिल्ली ने कई उतार-चढ़ाव लिए। यह सर्वविदित है कि राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे से साहित्य का सम्बन्ध स्थायी होता है। दूसरे शब्दों में राजनीतिक और सामाजिक दशाओं से साहित्य अवश्य किसी ने किसी प्रकार से प्रभावित होता ही है। यह भी हम जानते हैं कि उन्नीसवीं सदी के आते ही उत्तर भारत राजनीतिक दृष्टि से अधिक प्रभावित हुआ था। जैसे ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कलकत्ता से अपने शासन की लगाम कसनी शुरू की, वैसे ही न केवल उत्तर भारत ही अपितु दक्षिण और मध्य भारत की रियासतें अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन होती चली गयीं। इस तरह अंग्रेजी सत्ता के अधीन अवध, बंगाल और बिहार सहित दिल्ली भी हो गयी।

उस समय मुगल बादशाह का शासन पालम तक नगण्य हो चुका था। ऐसी दशा में उर्दू साहित्य को फरोग हासिल हो चुका था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक नई शिक्षा नीति बना ली। इसके अनुसार लॉर्ड मैकाले ने फारसी भाषा को न केवल उपेक्षित किया, अपितु उसे सरकारी भाषा की श्रेणी से हटाकर रख दिया। उसकी यह मान्यता थी कि आज तक किसी भी साम्राज्य ने अपने दास की भाषा को स्वीकृति और मान्यता नहीं दी है। अंग्रेज शासक तो यह चाहते थे कि हिन्दुस्तानी अंग्रेजी पोशाक पहन कर बाबू दिखाई दें। उनकी यह चाहना फारसी भाषा के माध्यम से पूरी नहीं हो सकती थी।

(क) दिल्ली का मध्यकालीन क्लासिकी काव्य - चूंकि भाषा की जड़ें बहुत ही गहरी और मजबूत होती हैं। इसलिए उनका एकदम मूलोच्छेदन करना असंभव होता है। यह सर्वविदित है कि दिल्ली मिट-मिट कर बसती रही और मर-मर कर जीती रही है। दिल्ली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के टिमटिमाते मुगल दरबार में वे कविगण, जो दिल्ली से कूच नहीं कर पाए या जो दिल्ली की गलियों को छोड़कर नहीं जाना चाहते थे, ने उर्दू साहित्य की शमां को बुझते हुए देखकर उसे रौशन कर दिया। इनमें मुख्य रूप से 'जौक', 'मोमिन', 'जफर' और 'गालिब' के नाम सर्वप्रमुख हैं। उन्होंने उन परम्पराओं को और अधिक मजबूत और व्यापक बना दिया, जिन्हें 'मीरा', 'सौदा' और 'दर्द' ने सहारा देकर आगे बढ़ाया था।

दिल्ली के पुराने कवियों में एक प्रख्यात कवि 'शाह नसीर' थे। वे दिल्ली से लखनऊ गए, लेकिन वहाँ उन्हें उचित स्थान नहीं मिला। इसलिए वहाँ से वापस आकर हैदराबाद के दीवान चंदूलाल 'शादाँ' के दरबार में आश्रय ले लिया। जब तक दिल्ली में रहे, शाहआलम के दरबार से जुड़े रहे।

'शाह नसीर' की भाषा कठिन और शैली कृत्रिम है। उन्होंने अलंकारों के अधिक प्रयोग किए हैं। उपमाओं को रखने में वे बड़े माहिर थे। उनकी कल्पना-शक्ति की अधिकता से उनके विचारों की गंभीरता नहीं दिखाई देती है। उनके शिष्यों में 'जौक' का नाम सर्वप्रमुख है।

'जौक' का पूरा नाम शेख मुहम्मद 'जौक' था। उनका जन्म सन् 1789 ई. में हुआ था। चूँकि उस समय शाह नसीर की लोकप्रियता की धूम मची हुई थी। इससे प्रभावित होकर 'जौक' 'शाह नसीर' के शिष्य हो गए। 'शाह नसीर' ने उनका नाम बढ़ते हुए देखकर और अपने से आगे बढ़कर निकल जाने की आशंका से उन्हें टालना शुरु कर दिया। इससे 'जौक' 'शाह नसीर' से अलग हो गए। कुछ ही समय में उनकी कीर्तिपताका बहुत अधिक फहरने लगी। इससे प्रभावित होकर तत्कालीन मुगल बादशाह 'जफर' ने 'जौक' को बुलाकर अपना उस्ताद बना लिया। उस समय 'जौक' की उम्र केवल बीस वर्ष की थी। उस आयु में उन्होंने बादशाह बहादुरशाह 'जफर' की प्रशंसा में कविता लिखी। उस पर उन्हें 'खाकानी-ए-हिन्दी' की उपाधि प्रदान की गई। बादशाह बनने पर बहादुरशाह 'जफर' ने उन्हें अपने राज्य का कविराय नियुक्त करके उनकी तनख्वाह चार रुपये से बढ़ाकर सौ रूपये कर दी। उन्होंने अनेक कसीदे लिखे, जिन पर उनको जागीर में कई गाँव सहित और पुरस्कार प्रदान किए। उनका निधन सन् 1854 ई. में हुआ। उनके दिल्ली के अनेक शिष्यों में 'जफर', 'आजाद', 'दाग', 'अनवर', 'जहीर', 'मारूफ', 'वीरान' आदि प्रसिद्ध हैं। 'जौक' एक प्रतिष्ठित उस्ताद थे। उनका अपनी भाषा पर अच्छा अधिकार था। वे जीवन की समस्याओं का गंभीरतापूर्वक मनन अध्ययन करके नैतिक रूप में प्रस्तुत करते थे। यही नहीं, वे काव्यशास्त्र के बेजोड़ पंडित और ज्ञाता थे। उनकी कविताओं के अध्ययन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उनमें जीवन की सरलता और सहृदयता है। उनकी भाषा बड़ी ही शुद्ध और स्पष्ट है। निम्ननिलिखित शेर उनके चिन्तन एवं सोच के प्रतीक हैं-

कहते हैं आज 'जौक' जहाँ से गुजर गया।
हक मगफिरत अजब आजाद-मर्द था।
किसी बेकस को ऐ बेदादगर मारा तो क्या मारा।
जो आप ही मर रहा हो, उसको गर मारा तो क्या मारा॥

गया शैतान न मारा एक सिजदे के न करने से।
अगर लाखों बरस सिन्दे में सरमारा तो क्या मारा॥

अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जायेंगे।
मर के भी चैन न पाया तो किधर जायेंगे॥

आदमीयत और शय है इल्म है कुछ और चीज।
कितना तोते को पढ़ाया पर वो हैवा ही रहा॥

इस युग के महान् युग-प्रवर्त्तकों कवियों में मुख्य रूप से 'गालिब', 'मोमिन' और 'जौक' ही हैं। कुछ लोग गालिब को सबसे बड़ा दर्जा देते हैं, तो कुछ लोग 'मोमिन' की उर्दू गजलों को और कुछ लोग तो 'जौक' के शेरों पर लट्टू हैं।

मोमिन का पूरा नाम मोमिन खाँ था। वे पेशे से हकीम थे। वे एक उच्च साहित्यिक परिवार में सन् 1800 ई. में पैदा हुए थे। युवावस्था में मोमिन प्रेम-तरंगों से तरंगित हुआ करते थे। फलस्वरूप उन्होंने श्रृंगार और प्रेम के रस में डूबी हुई मसनवियों की रचनाएं की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हैं। उनकी भाषा अधिकत्तर फारसीनिष्ठ है। अलंकारों की अधिकता के फलस्वरूप वह कठिन हो गयी है। फिर में यह नि:संदेहपूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी गजलें बहुत ही सुन्दर और रसमयी हैं। उनके कुछ शेर इस तथ्य की पुष्टि के लिये देखिए-

कुछ कफस में इन दिनों लगता है जी।
आशिया अपना हुआ बरबाद क्या ?
जाने दे चारागर शबे-हिजाँ में मत बुला।
वो क्यों शरीक हों मेरे हाले-तबाह में॥

असर उनको जरा नहीं होता।
रंज राहत-फिजा नहीं होता॥

तुम हमारे किसी तरह न हुए।
वरना दुनिया में क्या नहीं होता॥

तुम मेरे पास होते हो गोया।
जब कोई दूसरा नहीं होता॥

न केवल इस युग में ही, अपितु पूरे उर्दू साहित्य के इतिहास में मिर्जा 'गालिब' से बड़ा कोई व्यक्तित्व उभर कर सामने नहीं आया। उनकी महानता का पलड़ा गद्य और पद्य दोनों ही दृष्टियों से बहुत भारी है। वे एक साथ ही उर्दू और फारसी के महाकवि और महालेखक हैं। उनका पूरा नाम ख्वाजा असद अल्लाह खाँ था। उनका सन् 1797 ई. आगरा में हुआ था। बचपन में ही उनके पिता और चाचा का निधन हो गया था। 13 वर्ष की अल्पायु में ही उनका विवाह हो गया था। इससे वे गृहस्थ जीवन में बंध गए। उन्होंने आगरा में ही कविता लिखनी आरंभ कर दी। दिल्ली जाने पर उन्हें अनेक कठिनाईयों से लड़ना पड़ा। इनमें आर्थिक संकट बहुत अधिक था। पैंशन के लिए उन्हें कलकत्ता जाने के दौरान लखनऊ, बनारस और कलकत्ते के कवि-जनों का सम्पर्क प्राप्त हुआ। यो तो पेंशन-प्राप्ति की दृष्टि से उनकी यह यात्रा असफल रही, लेकिन इस यात्रा के फलस्वरूप उन्हें सारे देश में फैली हुई साहित्यिक प्रवृत्तियों का अच्छा अनुभव प्राप्त हो गया।

'मिर्जा साहब' के व्यक्तित्व-चरित्र में कई ऐसी विशेषताएं थीं, जो निश्चय ही अद्भुत और बेजोड़ थीं। उदाहरण के लिए उनकी बुद्धि की तीव्रता, बात में से बात निकालने की शक्ति, विद्वत्ता एवं पाण्डित्य, सहृदयता, स्वाभिमान और नम्रता, नयी बातें स्वीकार करने की शक्ति, भिन्नता का निर्वाह और सर्वप्रिय बन जाने का ढंग। इन्हीं अदभुत बातों के फलस्वरूप उन्हें बादशाह से लेकर डाक के हरकारे तक बहुत अच्छी तरह से जानते थे। दूसरी और वे अपने दोषों पर किसी प्रकार से पर्दा नहीं डालते थे।

'गालिब' के रचना-संसार में कल्पना और दर्शन का एक अद्भुत सामञ्जस्य है। यह सामञ्जस्य कठिन और जटिल तो है, लेकिन हृदय पर सीधा प्रभाव डालने वाले हैं। अगर हम उनकी रचनाओं का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करें, तो हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचेंगे कि वे मूल रूप से मनोवैज्ञानिक हैं, शायर कम हैं। उनकी भाषा में एकरूपता नामक विशेषता नहीं दिखाई देती है। इस तरह वह कहीं-कहीं जटिल और दुरूह है, तो कहीं-कहीं अत्यन्त सरल और सपाट है। उनके काव्य-रचना की एक यह भी विशेषता है कि उसमें शिल्प-सौन्दर्य कम है और भाव-सौन्दर्य बहुत अधिक है। उनकी काव्यशैली गत वैशिष्ट्य यह है कि वह एक नहीं, अनेक हैं। प्रारंभिक जीवन में उन्हें फारसी-भाषा की मिठास की चाट ऐसी पड़ गई थी कि उन्होंने उर्दू को भी फारसी के ही साँचे में ढाल लिया था। यह इसलिए कि उनका मानना था कि उर्दू भाषा नहीं, अपितु फारसी भाषा ही जटिल और दुरुह दार्शनिक विचारों का वहन कर सकती है। यही कारण है कि फारसी में उनकी कई पुस्तकें हैं। उन्होंने अमीर खुसरो के समान काव्यशास्त्र और संस्कृत काव्यशास्त्र के विभिन्न रसों के मिश्रण से लाभ प्राप्त किया है। पद्य के विभिन्न रूपों में अपनी अद्भुत लेखनी का परिचय दिया है। यही नहीं, गद्य की विविध विद्याओं में भी आपने अपनी काव्य-प्रतिभा और काव्य-शक्ति का परिचय दिया है। उनकी कविताओं को समझने के लिए कुछ बौद्धिक-शक्ति के साथ-साथ सूझबूझ और भाषा के सांकेतिक रहस्यों का ज्ञान आवश्यक है। इस विषय में उनका कहना है-

हुस्ने-फरोगे-शम्अे सुखन दूर है असद।
पहले दिले-गुदाख्ता पैदा करें कोई॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अर्थात् काव्यरूपी दीपक के सौन्दर्य-वर्द्धन से लाभान्वित होने के लिए आवश्यक है कि पहले हृदय मर्मस्पर्शी और द्रव्यमयी हो।

वास्तव में 'गालिब का है अंदाजे बयाँ और'। इससे वे अपने समकालीन साहित्यकारों में अलग दिखाई देते हैं। उनकी रचनाओं में हार्दिक भावों और मनोभावों का समन्वय और एकरूपता है। इससे उनकी लोकप्रियता बढ़ गई है। उदाहरणार्थ उनके शेर कुछ इस प्रकार हैं-

देखना तकरीर की लज्जत कि जो उसने कहा।
मैंने ये जाना, कि गोया ये भी मेरे दिल में हैं॥

हम कहाँ के दाना थे, किस हुनर के यकता थे।
वे सबब हुआ गालिब दुश्मन आस्मां अपना॥

चूँकि 'गालिब' का जीवन स्पष्ट और खुला हुआ था। इसलिए उसमें यथार्थपूर्ण चित्रों के अधिकाधिक प्रवेश हुए हैं। उनकी रचनाओं को पढ़ने से यह तथ्य सामने आ जाता है कि वे किसी वाद या गुट के समर्थक न होकर स्वच्छंदवाद के ही पक्षधर थे। उनमें 'मीर' की तरह घोर निराशा नहीं है। उनमें तो नवजीवन का आधार प्राप्त करने का महाप्रयास है-

याद थी हमको भी, रंगारंग बज्म आराइयाँ।
लेकिन अब नक्शों-निगारे ताफे-निसियां हो गई॥

बेखुदी बेसज्ब नहीं, गालिब।
कुछ तो है जिसकी पर्दादारी है॥

जब उनकी आध्यात्मिकता बढ़ती है, तब खुदी छुट जाती है-

न था कुछ तो खुदा था कुछ न होता खुदा होता।
डुबोया मुझे को होने ने, न होता मैं तो क्या होता॥

और फिर ख्याल आता है

जान दी, दी हुई उसी की थी।
हक तो यूं है कि हक अदान हुआ॥

'गालिब' की कविताओं में उनका चिंतन निखर कर आया है। कुछ शेर देखिए -

ये न थी हमारी किस्मत, जो विसाले-यार होता।
अगर और जीते रहते यही इंतजार होता॥

ये कहां की दोस्ती है की बने हैं दोस्त नासेह।
कोई चारा-साज होता, कोई गम-गुसार होता।

किससे महरूमी-ए-किस्मत की शिकायत कीजे।
हमने चाहा था कि मर जायें सो वो भी न हुआ॥

'गालिब' को 19वीं शताब्दी के प्रतिनिधि कवि के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यद्यपि दूसरे कवियों ने भी जीवन के दुखों का उल्लेख किया है, जो एक मिटती हुई सभ्यता दान करती है, परन्तु उनकी अनुभूति के स्तर और 'गालिब' की कलात्मक अनुभूति में बड़ा अन्तर है, जो उनके पूरे काव्य में फैला हुआ है। इस तरह गालिब की अनुभूति बड़ी गहरी और यथार्थमयी होने के कारण मर्मस्पर्शी बन गयी है। कुछ उदाहरण देखिए-

गो हाथ को जुबिश नहीं आँखों में तो दम है।
रहने दो अभी सागरो मीना मेरे आगे॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन।
दिल के खुश रखने को 'गालिब' ये ख्याल अच्छा है ॥

हजारों ख्वाहिशें ऐसी हैं कि हर ख्वाहिश पे दम निकले।
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले ॥

बहादुरशाह 'जफर' मुगलवंश का आखिरी नाममात्र बादशाह रहा। उन्होंने अपनी बादशाहत की शान-शौकत खोकर काव्य-क्षेत्र में अपना एक सम्मानपूर्वक स्थान बना लिया था। युवावस्था में ही उन्होंने कविता में अपना नाम रोशन कर लिया था। उन्होंने 'शाह-नसीर', 'जौक' और 'गालिब' को क्रमशः अपना उस्ताद बनाया था। सन् 1857 ई. में जब अंग्रेजी सत्ता के प्रति विरोध की ज्वाला धधकी, तो उन्हें सत्ताच्युत करके बन्दी बना लिया गया। इस रूप में उन्हें अपने अंतिम दिन रंगून की जेल में बिताने पड़े। वहीं सन् 1868 ई. में उनका देहान्त हो गया।

'जफर' के चार काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कहा जाता है कि उनका पाँचवां काव्य-संग्रह गदर में नष्ट हो गया। वे बहुत ही शीघ्रतापूर्वक कठिन से कठिन मात्रिक और वार्णिक छन्दों में गतिपूर्ण रचनाएं कर सकते थे। वे एक श्रेष्ठ और अच्छे कवि की तरह सच्चाईपूर्वक भावपूर्ण अभिव्यक्ति का चित्रण करने में पूरी तरह सफल थे। तसौव्वुफ और नैतिक आदर्शों के अतिरिक्त शृंगार रस से भी उनके काव्य-संग्रह भरे हुए हैं। उनकी भाषा दिल्ली की बोलचाल को भाषा है। उनकी यह बहुत बड़ी विशेषता थी कि ये हिन्दी के शब्दों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से करते थे। वे हिन्दी में गीत और ठुमरियाँ संगती-कला के नियमानुसार रचते थे। यों तो उनकी रचना में नवीनता या दार्शनिकता की गठरी पैठ नहीं है, फिर भी उनकी काव्य-रचना का एक बहुत बड़ा भाग उनके जीवन का चित्र होने के कारण वास्तविक भावनाओं से भरा हुआ है। उनके कुछ चुने हुए शेर इस प्रकार हैं-

न किसी की आँख का नूर हूँ, न किसी के दिल का करार हूँ।
जो किसी के काम न आसके, मैं वो एक मुश्ते-गुबार हूँ ॥

पए फातिहा को आए क्यों, कोई चार फूल चढ़ाए क्यों।
कोई शम्अ लाके जलाये क्यों, मैं तो बेकसी का मजार हूँ ॥

न तो मैं किसी का हबीह हूँ, न तो मैं किसी का रकीब हूँ।
जो बिगड़ गया वो नसीब हूँ, जो उजड़ गया वो दयार हूँ ॥

22.5 नजीर अकबराबादी तथा उर्दू साहित्य में नई धारा का विकास -

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक दौर से लेकर अंतिम दौर में पहुँचते-पहुँचते उर्दू काव्य का चरम विकास हो गया। इसमें तत्कालीन वातावरण के साथ-साथ हृदयगत भावों की एक स्वस्थ अभिव्यक्ति दिखाई देने लगी। चूँकि उस समय उर्दू भाषा का साहित्य सीमित दायरे में ही विकासोन्मुख हो रहा था। उस समय कवि उर्दू भाषा में लिखते थे, लेकिन अधिकांश कविजन न केवल फारसी भाषा ही ज्ञाता थे, अपितु काव्यशास्त्र के भी। उनमें कुछ हिन्दी से भी परिचित थे। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में पश्चिमी साहित्य और सभ्यता का प्रभाव विभिन्न प्रकार से हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़ना शुरू हो गया। रियासतों की अवनति एवं ह्रास के साथ ही साथ अंग्रेजों की शिक्षा नीति से समाज का बहुत बड़ा भाग यह समझ गया कि अब परम्परागत साहित्य के दिन लद गए हैं। उर्दू-साहित्य की विभिन्न विद्याएं साहित्यिक केन्द्रों के अतिरिक्त दूसरे स्थानों पर भी विकास की ओर आगे बढ़ रही थीं। इन्हीं में से आगरा शहर भी था। वही आगरा जो मुगल सम्राट् अकबर की राजधानी रह चुका था। वही आगरा जिसके चारों और कृष्ण-भक्ति का वह वैष्णव आन्दोलन फैला हुआ था, जिसने सूरदास और मीराबाई के गीतों और भजनों को जन्म दिया। जहाँ विशाल किला और ताजमहल खड़े किए गए थे, जहाँ की हवा में राधा-कृष्ण के प्रेम और भक्ति के गीत गूँज रहे थे। जहाँ से निकट ही मथुरा और वृन्दावन के मेलों और त्योहारों में सम्मिलित होकर जनता के दिल की धड़कन तेज हो जाती थी। इसी आगरा शहर में सन् 1740 ई. में नजीर अकबरावादी का जन्म हुआ। उन्होंने अपना पूरा जीवन आगरा में ही बिता दिया। उस समय नयी आर्थिक नीति से हमारा देश दुर्बल होने लगा। व्यापारी और धंधे करने वाले बेकारी के बोझ से दब रहे थे। देश की सम्पत्ति यूरोप जा रही थी। ग्रामीण-जीवन का बुनियादी ढाँचा टूटने लगा था। 'नजीर' को इस आगरे के एक-एक कण से अगाध प्रेध-लगाव था। वे इस विषय में स्पष्ट रूप से कहते हैं-

आशिक कहो, असीर कहो, आगरे का है।
मुल्ला कहो, दबीर कहो, आगरे का है॥

मुफलिस कहो, फकीर कहो, आगरे का है।
शायर कहो, 'नजीर' कहो, आगरे का है॥

'नजीर' का नाम वली मुहम्मद था। उन्हें एक बहुत बड़ी उम्र प्राप्त हुई थी। उन्होंने जीवन के कष्ट और सुख दोनों ही प्राप्त किए। जनता से उनका ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध था कि उनके यहाँ ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान, बड़े-छोटे का भेदभाव एकदम नहीं था। उनके स्वभाव में ऐसी सरलता और व्यवहार में ऐसी स्वच्छन्दता पायी जाती थी कि सभी उनके मित्र थे। वे मानवता के कितने पक्षधर थे, इस सम्बन्ध में उनकी कविता 'आदमीनामा' के कुछ अंश इस प्रकार हैं-

दुनिया में बादशाह है, सो है वो भी आदमी।
और मुफलिसो गदा है, सो है वो भी आदमी॥

जरदार, बेनवा, सो है वो भी आदमी।
नेमत जो खा रहा है, सो है वो भी आदमी॥
टुकड़े जो माँगता है, सो है वो भी आदमी॥

मस्जिद भी आदमी ने बनायी है, यां मियाँ।
बनते हैं आदमी ही इमाम और खुतबा-खाँ॥

पढ़ते हैं आदमी ही कुरान, और नमाज याँ।
और आदमी ही उनकी चुराते हैं जूतियाँ॥

जो उनको ताड़ता है, सो है वो भी आदमी।
और आदमी पै तेग को मारे हैं आदमी॥

पगड़ी भी आदमी के उतारे हैं आदमी।
चिल्ला के आदमी को पुकारे हैं आदमी॥
और सुनके दौड़ता है, सो है वो भी आदमी॥

'नजीर' अकबराबादी के काव्य पर हम अगर गंभीरतापूर्वक विचर करें, तो हम यह कह सकते हैं कि उनके काव्यरूप और उनकी भाषा-शैली विषयानुसार है। उसका विषय कोई रीतिवादी विषय न होकर तत्कालीन विषयों का ही है। मुसलमान और हिन्दुओं के त्यौहारों विशेषकर होली, दीपावली, राखी, कृष्ण जन्मोत्सव में सभी लोग अवश्य भाग लेते थे। वे आगरे से बाहर नहीं जाते थे, लेकिन वे मथुरा और वृन्दावन के मेलों में जाए बिना नहीं रहते थे। उनकी मृत्यु लगभग सन् 1830 ई. में हुई। उनकी कविताओं के कुछ अंश इस प्रकार हैं-

बादल हवा के ऊपर हो मस्त छा रहे हैं।
झाड़ियों की मस्तियों में धूमें मचा रहे हैं॥

पड़ते हैं पानी हर जा जल-थल बना रहे हैं।
गुलजार भोगते हैं, सब्जे नहा रहे हैं॥
क्या-क्या मची हे, यारो बरसात, की बहारें॥

मारे हैं मौज डाबर, दरया उमड़ रहे हैं।
मोरो-पपीहे, कोयल क्या-क्या उमड़ रहे हैं॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

झड़ कर रही हैं चिड़ियाँ नाले उमड़ रहे हैं।
बरसे हैं मेंह झड़ाझड़ बादल घुमड़ रहे हैं॥
क्या-क्या मची है, यारो बरसात की बहारें॥ 'बरसात की बहार'

बेरोजगारी ने ये दिखायी है मुफलिसी।
कोठे की छत नहीं है, ये छायी है मुफलिसी॥

दीवारो-दर के बीच समायी है मुफलिसी।
हर घर में इस तरह से फिर आयी है मुफलिसी॥
पानी का टूट जावे है, जूँ एकबार बन्द॥

अब आगरे में जितने हैं सबलोग हैं तबाह।
आता नजर किसी का नहीं, एकदम निबाह॥

माँगों अजीजों ऐसे बुरे वक्त से पनाह।
वो लोग एक कौड़ी के मुहताज अब हैं आह॥
कस्बो हुनर के याद हैं, जिनको हजार बन्द॥

22.6 उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दिल्ली से बाहर उर्दू काव्य साहित्य का विकास -

सन् 1857 के विद्रोह के बाद जो नए साहित्यिक केन्द्र स्थापित हुए, उनमें रामपुर, भोपाल, टाँडा, मंगरोल, हैदराबाद, टोंक, अलवर, पटना, मुर्शिदाबाद आदि उल्लेखनीय हैं। इनके प्रभाव में धीरे-धीरे दिल्ली और लखनऊ के कवि-लेखक उपर्युक्त साहित्यिक केन्द्रों में आ गए। चूँकि इन साहित्यिक केन्द्रों का संरक्षण यहाँ के शासकों-नवाबों के द्वारा होता था, अतएव उर्दू साहित्य के विकास में इन संरक्षकों ने बहुत बड़ी भूमिका निभायी। इन संरक्षकों में रामपुर के वाली नवाब (नव्वाब), युसुफ अली खाँ एवं नवाब कस्बे अली खाँ, हैदराबाद के महबूब अली खाँ, लखनऊ और उसके आस-पास के राजा टिकैत राय, महाराज भाऊकाल, राजा नवलराय आदि उल्लेखनीय हैं।

(क) उर्दू के मध्यकालीन काव्य का अंतिम चरण - उर्दू के मध्यकालीन काव्य का अंतिम चरण के शीर्षक से यह कहा जा सकता है कि इसमें बीसवीं शताब्दी के आधुनिक कवियों के पूर्व वर्ग का उल्लेख है। उनमें से अधिकांश उर्दू के क्लासिकी शायरों के शिष्य या शायरों के शिष्य थे। दिल्ली में 'गालिब', 'मोमिन' और 'जौक' के शिष्य 'शिफ्ता', 'महरूह', 'नसीम', 'जहीर', 'अनवर', 'सालिक', 'दाग' आदि और लखनऊ में वाजिदअली शाह 'अख्तर', 'मुनीर', 'असीर', 'शौक', 'कलक', 'अमानत', 'जलाल', 'अमीर मीनाई' आदि उसी रास्ते को अपनाए हुए थे, जो उनके उस्तादों ने बनाए थे। यों तो इन कवियों ने कसीदा, मसनवी, गजल और मरसिया सहित सभी काव्य रूपों को विकसित किया, लेकिन इनका बड़ा भाग रीतिकाल की शिथिलता और सामाजिक कुंठा का शिकार हो गया। इन्हीं में से कई कवि रामपुर, हैदराबाद और दूसरे राजदरबारों में पहुँचे, जहाँ उनके प्रभाव में काव्य-रचना को अधिक बढ़ावा मिला।

नौव्वाह मुहम्मद मुस्तफा 'खाँ' शेफ्ता उर्दू में 'मोमिन' और फारसी में 'गालिब' के शिष्य थे। उन्होंने दिल्ली के बड़े-बड़े विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की थी। यही नहीं, वहाँ के उच्च श्रेणी के विद्वानों से उनकी गहरी मित्रता भी थी। उनके ज्ञान और विद्वता को 'गालिब' जैसे कवि भी स्वीकारते थे। उन्होंने अपना काव्य-संग्रह 33 वर्ष की ही अल्पायु में तैयार कर लिया था। उनका निधन सन् 1869 ई. में हुआ। यों तो उन्होंने उर्दू में ही अधिक काव्य-संग्रह तैयार किया है, तथापि उनका एक फारसी काव्य-संग्रह 'गुलशने-बेखार' बहुत अधिक प्रसिद्ध है। उर्दू काव्य में उन्होंने गजलें अधिक लिखी हैं। ये गजलें अत्यधिक भावात्मक और प्रभावोत्पादक हैं। उनमें मनोभावों का कल्पनात्मक चित्र बड़े आकर्षक रूप में है। गालिब 'मोमिन' और 'हाली' उनकी सूझ-बूझ के बहुत बड़े प्रशंसक थे। उनके कुछ शेर इस प्रकार हैं-

शायद इसी का नाम मुहब्बत है 'शेफ्ता'।
एक आग-सी है सीने के अंदर लगी हुई॥

वो 'शेफ्ता' की धूम थी हजरत के जुहद की।
मैं क्या कहूँ कि रात मुझे किसी के घर मिले॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हजार दाम से निकला हूँ एक जुम्बिश में।
जिसे गुरूर हो, आये करे शिकार मुझे॥

इजहारे-इश्क उससे न करना था 'शेफ्ता'।
ये क्या किया कि दोस्त को दुश्मन बना दिया॥

किसलिए लुत्फ की बातें हैं फिरा।
क्या कोई और सितम याद आया॥

'मजरूह' का पूरा नाम मीर मेहदी था। ये 'गालिब' के अतिशय प्रिय शिष्य थे। 'गालिब' द्वारा उनके नाम से लिखे गए पत्रों से यह बात साफ हो जाती है कि उन दोनों में गाढ़ी दोस्ती और अच्छे सम्बन्ध थे। 'मजरूह' एक लम्बी आयु प्राप्त करके सन् 1902 ई. में इस संसार से कूचकर गए। उनकी भाषा सरल और सहज होती थी। उनके कुछ शेर उदाहरणार्थ इस प्रकार हैं-

सब्र के फायदे बहुत हैं वले।
दिल ही बस में नहीं तो क्या कीजिए।
दिल को कोई बचा सके क्योंकर।
उसके अंदाज हैं कयामत के॥

दिल ही समझे हैं कुछ तड़प को मेरे।
बर्फ में लुत्फे-इजतराब कहाँ॥

'नसीम' का पूरा नाम असगर अली खाँ था। ये दिल्ली के थे और 'मोमिन' के श्रेष्ठ शिष्यों में से एक थे। पिता की मृत्यु के बाद भाइयों से कटुता होने के कारण ये दिल्ली से आकर लखनऊ में रहने लगे। यहाँ आकर वे दिल्ली की भाषा और काव्य शैली के प्रचार-प्रसार में तल्लीन तो रहे, लेकिन वे लखनऊ की भी भाषा और काव्य-शैली से प्रभावित होते रहे। उनकी काव्य-शैली 'मोमिन' की काव्य-शैली के अधिक निकट है। यों तो उनके अनेक शिष्य हुए, लेकिन उनके एक शिष्य अमीरूल्लाह को ही सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली। उनकी कविता को समझने के लिए उनके दो शेर नीचे जा रहे हैं-

नाम मेरा सुनते, ही शर्मा गये।
तुमने तो खुद आपको सवा किया॥

जब देखिए करार नहीं एक हाल पर।
मेरा-सा अब तो हाल आ रोजगार का॥

दिल्ली के कवियों में 'दाग' को अतिशय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। 'दाग' का पूरा नाम नौव्वाब मिर्जा खाँ था। वे फिरोजपुर के प्रसिद्ध अमीर नौव्वाब शमसुद्दीन के बेटे थे। गदर में मुगल परिवार के विनाश के बाद वे रामपुर चले आए। यहाँ वे 24 वर्षों तक बड़े ही सुख-चैन से रहे। रामपुर के नौव्वाब के निधनोपरान्त 'दाग' कुछ समय तक लखनऊ, पटना और कलकत्ता रहे। फिर कुछ समय तक दिल्ली में रहे। अपने जीवन के अंतिम भाग में वे हैदराबाद के निजाम महबूब अली खाँ के बुलावे पर हैदराबाद चले गए। उन्हें वहाँ पर अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ। वहीं उनका निधन सन् 1905 ई. में हो गया। उनके शिष्यों में डॉक्टर 'इकबाल', 'दकन के निजाम', 'सायल', 'बेखुद', 'अहसन', 'नूह नारवी', 'आगा शायर', 'सीमाब' व 'अकबरावादी' अत्यधिक प्रसिद्ध हैं।

'दाग' ने 'गुलजारे-दाग', 'आफताबे दाग', 'महताबे दाग' और 'यादगारे-दाग' नाम से चार गजल संग्रह तैयार किए। वे उर्दू के ऐसे लोकप्रिय कवियों में हैं, जिनकी गजलें सभी लोग पढ़-पढ़कर आनंद उठाते हैं। उन्होंने सरल, शुद्ध, मधुर और भावपूर्ण भाषा के प्रयोग से अपने सामान्य और साधारण विचारों को प्रस्तुत किया है। इसे दृष्टि से 'दाग' एक श्रेष्ठ और उच्चकोटि के कलाकार दिखाई देते हैं। उनके कुछ चुने हुए शेर उदाहरणार्थ नीचे दिए जा रहे हैं-

शबे-वस्ल जिद में बसर हो गयी।
नहीं होते-होते सहर हो गयी॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लगाते हैं दिल उससे, अद हार-जीत।
इधर हो गयी या उधर हो गयी॥

बुरे हाल से या भले हाल से।
तुम्हें क्या, हमारी बसर हो गयी॥

बुत को बुत और खुदा को जो खुदा कहते हैं।
हम भी देखें तो उसे देखके क्या कहते हैं॥

हम तसौबुर में भी जो बात जरा कहते हैं।
सब में उड़ जाती है, जालिम इसे क्या कहते हैं॥

पहले तो 'दाग' की तारीफ हुआ करती थी।
अब खुदा जाने वो क्यों उनको बुरा कहते हैं॥

अवध के नौव्वाब और बादशाह भारतीय के रंग में पूरे तरह से डूब चुके थे। यहाँ के मुसलमान और हिन्दू पूरी तरह से सांस्कृतिक जीवन के प्रदर्शन में बढ़-चढ़ कर अपनी भूमिका अदा करते थे। इस प्रकार जहाँ एक ओर यहाँ के मुसलमान होली-दीवाली मनाते थे, वहीं दूसरी और यहाँ के हिन्दू मुहर्रम के त्योहार में सच्चे दिल से भाग लेते थे। इसका मुख्य कारण यही था कि यहां के बादशाहों ने बिना किसी भेदभाव के हिन्दू-मुसलमानों को ऊँचे से ऊंचे पदों पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार राजा टिकैतराय, महाराजा झाऊलाल, राजा नवलराय, राजा खुशहाल राय, टीकाराम 'तसल्ली', मंगलसेन 'उल्फत', कुंवर सेन 'मुजतर', बख्शी भोलानाथ आदि यहाँ के जीवन पर उसी प्रकार छाए हुए थे, जिस प्रकार कोई मुसलमान।

लखनऊ के प्रसिद्ध कवियों में 'मुनीर' शिकोहाबादी थे। वे 'नासिख', 'रश्क' और 'दबीर' के शिष्य थे। वे सभी प्रकार की कविताओं को लिखने में बहुत ही माहिर थे। सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में उन्हें बागी समझ कर काले पानी की सजा दे दी गई। सजा काटकर वापस आने के कुछ दिनों बाद ही उनका निधन सन् 1881 ई. में हो गया। उन्होंने तीन काव्य-संग्रहों के अतिरिक्त एक मसनवी 'मेराजुल-मजामीन' भी लिखी है, जिसमें धार्मिक नेताओं के चमत्कारों का उल्लेख हुआ है। उनकी गजलों के कुछ शेर उदाहरणार्थ नीचे दिए जा रहे हैं-

गयी चोर की तरह छिप कर जबानी।
दगा देके घर से ये मेहमान निकला॥

बेखबर है शर्म से, हम पायमाल हैं।
हैरत है काम आयेगी, नीची निगाह कब॥

गुरबत में किससे चश्में-करम की उम्मीद हो।
आँखें चुरा रहा है, जमाना गरीब से॥

सबको इबरत हो गयी, मेरी मुहब्बत देखकर।
इससे ऐ बुत तू फिरा, तुझसे खुदायी फिर गयी॥

की तर्क मैंने शैखो-बरहमन की पैरवी।
दैरो-हरम में मुझको, तेरा नाम ले गया॥

मुंशी अमीर अहमद 'अमीर' मीनाई का जन्म सन् 1828 ई. में लखनऊ में हुआ था। ये दाग के प्रोत्साहन पर हैदराबाद चले गए थे। वहीं पर उनका देहान्त हो गया। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में अनेक पुस्तकें लिखी हैं। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध गजलों के दो संग्रह हैं- 'मिरातुलगैब' और 'सनमखाना-ए-इश्क'। उन्होंने गंभीर और सुसंस्कृत विषयों को अपने काव्य में बड़े ही भावुक और कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। श्रृंगार एवं प्रेम रस ही उनकी मसनबियों के मूल विषय हैं, लेकिन उच्च स्तर एवं अच्छी कोटि के भावों ने उनके काव्य को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशिष्ट स्थान दिलवाया है। अमीर की प्रसिद्धि पद्य के अतिरिक्त गद्य में उनके कोश-निर्माण के कारण भी है। उनकी संपादित 'अमीरूललुगात' अपनी किस्म की पहली लुगात (शब्दकोश) है। उनके कुछ अति प्रसिद्ध शेर इस प्रकार हैं-

आयी सहर इधर कि उधर शाम हो गयी।
दो-दो घड़ी को हाने लगे दिल विसाल के॥

उनको आता है प्यार पर गुस्सा।
हमको गुस्से पर प्यार आता है॥

मैं जाग रहा हूँ हिज की शब।
पर मेरा नसीब सो रहा है॥

तीर खाने की हवस है तो जिगर पैदा कर।
सरफरोशी की तपन्ना है तो सर पैदा कर॥

लचक है शाखों में जुविश हवा से फूलों में।
बहार झूल रही है खुशी से झूलों में॥

क्या कहें इश्क में क्या मिलता है।
बुत के मिलने से खुदा मिलता है॥

जो निगाह की थी जालिम फिर तो आँख क्यों चुरायी।
वही तीर क्यों न मारा जो जिगर के पार होता॥

हम चले दैर से काबे को, तो वो बुत बोला।
जाके ले लीजिए काबे में खुदा रक्खा है॥

लखनऊ के सुप्रसिद्ध कवियों में सैय्यद जामिन अली 'जलाल' का नाम भी अधिक उल्लेखनीय है। वे हकीमी के साथ-साथ शेर भी कहने के शौकीन थे। लखनऊ में शिक्षा प्राप्त करके वे काफी दिनों तक लखनऊ में ही रहे। बाद में रामपुर के नवाब यूसफ अली खाँ के निमंत्रण पर गए। नवाब कलबे अली खाँ, जिन्हें दिल्ली केन्द्र के कवि अधिक प्यारे थे, की अपेक्षा पर मंगरोल चले गए, वहीं उनका देहान्त सन् 1904 ई. में हो गया। उनकी काव्य-शैली लखनऊ के साधारण रंग से भिन्न थी। शब्दों और अलंकारों के साथ-साथ वह भावनाओं को प्रस्तुत करने की चेष्ठा भी करते थे। इसीलिए कुछ आलोचकों का विचार है कि उन पर दिल्ली के कवियों का प्रभाव भी पड़ा था। उनके कुछ शेर इस प्रकार हैं-

एक कदम जाना जिधर दुश्वार था।
शौक लेकर सैकड़ों मंजिल गया॥

तुम लाख छिपो हमसे मगर छिप नहीं सकते।
जो दिल में है आँखों में निहां हो नहीं सकता॥

तेरे दर पर जो आ पड़े हैं उन्हें।
भूलकर याद घर नहीं आता॥

खुद चले आये वो, न जायें जो हम।
सब ही तो मगर नहीं आता॥

22.7 उर्दू साहित्य में गद्य-लेखन -

उर्दू भाषा में उपलब्ध प्रारंभिक गद्य रचनाओं के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे धर्म और नैतिक शास्त्र से सम्बन्धित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ही है। पद्य की तरह उर्दू का आरंभिक स्वरूप दक्षिण भारत में दिखाई देता है। आलोचकों का मत है कि अमीर खुसरों की गद्य रचनाएं प्रामाणिक नहीं हैं। अठाहरवीं शताब्दी की विभिन्न पाण्डुलिपियों अथवा स्प्रेंगर के संग्रह जो मूल रूप से अवध का शाही पुस्तकालय था, में से जो अमीर खुसरो की खालिक बारी अथवा हिन्दी कलाम ढूँढ़ कर डंडे मिलाने की कोशिश की गई है, उस पर सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि उल्लेखित अमीर खुसरो सम्बन्धी काव्ययुक्त गद्य सामग्री अथवा उपलब्ध पाण्डुलिपि और अमीर खुसरो के निधन के लगभग 350 वर्ष बाद है। दूसरी बात यह है कि उसमें कितना भाग अमीर खुसरो का है और कितना उनके समर्थकों और श्रद्धालुओं का है। यह रहस्य अब तक बना हुआ है। लेकिन उसका यह आशय नहीं है कि अमीर खुसरो ने हिन्दी काव्य-रचना नहीं की। उनकी फारसी रचनाएं इस तथ्य का प्रमाण हैं, तथापि उर्दू के प्रामणिक गद्य-साहित्य का आरंभ दक्षिण में रचित कृतियों के आधार पर आँका जा सकता है।

(क) दक्किनी गद्य-साहित्य - दक्किनी-उर्दू में ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज, जिनका निधन सन् 1422 ई. में हुआ, की कई गद्य रचनाओं, 'मेराजुल-आशाकीन', 'शिकारनामा' और 'तिलावतुलवजूद' का वर्णन करते समय यह संकेत दिया गया था इनको साहित्यिक दृष्टि से देखने के बजाय बनती हुई भाषा और हिन्दू-मुसलमान की विचारधारा के सामंजस्य की दृष्टि से देखना चाहिए। उर्दू की प्राप्त गद्य-सामग्री में गेसूदराजा के साथ ही साथ शाहमीरान की गुलबास, 'शाहे-मदमुलकुलब' और 'जलतरंग' को प्रथम गद्य रचना स्वीकार किया गया है। किन्तु दक्कन में ही रचित मुल्ला वजही की 'सबरस' को साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना स्वीकार किया जाता है। इस रचना के अध्ययन-मनन से यह पता चलता है कि उन्हें स्थानीय भाषाओं के अतिरिक्त फारसी-अरबी साहित्य और भाषाओं में पूरी पैठ थी। 'सबरस' में भी स्थानीय भाषाओं और फारसी-अरबी के रूप और कथानक का मिश्रित रूप है। इसके लिए एक उदाहरण देखिए-

फरहाद होकर दोनों जहाँ ते आजाद होकर
दानिश के तेशे सूँ पहाडाँ उल्टाया तो यूँ शीरी पाया।

'वजही' ने अपनी पुस्तक में कहीं भी इस बात की ओर संकेत नहीं किया है कि 'सबरस' में प्रेम-सौन्दर्य, बुद्धि और हृदय को प्रतीक बनाकर जीवन के सभी नैतिक विषयों पर जो एक रहस्यमय कथा द्वारा प्रकाश डाला गया है, वह कहाँ से लिया गया है। इसके आरंभ में यह अवश्य लिखा गया है कि यह मेरी मौलिक कृति है। उसने यह बड़े ही गर्व से लिखा है-

''आज लगन (तक) कोई इस जहान में, हिन्दुस्तान में, हिन्दी जबान में इस लताफत, इस छन्दों सों नजम हीर नम्र मिलाकर गुलाकर नहीं बोल्या।''

वजही के बाद उस समय तक भी दक्षिण में गद्य-रचनाएं की जाती रहीं, जब तक कि औरंगजेब ने सन् 1687 ई. में दक्षिणी भारत को अपने राज्य क्षेत्र में मिला नहीं लिया। इसके बीच के समय में कुछ धार्मिक पुस्तकें लिखी गयी। 'तूतीनामा' के नाम से पंचतंत्र और हितोपदेश की प्रसिद्ध कहानियों को दक्किनी उर्दू में परिवर्तित किया गया। वे कहानियाँ फारसी अनुवादों पर आधारित थीं। इनकी भाषा भी 'सबरस' की तरह ही दकनी उर्दू है, लेकिन उतनी आकर्षक नहीं है।

'वली' द्वारा दक्षिण में ही लिखित 'दह मजलिस' नामक पद्य की पुस्तक का फजीली ने सन् 1773 ई. में गद्य में अनुवाद किया। इसी समय से फारसी पुस्तकों के अनुवाद शुरू हुए। इनमें सैयद शाह मीर की 'असरारूल तौहीद' नामक अद्वैतवादी पुस्तक का अन्य पुस्तकों से उद्धृत विषय-सामग्री के माध्यम से अनुवाद किया गया। यह अनुवाद उस काल का महत्त्वपूर्ण अनुवाद समझा जाता है।

(ख) उत्तरी भारत में उर्दू गद्य के प्रमख अवशेष - उत्तरी भारत में उर्दू गद्य का युग अत्यन्त रचनात्मक दिखाई पड़ता है। धार्मिक रचनाओं के अतिरिक्त सन् 1775 ई. के लगभग एक फारसी-कथा-ग्रन्थ का अनुवाद मीर हुसैन अता 'तहसीन' ने किया, जिसे उस युग की श्रेष्ठ रचना कहा जा सकता है। उस ग्रन्थ का नाम था- 'नौ-तर्जे-मुरसा'। इसे फारसी के 'किस्सए-चहारदरवेश' से उर्दू में रूपान्तरित किया गया। यह उल्लेखनीय है कि तहसीन इटावा निवासी थे। वे एक अंग्रेजी फौजी अफसर के मीर मुंशी के रूप में कलकत्ता में रहते थे। अंग्रेज अफसर के अपने देश चले जाने पर वे पटना होते हुए फैजाबाद चले गए। फिर वहाँ वे नौव्वाब शुजाउद्दौला के दरबारी हो गए।

'नौ-तर्जे-मुरसा' की शैली कठिन फारसी अरबी-शब्दों की है। इसमें अलंकारों के प्रयोग बहुत हैं। इससे साधारण बोलचाल की भाषा को जानने वाले के लिए कठिनाई होती है। इसी प्रकार 'कर्बल-प्रथा', 'नौ-आईने-हिन्दी', 'किस्सा-ए-मेहर', 'अफरोजे-दिलवर', 'नौ-आईने-हिन्दी', 'किस्सा-ए-मेहर', 'अफरोजे-दिलवर', 'अजायबुल कस्स', 'जज्बे-इश्क' आदि गद्य की उल्लेखनीय पुस्तकें हैं। यह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वह युग रहा, जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी पूरे देश में छा रही थी। इससे सारा देश पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित होने लगा था। भाषा–विज्ञान की दृष्टि से भारतीय भाषाओं का विकेन्द्रीकरण होने लगा था। संस्कृत भाषा के स्वरूप को भारतीय–यूरोपीय भाषा–वर्ग से जोड़कर एक नई सांस्कृतिक एवं साहित्यिक धारा को जन्म देने के प्रयास आरंभ हो गए। इस नए वातावरण का प्रमुख केन्द्र कलकत्ता बन गया।

22.8 उर्दू साहित्य का विकास केन्द्र – फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना एवं नई गद्य–शैली

डॉ. जान वार्थविक गिलक्राइस्ट (मृत्यु सन् 1841 ई.) ने लॉर्ड वेलेजली की सहायता से फोर्ट विलियम कॉलेज की नींव डाली। इस कॉलेज की स्थापना का उद्देश्य यह था कि अंग्रेज अधिकारियों को उर्दू या हिन्दुस्तानी एवं देशी भाषाएं मुख्य से से बंगाली सिखना था। डॉ. जॉन गिलक्राइस्ट उर्दू भाषा के अल्पज्ञाता थे। उन्होंने देखा कि इसमें गद्य की अपेक्षा कविता अधिक है। उन्होंने यह ध्यान दिलाया कि विदेशी कर्मचारियों को इस प्रकार की किन पुस्तकों की सहायता से शिक्षा दी जा सकती है। इसके लिए उन्होंने शिक्षा के साथ साहित्य–निर्माण का एक विभाग भी खोल दिया। फिर ढूँढ़–ढूँढ़कर उसमें निर्देशानुसार गद्य–लेखकों को नियुक्त किया। उन्होंने यह भी आयोजित किया कि कॉलेज के निरीक्षण में लिखी गयी पुस्तकों को प्रकाशित करने के लिए एक प्रकाशन संस्था भी खोली जाए। यह साहित्यिक प्रकाशन संस्था हमारे देश में पहली बार कलकत्ता में स्थापित की गई।

फोर्ट विलियम कॉलेज में उर्दू लेखकों की संख्या चाहे जितनी भी रही हो, लेकिन उनमें से लगभग पन्द्रह लेखक ऐसे अवश्य गिनाए जा सकते हैं, जिन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के द्वारा अपना नाम ऊँचा किया। उनमें सर्वप्रमुख 'मीर अम्मन' हैं। उनकी दो पुस्तकें 'बागो–बहार' और 'गूंजे–खूबी' महत्त्वपूर्ण हैं। 'बागो–बहार' अत्यधिक लोकप्रिय हुई।

फोर्ट विलियम कॉलेज के लेखकों में हैदर बख्श हैदरी ने सर्वाधिक पुस्तकें लिखी। उनकी रचनाओं में 'किस्सा–ए–मेहरी–माह', 'लैला–मजनूँ', 'हफ्त पैकर', 'तारीख नादिरी', 'गुलशने–हिन्द', 'तोता–कहानी', 'आराइशे–महफिल', 'गुले–मगफिरत' आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी 'आराइशे महफिल' में हातिम ताई पर सात कहानियाँ बड़ी अनूठे रूप में लिखी गई हैं। 'गुले–मगफिरते' फारसी के प्रसिद्ध कवि मुल्ला हुसैन वायज काश्फी की काव्य–पुस्तक 'रौजतुश्शैहदा' का उर्दू का एक अनुपम अनुवाद है।

फोर्ट विलियम कॉलेज के ही मिर्जा अली लुत्फ ने अली इब्राहीम खाँ की फारसी पुस्तक 'गुलजारे–इबराहीम' को सामने रखकर उर्दू में 'गुलशने–हिन्दी' नामक पुस्तक लिखी। इसकी भाषा कठिन और पेंचदार है, लेकिन इससे समकालीन कवियों के विषय में कई नयी बातें मालूम हो जाती है। यों तो मीर बहादुर अली हुसैनी कॉलेज के साहित्य–निर्माण विभाग में नौकर थे। उन्होंने मीर हसन की सुविख्यात मसनवी किस्स–ए–बेनजीरो बद्रेमीनुर को गद्य में लिखा और उसका नाम 'नस्त्रे–बेनजीर' रखा। उनका एक संग्रह 'अखलाक हिन्दी' बहुत लोकप्रिय हुआ। उनकी तीसरी पुस्तक 'तारीखे आसाम' बहुत ही लोकप्रिय हुई। मजहर अली खाँ 'विला' द्वारा लिखित पुस्तकें माधवानल और काम कुंडला, 'बैताल पचीसी' और 'तारीखे–शेरशाही' प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। मिर्जा काजिम अली 'जवान' ने गिलक्रिस्ट के अनुरोध पर कालिदास की अमर कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का उर्दू अनुवाद 'शकुन्तला नाटक' नाम से किया।

निहालचन्द लाहौरी इस कॉलेज के अन्य लेखक थे। उन्होंने सन् 1803 ई. में गिलक्राइस्ट के कहने पर 'गुल–बकावली' की प्रसिद्ध कहानी को फारसी से उर्दू में अनुवाद किया। इसे सरल, शुद्ध और मधुर उर्दू में लिखकर इसका नाम 'मजहबे–इश्क' रखा। इस कॉलेज के ही एक कवि बेनी नारायण 'जहाँ' ने दो ग्रन्थ लिखे। एक ग्रन्थ प्रेम–कथा पर आधारित था। उसका नाम था– 'चार गुलशन' और दूसरे ग्रन्थ का नाम था – 'दीवाने जहाँ'। इस कॉलेज में हिन्दी पुस्तकें लिखने के लिए नियुक्त किए गए आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता लल्लूराम जी ने काजिम अली 'जवान' की सहायता से उर्दू में 'सिंहासन बत्तीसी' लिखी। यह पुस्तक हिन्दी और उर्दू लिपियों में प्रकाशित हुई।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त अमानतुल्लाह 'शैदा', 'हफीजुद्दीन', 'इकराम अली', 'खलील अली', 'अश्क' और मिर्जाजान 'तपिश' ने भी कई पुस्तकें लिखीं। इससे थोड़े ही समय में फोर्ट विलियम कॉलेज के संरक्षण में उर्दू–गद्य के भण्डार में बड़ी पूँजी एकत्र हो गयी।

22.9 उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का उर्दू गद्य–साहित्य

फोर्ट विलियम कॉलेज के अतिरिक्त दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि शहरों में नैतिकता और साहित्य पर अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय कार्य हुए। मीर तकी 'मीर' के एक नातेदार मुहम्मद हुसैन 'कलीम' ने तसौव्वुफ के बहुत ही महत्त्वपूर्ण और गंभीर ग्रन्थ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'फुसूसुल' 'हकेम' का उर्दू अनुवाद किया। लखनऊ में काव्य के साथ-साथ गद्य का भी विकास हो रहा था। मुहम्मद बख्श 'महजूर' ने कई कथाएं लिखी, जिनमें 'गुल्शने-नौबहार' और 'नौरतन' अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार 'हकीकत' की रचनाएं 'जज्बे-इश्क' और 'तिशना' की रचना 'हफ्त-सय्याह' भी अपने समय की अधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में लिखित पुस्तकों में ईंशा अल्लाह खाँ की रचना 'रानी केतकी की कहानी' और 'दरिया-ए-लताफत' की पुस्तकें उर्दू गद्य की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं।

हमारे देश के वहाबी आन्दोलन के एक नेता मौलवी इस्माईल ने उर्दू में एक पुस्तक 'तकवियतुल-ईमान' लिखी। यह धार्मिक कारणों से अधिक प्रतिष्ठित हुई। इस युग की उल्लेखनीय गद्य-रचना मिर्जा रजब अली बेग 'सुरुर' की रचना 'फसाना-ए-आजाएब' है। इस पर 'पद्मावत' और 'अलिफलैला' का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। 'सुरुर' की यह खास विशेषता दिखाई देती है कि वह हर घटना के अनुसार शब्द ढूँढ लेते हैं। यहीं नहीं, वे आवश्यकतानुसार हिन्दी शब्दों का प्रयोग भी बड़े ही कलात्मक ढ़ंग से कर लेते हैं। 'फिसाना-ए-अजायब' के अतिरिक्त 'सुरूर' ने 'सुरूरे-सुल्तानी', 'शइरे-इश्क', 'शिगूफा-ए-मुहब्बत', 'गुलजारे सुरूर', 'शबिस्ताने-सुरूर' और 'इन्शए-सुरूर' पुस्तकें लिखीं। इसी समय अवध में फकीर मुहम्मद खाँ 'गोया' ने फारसी की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'अनवारे-सुहैली' का अनुवाद 'बोस्ताने-हिम्मत' नाम से किया। इसमें हितोपदेश और पंचतंत्र की कहानियाँ हैं। इसके दो वर्षों बाद ही नीमचन्द खत्री ने एक फारसी कहानी का अनुवाद 'किस्सा-ए-गुलो-सनोबर' नाम से किया।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अठारवीं शताब्दी के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के पाँच दशकों में दो प्रकार के उर्दू-लेखन कार्य हुए-

1. फारसी-अरबी से अनूदित धार्मिक विषयों की पुस्तकें प्रकाश में आयीं। इसके दो कारण थे-

(क) फारसी भाषा जन-साधारण की भाषा नहीं थी।

(ख) लोग पुस्तकों को नहीं समझ पाते थे। इसलिए अनुवाद के माध्यम से ही लोगों को मूलपाठ की विशेषताओं से परिचित करवाया जा सकता था।

2. फारसी के प्रचार का कम होने और सरकारी संरक्षण से भारतीय लोगों को उर्दू भाषा को साहित्यिक भाषा बनाने में सहायता प्राप्त हुई।

24.9.1 उत्तरी भारत में उर्दू साहित्य के विकास केन्द्र : दिल्ली कॉलेज - सन् 1804 ई. के बाद दिल्ली एक प्रकार से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रभाव में आ गयी थी। अतएव देश के अन्य भागों की तरह यहाँ भी एक नई परिस्थिति पैदा हो गयी। जीवन की आवश्यकताओं ने नए प्रकार के शिक्षालय खोलने को बाध्य किया। फलतः सन् 1825 ई. में दिल्ली कॉलेज की स्थापना हुई। इसमे अनेक प्रकार के विषयों की उच्च शिक्षा दी जाने लगी। शिक्षा का माध्यम उर्दू भाषा ही थी। थोड़े ही समय बाद सन् 1828 ई. में इस कॉलेज में अंग्रेजी कक्षा भी शुरू हो गयी।

दिल्ली कॉलेज से सम्बन्धित 'देहली वर्नाकुलर ट्रांसलेशन सोसायटी' की भी स्थापना हुई। इसके संरक्षण में सवा सौ से भी अधिक ग्रन्थ तैयार हुए। जिन ग्रन्थों का यहाँ अनुवाद हुआ, या जो पुस्तकें यहाँ लिखवायी गयीं, अथवा जो पुस्तकें यहाँ प्रकाशित हुई, उनकी सूची देना संभव नहीं है। लेकिन कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकों और विषयों के नाम दिए जा सकते हैं, जिससे इस सोसायटी के महत्त्व को समझा जा सकता है। रामायण, महाभारत, लीलावती, धर्मशास्त्र, शकुन्तला, रघुवंश आदि के जहाँ एक ओर अनुवाद हुए, तो दूसरी ओर सौदा, मीर, दर्द, जुरअत आदि महाकवियों के काव्य-संग्रह और भारत, यूनान, ईरान, इंग्लैण्ड, रोम आदि के इतिहास, गणित आदि भी प्रकाशित हुए। अनुवाद अधिकांश रूप से अंग्रेजी, फारसी, अरबी और संस्कृत भाषाओं से होते थे। अनुवादकों में धर्मनरायण, अयोध्याप्रसाद, हरिवर्मनलाल, शीतल प्रसाद, कालीराम, वजीर अली, गुलाम अली, मुहम्मद हसन और रामचन्द्र के नाम सुविख्यात हैं। रामचन्द्र ने कई साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की। 'अजाएबे-रोजगार' और 'तजकिर-तुलकामिलीन' अत्यधिक चर्चित हैं। उन्होंने बदलती हुई परिस्थितियों को भांप करके ही 'फवाय दुन्नाजरी' और 'मुहिबे हिन्द' नामक पत्रिकाएं भी प्रकाशित की। इन पत्रों के माध्यम से उर्दू में समाचार पत्र लेखन और सम्पादन का कार्य भी आरंभ हुआ। रामचन्द्र के प्रिय शिष्यों में नजीर अहमद, जका उल्लाह और मुहम्मद हुसैन आजाद थे।

लाहौर ऑरिएंटल कॉलेज - सन् 1877 ई. में लाहौर में 'लाहौर ऑरिएण्टल कॉलेज' की स्थापना हुई। यह एक ऐसा साहित्यिक केन्द्र बना, जो बाद में अधिक प्रसिद्ध हुआ। यह उर्दू साहित्य के नए केन्द्र के रूप में उभरकर सामने आया। इस संस्था में उर्दू-फारसी के मूल पाठों के साथ-साथ अनुवाद और साहित्यिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित हुई। इससे उर्दू साहित्य का क्षेत्रफल बढ़ गया। जिन संगठनों ने उर्दू

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भाषा और साहित्य को फरोग प्रदान किया, उनमें अंजुमन पंजाब अधिक उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर हुए शोधकार्यों के अध्ययन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि उनमें मूलपाठों के शोधात्मक संपादन, पाण्डुलिपियों की सूचियाँ और आधुनिक आलोचना शैली पर आधारित नए-नए विस्तारपूर्ण लेख हैं। मुहम्मद हुसैन आजाद, प्यारे लाल आशोब, लाला श्रीराम, सुप्रसिद्ध आलोचक शीरानी और इकबाल यहाँ के प्रतिष्ठित लेखक रहे। सैयद अब्दुल्ला की रचना पंजाब में उर्दू-फारसी अदब में हिन्दुओं का हिस्सा 'मबाहिस', 'नक्दे मीर' आदि उल्लेखनीय हैं। पाण्डुलिपियों के वैज्ञानिक संपादकों की सूची प्रस्तुत करने वालों में प्रो. मुहम्मद वशीर रहे, तो प्रमुख शोधवेत्ता महमूद शीरानी के बाद मौलवी मुहम्मद शफी उल्लेखनीय रहे।

22.9.2 उर्दू में कथा-साहित्य का प्रारंभिक चरण - उर्दू साहित्य में कथा-साहित्य का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ था। शुरू-शुरू में उर्दू कथा-साहित्य अरबी-फारसी कथा-साहित्य हिन्दुस्तानी रूपान्तर था। उसमें फारसी प्रभाव बहुत अधिक था। उत्तर भारत के विपरीत दक्षिण भारत की पुस्तकें फारसी प्रभाव से नहीं, अपितु दक्षिणी भारतीय भाषाओं के साहित्य से ही प्रभावित थी। उर्दू कथा-साहित्य में फोर्ट-विलियम कॉलेज और दिल्ली कॉलेज के लेखकों ने अपना योगदान तो दिया ही, इसके साथ ही साथ कुछ ऐसे लेखकों ने भी योगदान दिया, जिन्हें नया कथा साहित्य का प्रवर्त्तक समझा जाता है। उनमें इंशा अल्लाह खां इंशा का नाम सर्वप्रधान है। इंशा अल्लाह खां द्वारा लिखित कहानी 'रानी केतकी की कहानी' एवं दरियाए-लताफत (जिसमें फारसी भाषा में उर्दू भाषा के नियम, कायदों और छन्दशास्त्र पर भी चर्चा है) ने उर्दू कथा-साहित्य में एक नई धारा को पैदा किया। इन कहानियों के विषय और कथानक मूलरूप से भारतीय था। इनमें भाषा की मिठास भावों की गहराई और नई शैली आकर्षक और भाषा की भविष्य निधि को निर्धारित करने वाली थी।

इस दौर के नए लेखकों में मौलवी नजीर अहमद थे। उनकी रचनाएं नई चेतना, पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान की प्रतीक हैं। उनकी भाषा सरल, सपाट और टकसाली है। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य इण्डियन पीनल कोड का उर्दू अनुवाद 'ताजीराते-हिन्दी' है। उनकी यह पुस्तक आज भी न्याययिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाली एक प्रामाणिक पुस्तक हैं। मौलवी जकाल्लाह जिनका निधन सन् 1910 ई. में और हाली जिनकी मृत्यु सन् 1904 ई. में हुई, इनके साथ ही साथ मुहम्मद हुसैन आजाद ने भी दिल्ली कॉलेज की परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होनें गद्य में विभिन्न विषयों पर लिखा। मौलवी जकाउल्लाह की भाषा-शैली एक नए और रोचक रूप में थी। वे सधी हुई उर्दू में लिखते थे। अल्लाह हुसैन आली इस युग के महान् आलोचकों और निबन्धकारों के रूप में सुप्रसिद्ध हुए। गालिब के प्रभाव से उन्होंने गद्य को एक आकर्षक और सधी हुई शैली में लिखना आरंभ कर दिया। उनके गद्य का अवलोकन करने से यह तथ्य सामने आ जाता है कि उनका गद्य बहुत कुछ मुहम्मद हुसैन 'आजाद' से प्रभावित है। काव्य-आलोचना में प्रमुख रचना 'मुकदमा-ए-शेरो शायरी' अपने तरह की उर्दू-साहित्य की पहली रचना है।

मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आजाद' एक बहुत बड़े विद्वान और धार्मिक नेता मुहम्मद बाकर के पुत्र थे। उनका जन्म दिल्ली में सन् 1833 ई. में हुआ था। गदर में जब उनके पिता को अंग्रेजों ने मार डाला, तब 'आजाद' अपने उस्ताद 'जौक' के काव्य-संग्रह की हस्तलिखित-पाण्डुलिपि को लेकर दिल्ली से बाहर आजीविका की खोज में लखनऊ और हैदराबाद गए। सन् 1864 ई. में लाहौर में शिक्षा-विभाग में नौकरी करने लगे। वहाँ पर उन्होंने फारसी और उर्दू की पाठ्यपुस्तकें लिखीं। इससे उनका काफी नाम हुआ। उनके ज्ञानवर्द्धक लेखों से शिक्षा-विभाग के अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी अधिकारी बहुत अधिक प्रभावित हुए। उनकी लिखी हुई पुस्तक 'आबे-हयात' उर्दू काव्य के इतिहास की पहली रचना है।

22.9.3 नई चेतना और अलीगढ़ साहित्य केन्द्र - उर्दू साहित्य में नई चेतना का संचार उत्तर भारत में लखनऊ और दिल्ली दोनों ही केन्द्रों पर अंग्रेजी सत्ता के पाँव जमा लेने के बाद हो चुका था। चूँकि सन् 1857 का प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम विफल हो गया था, इससे अंग्रेजी सत्ता और अधिक सुदृढ़ और प्रभावशाली बन गयी। मुसलमानों को संदेहास्पद दृष्टि से बाहर निकालने और नई धारा में प्रवेश कराने का सबसे बढ़कर श्रेय सर सैय्यद अहमद खाँ ने ही प्राप्त किया। उनके ही विशेष प्रयासों से अलीगढ़ शिक्षा-संस्था की स्थापना हुई। अनेक विरोधों और कठिन बाधाओं के बावजूद भी उन्होंने एक वृहद वर्ग को अपने साथ लिया। फिर एक नयी चेतना और नई धारा को अपना लिया। आधुनिक शिक्षा और उर्दू साहित्य इस दृष्टि से उनका ऋणी रहेगा।

सर सैय्यद अहमद खाँ को उर्दू निबन्ध का जन्मदाता कहा जा सकता है। इससे पहले मास्टर रामचन्द्र और मुहम्मद हुसैन 'आजाद' ने इस प्रकार की रचनाएं की थी। लेकिन सर सैय्यद अहमद खाँ ने 'तहजीबुल-एखलाक' निकालकर इस साहित्य रूप को अधिक सहायता पहुँचाई। उनके लेखों के महत्त्व को देखते हुए, कुछ आलोचक उन्हें पहले निबन्धकार के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। सर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सैय्यद अहम खां को अंग्रेजी ज्ञान कम था। लेकिन वे अच्छे–अच्छे अंग्रेजी निबन्धों की जानकारी प्राप्त करके अपनी पत्रिका को उसी तरह से चलाना चाहते थे। उनके लेखों के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनमें तत्कालीन सभी प्रकार की समस्याओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसके लिए उन्होंने कहीं–कहीं वाद–विवादों, कहीं–कहीं हास्य–व्यंग्यों और कहीं–कहीं आध्यात्मिक प्रश्नों को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। इनसे उनका महत्त्व सहज ही प्रकट हो जाता है।

सर सैय्यद अहमद खां ने सन् 1837 ई. में लिखना आरंभ किया। उस समय उर्दू गद्य पुरानी शैली में चल रहा था। उनकी सबसे बड़ी पुस्तक 'आसारूससनादीद' इसी उर्दू गद्य की पुरानी शैली पर लिखी हुई थी। लेकिन यह चौंकाने वाली बात हुई कि वह अपने दूसरे संस्करण में नयी साहित्यिक शैली के साथ सामने आयी। सर सैय्यद अहमद खां की प्रवृत्ति रही कि वे अपने विचारों का प्रचार करने को अधिक महत्त्व देते थे, साहित्यिक सौन्दर्य प्रस्तुत करने के प्रति उनका प्रसास नगण्य था। यह ध्यातव्य है कि वे अपने हृदयगत भावों को सोत्साह प्रकट करने के लिए बड़े ही सावधान रहते थे। इससे उनका गद्य न केवल गंभीर दिखाई देता है, अपितु प्रभावपूर्ण भी। सर सैय्यद अहमद खां के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि चाहे उनके विचार वाद–विवाद का विषय क्यों न हों, लेकिन उनकी साहित्यिक रचनाओं में उर्दू–साहित्य अवश्य सम्पन्न हो गया।

22.9.4 उर्दू पत्र-लेखन की परम्परा - उन्नीसवीं शताब्दीं में उर्दू साहित्य की जो विभिन्न धाराएं प्रवाहित हुई थीं, उरमें पत्र-लेखन अथवा खुतूत–निगारी की प्रसिद्धि का श्रेय मिर्जा गालिब को दिया जाता है। उनके खुतूत न केवल उर्दू में ही हैं, अपितु फारसी में भी हैं। उन्होंने इस वार्ता के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए संवाद शैली को अपनाया। उनके संवादों की यह विशेषता रही कि वे सरल, स्पष्ट, काव्यमय, चुटीले और व्यंग्यपूर्ण होने के साथ–साथ मुहावरों और लघुकथाओं में आकर्षक रूप में प्रस्तुत हुए। इससे मध्यकाल का फारसी से प्रभावित पत्र–लेखन कला का बोझिल और औपचारिक ढंग कुछ समय के बाद ही समाप्त हो गया। मिर्जा गालिब के फारसी पत्रों का संकलन 'पंच–आहंग' में संग्रहित है। उनके उर्दू पत्रों के संग्रह बार–बार प्रकाश में आ चुके हैं। चूँकि मिर्जा गालिब ने पत्र–लेखन की जो नयी और अभूतपूर्व शैली प्रदान की, उससे ख्वाजा अमान जैसे पत्र–लेखन अधिक प्रभावित हुए। उनकी अनूदित पुस्तक 'बोस्ताने–ख्याल' अलवर के राजा शिवदान सिंह के सुझाव पर प्रस्तुत हुई। वह उर्दू पत्र–साहित्य की अनुपम पुस्तक है।

22.9.5 उर्दू साहित्य में उपन्यास की श्रृंखलाओं को पारम्परिक दास्तान गोई से जोड़ करके देखने का प्रयास किया गया। यह सत्य है कि कथा–साहित्य भारत तथा एशियाई देशों में बहुत समय से विस्तृत हो चुका था। लेकिन अफसाने और उपन्यास का आधुनिक रूप किसी प्रकार से भारतीय अथवा एशियाई नहीं था। उर्दू के आरंभिक अफसानों के लेखन में फोर्ट विलियम कॉलेज में लिखित पाठ्य-पुस्तकों से सम्बन्धित कहानियों से लेकर नजीर अहमद के स्त्री सम्बन्धित शिक्षा और उनकी शैली में दास्तानों की परम्परा भी दिखाई देती है। लेकिन उनके विषय नवीन हैं और भाषा सरल व सुस्पष्ट है। इस आधार पर उनको पहले उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है।

वास्तव में पंडित रतननाथ 'सरशार' और मौलाना हलीम 'शरर' ने उर्दू–उपन्यास को अंग्रेजी उपन्यास–कला की दृष्टि से देखा। उर्दू में बहुत–सी कहानियाँ लिखी जा चुकी थी, लेकिन यथार्थवदी उपन्यासों की कमी थी। वे इसी युग में लिखे गए। नजीर अहमद के उपन्यास में अनेक कमियाँ तो थीं, लेकिन उनमें उपन्यास कला की अनेक विशेषताएं भी थी। ऐसा इसलिए कि उन्होंने पहले–पहल असंभव और अप्राकृतिक घटनाओं से बचने की चेष्टा की थी। इस प्रकार उर्दू उपन्यास–साहित्य की नींव सन् 1867 ई. के लगभग पड़ी। इस पर ही 'सरशार', 'शरर', 'सज्जाद हुसैन', 'मिर्जा रुस्वा' आदि ने उपन्यास साहित्य का विशाल भवन खड़ा किया।

पंडित रतनाथ 'शरर' कश्मीरी थे। वे अरबी, फारसी और अंग्रेजी भाषाओं के ज्ञाता थे। उर्दू उनकी मातृभाषा थी। वे लखनऊ की चर्चित पत्रिका 'अवध अखबार' के सम्पादक रहे। उनकी सुप्रसिद्ध औपन्यासिक कृति 'फसानाए–आजाद', 'अवध–अखबार' से ही उनके सम्पादकत्व में क्रमश: छपने लगी थी। इसमें उन्होंने लखनवी नव्वाबों के मिटने के बाद की जीवन–दशा का चित्रण किया। इसे संक्षिप्त रूप से मुंशी प्रेमचंद ने हिन्दी में प्रकाशित किया। लेकिन मूल रचना में प्रयुक्त हुई भाषा का आनंद हिन्दी की साधारण शैलियों में नहीं उतारा जा सकता।

इस युग के दूसरे उपन्यासकार हैं–मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर'। उनका जन्म लखनऊ में सन् 1860 ई. में हुआ था और मृत्यु 65 वर्ष की आयु में सन् 1926 ई. में हो गयी थी। उस समय के लखनऊ के लोकप्रिय अखबार 'अवध अखबार' में उन्होंने अपने लेखन की शुरूआत निबन्ध–रचना से की। बाद इसके सन् 1887 ई. में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पत्रिका 'दिलगुदाज' का प्रकाशन आरंभ कर दिया। फिर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वे अपने उपन्यासों के अध्याय उसमें लिखना आरंभ कर दिया। इस प्रकार उन्होंने इसमें अपने बहुत-से उपन्यासों और सैकड़ों लेख इसी में प्रकाशित किए। उनकी छोटी-बड़ी 102 पुस्तकें हैं। उनमें अधिकांश रूप से उपन्यास ही हैं।

'शरर' के उपन्यास मुसलमानों के प्राचीन जीवन-स्वरूप पर आधारित हैं। अतएव उनमें मुसलमानों की वीरता, उदारता और धार्मिक दृढ़ता के व्यापक फलक अंकित हैं। उनके उपन्यासों की शैली लगभग एक ही है। कभी-कभी तो यह भी यकीन हो जाता है कि यदि उनके किसी उपन्यास के पात्र अगर दूसरे उपन्यास में फिट कर दिए जाएं, तो किसी प्रकार का फर्क नहीं दिखाई देगा। उनके पात्र सपाट हैं। वे सामान्य उद्देश्य के ही हैं। उनका सर्वाधिक चर्चित उपन्यास है- 'फिर्दो से बेरी'। इसके अतिरिक्त उनके 'अैय्यामे अरब', 'हुस्न का डाकू', 'मंसूर मोहना', 'जवाले बगदाद' आदि प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

सन् 1877 ई. में उर्दू का सुप्रसिद्ध हास्य प्रधान साप्ताहिक 'अवध-पंच' मुंशी सज्जाद हुसैन के सम्पादकत्व में निकला। उसी समय से उर्दू में प्रगतिशील गद्य-साहित्य की परम्परा स्थापित हुई। 'अवध-पंच' के लेखकों में पंडित त्रिभुवन नाथ 'हज', मिर्जा मच्छू बेग, सितम जरीफ, नव्वाब सैय्यद मुहम्मद 'आजाद', मुंशी ज्वाला प्रसाद 'वर्क', मुंशी अहमद अली 'इलाहाबादी', पंडित रतननाथ 'शरर', पंडित बृज नारायण चकबस्त आदि उल्लेखनीय हैं।

'अवध-मंच' के सम्पादक मुंशी सज्जाद हुसैन का जन्म लखनऊ में सन् 1850 ई. में हुआ था। उन्होंने निबन्धों के अतिरिक्त कई उपन्यास भी लिखे। 'हाजी बगलोल', 'कायापलट' और 'अहमकुललजीन' नामक उपन्यास लिखे। ये सभी उपन्यास अत्यधिक प्रसिद्ध हुए। इनमें 'हाजी-बगलोल' सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

इस युग के महान् उपन्यासकारों में 'मिर्जा रुसवा' का नाम अत्यन्त उल्लेखनीय है। 'शरीफजादा' उनका एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें एक ऐसे व्यक्ति की जीवन कथा का उल्लेख है, जो उनके ही स्वभाव पर आधारित है। उनका दूसरा उपन्यास है - 'जाते-शरीफ'। इसमें उच्च श्रेणी के लोगों की ऐसी जीवन-कथा है, जिससे गदर के बाद अवध की दुर्दशा का चित्र सामने आ जाता है। उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'उमराव जान' है। इसमें एक वेश्या की आत्मकथा उसके ही द्वारा प्रस्तुत की गयी है।

राशिदुलखैरी इस युग के महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। उन्होंने छोटी-छोटी कहानियों के संग्रह निकाले। इसके साथ ही कई उपन्यास भी लिखे। 'सुबहे-जिन्दगी', 'शामे-जिन्दगी', 'मोहे-अजम', 'नौबते-पंजरोजा', 'मनाजिलु-ससायरा', 'उरुसे कर्बला' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके उपन्यासों की लोकप्रियता का यह प्रमाण है कि अब भी मध्यम वर्ग की मुसलमान महिलायें उनके उपन्यासों को बड़े ही चाव और लगन से पढ़ती हैं।

इस दौर के प्रमुख उपन्यासकारों में मुहम्मद अली 'तबीब', ज्वालाप्रसाद 'बर्क', अब्बास हुसैन 'होश', 'शाद' अजीमाबादी 'कारी', 'सर्फराज हुसैन', मिर्जा मुहम्मद सईद, पंडित किशन प्रसाद कौल आदि हैं।

22.10 स्वतंत्रता आन्दोलन का प्रारम्भिक काल एवं उर्दू काव्य - सन् 1885 ई. में नयी चेतना के परिणामस्वरूप कांग्रेस का जन्म हुआ। 20वीं शताब्दी के आरंभ में मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा आदि साम्प्रदायिक शक्तियाँ अपना सिर उठाने लगी थी। कई धार्मिक संस्थाएं विदेशी राज्य के विरूद्ध स्वतंत्रता के संघर्ष में सम्मिलित हो गई। उर्दू काव्य में अधिकत्तर स्वतंत्रता की लहरें ऊँची उठ रही थी। फलस्वरूप साम्प्रदायिकता का रंग उतरने लगा था। इस समय के दो बड़े कवि 'शिबली' और 'अकबर' धार्मिकता को जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग समझते हुए भी अंग्रेजी राज्य के विरूद्ध आवाज उठाने लगे थे।

मौलाना 'शिबली' फारसी और उर्दू के महान् कवि थे। वे अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध आवाज उठाना और कार्य करना अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। इसलिए उन्होंने मुसलमानों को जगाते हुए अंग्रेजी दासता के बंधनों को तोड़ने का उपदेश दिया। इस प्रकार वह अपनी व्यंग्यमयी कविताओं के द्वारा अंग्रेजी सत्ता पर चोट करते रहे। उनकी कविताओं में 'अदले जहाँगीर' और 'शहर-आशीबे-इस्लाम' अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। अपने पद्य में शिबली ने अंग्रेजों की त्रस्तकारी नीतियों पर इस प्रकार लगातार प्रहार किए-

कोई पूछे कि ऐ तहजीबे-इंसानी के उस्तादों।
ये जुल्म-आराइयाँ ताके ये हश्र-अंग्रेजियाँ कब तक॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ये माना तुमको तलवारों की तेजी आजमानी हैं।
हमारी गर्दनों पर होगा, इसका इम्तिहाँ कब तक॥

ये माना किस्सा-ए-गम से तुम्हारा जी बहलता है।
सुनायें तुमकों अपने दर्दे-दिल की दास्ताँ कब तक॥
मिटाओगे हमारा इस तरह नामो-निशाँ कब तक॥

उनके विपरीत अकबर इलाहाबादी ने अपने काव्य का चमत्कार दिखलाया था। उनका जन्म इलाहाबाद में सन् 1846 ई. में हुआ था और मृत्यु भी इलाहाबाद में ही सन् 1921 ई. में हुई। वह 'वहीद' इलाहाबादी के शिष्य थे। वह मुख्य रूप से गजलें लिखते थे। वे ज्ञान के बदले अंत:प्रेरणा पर विश्वास करते थे। इस प्रकार वे अपने विचारों की ही सहायता से नए युग की समस्याओं को हल कर लेना चाहते थे। उन्हें सारे नैतिक और धार्मिक गुण पूरब में ही दिखाई दिए। पश्चिम तो केवल अपने पाश्विक बल के प्रभाव से देश के भौतिक साधनों का गला घोंट रहा था। उन्हें यह भी संदेह था कि पाश्चात्य प्रभाव केवल देश के भौतिक साधनों को ही नष्ट नहीं कर देगा, अपितु उसके आध्यात्मिक प्रभाव को भी कुचल डालेगा। इसलिए उनकी कलम में जितनी शक्ति थी, उनके विचारों में जितना जोश और उनके शब्दों में जितना विष था, उन सबसे काम लेकर वे पूरब को पश्चिम से दूर रखना चाहते थे। इस प्रकार वे हास्य की ओर से अंग्रेजी राज्य पर प्रभावशाली प्रकार करते थे और सरकारी नौकर होते हुए भी मुँह में आयी हुई बात कहने से नहीं चूकते थे। वे एक शेर में इस प्रकार कहते हैं-

मदखूला-ए-गवर्नमेन्ट 'अकबर' अगर न होता।
उसको भी आप पाते, गाँधी की गापियों में॥

'अकबर' अंग्रेजी, फारसी, अरबी और हिन्दी के शब्दों के प्रयोग में बड़े ही माहिर थे। वे अपने हृदय की बात विनोदात्मक शैली में अवश्य प्रकट कर देते थे। इस प्रकार के उर्दू के महान् कवि और हास्य इसके सबसे बड़े कवि के रूप में प्रतिष्ठित रहे। उनके चुने हुए कुछ शेर इस प्रकार हैं-

हर चन्द की कोट भी है, पतलून भी है।
बंगला भी है, पाट भी है, साबुन भी है।
लेकिन ये मैं तुझसे पूछता हूँ हिन्दी।
योरुप का तेरी रगों में कुछ खून भी है॥

गोलियों के जोर से करते हैं वो दुनियाँ को हज्म।
इससे बेहतर इस गिजा के वास्ते चूरन नहीं॥

क्या कहूँ इसको मैं बदबख्ती-ए-नेशन के सिवा।
इसको आता नहीं अब कुछ इमीटेशन के सिवा॥

कौम के गम में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।
रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ॥

हम क्या कहें अहबाब क्या कारे-नुमाया कर गये।
बी.ए. किया, नौकर हुए, पेंशन मिली और मर गये॥

इस प्रकार आधुनिक शिक्षा तो उन्हें बिल्कुल ही पसन्द नहीं थी। उन्हें सर सैयद अहमद खां के विचार भी अच्छे नहीं लगते थे। अपने व्यंग्य के बाण सर सैयद अहमद खां पर भी बखूबी बरसाए।

एक उदाहरण देखिए -
इब्तिदा की जनाब सैयद ने जिनके कॉलिज का इतना नाम हुआ।
इतिह यूनीवर्सिटी पे हुई कौम का काम अब तमा हुआ॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रतिक्रियावाद के सकारात्मक एवं नकारात्मक रूप उर्दू साहित्य में उभरने स्वाभाविक थे। काव्य के विभिन्न रूपों में गजल परम्परा से बढ़कर वर्तमान का साथ दे रही थी। बुजुर्ग कवियों, जिनके काव्य ने बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही अपना रंग जमाना आरंभ कर दिया था, उनमें मुंशी दुर्गासहाय 'सुरूर', पंडित वृजनारायण चकबस्त, इकबाल, हसरत मोहानी, फानी बदायूँनी, असर मुख्य रूप से थे, की शायरी परिवर्तन, नव जागृति और मानवीय शोषण और आवश्यकताओं की कहानी थी।

दुर्गासहाय 'सुरूर' का जन्म सन् 1873 ई. में जहानाबाद में हुआ था। वे बाल्यावास्था से ही कविताएं लिखने लगे थे। उनकी कविताएं उर्दू की प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थी। उनका निधन 37 वर्ष की अल्पायु में सन् 1910 ई. में हो गया। उनके दो काव्य-संग्रह 'जामे-सुरुर' और 'खुमखानाए सुरूर' प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं। उनकी कविताओं ने उर्दू कविता के नए रंग को आगे बढ़ाने और देश-भक्ति के विचारों को प्रोत्साहित करने में अहं भूमिका निभायी है। उनकी कविताओं की भाषा फारसी से बोझिल और कठिन तो है ही, इसके साथ ही साथ उपमाओं और अलंकारों के प्रयोग से कुछ और भी कठिन हो गयी हैं। उदाहरणार्थ उनके कुछ शेर इस प्रकार हैं-

किसी मस्ते-ख्वाब का है अबस इन्तिजार सो जा।
कि गुजर गयी शब आधी, दिले-बेकार सो जा॥

ये नसीम ठंडी-ठंडी, ये हवा के मस्त झोंके।
तुझे दे रहे हैं लोरी, मेरे गमगुसार सो जा॥

ये तेरी सदाए पैहम, महत्तम न कर दे।
मेरे परदार सो जा, मेरे राजदार सो जा॥

मुझे खूँ रूला रहा है, तेरा दम-बदम तड़पना।
तेरे गम में आह कब से हूँ मैं अश्कबार सो जा॥

मुंशी ज्वाला प्रसाद 'बर्क', महाराजा किशन प्रसाद 'शाह', पंडित अमरनाथ 'साहिर' आदि भी इस युग के महत्त्वपूर्ण कवि-शायर रहे, लेकिन सर्वाधिक महत्त्व 'चकबस्त' और 'इकबाल' को मिला है। पंडित ब्रजनारायण चकबस्त का जन्म एक कश्मीरी ब्राह्मण परिवार में सन् 1882 ई. में हुआ था। उनका निधन सन् 1926 ई. में हो गया। उस समय देश की राजनीति में जो हलचल मची हुई थी, और स्वतंत्रता की लड़ाई जिस स्थिति पर पहुंच गयी थी, 'चकबस्त' की कविता उसका प्रतीक कही जा सकती है। वे कभी देश के प्रचीन गौरव की याद दिलाकर, कभी वर्तमान की आर्थिक दशा का चित्रण करके और कभी भविष्य का अनुमान लगाकर सबमें देश-भक्ति की भावना को जगाना चाहते थे। उनकी भाषा लखनऊ की शुद्ध परिमार्जित भाषा थी। देश की प्रशंसा में एक कविता का कुछ भाग देखिए-

ऐ-खाके-हिन्दी तेरी अजमत में क्या गुमाँ है।
दरिया-ए-फैजे-कुदरत तेरे लिए खाँ है॥

तेरी जबाँ से नूरे-हुस्ने-अजल अपाँ है।
अल्लारे जेबो-जीनत क्या औजे-इज्जो-शाँ है॥

हर सुबह है ये खिदमत खुरशीदे-पुरजिया की।
किरनों से गुन्धता है चोटी हिमालिया की॥

गौतम ने आबरू दी इस माबदे-कुहन को।
सरमद ने इस जमीं पर सदके किया वतन को॥

अकबर ने जामे उल्फत बख्शा इस अंतुमन को।
सींचा लहू से अपने राना ने इनस चमन को॥

गालिब के बाद दर्शन और विभिन्न धाराओं का काव्य केवल 'इकबाल' ने लिखा। इकाबाल का जन्म सियालकोट (पंजाब) में सन् 1874 ई. में हुआ था। इकबाल ने यह चाहा कि संसारभर में इस्लामी सिद्धान्तों पर आधारित अनुशासन और शासन की स्थापना हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आदमी सूरज, चाँद और तारों पर भी अधिकार प्राप्त कर ले। उसकी अंतरात्मा पवित्र हो और किसी भी भौतिक शक्ति के सामने न झुके। मनुष्य को यह अधिकार प्राप्त हो कि वह संसार में जैसा जीवन बिताना चाहता है, उसी के अनुसार अपना संगठन कर ले। लेकिन उसे भी ईश्वर की इच्छाओं के प्रतिकूल नहीं जाना चाहिए। उनका विचार था कि मनुष्य की आत्म-शक्ति असीमित है और यदि वह उससे काम ले और आत्म-संयम पर बदलकर उसे विकास करने का अवसर दे, तो ईश्वर के रचनात्मक कार्य में सहायक हो सकता है। 'इकबाल' ने जीवन के हर गंभीर विषय पर कविता लिखी। मुख्य रूप से उन्होंने आत्मशक्ति, मानव-ज्ञान, सर्वगुण-सम्पन्न अलौकिक पुरुष, प्रकृति पर मनुष्य का आधिपत्य, व्यक्ति और धर्म एवं समाज से उसका सम्बन्ध हो सकता है। उर्दू में 'इकबाल' के केवल चार संग्रह हैं- 'बाँगे-दरा', 'बाले-जिबरील', 'जर्बे-कलीम' और 'अर्मूगाने'। उनकी भाषा सरल तो नहीं थी, लेकिन भावानुसार थी। सौन्दर्य का दृष्टि से उनकी बहुत-सी रचनाएं उर्दू-फारसी में ही नहीं, अपितु संसार की किसी भी भाषा में अपना स्थान बना सकती हैं। उनके कुछ शेर इस प्रकार हैं-

कोई अब तक न ये समझा कि इन्साँ।
कहाँ जाता है, आता है कहाँ से॥

दिल में कोई तरह की आरजू पैदा करूँ।
लौट जाये आस्माँ मेरे मिटाने के लिए॥

न पूछो मुझसे लज्जत खानुमाँ-बरबाद रहने की।
नशैमन सैकड़ों मैंने बनाकर फूँक डाले हैं॥

भला निभेगी तेरी हम से क्योंकर ऐ वाइज।
कि हम तो रस्मे-मुहब्बत को आम करते हैं॥

शक्ति भी, शांति भी भगतों के गीत में है।
धरती के वासियों की मुक्ती प्रीत में है॥

स्वतंत्रता आन्दोलन काल में अनेक ऐसे कवि हुए, जिन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिए अपना सक्रिय योगदान अपनी कविताओं के माध्यम से दिया। 'शाद' अजीमाबादी, ज्वाला प्रसाद 'बर्क' नौबत राय 'नजर' महाराज बहादुर 'बर्क' जगत मोहन लाल खाँ, अमर नाथ 'साहिर', 'मोहनी' तिलकचन्द 'महरूम', जिगर 'मुरादाबादी', यगाना चंगेजी, असर लखनवी आदि अधिक उल्लेखनीय हैं।

सैय्यद अली मुहम्मद 'शाह' अजीमाबादी बिहार के थे। उनका जन्म सन् 1846 ई. और निधन सन् 1927 ई. में हुआ। उन्होंने वास्तविकता के ही कारण जाने गए। मरसिया लिखने में भी उन्होंने अपना नाम ऊँचा किया। उनके गजल-संग्रह का नाम है- 'नगम-ए-इल्हाम'। उनकी गजल के कुछ शेर इस प्रकार हैं-

मैं और सैरे-लाला-ओ-गुलो हिजे-यार में।
कैसी बहार! आग लगा दूँ बहार में॥

तमन्नाओं में उलझाया गया हूँ।
खिलौने दे के बहलाया गया हूँ॥

ये बज्मे मय है, यों कोताह-दस्ती में है महरूमी।
जो बढ़कर खुद उठा ले हाथ में मीना उसी का है॥

खुद चल इस कूचे में चलना जो है ऐ पाए-तलब।
वाँ कोई हाथ पकड़कर नहीं ले जाने का॥

जब अहले-होश कहते हैं अफसाना आपका।
हँसता है देख-देख के दीवाना आपका॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ज्वाला प्रसाद 'बर्क' सीतापुर के थे। उनकी भाषा सरल और सपाट थी। वे अपनी गजलों के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। उनके कुछ शेर इस प्रकार हैं–

अभी मरना बहुत दुश्वार है, गम की कशाकश से।
अदा हो जायेगा ये फर्ज भी फुरसत अगर होगी॥

अब नहीं मालूम क्या दुनियाँ में है रंगे बहार।
एक जमाना हो गया छूटे हुए गुलजार से॥

सफी 'लखनवी' का जन्म सन् 1863 ई. में लखनऊ में हुआ था। उनकी मृत्यु सन् 1950 ई. में लखनऊ में ही हुई। उन्होंने गजलों के अतिरिक्त लम्बी-लम्बी कविताएं भी लिखी हैं। एक मसनवी पर उन्हें हिन्तुस्तानी अकादमी का पुरस्कार मिला है। उनके कुछ शेर इस प्रकार हैं–

दिल में रह-रह के खटक होती है।
खलिशे-दर्दे-मुहब्बत होगी॥

आकर जो नहीं जाती वो है शबे-तनहायी।
जाकर जो नहीं आती वो उम्रे-गुरेजा है॥

कल हम आईने में रुख की झुर्रियाँ देखा किये।
कारवाने-उम्रे-रफ्ता के निशाँ देखा किये॥

जोर ही क्या था जफा-ए-बागवाँ देखा किये।
आशियाँ उजड़ा किया हम नातवाँ देखा किये॥

मिर्जा मुहम्मद हादी 'अजीज' का जन्म सन् 1880 ई. में और निधन सन् 1935 ई. में हुआ था। ये लखनऊ के प्रसिद्ध कवियों में रहे। वे 'मीर' और 'गालिब' के अनुयायी थे। उन्होंने गजलों के अतिरिक्त कसीदे भी उच्च कोटि के लिखे। उनके तीन काव्य-संग्रह 'गुलकदा', 'अंजुमकदा' और 'सहीफए-विला' प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी गजलों के शेरों का रंग उदाहरणार्थ इस प्रकार है–

पहले आइना एक नजर देखो।
फिर मेरा दिल मेरा जिगर देखो॥

हाय मजबूरियाँ मुहब्बत की।
चाहिए जो न था किया मैंने॥

बिजली-सी एक सामने आकर निकल गयी।
क्या देखते ही देखते दुनिया बदल गयी॥

अपने मरकज की तरफ माइले-परवाज था हुस्न।
भूलता ही नहीं आलम तेरी अंगड़ाई का॥

असगर असार 'गोंडवी' का जन्म सन् 1884 ई. में और निधन सन् 1936 ई. में हुआ था। उन्होंने अधिकांशत: गजलें ही लिखी। उनकी कविता में रस और सौन्दर्य की अधिकता है। उनके दो काव्य-संग्रह 'निशाते-रूह' और 'सरोदे जिन्दगी' प्रकाशित हो चुके हैं। उनके कुछ शेर देखिए–

जोशे-जुनूँ में छूट गया आस्ताने-यार।
रोता हूँ मुंह पे दामने-सहारा लिए हुए॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मैं क्या कहूँ कहाँ है मुहब्बत कहाँ नहीं।
रग-रग में दौड़ी फिरती है नश्तर लिए हुए॥

अब न कहीं निगाह है, अब न कोई निगाह में।
महूवा खड़ा हुआ हूँ मैं हुस्न की वारगाह में॥

'फानी' बदायूँनी का पूरा नाम शौकत अली था। उनका जन्म सन् 1879 ई. में और निधन सन् 1942 ई. में हुआ। उनकी कविता का रंग 'मीर' और 'गालिब' से मिलता-जुलता है। उनकी कविताओं पर लखनवी प्रभाव झलकता है। उनकी कविताओं में दार्शनिक तत्त्व और भावपूर्ण यथार्थ दोनों का ही समावेश है। उनकी कविता का रंग इस प्रकार है-

अदा से आड़ में खंजर की मुँह छिपाए हुए।
मेरी कजा को वो लाये दुल्हन बनाए हुए॥

एक फसाना सुन गए, एक कह गए।
मैं जो रोया, मुस्कराकर रह गए॥

वो हैं मुख्तार सजा दें कि जजा दे फानी॥
दो घड़ी होश में आने के गुनहगार हैं हम॥

बिजलियाँ टूट पड़ीं जब वो मुकाबिल से उठा।
मिलके पलटी थीं निगाहें कि धुंआ दिल से उठा॥

न इन्तिदा की खबर है न इन्तिहा मालूम।
रहा ये बहा कि हम हैं, सो वो भी क्या मालूम॥

जगत मोहनलाल खाँ जन्म सन् 1889 ई. में और निधन सन् 1949 ई. में हुआ था। उनके दो काव्य-संग्रह 'रूहे-खाँ' और एक मसनवी 'नक्शे-खाँ' प्रकाश में आ चुके हैं। उनकी गजलें और रूबाइयाँ बड़ी ही आकर्षक और प्रभावशाली हैं। उनकी कविताएं अधिक गंभीर और विचारपूर्ण हैं। उनके कुछ शेर इस प्रकार हैं-

हँसे भी रोये भी लेकिन न समझे।
खुशी क्या चीज है दुनिया में गम क्या॥

खाँ! सच है मुहब्बत का असर जाया नहीं होता।
वो रो देते हैं अब भी जिक्र आता है जहाँ मेरा॥

पैहम दिए वो रंज की इन्सा बना दिया।
मिन्नत-पिजीर हूँ सितमें-रोजगार का॥

किसी तरफ नजरें-पास करके रो देना।
मेरी जबाँ में इसी को फुगाँ भी कहते हैं॥

सीमाब का जन्म सन् 1880 ई. में और निधन सन् 1950 ई. में आगरा में हुआ। इस प्रकार की कविताएं वे बड़ी तेजी से लिखते थे। 'कारे-इमरोज', 'कलीमे-अजम', 'शेरे-इन्कलाब' और 'सिदर तुलमुल्हा' उनके प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं। वे भाषा और काव्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् थे। इस प्रकार उन्होंने कभी-कभी नए जीवन की समस्याओं को अपनी कविताओं में रखने का प्रयास किया है। उनकी गजल को दो-चार शेर देखिए-

बदल गई वो निगाहें ये हादसा था आखीर।
फिर इसके बाद कोई इनकिलाब हो न सका॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कहानी मेरी रूदादे-जहाँ मालूम होती है।
जो सुनता है उसी की दास्ताँ मालूम होती है॥

चमन के सानहे को मुद्दतें गुजरीं मगर अब भी।
चमकती है जो बिलजी आशियाँ मालूम होती है॥

हर चीज पर बहार, हर एक शैये हुस्न था।
दुनिया जवान थी मेरे अहदे-शबाब में॥

सैय्यद अनवर हुसैन 'आरजू' का जन्म सन् 1872 ई. में और निधन सन् 1951 ई. में लखनऊ में हुआ। ये अपने समय के महान् कवियों में समझे जाते हैं। ये उर्दू भाषा के बहुत बड़े पंडित और लखनवी भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। उनकी कविताओं के चार संग्रह 'फुगाने-आरजू', 'जहाने-आरजू', 'बयाने-आरजू' और 'सुरीली बाँसुरी' का प्रकाशन हो चुका है। आपकी गणना लखनवी रंग सुधारने वाले कवियों में की जाती है। उदाहरणार्थ आपके कुछ शेर इस प्रकार हैं-

चाहत का फल ऐसा है जैसे जल जाये खेती बोई हुई।
क्या होता है आँसू पोंछने से, छिपती नहीं आखें रोई हुई॥

है एक ही होना तो ये अनबन नहीं अच्छी।
मेरा-सा न बन तो मुझे अपना-सा बना दे॥

तारा टूटते सबने देखा, ये नहीं देखा एक ने भी।
किसकी आँख से आँसू टपका, किसका सहारा टूटा है।

जो देखेगा रोते मुझे, तुमको हँसते।
मेरी बात छोड़ो, तुम्हें क्या कहेगा॥

भारत के सुप्रसिद्ध राजनीतिक नेता और प्रमुख कवि सैय्यद फजलुल-हसन 'हसरत मोहानी' का जन्म सन् 1875 ई. में और निधन सन् 1951 ई. में उत्तर-प्रदेश के उन्नाव जिला में हुआ था। आप पूर्ण स्वराज्य के उपासक और असाधारण साहसी थे। आप देश की आजादी के लिए संघर्ष करते हुए अनेक बार जेल गए। जेल से बाहर आते ही साहित्यिक पत्रिकाएं निकालते रहे और उर्दू कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित कराते रहें। छोटे-छोटे भागों में उनके 13 काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी शैली में प्राचीनता और नवीनता की दोनों ही विशेषताएं हैं। मानव प्रकृति का सरल और उसी के साथ हृदयंगम हो जाने वाली संवेदना उनसे अधिक और किसी कवि में नहीं दिखाई देती है। उदाहरण के लिए उनके कुछ शेर इस प्रकार हैं-

हुस्ने बेपरवा को खुद-बीनो-खुदारा रूर दिया।
क्या किया मैंने कि इजारे-तमन्ना कर दिया॥

नहीं आती तो याद उनकी महिनों तक नहीं आती।
मगर जब याद आते हैं, तो अक्सर याद आते हैं॥

बर्फ को अब्र के दामन में छिपा देखा है।
हमने उस शेख को मजबूरे-हया देखा है॥

परदे से एक झलक जो वह दिखला के रह गये।
मुस्ताके-दीद और भी ललचा के रह गये॥

हम से हर चन्द वो जाहिर में खफा हैं लेकिन।
कोशिशे-पुरसिशे-हालात चली जाती है॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मिर्जा वाजिद हुसैन 'यगाना' चंगेजी का जन्म सन् 1884 ई. में पटना में हुआ था। उन्होंने लखनऊ आकर वहाँ के साहित्यिक माहौल में अपना बढ़-चढ़कर प्रभाव दिखलाया। उनको कविताओं में मानव-जीवन की शक्ति का अनुभव होता है। स्वतंत्रता, बाँकपन और सबलता उनकी कविताओं की खास विशेषताएँ हैं। उनकी गजलों के संग्रह 'आयाते-विजदानी' और 'गनजीना' के नाम से प्रकाश में आ चुके हैं। उदाहरणार्थ उनके कुछ शेर इस प्रकार हैं-

इसी फरेब ने मारा कि कल है कितनी दूर।
इस आजकल में अबस दिन गंवाए हैं क्या-क्या॥

पहाड़ काटने वाले जमीं से हार गये।
इसी जमीन में दरिया समाये हैं क्या-क्या॥

खुशी में अपने कदम चूम लूँ तो जेबा है।
वो लगजिशों पे मेरी मुस्कराएँ हैं क्या-क्या ॥

खुदा ही जाने 'यगाना' मैं कौन हूँ, क्या हूँ।
खुद अपनी जात पे शक दिल में आये हैं क्या-क्या॥

मिर्जा जाफर अली खाँ 'असर' की जन्म सन् 1885 ई. में और निधन सन् 1966 ई. में लखनऊ में हुआ था। आप एक साथ महान् कवि और आलोचक रहे। आप लखनवी भाषा के अच्छे मर्मज्ञ रहे। आपने अधिकत्तर गजलें लिखीं। आपकी गजलों के तीन संग्रह 'असरिस्तान', 'बहारां' और 'नौबहारा' प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी गजले बहुत सी सादी तो होती हैं, लेकिन बहुत ही रंगीन भी होती हैं। यद्यपि उनमें कभी-कभी गहरे सूफियाना और दार्शनिक विचार आते हैं, लेकिन उनमें प्रेम भावनाओं का उल्लेख बहुत अधिक होता है। नमूने के लिए कुछ शेर देखिए-

भूलने वाले से कोई पूछता।
मैं तुझे दिल से भुलाऊँ किस तरह॥

हमने रो-रो के रात काटी है।
आँसुओं में ये रंग तक आया॥

झिलमिलाते हुए तारे क्या हैं।
मलगजे फूल तेरे बिस्तर के॥

कुछ रोज ये भी रंग रहा इन्तिजार का।
आँख उठ गयी जिधर बस उधर देखते रहे॥

देखी न आँख भर के किसी की तरफ कभी।
तुमको खबर नहीं जो तुम्हारी नजर में है॥

'जिगर' मुरादाबादी की गणना अपनी पीढ़ी के लोकप्रिय कवियों में होती है। उनका पूरा नाम अली सिकन्दर था। उनका देहान्त भी सन् 1960 ई. में मुरादाबाद में हुआ था। वहीं उनका देहान्त भी सन् 1960 ई. में हो गया। उनकी गजलों के तीन संग्रह 'दागे जिगर', 'शोलए-तूर', और 'आतिशे-गुल' प्रकाश में आ चुके हैं। उनकी कत्रिता में जो सौन्दर्य और आकर्षण है, उनका रहस्य यही है कि वह प्रेम और सौन्दर्य के उपासक हैं। इसका ही वर्णन उन्होंने बड़े ही रोचक ढंग से किया है। उनके कुछ शेर नीचे दिए जा रहे हैं-

दिल को बरबाद करके बैठा हूँ।
कुछ खुशी भी है, कुछ मलाल भी है॥

तेरी आँखों का कुछ कुसूर नहीं।
हाँ मुझी को खराब होना था॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बताओ क्या तुम्हारे दिल पे गुजरे।
अगर कोई तुम्हीं-सा बेवफा हो॥

आ, कि तुझ बिन इस तरह ए दोस्त घबराता हूँ में।
जैसे हर शय में किसी शय की कमी पाता हूँ में॥

ले के खत उनका किया जब्त बहुत कुछ लेकिन।
थरथराते हुए हाथों ने भस्म खोल दिया॥

यह वही दौर है जब परम्परागत काव्य के चिह्न लेशमात्र ही रह गए थे। समाज की बदलती परिस्थितियों ने कवियों में एक ऐसी नई चेतना जागृत की, जिसके परिणामस्वरूप प्रगतिशील लेखकों का कार्यकाल आरंभ हो गया।

22.10.1 बीसवीं शताब्दी में पूर्वार्द्ध में उर्दू गजल - यों तो उर्दू साहित्य को सामाजिक जागृति और चेतना की भावनाओं ने नयी-नयी दिशाएं प्रदान कीं, लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि चली आती हुई साहित्यिक धारा विलुप्त हो गयी। यह ध्यातव्य है कि परिस्थितियों के करवट लेने से अभिव्यक्ति के तौर-तरीके ही बदलते हैं। यही बात उर्दू गजल साहित्य के विषय में कही जा सकती है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि बींसवीं शताब्दी के शुरू-शुरू में उर्दू गजल को फिर से शक्तिशाली और प्रभावशाली बनाने का श्रेय शाद अजीमाबादी को दिया जाता है। उनकी गजलों की यह विशेषता रही कि उन पर 'दर्द' की आध्यात्मिक और 'अनीस' की मुहावरेदार देशज भाषा का व्यापक प्रभाव पड़ा है। इस दौर के दूसरे प्रमुख कवि असगर गौड़वी सूफियाना कवि थे। इसीलिए उनकी कविताएं सूफीवादी दृष्टिकोण से झलकती हुई दिखाई देती हैं। दूसरी और इस दौर के प्रमुख कवि 'फानी' और 'असगार' आध्यात्मिक गजलकारों के रूप में अत्यधिक चर्चित हुए। असगर की कविताओं में गीतात्मकता बहुत अधिक दिखाई देती है। इसलिए उनकी गजल खूब गायी जाती है। इस युग में गजल का सबसे लोकप्रिय कवि 'जिगर' मुरादाबादी हुए। इस दौर में फानी और असगर के अतिरिक्त भाव में संवेदनशीलता उत्पन्न करने की कला 'जिगर' के काव्य में अधिक दिखाई देती हैं, जैसे-

ले के खत उनका किया जब्त बहुत कुछ लेकिन।
थरथराते हुए हाथों ने भस्म खोल दिया॥

सावन की रैन अँधेरी, तनहाइयों का आलम।
भूले हुए फसाने सब याद आ रहे हैं॥

साकी की हर निगाह पे बल खा के पी गया।
लहरों से खेलता हुआ लहरा के पी गया॥

'जिगर' मुरादाबादी का काव्यगत वैशिष्ट्य यह है कि उनका सूफीवाद से कोई लेना-देना नहीं है। उनका प्रेम तो सांसारिक प्रेम है। हालाँकि नई चेतना को भी उन्होंने अपनी कविता का विषय बनाया है, लेकिन जो सफलता उन्हें प्रेम की गाथा को बाँधने में प्राप्त हुई, वह नई चेतना में नहीं हुई। यह भी उनके मिजाज की बात थी। ऐसा इसलिए कि उनका इश्क आठा का दरिया है-

यह इश्क नहीं आसाँ इतना तो समझ लेना।
इक आग का दरिया है और डूब के जाना है॥

सारांशत: उपर्युक्त कवियों ने 'मीर', 'गालिब', 'मोमिन' और 'दाग' द्वारा लगायी गई दागबेल को सींच कर बड़ा किया। उन्होंने लौकिक और अलौकिक प्रेम को इस प्रकार अपने काव्य में प्रस्तुत किया कि उसे सुनकर श्रोता नई चेतना और जागृति की कविता को फीका और रसहीन (नीरस) कहने लगा। ऐसा इसलिए कि गजल का सम्बन्ध दिल से होता है, दिमाग से नहीं-

मुहब्बत क्या है तासीरे-मुहब्बत किसको कहते हैं ?
तेरा मजबूर कर देना मेरा मजबूर हो जाना॥

22.10.2 उर्दू-साहित्य में उपन्यास लेखन और प्रेमचन्द- मुंशी प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मुख्य रूप से सामाजिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कुरीतियों, अंधविश्वासों, सामंती प्रवृत्तियों और स्त्री शोषण का चित्रण यिा है। यही नहीं, उन्होंने सामाजिक सुधार के लिए स्वस्थ और अपेक्षित चित्रों को भी अपने उपन्यासों में विभिन्न घटनाओं और पात्रों के द्वारा प्रस्तुत किया है।

मुंशी प्रेमचन्द ने केवल सामाजिक दशा का चित्रण अपने उपन्यासों में किया, अपितु राजनीतिक, अंतर्राष्ट्रीय दशा और विभिन्न सांस्कृतिक विचारधाराओं प्रभावों को अपनी सशक्त लेखनी के माध्यम से व्यक्त किया। उनके उपन्यासों के अध्ययन-मनन से यह तथ्य सामने उभरकर आता है कि उनके ये चित्रण निरंतर परिवर्तित होते रहे। इस सम्बन्ध में उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जिस प्रकार रूसी क्रांति और उनके बदलते प्रभाव को देखा, वैसा ही अपने उपन्यासों में उन्हें अंकित कर दिए। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि उनकी रचनाओं में विविध प्रकार के वैचारिक दृष्टिकोण उभरते हुए सामने दिखाई देते हैं। यही कारण है कि उनकी हरेक रचना वैचारिक दृष्टि से अलग-अलग आधार लिए हुए हैं।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मुंशी प्रेमचंद की रचनाओं में विभिन्न प्रकार के परिवर्तित वैचारिक दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपनी रचनाओं को सबसे पहले उर्दू भाषा में लेखनीबद्ध करके हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया।

22.11 उर्दू साहित्य में नई विचारधाराओं का आगमन-

उर्दू साहित्य में विभिन्न साहित्यिक आन्दोलन हुए। उन आन्दोलनों ने राजनीति और सामाजिक परिस्थितियों से प्रेरित होने के साथ-साथ यूरोपीय साहित्यिक वादों और रूसी क्रांति से स्वयं को अधिक प्रभावित किया। ये आंदोलन सन् 1930 ई. के बाद और अधिक सक्रिय हो गए। साहित्य-लेखन के विषय में यद्यपि अनेक साहित्यकारों ने अपना-अपना विचार व्यक्त किया है, लेकिन मुंशी प्रेमचन्द के विचार अधिक प्रभावशाली हैं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि साहित्य लेखन लेखकों के लिए केवल दिल बहलाने का नहीं, अपितु जीवन से सम्बन्धित विषयों पर चिंतन और वाद-विवाद का माध्यम बन गया। वर्तमान के सभी विषयों पर चिन्तन और उनके संभवत: हल और निष्कर्ष अगर लेखक अपनी लेखनी के माध्यम से नहीं प्रस्तुत कर सकता, तो उसका चिंतन अधूरा और शुष्क है। उसकी चिंतन शक्ति अपरिपक्व और सोई हुई है। इन्ही विचारों की प्रगति और समाज के लिए साहित्य रचना कर रहे लेखकों के एक बड़े वर्ग ने सन् 1936 ई. में तरक्की पसन्द मुसन्नफीन तहरीफ (प्रगतिशील लेखन संघ) की स्थापना की। ध्यातव्य है कि इन लेखकों में हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषा-साहित्य के लेखक थे। वास्तव में यह आन्दोलन यूरोपीय प्रगतिशील लेखकों के प्रभाव के कारण भारतीय छात्रों के एक युवा वर्ग के द्वारा लंदन में ही शुरू हुआ था।

भारतवर्ष के प्रगतिशील लेखकों ने सन् 1936 ई. में अपनी यह संस्था बनाई, परन्तु उससे कुछ समय पहले ही राजनीतिक जागृति बढ़ाने और अंतर्राष्ट्रीय विचारों के फैलने के कारण कई नवयुवकों ने साहित्य में भी चेतनापूर्वक क्रांति लाने के लिए विचार प्रकट किए थे। अतएव सैय्यद सज्जाद जहीर, रशीद जहाँ, अलमद अली औ रमहमृदुज-जफर ने अपनी कुछ कहानियों का एक संग्रह 'अंगारे' के नाम से सन् 1933 ई. में लखनऊ में प्रकाशित करवाया था। यह बम के गोले के समान भारतीय समाज पर फूटा था। फलत: लोगबाग इससे जलभुन उठे थे।

यह स्मरणीय है कि इसमें हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी और बंगला के लेखक और कवि भी धीरे-धीरे जुड़ गए। इसके मुख्य लेखकों और कवियों में जोश मलिहाबादी, अख्तर शीरानी, अमरारूल हक मजाज, मुईन अहसन जज्बी, अली सरदार जाफरी, अहसान दानिश, अख्तर-उल-ईमान, अहमद नदीम, कासमी, सज्जाद, जहीर, मंटो, कृशनचन्द्र, ख्वाजा अहमद अब्बास, राजिन्दर सिंह बेदी, इस्मत चुगताई आदि उल्लेखनीय हैं।

अहमद अली का इस युग के लेखकों में एक ऊँचा स्थान है। उन्होंने अपनी जन्मभूमि दिल्ली की बोलचाल की भाषा का प्रयोग बड़े ही आकर्षक रूप में किया है। उनकी कहानियों के तीन-संग्रह 'शोले', 'हमारी गली' और 'कैदखाना' प्रकाशित हो चुके हैं।

रशीद जहाँ एक लोकप्रिय उर्दू की लेखिका रहीं, वे सामाजिक बुराईयों को सामने लाने में भी बहुत माहिर थीं। उनका यह मानना था कि गंदगी को छिपाने के बजाय, उसे सबके सामने लाना चाहिए, जिससे समाज उसे अच्छी तरह से समझ करके क्रांति लाने के लिए तैयार हो जाए। उनकी कहानियों की यह प्रमुख विशेषता रही कि उनमें मनोरंजन भी है और हास्य-व्यंग्य भी। दूसरी बात यह कि उनकी कहानियाँ मुख्य रूप से मध्यवर्गीय जीवन पर ही आधारित हैं। उनका एक ही कहानी-संग्रह 'औरत' प्रकाशित हो सका।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कृष्ण चंदर इस युग के उल्लेखनीय कथाकार हैं। उन्होंने कई कहानियाँ और कई उपन्यास लिखे हैं। 'नज्जारे', 'जिन्दगी' के मोड़ पर 'टूटे हुए तारे', 'अन्नदाता', 'तीन गुंडे', 'समुन्दर दूर है', 'अजन्ता से आगे', 'हम वहशी हैं', 'मैं इन्तजार करूँगा', 'दिल किसी का दोस्त नहीं', 'किताब का कफन' और 'एक रुपया-एक फूल' उनकी कहानियों के संग्रह हैं। 'शिकस्त', 'यादों के चुनार', 'एक वायलन समन्दर के किनारे', 'जब खेत जागे', 'आसमान रौशन है', 'बावन पत्ते', 'एक औरत हजार दीवाने', 'एक गधा नेफा में बावन' और 'कागज की नाव' उनके उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। उनके विषयों और अनुभूतियों का क्षेत्र बहुत ही फैला हुआ है। वह मानव-प्रेम से फड़फड़ाती हुई चेतना प्रगतिशीलता के ढ़ाँचे में ढाल लेती है। उनकी गद्य-शैली में असाधारण सौन्दर्य, चमत्कार और ताजगी है।

प्रेमचन्द अपनी लकीर के आखरी बड़े लेखक थे। उनके बाद लिखे गए उपन्यास नवीन शैली में लिखे गए। उनमें अधिकांश लिखने वाले मार्क्स और फ्रायड की विचारधारा को भारतीय लिबास पहना रहे थे। जेसे अजीज अहमद ने फ्रायड की विचारधारा को अपने उपन्यासों में पूर्णरूप से समा दिया। यौन से सम्बन्धित मानिसक और सामाजिक विषमताओं से उत्पन्न होने वाले उलझने से हुए तत्त्वों का ताना-बुना 'गुरेज' में देखा जा सकता है।

सुप्रसिद्ध कथा-लेखिका इस्मत चुगताई ने 'जिद्‌दी', 'टेढ़ी लकीर', 'मासूमा' और 'सौहार्द' जैसे लोकप्रिय उपन्यास लिखे। उनका भाषा पर असाधारण अधिकार है। वह पात्रों की बातचीत ऐसे स्वाभाविक ढंग से व्यक्त करती हैं कि उससे सच्चाई टपकने लगती है।

नये ढंग का पहला उपन्यास सज्जाद जहीर ने सन् 1930 ई. में 'लंदन की एक रात' लिखा। यों तो इस उपन्यास के अधिकांश पात्र स्वप्नलोकी हैं। ये आदर्शवादी हैं। वे यौन जीवन के दुराचार में फँसे हुए हैं। लेकिन अपनी मातृभूमि की दशा से चिन्तित होकर जब उनका स्वप्न टूटता है, तब उनमें अंग्रेजों के प्रति घृणा-भावना जाग उठती है। नयी उपन्यास कला का यह एक सफल प्रयोग था। फलतः इससे कई नए लिखने वाले धड़ाधड़ प्रभावित हुए।

अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भारतीय भाषाओं के लेखकों का यह संघ चौथे-पाँचवें दशक तक अत्यधिक क्रियाशील रहा। इसका जिस तरह से निरन्तर प्रचार-प्रसार होता गया, उस तरह इसमें अनेक लोकप्रिय रचनाएं अपने-अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रकाशित होती रही। ये रचनाएं मुख्य रूप से हिन्दी में रूपान्तरित होती रही। सन् 1960 के बाद तो तरक्की मुसन्नफीन के ही एक असंतुष्ट वर्ग ने एक अन्य तहरीक जदीदियत (आधुनिकतावाद) की दाग बेल डाल दी।

इस प्रगतिशील आन्दोलन की एक यह भी बहुत बड़ी विशेषता रही कि इसमें न केवल गद्य की विभिन्न विद्याओं में कहानी और उपन्यास के साथ-साथ आलोचना को भी बड़े ही प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया गया। कहानी अथवा अफसाने में सज्जाद जहीर, पलदर्म, नियाज फतेहपुरी आदि ने पत्रिका-सम्पादन का प्रशंसनीय कार्य किया। मजनूं गोरखपुरी, कृष्णचन्द्र, इम्तियाज अली आदि की रचनाएं लीक से हटकर हैं। उनके प्रेम विषय से संबन्धित अफसाने एक तरफा नहीं, बल्कि दो तरफा हैं। लेकिन भारतीय परम्पराओं और रीति-रिवाजों की जड़ें इतनी गहरी और मजबूत हैं कि उन्हें रचनाओं द्वारा झिंझोड़ा तो जा सकता है, लेकिन उन्मीलित नहीं किया जा सकता।

हम देखते हैं कि जब प्रगतिशील लेखकों की रचनाएं सामाजिक परम्पराओं यथार्थ और सुधारवाद से आगे बढ़कर प्रकृतिवाद और उसके नग्नवाद तक पहुँचने लगीं, तब समाज के एक वर्ग विशेष को घोर आपत्ति होने लगी। न्यायालयों में लेखकों को घसीटा जाने लगा। सच्चाई यह रही कि यह नग्नवाद फ्रांसीसी एवं अन्य यूरोपीय लेखकों के विचारों का जो प्रतिबिम्ब था, उसे पूर्ण स्वीकृति जब नहीं मिली, तब उसे पूर्वी सभ्यता के भारतीय उपमहाद्वीप में स्वीकृति कहाँ संभव थी, अर्थात् नहीं थी। मंटो, इस्मत चुगताई आदि को समाज के ठेकेदारों की आलोचना एवं घोर आपत्ति का सामना करना पड़ा।

22.11.1 नई विचारधाराएँ और उर्दू उपन्यास - परम्परा से हटकर नई तकनीक की झलकियाँ उर्दू उपन्यासों की नई विचारधाराओं में दिखाई देती हैं। कविता के बराबर तो नहीं, लेकिन कहानी और उपन्यास में भी आधुनिकता ने अपना प्रभाव डाला है। इस प्रकार ग्रहण की गयी नवीनता केवल विचारधारा और शिल्प विधि ही नहीं है, बल्कि जीवन को टूटे-फूटे और बिखरे हुए मान लेने और उसी को प्रोत्साहित करने के कारण ही संभव हुई। जिस कलाकार के जीवन को देखा और समझा है, जिसने किसी मूल विचारधारा का सहारा लिया है और जिसे कहानी को रोचक बनाए रखने का जादू आता है, वही साहित्य जगत में प्रतिष्ठित हो सका है। नये कथाकारों में कुर्र तुलऐन हैदर, रामलाल, अनवर अजीम, जोगेन्द्रपाल, जीलानी बानो, आमना अबुलहसन, वाजिदा तबस्सुम, गयास गद्‌दी, काजी अब्दुस्सत्तार, इकबील मतीन भारत में और हाजिरा मसरूर, खदीजा मस्तूर ए-हमीद, जमीला हाशिमी, रजिया फसीह, गुलामुस्सकलैन, सादिक हुसैन, कासिम महमूद, हमीद कश्मीरी, जीलानी असगर पाकिस्तान में लोकप्रिय उपन्यासकार हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यों तो कुर्रतुलऐन हैदर सन् 1947 ई. तक रोमांचकारी कथाएं लिखते रहें, लेकिन स्वतंत्र्योत्तर की परिस्थितियों से प्रभावित होकर उन्होंने अपना दृष्टिकोण और शिल्प दोनों ही बदल दिए। इससे उन्होंने अपने रचना क्षेत्र को व्यापक बनाया। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य, भारतीय–कला और संस्कृति का गहरा अध्ययन न करके अपने भाषा प्रयोग के स्तर को ऊँचा उठाया। उनकी लोकप्रियता का आधार भी भारतीय जीवन–स्त्रोतों की खोज करना ही है। उनके उपन्यास हैं– 'मेरे भी सनमखाने', 'सफीनए–गमे दिल', 'आग का दरिया', 'चाय का बाग', 'सीता हरण' और 'आखिरे–शब के हमसफर' आदि।

रामलाल ने भी कुर्रतुलऐन–हैदर की तरह सन् 1947 से पहले लिखना आरंभ कर दिया था, लेकिन वे सन् 1955 के बाद ही लोकप्रियता के शिखर पर चढ़ते हुए दिखाई दिए। वास्तव में आप एक सजग और जागरूक उपन्यासकार हैं। आपकी जागरूकता और सजगता का आभास आपके उपन्यासों को पढ़ने से होता है। आपकी अनेक कहानियां लोकचर्चित हैं। 'गली–गली', 'आवाज पहचानें तो', 'चिरागों का सफर' और 'कल की बातें' आपके उल्लेखनीय कहानी–संग्रह हैं।

अनवर अजीम एक सधे हुए उपन्यासकार हैं। साधारण–सी घटनाओं से सुन्दर चित्र बनाने का उन्हें विशेष अनुभव है। इससे उनके यथार्थ चिन्तन की झलक दिखाई देती है। 'धुआँ–धुआँ सवेरा' उनका लोकप्रिय उपन्यास हैं। जोगेन्द्रपाल ने विभिन्न देशों का भ्रमण करके वहाँ के जन–जीवन को अपने उपन्यासों में विस्तृत आकार दिया। इनमें अमेरिका, पाकिस्तान और भारत देश आदि उल्लेखनीय हैं। 'एक बूँद लहू की' और 'कछुआ' उनके चर्चित उपन्यास हैं।

जीलानो बानो प्रगतिशील विचारधारा के प्रतीक हैं। इससे ही प्रेरित और प्रभावित होकर उन्होंने जो कुछ अपने उपन्यासों में दर्शाया है, उससे उनकी लोकप्रियता बढ़ गयी है। 'जुगनूं और सितारे' उनका सुप्रसिद्ध उपन्यास है। काजी अब्दुल सत्तार अलीगढ़ विश्वविद्यालय में उर्दू के प्राध्यापक हैं। वह ग्रामीण जीवन के चित्र बड़े ही रोचक और भावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने में बहुत ही सफल और कुशल हैं। उनकी भाषा में सहजता और साहित्यिकता दोनों ही हैं। 'शाबगुजीदा', 'मजू भैया' और 'दाराशिकोह' उनके लब्धप्रतिष्ठित उपन्यास हैं।

संक्षेप में यहा कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के उर्दू साहित्य में सृजनात्मक साहित्यिक लेखन पर न केवल ध्यान दिया गया, अपितु उसके लिए पुरजोर कोशिश भी की गयी। इसीलिए अनेक उल्लेखनीय रचनाएं प्रकाश में आयी। उन्होंने जनमानस के दिल और दिमाग की गहराइयों में पैठ लगायी। इसके लिए भाषा और शैली को तराशा गया। उनमें से कुछ भारतीय स्वरूप था और कुछ अभारतीय। यह आन्दोलन अब भी सक्रिय है। कभी–कभी प्रत्येक आन्दोलन व्यक्तिगत अथवा वर्ग–विशेष के स्वार्थों से कहीं अधिक प्रभावित होता रहा है। प्रगतिवादी आन्दोलन का भी यही हश्र है।

22.11.2 उर्दू काव्य में आधुनिकता के दौर – स्वतंत्रता से पहले आरंभ हुआ चेतनापूर्ण उर्दू काव्य का आधुनिक चरण बीसवीं शताब्दी के छठे–सातवें दशक से शुरू हुआ। यह सर्वमान्य तथ्य है कि प्रत्येक दशक काव्य–प्रथा में नया और स्वस्थ दृष्टिकोण उपस्थित करता है। उर्दू काव्य भी इसी मान्यता का समर्थक है। नए उर्दू-साहित्य में काव्य–रचना प्रयोगवाद, अस्पष्टवाद, प्रतीकवाद और निरुद्देश्यवाद से अत्यधिक प्रभावित हुई हैं। यहाँ तक कि 'नयी कविता' के कवियों ने स्वयं को सबसे अलग करने के लिए कविता की सभी परम्पराओं से अपना नाता तोड़ लिया है। यह सही बात है कि उनकी विचारधारा यूरोप और अमेरिका के कुछ दार्शनिकों, लेखकों और कवियों से मिल जाती है और जो कुछ वहाँ हो चुका है, उसी को दोहराने की चेष्टा की जाती है। बदलती हुई परिस्थितियों में नयी कविता का जन्म स्वाभाविक है।

यह स्मरणीय है कि प्रगतिशील कविता के विरोध में एक धारा लगभग उसी के सामानान्तर चल रही थी, जिसकी विशेषता बन्द–प्रयोग के विभिन्न आयामों के अतिरिक्त यह भी थी कि उसमें सामाजिकता के विपरीत व्यक्ति के आन्तरिक और यौन–जीवन का प्रसार होता, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए रचनाकार प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करता। ये सभी प्रतीक विभिन्न प्रकार से कभी देवमालाओं और कभी अवचेतना के होते थे। इस विचारधारा की अगुवायी करने वालों में मीराजी, राशिद और मुखतार सिद्दीकी थे। जहाँ तक मुक्त छंद के प्रयोग का सम्बन्ध है, अनेक प्रगतिशील कवि भी इसे अपने ढ़ंग से काम में लाने लगे थे। प्रतीकों का प्रयोग भी किसी न किसी रूप में सब करते थे, किन्तु दोनों के बीच जो व्यापक अंतर था, वह उसके सामाजिक चेतना से स्पष्ट होता है।

नये कवियों में खलीलुरहमान, वाकर मेंहदी अली, सरदार जाफरी, साहिर लुधियानवी, वहीद अख्तर, बलराज कोमल, राही मासूम रजा, अमीक, इनफी, कैफी आजमी, मुनीबुर्रहमान, शाज तमकनत, मजहर, इमाम, शहरयार कुमार पाशी, शहाब जाफरी–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

फिजलबाश, मुसब्बर सब्जवारी, वसीम बरेलवी, शाहिद माहुली, आशुफ्ता, चंगेजी, जावेद अख्तर आदि की लम्बी सूची है। इसमें रीतिकालीन गजल से लेकर गद्यात्मक नज्म सभी शामिल हैं। कुछ इतनी भावुक हैं कि दिल में घर कर जाएं, तो कुछ सिर पर से गुजर जाएं। कुछ प्रमुख कवियों के रचना स्वरूप पर हम संक्षेप में प्रकाश डालना समुचित समझ रहे हैं।

अली सरदार जाफरी के शब्द और वाक्य अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध हैं। वे ज्वालामुखी के समान फूटते हुए दिखाई देते हैं। उनकी वर्ग-चेतना उनकी कविताओं में सर्वत्र दिखाई देती है। उनके काव्य-संग्रह 'खून की लकीर', 'एशिया जाग उठा', 'अन्न का सितारा', 'पत्थर की दीवार', 'एक ख्वाब और' अधिक लोकप्रिय हुए हैं। उनकी मुक्त छन्द कविता का एक उदाहरण इस प्रकार है-

जाग हिन्दोस्ताँ अपने ख्वाबे गिरा थे
देख आजादी की सुबह का नूर फैला हुआ है।
तेरे बरसों से बिछड़े हुए लाल घर आ रहे हैं।
ये गुलामी की जंजीर को तोड़ आये,
कैदखाने के दर खोल आये,
अपनी आगोश में उनको बढ़कर उठा ले,
अपने दिल में बिठा ले,
ये हिमाला है, यह विधाचल है, यह है नीलगिरी
ये तेरे खेत हैं, तेरे खलिहान हैं,
ये तेरे काने हैं, ये बाग है, तेरे कारखाने
ये तेरे सब्जो-शादाब मैदां, ये हँसती हुई वादियाँ हैं
यह तेरी साफो-शफ्फाको बहाती हुई वादियाँ हैं
तेरी गोदों की पाली हुई बेटियाँ हैं
अपने पाकीजा आँचल के नीचे छिपा ले।

'साहिर' लुधियानवी आज के अधिक लोकप्रिय कवि हैं। वह उर्दू के बहुत-से नौजवान कवियों की तरह रोमांस से क्रांति की ओर बढ़े हैं। वे कला की दृष्टि से आधुनिक दौर के कवियों में गिने जाते हैं। उनके काव्य-संग्रह 'तलखियाँ' और 'परछाइयाँ' बहुचर्चित काव्य-संग्रह हैं। कुछ समय से फिल्मी संसार ने उन्हें अपना लिया है। फिल्मी गीतों का एक संग्रह 'गाता जाए बनजारा' भी प्रकाश में आ चुका है। उदाहरणार्थ, उनकी कुछ काव्य पंक्तियाँ इस प्रकार है-

जेहाद खत्म हुआ दौरे-आश्ती आया।
संभल के बैठ गए महफिलों में दीवाने॥

हुजूमे-तशना लबों की निगाह से ओझल।
छलक रहे हैं शराबे-नफस के पैमाने॥

ये जश्न जश्ने-मुर्सरत नहीं तमाशा है।
नये लिबास में निकला है रहजनों को जुलूस॥

हजार शमाएं-जखूवत बुझा के चमके हैं।
ये तीरंगी के उभारे हुए हसीं फानूस॥

'कैफी' आजमी एक लोकप्रिय, प्रगतिशील और क्रांतिकारी कवि हैं। 'झंकार' और 'आखिरे-शब' उनके दो काव्य-संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। उन्होंने देश-विदेश में होने वाली घटनाओं पर भी रोचक और प्रभावशाली कविताएं लिखी हैं और जनता के सुख-दु:ख से सम्बन्धित कविताएं बड़े ही आकर्षक और मर्मस्पर्शी रूप में लिखी हैं। उनके मुक्त-छन्द प्रयोग की कविता के कुछ शेर इस प्रकार हैं-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कली का रूप फूल का निखार लेके आयी थी।
वो आज कुछ खजानाए-बहार लेके आयी थी॥

तमाम रात जागने के बाद चश्मे-मस्त में।
यकीं का रस, उम्मीद का खुमार लेके आयी थी॥

बसंती साड़ी में छिपा हुआ-सा वो जवाँ बदन।
जवां बदन पे रेशमी बहार लेके आयी थी॥

वे संदली कलाइयाँ वह सब्जो-सुर्ख चूड़ियाँ।
सोहाग लेके आयी थी, सिंगार लेके आयी थी॥

मेरी उजाड़ जिन्दगी की चिलचिलाती धूप में।
वह गेसुओं का अबरे-इत्रबार लेके आयी थी॥

उदास-उदास जीस्त को सुना रही थी बाँसुरी।
घुटे-घुटे सुकूत में सितार लेके आयी थी॥

इस नयी पीढ़ी के कवियों में 'मजरूह' सुलतानपुरी लोकप्रिय और उल्लेखनीय कवि हैं। अन्य प्रगतिशील कवियों की तरह वह भी रोमानी आदर्शों से क्रांति की ओर आए हैं। उन्होंने अधिकांशतः गजलें ही लिखी हैं। उनका एक छोटा -सा गजल-संग्रह 'गजल' नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनकी अधिकांश गजलें साहित्यिक महत्त्व की हैं। उदाहरणार्थ कुछ उनके शेर इस प्रकार हैं-

दुश्मन की दोस्ती है, अब अहले वतन के साथ।
है अब खिजां चमन में नए पैरहन के साथ॥

सर पर हवाएं-जुल्म चलें, सौ जतन के साथ।
अपनी कुलाह कज है उसी बाँकपन के साथ॥

बहकर जमीं पे है अभी गर्दिश में खूँ मेरा।
कतरे वे फूल बनते हैं खाके वतन के साथ॥

किसने कहा कि टूट गया खंजरे-फिरंग।
सीने पर जख्मी नौ भी है दागे-कुहन के साथ॥

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक दौर की कविताएं प्रयोग के कई स्तरों से गुजर रही हैं। इसलिए अभी यह कहना कठिन है कि साहित्य के इतिहास में इस 'नयी कविता' को क्या स्थान दिया जायेगा और भविष्य में इसे क्या मिलेगा। इसके अनुयायी भी अभी केवल प्रयोग ही समझते हैं, जो वर्तमान युग की बेचैनी और द्रुतगामी वैज्ञानिक परिवर्तन के कारण अनिवार्य हैं।

22.12 उर्दू साहित्य में शोध कार्य -

उर्दू साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करके यह कहा जा सकता है कि यह लगभग तीन सौ वर्षों का इतिहास है। इस लम्बे समय में इसने कई पड़ाव पार किए हैं। इससे इसने अपनी महत्ता और क्षमता प्रस्तुत की है। इस प्रकार का वैशिष्ट्य लिए हुए उसने शोध के क्षेत्र में भी अपना कदम बढ़ाया है। इस दृष्टि से इसने बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही साहित्यिक कार्यों के विषयों पर शोधकार्य आरंभ कर दिया है। इसके प्रमुख केन्द्र लाहौर, अलीगढ़, इलाहाबाद, पटना और लखनऊ थे। लाहौर में शोधकार्य का ढंग कुछ निराला रहा है। वहां एकत्रित उर्दू नेताओं का एक बड़ा ग्रुप रहा। उसने पाश्चात्य शोध प्रक्रिया की शैली में शोध एवं आलोचना का कार्य आरंभ कर दिया। इस दृष्टि से मुहम्मद हुसैन आजाद की रचना 'आबे-हयात' से पहले शिबली ने शोध के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। उन्होंने अपना वह शोध कार्य उर्दू में न करके फारसी में किया था। इसके बाद शोधकर्त्ता के रूप में राजस्थान के टोंक स्थान के निवासी महमूद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शीरानी का नाम लिया जाता है। उनके लिखे निबन्ध जो 'मकालाते-शरानी' (छ: खंडों) के शीर्षक से 'मजलिसे-तरकी-ए-अदब', लाहौर से प्रकाशित हुए हैं, उर्दूशोध और आलोचना की पहली रचनाओं में से एक है। डॉ. ज्ञानचन्द, जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग के अध्यक्ष हैं। उन्होंने अपने शोधपूर्ण प्रयत्नों से ख्याति प्राप्त कर ली है। वे एक श्रेष्ठ और सुरुचिपूर्ण आलोचक हैं। उनके शोध न्यायोचित और साहित्यिक मर्मों से ओत-प्रोत हैं। 'उर्दू की नसरी दास्ताने', 'तहरीरें' और 'उर्दू-मसनवी : शुमाली हिन्दी' अधिक सराहनीय हैं। अन्य आलोचकों में डॉं. शकीलुर्रहमान हैं। वे मनोवैज्ञानिक आलोचना पद्धति से विशेषकर प्रभावित हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं- 'जबान और कल्चर', 'अदबी कदरें' और 'नफसियात'। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डॉ. मसी हुज्जमाँ साहित्यिक मर्यादा प्राप्त आलोचक हैं। 'उर्दू तनकीद की तारीख' 'हर्फे-गजल', 'मरासिए मरि' और 'उर्दू मरसिये का इरतका' उनकी उल्लेखनीय पुस्तकें हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ. कमर रईस, डॉ. खलीक अंजुम, डॉ. गोपीचन्द नारंग आदि उल्लेखनीय शोधकर्त्ता और आलोचक हैं। डॉ. कमर रईस की 'प्रेमचन्द की तनकीदी मुताले आ' और 'तलाशो-तवाजुन', और डॉ. खलीक अंजुम की 'मिरजा रफी सौदा', 'गालिब नादिर तहरीरें', 'मतनी तनकीद', और डॉ. गोपीचन्द नारंग की 'हिन्दुस्तानी किस्सों से माखुज' 'उर्दू-मसनविया' उल्लेखनीय शोधपूर्ण रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त सैयद अब्दुल्लाह, मौलवी मुहम्मद शफी, डॉ. मोहम्मद बाकर, डॉ. वहीद कुरेशी, वजीरूलहसन, आबिदी, इबादत बरेलवी आदि ने शोध के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया हैं।

उर्दू में शब्दकोश निर्माण का कार्य भी हो रहा है। यह आरिजू की सक्रियता के फलस्वरूप शुरू हुआ। इस दिशा में विभिन्न प्रकार के लुग्त (शब्द-कोष) तैयार हुए हैं। गालिब ने इस क्षेत्र में भी अच्छी दौड़ लगाई है। उन्होंने 'बुरहाने-काते-अ' के जवाब में 'काते-अ-बुरहान' की रचना कर डाली। कोश-निर्माण की दिशा में मुहम्मदशाह बादशाह शाद की 'फरहंगे-आनन्दराज' पिछली शताब्दी की वर्णमाला के अनुसार लिखी हुई पहली रचना कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त और भी शब्दकोश उर्दू साहित्य की अमूल्य धरोधर के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।

22.12 अभ्यास प्रश्न

1. उर्दू साहित्य में नई विचारधाराओं का आगमन किस प्रकार हुआ। विस्तार से लिखिए।
2. दक्खिनी हिन्दी से आप क्या समझते हैं ? हिन्दी साहित्य में इसका योगदान किस प्रकार रहा। लिखिए।
3. आधुनिकता के दौर में उर्दू काव्य के योगदान पर विस्तार से लिखिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ – 341 306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातकोत्तर (एम.ए.) पूर्वार्द्ध

विषय – हिन्दी

चतुर्थ पत्र

हिन्दी साहित्य का इतिहास

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. नन्दलाल कल्ला**
   पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

2. **प्रो. वेदप्रकाश शर्मा**
   पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग
   महाराजा गंगासिंह विश्वविद्यालय, बीकानेर (राज)

3. **प्रो. जगमालसिंह**
   पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग
   मेघालय विश्वविद्यालय, मेघालय (आसाम)

4. **डॉ. ममता खाण्डल**
   सहायक आचार्या, हिन्दी विभाग
   राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय, किशनगढ़ (राज.)

5. **प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी**
   निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
   जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)

6. **प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा**
   आचार्या, जैन विश्वभारती संस्थान,
   लाडनूँ (राज.)

लेखक
डॉ. ममता खाण्डल

संपादक
डॉ. शंकरलाल पुरोहित

कापीराइट
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 700

प्रकाशक
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं–341 306 (राज.)

Printed at
M/s Nalanda Offset,
G1/232, RIICO Industrial Area, Heerawala Ext., Konota, Jaipur (Raj.)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनुक्रमणिका

अध्याय-01	भूमिका : पूर्व पीठिका	1
अध्याय-02	आदिकाल की पृष्ठभूमि	13
अध्याय-03	भक्तिकालीन साहित्य	38
अध्याय-04	निर्गुण ज्ञानमार्गी संत काव्य धारा	51
अध्याय-5	निर्गुण प्रेममार्गी सूफी काव्य धारा	63
अध्याय-6	राम भक्ति काव्य	75
अध्याय-7	कृष्ण भक्ति काव्य	89
अध्याय-8	रीतिकालीन साहित्य	103
अध्याय-9	रीतिकालीन कविता का स्वरूप	110
अध्याय - 10	आधुनिक काल के साहित्य की पृष्ठभूमि	119
अध्याय-11	भारतेन्दु युग	125
अध्याय-12	द्विवेदी युग	132
अध्याय-13	छायावाद	139
अध्याय-14	उत्तर-छायावादी कविता	148
अध्याय-15	प्रगतिशील साहित्य	155
अध्याय-16	प्रयोगवाद और नयी कविता	163
अध्याय-17	समकालीन कविता	170
अध्याय-18	आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य	177
अध्याय-19	हिन्दी नाट्य साहित्य	187
अध्याय-20	हिन्दी आलोचना	192
अध्याय-21	निबन्ध एवं अन्य गद्य विधाएं	197
अध्याय-22	उर्दू साहित्य का परिचय	208

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun